सृजन परिप्रेक्ष्य

कला–साहित्य–संस्कृति की वैचारिकी

1

शिशिर-बसन्त 2002

सम्पादक

कात्यायनी

सत्यम

1

सृजन परिप्रेक्ष्य

कला-साहित्य-संस्कृति की वैचारिकी

शिशिर-बसन्त 2002
(जनवरी-अप्रैल)

कला : **रामबाबू**

आवरण का चित्र : **हरिपाल त्यागी**

मुख्य सम्पादकीय सम्पर्क :
द्वारा, जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
फ़ोन : 0522-2786782

दिल्ली सम्पर्क : सी-74, एस एफ एस फ्लैट्स,
सेक्टर 19, रोहिणी, दिल्ली-110089

ई मेल : srijanvaichariki@gmail.com

•

लेखन के जरिए लड़ो! दिखाओ कि तुम लड़ रहे हो! ऊर्जस्वी यथार्थवाद! यथार्थ तुम्हारे पक्ष में है, तुम भी यथार्थ के पक्ष में खड़े हो! जीवन को बोलने दो! इसकी अवहेलना मत करो! यह जानो कि बुर्जुआ वर्ग इसे बोलने नहीं देता! लेकिन तुम्हें इजाज़त है। तुम्हें इसे बोलने देना चाहिए। चुनो उन जगहों को जहां यथार्थ को झूठ से, ताकत से, चमक–दमक से छुपाया जा रहा है। अन्तरविरोधों को उभारो!... अपने वर्ग के लक्ष्य को, जो सारी मानवता का लक्ष्य है, आगे बढ़ाने के लिए सब कुछ करो, लेकिन किसी भी चीज़ को सिर्फ इसलिए मत छोड़ दो, क्योंकि वह तुम्हारे निष्कर्षों, प्रस्तावों और—आशाओं के साथ मेल नहीं खाती; बल्कि ऐसे निष्कर्ष को छोड़ ही दो, बशर्ते सच्चाई आड़े न आये; लेकिन ऐसा करते हुए भी इस बात पर ज़ोर दो, कि उस भयंकर लग रही कठिनाई पर जीत हासिल कर ली गयी है। तुम अकेले नहीं लड़ रहे हो, तुम्हारा पाठक भी लड़ेगा, यदि तुम उसमें लड़ाई के लिए उत्साह भरोगे। तुम अकेले ही समाधान नहीं ढूंढ़ोगे, वह भी उसे ढूंढ़ेगा।

—बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

(थीसिस फॉर प्रोलेतारियन लिटरेचर)

इस अंक में

गुजरात

फ़ासीवादी मुहिम का नया मुक़ाम : गुजरात
—सत्यप्रकाश 8

गुजरात नरसंहार और "महान भारतीय मध्यवर्ग" का फ़ासीवादी चेहरा
—महताब 16

क्या कर सकते हैं लेखक और संस्कृतिकर्मी 21

आह मेरे लोगो ! ओ मेरे लोगो ! (गुजरात—2002)
—कात्यायनी 24

सृजन-साम्प्रतिक

शशिप्रकाश की सात कविताएँ 27

दिनेश कुमार शुक्ल की कविता 46

स्मृति-विलेख

वह शख़्स जिसने हैडलेबर्ग को भ्रष्ट बना दिया
—मार्क ट्वेन 50

सन्दर्श

समकालीन हिन्दी आलोचना : कुछ पद्धतिशास्त्रीय समस्याएँ
—रामराज प्रसाद 84

अभिमत

दलित समस्या और दलित साहित्य—एक संवाद
—मास्टर त्रिलोचन सिंह
94

परम्परा-प्रसंग

इक्कीसवीं सदी में बाल्ज़ाक
—कात्यायनी / सत्यम
109

भाषा-चिन्तन

भाषा-विज्ञान के इतिहास में मार्क्सवाद और वोलोशिनोव
—कात्यायनी / सत्यम
121

नान्दिकर

मेसिंगकौफ़ संवाद (कुछ अंश)
—बेर्टोल्ट ब्रेष्ट 144

ब्रेष्ट और स्तानिस्लाव्स्की—साथ-साथ और आमने-सामने
—सत्यव्रत 151

छायानट-वैचारिक

आइज़ेंस्ताइन का फ़िल्म-सिद्धान्त और रचनात्मक प्रयोग
—अनादि चरण 165

संगीत-चिन्तन

मज़दूर, मज़दूर आन्दोलन और संगीत
—हान्स आइस्लर 186

सर्वहारा संगीत-रचना की समस्याएँ
—गंगा प्रसाद भट्ट 197

रंग और रेखाएं

कूर्बे की कला और उसकी ज़मीन
—रामबाबू 213

कृति-प्रसंग

हमारे समय का यथार्थ और जगदीशचन्द्र के उपन्यास
—मीनाक्षी 227

सिने-प्रसंग

'लगान' और 'ग़दर' : हिन्दी सिनेमा की इतिहास-यात्रा 2001
—ललित सती 237

अन्तर्दृष्टि

सौन्दर्यीकरण के बारे में कुछ नोट्स
—सत्यव्रत 249

परिप्रेक्ष्य

एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के वैचारिक-सांस्कृतिक कार्यभार
—सम्पादकीय आलेख 252

यह अंक

'सृजन-परिप्रेक्ष्य' के प्रवेशांक को ही गुजरात का ग्रहण लग गया। अंक जब तैयारी की आख़िरी मंज़िल में था, उसी समय गुजरात नरसंहार की शुरुआत हुई।

शुरू के कुछ दिनों के दौरान तो हम यही समझते रहे कि यह संघ परिवार के फ़ासिस्टों द्वारा दंगों के एक नये दौर की शुरुआत है, जिसमें नरेन्द्र मोदी की सरकार महत्त्वपूर्ण सहयोगी की भूमिका निभा रही है। लेकिन जल्दी ही हमें यह अहसास हो गया कि यह भारत के पिछली एक शताब्दी से भी अधिक लम्बे समय के इतिहास का एक अभूतपूर्व, सुनियोजित नरसंहार है जिसमें मुख्य भूमिका गुजरात की भाजपा सरकार के पुलिस-प्रशासन तंत्र की है और विहिप और बजरंग दल के भारतीय कू-क्लक्स-क्लान गिरोह उनके सहायक और अमले की भूमिका निभा रहे हैं।

ऐसे में हमें यह ज़रूरी लगा कि फ़िलहाल जो कुछ भी सम्भव हो, किया जाना चाहिए। हमने शिद्दत के साथ महसूस किया कि जो भी सच्ची वामपन्थी शक्तियाँ और जो भी सच्चे जनपक्षधर संस्कृतिकर्मी मानव-मुक्ति की समाजवादी परियोजना के प्रति अभी भी आस्थावान हैं, उन्हें फ़ासीवाद के इस विशिष्ट भारतीय संस्करण के विरुद्ध कारगर और निर्णायक संघर्ष की दूरगामी रणनीति तैयार करनी ही होगी। अब और विलम्ब शुतुर्मुर्गी आत्मघात होगा। लेकिन हमें सबसे ज़रूरी और फ़ौरी ज़िम्मेदारी यह महसूस हुई कि फ़िलहाल हम जो भी कर सकते हों, करें और लेखक-संस्कृतिकर्मी होने के साथ-साथ जागरूक नागरिक होने का दायित्व पूरा करने के लिए सड़क पर उतरें और आम जनता के बीच जाएँ। शुरू में हम लोगों ने अपने साथियों के साथ विभिन्न शहरों में होने वाले विरोध-प्रदर्शनों में हिस्सा लिया। लेकिन हमें लगातार यह लगता रहा कि ऐसे विरोध-प्रदर्शन भी अब महज़ अनुष्ठान बनकर रह गए हैं और इनकी पहुँच शिक्षित मध्यवर्ग से नीचे के कुछ लोगों तक नहीं बन पाती जबकि हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्ट लगातार सुनियोजित ढंग से समाज के तृणमूल स्तर तक अपनी पकड़ बनाने की कोशिश कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में

हमने तय किया कि फ़ासीवादी बर्बरता के विरुद्ध उस आम मेहनतकश आबादी को जागरूक और सचेत बनाना सबसे ज़रूरी है जो उसकी वास्तविक प्रतिरोधक शक्ति है और यह काम सम्भव स्तर पर तत्काल शुरू कर देना चाहिए। गत एक माह के दौरान हम उस 'जुझारू जन-एकजुटता अभियान' में शामिल रहे हैं जो उत्तर प्रदेश, उत्तरांचल, हरियाणा, पंजाब, दिल्ली और राजस्थान में, मुख्यतः आम आबादी के बीच, मज़दूर बस्तियों में, बसों-ट्रेनों में पर्चा वितरण, नुक्कड़ सभाओं, घर-घर सम्पर्क आदि के माध्यम से चलाया जा रहा है। इस अभियान की पहल उत्तर प्रदेश में ट्रेड यूनियनों के एक नवगठित संयुक्त मोर्चे के साथियों और कुछ क्रान्तिकारी छात्र-युवा-स्त्री संगठनों और एक मज़दूर अख़बार की ओर से ली गई थी। यह अभियान अभी जारी है और इसी के बीच 'सृजन-परिप्रेक्ष्य' के इस अंक को अन्तिम रूप दिया गया है।

पत्रिका के प्रकाशन से पूर्व जारी दूसरे परिपत्र में हमने प्रवेशांक में जिन लेखों की घोषणा की थी, पृष्ठ संख्या की निर्धारित सीमा के अतिक्रमण के बावजूद हम उन सभी को शामिल नहीं कर पा रहे हैं। दीपायन बोस का लेख 'परवर्ती मध्ययुगीन भारत की सामाजिक-आर्थिक गतिकी और भक्ति आन्दोलन' ('अनुचिन्तन' स्तम्भ के अन्तर्गत) और सेर्गेई आइज़ेंस्ताइन का लेख 'शब्द-और बिम्ब' ('छायानट-वैचारिक' स्तम्भ के अन्तर्गत) इस अंक में नहीं जा पा रहा है। ये लेख पत्रिका के दूसरे अंक की सामग्री में शामिल कर लिये गए हैं। गुजरात पर विशेष सामग्री के लिए हमें समसामयिक टिप्पणियों के स्तम्भ को भी छोड़ देना पड़ा है।

'अभिमत' स्तम्भ के अन्तर्गत दलित साहित्य पर बहस की शुरुआत हमने अभिनव के लेख 'हिन्दी में दलित लेखन : कुछ प्रश्न और कुछ विचार' से करने की घोषणा की थी। लेकिन बाद में हमें लगा कि शुरुआत के लिए पंजाब के संस्कृतिकर्मी और पंजाबी साहित्यिक पत्रिका 'सरदल' के सम्पादक मास्टर त्रिलोचन सिंह का लेख 'दलित समस्या और दलित साहित्य—एक संवाद' का प्रकाशन अधिक उपयुक्त होगा। यह लेख मास्टर त्रिलोचन सिंह ने चण्डीगढ़ में 'साझा सांस्कृतिक अभियान' की ओर से 'दलित प्रश्न' पर आयोजित सेमिनार (9-11 नवम्बर 2001) में प्रस्तुत किया था। त्रिलोचन सिंह ने मुख्यतः पंजाब के समाज और साहित्य पर केन्द्रित रहते हुए भी, दलित प्रश्न और दलित साहित्य के कुछ ऐसे केन्द्रीय मुद्दों को रेखांकित किया है जहाँ से एक सार्थक बहस की शुरुआत हो सकती है। इस वाद-विवाद-संवाद की अगली कड़ी के तौर पर अभिनव का लेख अब 'सृजन-परिप्रेक्ष्य' के अगले अंक में प्रकाशित होगा।

प्रवेशांक के प्रकाशन से पहले जारी दो परिपत्रों में हमने इस वैचारिकी के बोध, धारणा और स्वरूप की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। परिपत्रों पर देश भर के साथियों-सहयात्रियों से हमें सुझावों-परामर्शों-आलोचनाओं से भरे जो सैकड़ों पत्र मिले और इस परियोजना के प्रति लेखकों-संस्कृतिकर्मियों का जो व्यापक समर्थन मिला, उसने हमारी बेशक़ीमती मदद की है और उत्साह बढ़ाया है। हम इन सभी मित्रों-अग्रजों के प्रति आभारी हैं। हमें अभी तक पता चल रहा है कि डाक विभाग की मेहरबानी से कई अनन्य सहयोगियों, मित्रों तक को पहला या दूसरा या कोई भी परिपत्र नहीं मिला है। हम चाहेंगे कि जिन्हें परिपत्र न मिला हो वे कृपया हमें एक पोस्टकार्ड ज़रूर डाल दें।

अब पत्रिका के कुछ स्तम्भों के बारे में थोड़ा स्पष्ट कर दें।

'परिप्रेक्ष्य' नियमित सम्पादकीय स्तम्भ होगा, पर इसमें प्रस्तुत विचार सिर्फ़ सम्पादक द्वय के विचार

नहीं होंगे। जिन सहकर्मी साहित्य-संस्कृतिकर्मियों के साथ मिलकर हम साहित्यिक-सांस्कृतिक आदोलन की समस्याओं-स्वरूप-कार्यभारों-चुनौतियों को लेकर सोचते-विचारते रहे हैं और जिनके साथ बुनियादी प्रश्नों-अवधारणाओं पर हमारी आम सहमति रही है, उन साथियों के विचारों का इस स्तम्भ में प्रतिनिधित्व होगा।

'अनुचिन्तन' साहित्येतिहास के विभिन्न पक्षों पर और साहित्य-कला-संस्कृति को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित करने वाले इतिहास और सामाजिक संरचना के प्रश्नों के अध्ययन पर केन्द्रित होगा।

'सन्दर्श' स्तम्भ के अन्तर्गत आलोचना और सौन्दर्यशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्षों पर हम नियमित सामग्री देंगे। बिना किसी औपचारिकता के, हम यह स्पष्ट कर दें कि उपरोक्त दोनों स्तम्भों के लिए जिन लेखों का चयन हम करेंगे वह मूलतः और मुख्यतः हमारे विचारों के क़रीब होंगे लेकिन प्रकाशित लेखों पर जो प्रतिक्रियाएँ आएँगी, बहसें चलेंगी, उनको हम आगामी अंकों में प्रकाशित करेंगे।

'अभिमत' साम्प्रतिक ज्वलन्त प्रश्नों पर चर्चा-संवाद का खुला मंच होगा। जैसे कि इस अंक में हम बहस शुरू करने के लिए मास्टर त्रिलोचन सिंह का जो लेख दे रहे हैं, उसकी सभी अवस्थितियों से हमारी सहमति नहीं है। हाँ, हम यह मानते हैं कि दलित समस्या और दलित साहित्य के प्रश्न के अधिकांश बिन्दुओं को इसने किसी न किसी रूप में छुआ है।

अन्य स्तम्भों के नाम से ही उनके अन्तर्गत दी जाने वाली सामग्री के स्वरूप को समझा जा सकता है।

इस अंक पर हमें आपकी सजग, विस्तृत और बेबाक राय का इन्तज़ार रहेगा। इस पहले क़दम से आगे यात्रा जारी रखने, क़दमों को साधने और रफ़्तार तेज़ करने के लिए हमें आप सबका भरपूर सहयोग चाहिए।

परिपत्र पर कुछ युवा साथियों के पत्र हमें मिले हैं जिन्होंने पत्रिका के महत्त्वपूर्ण लेखों पर अपने यहाँ विचार-गोष्ठियाँ और चर्चाएँ आयोजित करने का प्रस्ताव रखा है। हम इस प्रस्ताव का स्वागत करते हैं। हम चाहेंगे कि ऐसी चर्चाओं की रपट हमें ज़रूर भेजें।

फ़ासीवादी मुहिम का नया मुक़ाम : गुजरात

सत्यप्रकाश

अरुन्धती राय को वडोदरा से उनकी एक मित्र ने फ़ोन किया। कई मिनट तक वह रोती रही, कुछ बोल नहीं पाई। उसकी सहेली सईदा को दंगाइयों की भीड़ ने पकड़ लिया था। उसका पेट चीरकर उसमें जलते चिथड़े भर दिए गए थे।

आई ए एस अधिकारी हर्ष मन्दर ने देखा कि एक गर्भवती मुस्लिम औरत ने जब जान की भीख माँगी तो दंगाइयों ने उसका पेट फाड़ दिया और गर्भ में पल रहे आठ माह के बच्चे को निकालकर उसकी गर्दन रेत डाली।

दिल्ली से गई एक जाँच टीम की सदस्य को अहमदाबाद के शाह-ए-आलम राहत शिविर में एक महिला ने सात ऐसी गर्भवती औरतों के फोटोग्राफ़ दिखाए जिनके पेट फाड़कर शिशुओं को बेरहमी से काट डाला गया था या आग में फेंक दिया गया था। स्पष्ट है कि अजन्मे बच्चों तक को मार देने की यह बर्बर हरकत आतंक पैदा करने की एक योजनाबद्ध कार्रवाई थी।

एक परिवार के उन्नीस लोगों से भरे घर को पानी से भर कर उसमें बिजली दौड़ा दी गई ताकि सभी एक साथ मर जाएँ।

उन्नीस वर्ष की मंजुला मगनलाल पटेल ने अपने पति को दंगाइयों के साथ जाने से रोकने की कोशिश की तो ससुराल वालों ने उसे जलाकर मार डाला; और फिर उसका पति दूसरों को जलाने के शौर्यपूर्ण अभियान पर निकल गया...

...5000 से लेकर 15000 की उस संगठित भीड़ के साथ, जो पुलिस के संरक्षण में त्रिशूल, तलवार, आग्नेयास्त्र, एलपीजी सिलिण्डरों और तेल के ड्रमों से भरे ट्रक, रोडरोलर, बुलडोज़र, क्रेन, मोबाइल फ़ोन, मिनरल

वाटर की बोतलें, खाने-पीने की भरपूर चीज़ें और मुस्लिम ठिकानों की कंप्यूटरीकृत सूचियाँ लेकर गुजरात भर में अल्पसंख्यकों को, और इंसानियत के तमाम मूल्यों को रौंदती-झुलसाती-बलात्कृत करती घूम रही थी।

तीन महीने से जारी इस हिटलरी अभियान के मनमाफ़िक नतीजे संघ परिवार को मिलने लगे हैं। मुसलमानों को बुरी तरह आतंकित करके, उनकी आर्थिक रीढ़ तोड़कर उन्हें अपने "घेट्टो" में सिमटा देने की मुहिम कामयाब होती दीख रही है। अगले किसी सफ़ाया अभियान में इन "घेट्टो" को ज़्यादा आसानी से निशाना बनाया जा सकेगा। तब ये अल्पसंख्यक वास्तव में अपनी सुरक्षा के लिए "बहुसंख्यकों की सद्भावना" पर निर्भर हो जाएँगे, जैसाकि संघ परिवार चाहता है। अहमदाबाद के जुहापुरा में मुसलमान अपना एक अलग "शहर" ही बसा रहे हैं। इस इलाक़े में पिछले तीन माह में क़रीब 40 नये रिहायशी काम्प्लेक्स बने हैं और मिली-जुली आबादी वाले इलाक़ों से मुस्लिम आकर यहाँ बस रहे हैं। जो काम्प्लेक्स नहीं बना सकते वे सूखी साबरमती के पेटे में एक साथ झुग्गियाँ डालकर रह रहे हैं। तीन महीने से राहत शिविरों में रह रहे डेढ़ लाख लोग भी शायद अपने घरों को नहीं लौट सकेंगे। जिन्होंने लौटने की कोशिश की, उन्हें जान बचाकर भागना पड़ा, कुछ मारे भी गये। उनके वापस लौटने के लिए खुलेआम ऐसी शर्तें घोषित की जा रही हैं जिनका एक ही मकसद है—अल्पसंख्यकों को और ज़लील करना, उन्हें पूरी तरह कुचल डालना ताकि वे हमेशा बहुसंख्यकों की दया पर ही जी सकें। लाखों तो घर-बार से उजड़कर गुजरात से बाहर चले गए हैं।

राज्य में चल रहे सौ से ज़्यादा राहत शिविरों में से एक को भी सरकार नहीं चला रही है। विभिन्न मुस्लिम संगठन अन्य सहयोगी संस्थाओं की मदद से ख़ुद संसाधन जुटाकर किसी तरह इन्हें चला रहे हैं। घटिया और ज़रूरत से काफ़ी कम अनाज मुहैया कराने के सिवा नरेन्द्र मोदी की सरकार कुछ नहीं कर रही है; बस आए दिन शिविरों को बन्द करने की धमकियाँ दी जा रही हैं। ऊपर से, अपना सब कुछ गँवा चुके लोगों को कुछ सौ, या करोड़ों के नुकसान के बदले 15-20 हज़ार का मुआवज़ा थमाकर उनके ज़ख़्मों पर नमक रगड़ा जा रहा है। कई परिवारों को तो सिर्फ़ 200 रुपये मुआवज़े के तौर पर पकड़ा कर चलता कर दिया गया है। अल्पसंख्यकों को चिढ़ाने, बुरी तरह अपमानित कर बेबसी-लाचारी का अहसास उनके दिलो-दिमाग़ में भर देने का यह एक सोचा-समझा हथकण्डा है।

भारत में साम्प्रदायिक तनाव और दंगों का क़रीब एक शताब्दी लम्बा इतिहास है। पर गुजरात में जो कुछ हुआ वह पहले कभी नहीं हुआ। बीसवीं शताब्दी के शुरू में हिन्दुओं-मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक झगड़ों और दंगों के सिलसिले की शुरुआत हुई जो विभाजन के समय चरमोत्कर्ष पर पहुँच गये। लेकिन उन दंगों की प्रकृति अलग थी। उनमें ऐसा होता था कि राजनीतिज्ञों ने अपने मतलब साधने के लिए वैमनस्य फैलाया, उन्माद भड़काया और फिर किसी भी छोटी-बड़ी घटना को लेकर दंगे भड़क उठे; फिर उनकी शृंखला-सी चल पड़ी। उनमें ऐसी योजनाबद्धता नहीं थी। नरसंहार का तत्त्व नहीं था। वह मज़हबी जुनून में पागल हुए लोगों की आपसी मार-काट थी। इसमें औपनिवेशिक शासकों की गन्दी साज़िशों और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग की भूमिका के विस्तार में जाने की यहाँ ज़रूरत नहीं।

आज़ादी के बाद के एकाध दशकों के दौरान हुए दंगे काफ़ी हद तक विभाजन के दिनों की कड़वाहट और नफ़रत का नतीजा थे, लेकिन बाद में वोट बैंक की राजनीति दंगे भड़काने का मुख्य कारक बन गई। स्थानीय बुर्जुआ हितों के टकराव और पुलिस-प्रशासन की अल्पसंख्यक विरोधी भूमिका के लिए भी ये दंगे याद किए जाएँगे।

रामजन्मभूमि आन्दोलन के ज़रिए अपने सामाजिक आधार का विस्तार करते हुए उग्र हिन्दुत्व के नारे देती हिन्दू कट्टरपन्थी ताक़तों का नया चरित्र नवें दशक में सामने आया। अल्पसंख्यक कट्टरपन्थी ताक़तों

ने भी हिन्दुत्ववादियों के ज़हरीले प्रचार के लिए ज़मीन तैयार करने में भूमिका निभाई। यह अलग बात है कि पुलिस आयोग की रिपोर्ट से लेकर भारतीय पुलिस अकादमी की ओर से कराए गए वरिष्ठ पुलिस अधिकारी विभूतिनारायण राय के अध्ययन तक ने यही साबित किया है कि दंगों में जान-माल का अस्सी प्रतिशत नुकसान मुसलमानों का होता है। पर प्रचारित यह किया जाता रहा है कि दंगों की शुरुआत मुसलमान ही करते हैं। मुसलमानों के बारे में ऐसे ही मिथक इस क़दर प्रचारित किए जाते रहे हैं कि अच्छे-ख़ासे पढ़े-लिखे और प्रगतिशील लोग भी दिल-ही-दिल में इनमें से कुछ पर यक़ीन करते हैं—कि वे स्वभाव से ही हिंसक होते हैं, हिन्दुस्तान को अपना वतन नहीं मानते, कामुक होते हैं, कई-कई बीवियाँ रखकर थोकभाव से बच्चे पैदा करते रहते हैं, गन्दे होते हैं, उन पर भरोसा नहीं किया जा सकता, आदि-आदि। ऐसे झूठे प्रचारों का जवाब भी दिया गया, पर वह आम जनता तक नहीं पहुँचा जबकि हिन्दुत्ववादी सरकारी तंत्र, संघ परिवारी संगठनों के नेटवर्क, अफ़वाहों, संघी घुसपैठ वाले मीडिया तथा धर्म की आड़ में चलाए जाने वाले तमाम कार्यक्रमों की बदौलत समाज के ऊपरी से लेकर निचले तबकों तक में ज़हरीले बीज छींटते रहे। गुजरात में जो हुआ वह दंगा नहीं संगठित-सुनियोजित सफ़ाया अभियान था। संघ परिवार की प्लानिंग पर राज्य की पूरी मशीनरी के सहयोग से रचा गया जनसंहार था। और यह सिर्फ़ एक प्रयोग है जिसे देश के दूसरे इलाक़ों में आज़माने की ख़तरनाक तैयारियों में संघ के "वैज्ञानिक" और टेकनीशियन जुट गए हैं। हमें मिली विश्वसनीय सूचनाओं के मुताबिक उत्तर प्रदेश में राजधानी लखनऊ सहित कई छोटे-बड़े शहरों में पिछले कुछ महीनों में ग़रीबों की बस्तियों में संघ की शाखाएँ लगने लगी हैं, मेडिकल कैम्प और दूसरे कल्याण कार्यक्रमों की आड़ में हिन्दुत्व का प्रचार शुरू कर दिया गया है। गुजरात की प्रयोगशाला में जो प्रयोग किया गया, उसे अयोध्या की ज़मीन पर उतारने की तैयारियों में वे लग चुके हैं।

भाजपाई जानते हैं कि अकेले दम वे सत्ता में नहीं बने रह सकते। लेकिन उन्हें इस बात का भी यक़ीन हो चुका है कि कुछ पतित समाजवादियों, सत्ता सुख के लिए फ़ासिस्टों से भी बेझिझक हाथ मिलाने को तैयार क्षेत्रीय अवसरवादी पार्टियों और कांशीराम-मायावती जैसे दलित "मसीहाओं" के साथ गँठजोड़ से सत्ता हथियाने के लिए उन्हें जितनी सीटें चाहिए वह कट्टर हिन्दू कार्ड खेलकर ही मिल सकती है। कलराज मिश्र के इस्तीफे के बाद उत्तर प्रदेश में भाजपा की कमान सौंपने के लिए बजरंग दली विनय कटियार का नाम अनायास नहीं उछल रहा है। अशोक सिंघल और गिरिराज किशोर गुजरात में मुस्लिम-सफ़ाया मुहिम को "हिन्दू राष्ट्रभक्ति का उभार" घोषित करने के लिए लखनऊ ही को चुनते हैं। सिंघल और तोघड़िया उत्तर प्रदेश में ही बयान देते हैं कि "मदरसा-मैकाले-मार्क्सवाद" से देश को बचाना है।

जुगुप्सा पैदा करने और बार-बार दोहराव से उबकाई ला देने वाले तथ्यों के ब्योरे देने की यहाँ ज़रूरत नहीं। देश के जाने-माने लेखकों, पत्रकारों, सामाजिक कार्यकर्ताओं की, हमारी जानकारी में, दो दर्जन से ज़्यादा जाँच टीमों ने गुजरात का दौरा करके विस्तृत, तथ्यपूर्ण रिपोर्टें दी हैं। ख़ुद वाजपेयी सरकार द्वारा नियुक्त किया गया राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग गुजरात का दौरा करके दो बार मोदी सरकार की प्रखर आलोचना कर चुका है। राष्ट्रीय मीडिया के बड़े हिस्से ने सरकारी तंत्र की सीधी भागीदारी और दिशा-निर्देशन में हुए हैवानियत के नंगे नाच को विस्तार से उजागर किया है। यह साफ़ है कि साम्प्रदायिक दंगों के अब तक के इतिहास से यह एकदम विलग परिघटना है। दक्षिण अफ़्रीका की नस्ली हिंसा और अमेरिका के कू-क्लक्स-क्लान के गुण्डा गिरोहों के ताण्डव इसके आगे कुछ भी नहीं। इसकी तुलना की जा सकती है तो सिर्फ़ नात्सियों की यहूदी-सफ़ाया मुहिम से। सरकारी तंत्र की छत्रछाया में चलती फ़ासिस्ट वाहिनियों द्वारा वैसे ही 'पोग्रोम'; वैसे ही अल्पसंख्यकों के आर्थिक बायकाट के पर्चे; वैसा ही वहशीपन; हत्या और तबाही के वैसे ही ज़्यादा नृशंस, ज़्यादा कारगर तरीक़ों की ईजाद। या फिर फ़लस्तीन में ज़ियनवादियों और बोस्निया में सर्ब फ़ासिस्टों द्वारा किए जनसंहारों से इसकी तुलना की जा सकती है, पर वे युद्ध की

शक्ल में और एक लम्बी अवधि के दौरान घटित हुए। गुजरात में तो हिटलर की ही ज़बान में, 'ब्लिट्ज़क्रीग' की तरह 72 घण्टे में ही क़त्लो-ग़ारत के तमाम रिकार्ड तोड़ डाले गये।

अब यह साफ़ हो चुका है कि गोधरा तो निमित्त मात्र था। ऐसी स्थिति कहीं भी बन सकती थी। महीनों पहले से तैयारी जारी थी। त्रिशूलदीक्षा कार्यक्रमों के ज़रिए राज्य भर में लाखों त्रिशूल और तलवारें बाँटी गई थीं, जनवरी से ही संघ के लोग जनगणना कार्यकर्ता बनकर मुसलमानों के रहने के ठिकानों, सम्पत्ति और प्रतिष्ठानों की जानकारी इकट्ठा कर रहे थे, राजस्व विभाग और रजिस्ट्रार ऑफ़ कम्पनीज़ कार्यालय से उन्हें ज़रूरी सूचनाएँ मुहैया कराई जा रही थीं। गोधरा काण्ड के दो हफ़्ते पहले से एलपीजी की आपूर्ति कम पड़ने लगी थी क्योंकि सिलिण्डर इकट्ठा किए जा रहे थे। दंगाइयों की सेना इतनी साधनसम्पन्न थी, इतनी जल्दी गोलबन्द हुई, इसके निशाने इतने सटीक, और कार्रवाई के तरीक़े इतने प्रशिक्षित थे कि यह सब लम्बी तैयारी के बिना मुमकिन नहीं था। और गोधरा का सच भी दिन-ब-दिन साफ़ होता जा रहा है। साबरमती एक्सप्रेस में रामसेवकों के भयंकर उत्पात और उकसावे की कार्रवाइयों के बारे में फ़ैज़ाबाद के एक अख़बार की रिपोर्ट अब लाखों लोग पढ़ चुके हैं। गोधरा के वरिष्ठ पुलिस अधिकारी और स्टेशन मास्टर के बयान भी बहुत कुछ बता चुके हैं। इसीलिए उस पर पर्दा डालने की बेतहाशा कोशिशें की जा रही हैं। गोधरा को आई एस आई के आतंकवादियों की साज़िश साबित करने वाली संघ परिवार के प्रति निष्ठवान कतिपय पूर्व न्यायाधीश और पत्रकारों के एक कथित जाँच दल की रिपोर्ट पर आधारित ख़बर देश की प्रमुख समाचार एजेंसी से तीन बार जारी कराई जा चुकी है।

गुजरात का क़त्लेआम किसी भी मामले में भारत में अतीत के फ़ासिस्ट प्रयोगों से ज़्यादा संगठित था। आप्रवासियों के पैसे का सुनियोजित इस्तेमाल किया गया। दलितों और आदिवासियों के बीच धार्मिक आवरण में सुधार और कल्याण कार्यक्रम चलाकर और पैसे बाँटकर उनके एक हिस्से को भी दंगाई बनाने में संघी रणनीतिकार कामयाब हुए। हालाँकि कई अख़बारी रिपोर्टों के विपरीत सच यह है कि दलितों-आदिवासियों का एक अत्यन्त छोटा हिस्सा ही दंगों में शामिल हुआ। एक-दो अपवादों को छोड़ दें तो वे लूटपाट में ही लिप्त रहे, जघन्य हत्याकाण्डों में नहीं।

यह सच है कि इस सबने समाज में व्यापक असन्तोष और आक्रोश पैदा किया है। दिल्ली सहित कई शहरों में युवा पत्रकारों ने स्वतःस्फूर्त प्रदर्शन आयोजित किये। बहुत से लोग कुछ ठोस करने की बेचैनी महसूस कर रहे हैं। लेखक-कलाकारों-संस्कृतिकर्मियों-अकादमिकों ने आवाज़ उठाई है। लेकिन हमें कड़वी सच्चाइयों से भी आँखें नहीं मूँद लेनी चाहिए। बहुतेरे बुद्धिजीवी क्षुब्ध, दुखी, उत्तेजित हैं पर 'क्या करें' के सवाल पर उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा है। साम्प्रदायिकता विरोध की औपचारिक कार्रवाइयों में रत कुछ बुद्धिजीवियों को इसी बात से कुछ सुकून मिल रहा है कि पूँजी-निवेश कम होने और आर्थिक नुकसान से नाराज़ कारपोरेट जगत भाजपा के पीछे से हाथ खींच लेगा और चुनाव में अन्य पार्टियाँ भाजपा को सत्ता से हटा देंगी तथा देश को इस ख़तरनाक संकट से निजात मिल जाएगी। इसी बात से निश्चिन्त होकर वे आनुष्ठानिक कार्रवाइयों में लगे हुए हैं।

यह एक चिन्ताजनक स्थिति है। यह जान लेना चाहिए कि सत्ता में नहीं रहने पर भी फ़ासीवादी ताक़तें निःशक्त नहीं हो जाएँगी। फ़ासीवाद ने अपने सामाजिक आधार का कैसे विस्तार किया है और धार्मिक कट्टरपन्थ का भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर के आर्थिक कट्टरपन्थ से क्या रिश्ता है, इसे नहीं समझेंगे तो ख़ुशफहमियों में जीते हुए हम अपने आप को और कमज़ोर ही करते जाएँगे। अन्य संसदीय पार्टियों के इतिहास और वर्तमान को देखकर उनसे कोई भी उम्मीद पालना अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना ही होगा।

हमें इस बात का अहसास हो जाना चाहिए कि फ़ासीवाद अब भारतीय राजनीति में काफ़ी समय

तक बने रहने के लिए आया है। चुनाव में भाजपा और उसके सहयोगी दलों की सीटें बिल्कुल घट जाएँ तब भी फ़ासीवादी ताक़तें समाज में नफ़रत का ज़हर फैलाती रहेंगी और गृहयुद्ध जैसे हालात पैदा कर देने से बाज़ नहीं आएँगी।

यह भी नहीं भूलना चाहिए कि बुर्जुआ वर्ग फ़ासीवाद को लेकर हमेशा द्वन्द्व का शिकार रहता है। एक ओर उसी के तौर-तरीक़े फ़ासीवाद को बढ़ावा देते हैं, दूसरी ओर पूँजी-निवेश घटने और कारोबार का नुकसान होने से वह नाराज़ भी होता है। लेकिन साथ ही कट्टरपन्थी आर्थिक नीतियों को तेज़ी से लागू करने की फ़ासीवादी हुकूमतों की क्षमता का वह मुरीद भी होता है। जर्मनी में हिटलर के फ़ासिस्ट गिरोहों के पीछे उद्योग जगत के बड़े सरदार यूँ ही नहीं खड़े थे, और तमाम नुकसान के बावजूद भारतीय बड़े उद्योगपतियों की ख़ामोशी की वजह भी इसी से समझी जा सकती है। कहा जा सकता है कि फ़ासीवाद बुर्जुआ वर्ग के लिए भस्मासुर की तरह होता है। विनाशलीला की राह पर एक बार चल पड़ने के बाद उसकी कमान बुर्जुआ वर्ग के हाथ में नहीं रह जाती।

हिटलर के फ़ासीवाद से सादृश्य निरूपण करते हुए हमें देश-काल के अन्तर को भी ध्यान में रखना होगा। हिटलरी फ़ासीवाद से अनेक साम्य होते हुए भी भारतीय फ़ासीवाद की स्थिति में एक भिन्नता है। यह एक साम्राज्यवादी देश का फ़ासीवाद नहीं है जो नस्ली श्रेष्ठता के नारे देता हुआ विश्वविजय की बातें करे। यह तो यूरोप और अमेरिका के चौधरियों के तलवे चाटते हुए, सैकड़ों साल पहले के हमलावर बादशाहों का बदला लेने के नाम पर आम, ग़रीब लोगों को कुचलकर धन, धर्म और जाति से "श्रेष्ठ" जनों का "रामराज्य" क़ायम करना चाहता है, जो वस्तुतः पूँजी के शासन का नग्नतम-निरंकुश रूप ही है। हाँ, पास-पड़ोस के छोटे देशों के विरुद्ध यह अन्धराष्ट्रवादी-विस्तारवादी नारे देता रहेगा, जो सत्ताधारी पूँजीपति वर्ग के हितों के भी मुआफ़िक होगा और क्षेत्रीय तनाव और संघर्षों की आँच में रोटी सेंकने वाले साम्राज्यवादी भी इस स्थिति को बनाए रखना चाहेंगे और मौक़ा पड़ने पर इस क्षेत्र को बोस्निया, कोसोवो या अफ़ग़ानिस्तान में तब्दील कर देने से नहीं हिचकेंगे।

अन्य बुर्जुआ पार्टियाँ भी आज संविधान, आदर्श, जनवाद की चाहे जितनी बातें करें, भूलना न होगा कि भारतीय संसदीय राजनीति में धार्मिक कट्टरपन्थ के विरोध की मुद्रा वोटबैंक को बनाए रखने और इसके विस्तार के लिए ही अपनाई जाती रही है। धार्मिक कट्टरपन्थ और इसका संसदीय विरोध—दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिए "उदार" बुर्जुआ और सुधारवादी ताक़तों पर भरोसा करना भारी भूल होगी।

बाबरी मसजिद गिराए जाने के पहले और बाद से ही चले आ रहे साम्प्रदायिकता के प्रतीकात्मक और औपचारिक-आनुष्ठानिक विरोधों का इस बार भी घटाटोप है; लेकिन पहली बार गुजरात ने बहुतों की आँखें भी खोली हैं। बर्बरता के इस भ्रद-शालीन विरोध के विरोध में भी आवाज़ें उठ रही हैं। जिस "वामपन्थी" कुलीनता ने आम जन के बीच वामपन्थ को कलंकित किया है, उसका एक्सपोज़र भी हो रहा है। असगर वजाहत, महाश्वेता देवी, अनिल चमड़िया, आर. चेतनक्रान्ति, संजय चतुर्वेदी आदि अनेक लेखकों ने साम्प्रदायिकता के कर्मकाण्डी विरोध पर जो क्षोभ व्यक्त किया है, उससे असहमत नहीं हुआ जा सकता। असगर वजाहत का यह कहना बिल्कुल सही है कि साम्प्रदायिकता विरोधी आन्दोलन प्रायः बड़े शहरों के उन इलाक़ों में चलाए जाते हैं जहाँ साम्प्रदायिकता का विरोध साम्प्रदायिक ताक़तों पर कोई असर नहीं डाल पाता। इस तरह विरोध की तलवार हवा में भाँजी जाती है। साम्प्रदायिकता का प्रतीकात्मक, निरर्थक और हवाई विरोध करने से अच्छा होगा कि छोटे स्तर पर ही सही, कारगर क़दम उठाए जाएँ और प्रभावी रणनीति बनाई जाए। यहाँ तक कि एक बुर्जुआ अख़बार के सम्पादकीय कालम में मृणाल पाण्डे "हाथीदाँत की मीनारों से किए जाने वाले प्रतिरोध" की भर्त्सना करते हुए कहती हैं कि यूरोप के देशों में, रूस में या चीन में क्रान्तिकारी ताक़तों ने ही फ़ासिस्टों को शिकस्त दी। वे यहाँ तक कहती हैं

कि सच्चे क्रान्तिकारियों के दस्ते सड़कों पर उतरकर साम्प्रदायिक ताक़तों को योजनाबद्ध ढंग से समूल नष्ट कर सकते हैं। यह अलग बात है कि अगले ही वाक्य में वे अपने पूरे लेख के निष्कर्ष को अपनी कांग्रेसपरस्ती के पंककुण्ड में गिरते हुए फ़रमाती हैं कि इसकी प्रतीक्षा करने के बजाय हम वर्तमान राज्यतंत्र में ही ईमानदार, कर्मठ प्रतिनिधि चुनें ताकि पुलिस "पुनः" कमज़ोरों की रक्षा करे, न्यायपालिका "पुनः" दोषियों को सज़ा दे और प्रशासक संविधान की गरिमा बहाल करने में जुट जाएँ।

वैसे इधर एक ताज़ा प्रवृत्ति और दिखाई दे रही है कि औपचारिक-आनुष्ठानिक विरोध पर कुछ लोग क्षोभ, और क्षोभ, और क्षोभ प्रकट करते हुए इतने क्षुब्ध हुए जा रहे हैं कि कोई नतीजा ही नहीं निकाल पा रहे हैं। वे हर चीज़ को खारिज कर रहे हैं और ख़ुद कुछ नहीं कर रहे। बस उनके विक्षोभ की चीत्कार दिग-दिगन्त में गूँजती रह जा रही है। यह सर्वनिषेधवादी प्रवृत्ति गहरी निराशा की उपज है। यह लोगों को और निराश करने के सिवा किसी काम नहीं आएगी।

अनेक संस्थाओं ने बड़ी हिम्मत और चुस्ती के साथ गुजरात के हालात पर विस्तृत तथ्यपूर्ण रिपोर्टें तैयार कर बहुत उपयोगी काम किया है, लेकिन एक-दो को छोड़कर ये सारी रिपोर्टें अंग्रेज़ी में हैं और मध्यवर्ग के ऊपरी तबके के छोटे से हिस्से से नीचे इनका कोई असर नहीं पड़ता। ये लोग मज़दूरों-किसानों-शहरी ग़रीबों-बेरोज़गारों की भारी आबादी के बीच क्यों नहीं जाते? तमाम संसाधन होते हुए भी अपनी बात उन लोगों तक पहुँचाने के उपाय क्यों नहीं ढूँढ़ते जो वास्तव में फ़ासिस्ट गुण्डा वाहिनियों को टक्कर दे सकते हैं। मज़दूरों-ग़रीबों का विराट सागर साम्प्रदायिकता-विरोध से बाहर धकेल दिया गया है। संघ परिवार की साज़िशों का भण्डाफोड़ करती 'उद्‌भावना' पुस्तिकाओं की शृंखला एक प्रशंसनीय क़दम है, लेकिन ऐसी दर्जनों छोटी-बड़ी पुस्तिकाओं-पैम्फ़लेटों के बड़े पैमाने पर वितरण की ज़रूरत है। इसमें लेखकों-संस्कृतिकर्मियों की बहुत बड़ी भूमिका बनती है। हमारे एक मित्र कवि इस बात से आहत हैं कि उन्होंने गुजरात पर इतनी कविताएँ लिखीं और छपवाईं फिर भी नरेन्द्र मोदी का बाल बाँका नहीं हुआ। पर कविगण आम लोगों को फ़ासीवाद से आगाह करने के लिए पर्चे क्यों नहीं लिख सकते? कहानीकार फ़ासीवादी आतंक की कहानियाँ ज़रूर लिखें, पर वे इसके भण्डाफोड़ के लिए पुस्तिकाएँ क्यों नहीं तैयार कर सकते? कवि-कहानीकार-नाटककार-आलोचक—ये सब क्या रचनाकार होने के साथ-साथ समाज के नागरिक नहीं हैं? क्या वे इन पर्चों-पुस्तिकाओं को लेकर आम लोगों के बीच, सड़कों-चौराहों पर, कारख़ाना गेटों पर, रेल-बस स्टेशनों पर नहीं जा सकते? क्या यह काम केवल राजनीतिक कार्यकर्ताओं का है?

यहाँ हम एक और अहम मुद्दे की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। क्रान्तिकारी शक्तियों ने निचले स्तरों तक पहुँचने वाले सतत सांस्कृतिक आन्दोलन और विभिन्न सुधार कार्यक्रमों के द्वारा जनता में पैठ बनाने के महत्त्व को नहीं समझा है। तृणमूल स्तर पर जनता के बीच पिछड़े मूल्यों-मान्यताओं-विचारों पर चोट करने, उन्हें बदलने का काम नहीं किया। कहा जा सकता है कि भारत के वामपन्थी आन्दोलन ने सांस्कृतिक मूल्यगत और वैचारिक वर्ग-संघर्ष को सही ढंग से संगठित नहीं किया, सतत प्रक्रिया के रूप में इसे नहीं चलाया और एक व्यापक जनान्दोलन की शक्ल देने में नाकाम रहा। इस लेख में इसकी गुंजाइश नहीं लेकिन इस स्थिति के कारणों की गहराई से पड़ताल हमें करनी ही होगी। ज़मीनी स्तर पर इस कमज़ोरी ने फ़ासीवाद को आधार बढ़ाने का मौक़ा दिया। कतिपय लेखक संगठन साम्प्रदायिक फ़ासीवाद के प्रतिरोध के लिए आज जो एजेण्डा रख रहे हैं, वह शायद इस ग़लती के अहसास से उपजा है, पर वह एक दीर्घकालिक कार्यक्रम है। इसमें आज की जाने वाली फ़ौरी कार्रवाई की कोई जगह नहीं है। ये कार्यक्रम लोगों को संगठित करने के लिए एक आधार तैयार कर सकते हैं, पर ऐसा नहीं कि इनसे फ़ासीवाद को पैदा होने से रोका जा सकेगा। अपनी रही-सही ताक़त को लेकर फ़ौरी तौर पर प्रतिरोध के लिए क्या कर रहे हैं, इसका कोई प्रस्ताव नहीं है। इस प्रकार के प्रतिरोध की प्रस्तावना पर तो

बजरंगिये भी ताली पीट-पीटकर ठठाकर हँस रहे होंगे।

बहरहाल, सामाजिक-जनवादियों से तो औपचारिकताओं की ही अपेक्षा की जा सकती है, लेकिन कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने भी ऐसे समय में एकजुट होकर देशव्यापी पैमाने पर अपनी ताक़त भर विरोध प्रदर्शन क्यों नहीं किया? कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों से जुड़े कोई 60 जनसंगठनों के साझा 'साम्राज्यवादी भूमण्डलीकरण विरोधी मंच' (FAIG) की ओर से 9 मई को दिल्ली में हुई 15-20 हज़ार लोगों की रैली में भी आख़िरी वक्त पर गुजरात का मुद्दा पुछल्ले की तरह जोड़ा गया था। अगर इन संगठनों ने पूरी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में गुजरात की घटनाओं और आने वाले संकट को सही ढंग से समझा होता, फ़ासिस्टों के ऐसे हमलों के विरुद्ध कम्युनिस्टों के कार्यभारों का उन्हें अहसास होता तो तयशुदा कार्यक्रमों को भी बदला जा सकता था। बेहतर होता कि गुजरात जनसंहार के बाद, इस रैली को स्थगित कर सभी संगठनों की आपात बैठक बुलाई जाती और इस बर्बरता के जुझारू प्रतिरोध का कोई बड़ा कार्यक्रम लिया जाता। क्रान्तिकारी व्यावहारिक होते हैं और वे दूरगामी कार्यक्रमों के लिए फ़ौरी कार्यभारों की क़तई उपेक्षा नहीं करते।

'हंस' के जून अंक में हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव ने ई पी डब्ल्यू (30 मार्च, 2002) की रिपोर्ट को उद्धृत करते हुए सही सवाल उठाया है कि आर्थिक मुद्दों पर ग़रीबों-मज़दूरों को आन्दोलन के लिए संगठित करने वाली पार्टियाँ साम्प्रदायिकता के ख़िलाफ़ उन्हें गोलबन्द क्यों नहीं कर सकीं? सीटू और एटक आर्थिक मसलों पर हजारों रैलियाँ, प्रदर्शन, बन्द आयोजित करते रहे पर साम्प्रदायिकता के ख़िलाफ़ उन्होंने कोई बड़ी लड़ाई नहीं लड़ी। कहने के लिए इनके पास लाखों मज़दूरों की सदस्यता है, दो-दो, तीन-तीन राज्यों में इनकी पार्टियों की सरकारें हैं। फिर पिछले 14-15 वर्षों में अयोध्या से गुजरात की पूरी यात्रा के दौरान साम्प्रदायिक फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ कुछ लाख न सही, 50-60 हज़ार मेहनतकश भी अपने परचमों और नारों के साथ अयोध्या या लखनऊ या दिल्ली में क्यों नहीं सड़कों पर उतारे जा सके? जहाँ इनका प्रभाव था, वहाँ भी रथयात्रा और शिलापूजन के प्रतिरोध के लिए कोई कार्यक्रम क्यों नहीं लिया जा सका? ये सभी चुनावी वामपन्थी तीरन्दाज़ साम्प्रदायिकता के ख़िलाफ़ संसद में सरकण्डे के तीर छोड़ते रहे और अख़बारी बयानों में गत्ते की तलवार भाँजते रहे। बहरहाल, ये बातें तो हम इनके वामपन्थी होने के दावों पर कह रहे हैं। महज़ कुछ रियायतों और आना-पाई की लड़ाई में मशगूल इन सामाजिक-जनवादी ताक़तों से तो हम इससे ज़्यादा की अपेक्षा कर ही नहीं सकते। इनसे तो हमें कोई सवाल नहीं करना, पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों ने क्यों नहीं इसे अपने एजेण्डे में रखा? यह सही है कि वे खण्ड-खण्ड में बिखरे हुए हैं जिसके कुछ बुनियादी राजनीतिक कारण हैं जिनकी अलग से चर्चा की जा सकती है, पर अगर वे फ़ासीवाद-विरोध के न्यूनतम मुद्दे पर एक साथ आ जाएँ तो उनकी सम्मिलित ताक़त एक कारगर चुनौती पेश कर सकती है। अगर ये ताक़तें एक मज़बूत विकल्प खड़ा करें तो मेहनतकशों के अतिरिक्त मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा, जो वाक़ई धर्मनिरपेक्ष है, या साम्प्रदायिकता के बर्बर रूप से मानवतावादी होने के नाते घृणा करता है, साथ आकर खड़ा होगा। लेकिन इनके विकल्प नहीं प्रस्तुत करने के चलते उसकी मजबूरी है कि वह संसदीय वामपन्थ के साथ खड़ा है या फिर समाजवादी पार्टी अथवा कांग्रेस के सहारे साम्प्रदायिकता का विरोध करना चाहता है।

बहुत से लोग गुजरात के प्रसंग में मीडिया, ख़ासकर इलेक्ट्रानिक मीडिया की सकारात्मक भूमिका से बेहद ख़ुश हैं। यहाँ तक कि कुछ लोग कहते हैं कि संघ परिवार का असली कारगर विरोध तो मीडिया ने ही किया। इस बात की आंशिक सच्चाई वास्तविक कारगर विरोध की अनुपस्थिति को इंगित कर स्थिति को और विडम्बनापूर्ण बना देती है। मीडिया के सेक्युलर होने पर ज़्यादा ख़ुश होने की ज़रूरत नहीं है। वस्तुपरक तौर पर उसकी जो भूमिका बनी है उसे स्वीकारते हुए भी बड़े कारपोरेट घरानों द्वारा संचालित मीडिया की धर्मनिरपेक्षता के बाज़ार से रिश्ते की पड़ताल की जानी चाहिए। वैसे यही मीडिया

आज युद्धोन्माद पैदा करने में वाजपेयी, आडवाणी और फ़र्नाण्डीस के साथ सुर में सुर मिला रहा है। इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं। बड़ी पूँजी की धर्मनिरपेक्षता और साम्प्रदायिकता उलट-पुलट होने वाले पहलू हैं।

ऐसे विभ्रम हमें कमज़ोर बनाते हैं। अतीत में इसके तमाम उदाहरण मौजूद हैं। आज भारतीय अर्थव्यवस्था के लाइलाज संकट और विश्व पूँजीवाद के भूमण्डलीय संकट के दौर में जनवाद का क्षरण भारत ही नहीं पूरी दुनिया में एक अनुत्क्रमणीय प्रवृत्ति बन चुकी है। फ़ासीवाद और बुर्जुआ जनवाद के बीच की विभाजक रेखाएँ धूमिल होती जा रही हैं। बाज़ार-कट्टरपन्थ का पुनरुत्थान एक भूमण्डलीय परिघटना है जो पूरी दुनिया में पूँजीवादी जनवाद के ऋण-स्खलन को सीमान्तों के निकट धकेल रही है और जो राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक दायरों में धार्मिक कट्टरपन्थी, पुनरुत्थानवादी और विविधरूपा फ़ासिस्ट धाराओं-प्रवृत्तियों-रुझानों की नर्सरी का काम कर रही है।

फ़ासीवाद के ख़तरे के प्रति आगाह करना अब भेड़िया आया-भेड़िया आया वाली बात नहीं। भेड़िया तो आ चुका है। यूनानी कवि कवाफ़ी की कविता की भाषा में कहें तो नगर के सीमान्त पर खड़े होकर बर्बरों की प्रतीक्षा करने की बात नहीं रही, बर्बर तो नगर के भीतर प्रविष्ट होकर अपना काम शुरू कर चुके हैं।

हमें ठोस, ज़मीनी सन्दर्भों में सोचना होगा; मुक़ाबले और प्रतिकार के लिए दूरगामी योजनाएँ बनानी होंगी, और फ़ौरी तौर पर जो भी कर सकते हैं, शुरू कर देना होगा।

हमें हमेशा याद रखना होगा कि शालीन, भलेमानस, नर्मदिल बुद्धिजीवी ऐसे बर्बर जनसंहारों पर जितनी भी आहें-कराहें भरें, जैतून की टहनियाँ लेकर मेल-मिलाप की अपीलें करें, उससे कुछ नहीं होने वाला। पिछली शताब्दी में मेहनतकशों ने ही फ़ासीवाद का मुक़ाबला किया था और उसे परास्त किया था। भारत में मेहनतकशों की आबादी जनता का 70 फ़ीसदी है। हमें फ़ासीवाद के विरुद्ध उनके बीच प्रचार की कार्रवाइयाँ करनी होंगी, उन्हें संगठित करना होगा। उनकी आर्थिक माँगों के लिए संघर्ष करने वालों को मेहनतकशों में फैलाए जाने वाले नफ़रत के ज़हर की काट करनी होगी। तब भलेमानस, नर्मदिल बुद्धिजीवियों को भी एक सहारा मिल जाएगा। वैसे ये बुद्धिजीवी अगर मेहनत करने वालों के बीच अपनी बात लेकर जाएँ तो उन्हें इस अहसास से बल मिलेगा कि दकियानूसी और कूपमण्डूकता के रसायनों में घुला घृणा का विष शिक्षित मध्यवर्ग के मस्तिष्क में जिस क़दर घुस चुका है, उसके मुक़ाबले, लम्पट सर्वहारा आबादी को छोड़, बाक़ी मेहनतकशों में उसका असर बहुत कम है।

इस काम में संस्कृतिकर्मियों-लेखकों की बहुत बड़ी भूमिका बन सकती है। हमें, मिल-बैठकर सोचना होगा कि साम्प्रदायिक ताक़तों की प्रभावी काट के लिए क्या तौर-तरीक़े अपनाए जा सकते हैं। पर इसके पहले लेखकों और संस्कृतिकर्मियों को मेहनतकश आबादी के बीच जाकर उसे फ़ासीवाद के विरुद्ध जागृत और संगठित करने का संकल्प लेना होगा।

गुजरात नरसंहार और "महान भारतीय मध्यवर्ग" का फ़ासीवादी चेहरा

महताब

गुजरात में अल्पसंख्यकों के सफ़ाए की फ़ासीवादी मुहिम के पहले दौर में, जब मुस्लिम व्यापारियों की दूकानों पर पुलिस के संरक्षण पर विहिप और बजरंग दल के गुण्डा गिरोहों ने धावा बोला तो लूटपाट में अभिजात मध्यवर्ग के लोगों ने जमकर हिस्सा लिया।

सिएलो, ज़ेन और मित्सुबिशी लांसर में भरकर समृद्ध परिवारों के स्त्री-पुरुष भागते हुए बाज़ारों में पहुँचे और जलाए जाने से पहले, दूकानों से जितना सामान उठा सकते थे, उठाकर भागे। पुरुष टी.वी., फ्रिज, वाशिंग मशीन आदि लाद रहे थे। "कुलीन" स्त्रियाँ ओवन, जूतियाँ, सौन्दर्य प्रसाधनों और कपड़ों के बण्डलों से लदी-फदी एक-दूसरे पर गिरती-पड़ती भाग रही थीं।

यह गुजरात के ही नहीं, पूरे भारत के उस कुलीन मध्यवर्ग की अन्तरात्मा का असली चेहरा था जो जलती हुई लाशों की चिरायन्ध के बीच, बाज़ार से उपभोग, फ़ैशन, विलासिता और रौनक के सामानों की लूट का जश्न मना रहा था। यह दिन में दफ़्तरों में अफ़सरी करने और बहुप्रचारित सामाजिक कार्यों में लगा रहने वाला और रात में पार्टियों तथा फ़ार्महाउसों में रंगरेलियाँ मनाने वाला वह कुलीन उपभोक्ता समुदाय था, जो इस बुर्जुआ व्यवस्था का मेरुदण्ड है, जो बहुसंख्यक उत्पादक जनता को ग़ुलाम और पशु से अधिक कुछ नहीं समझता। यह परजीवी-परभक्षी वर्ग, समाज में पर्दे के पीछे जारी लूट का भागीदार तो हमेशा से रहा हे। फिर जब खुली लूट का एक सुनहरा अवसर हाथ आया तो बहती गंगा में हाथ धोने से भला यह क्यों चूकता। मौक़ा आते ही, सोसाइटी का यह फ़ैशनेबल, 'सभ्य-सुसंस्कृत तबका" लालची लुटेरों की अराजक भीड़ में तब्दील हो गया।

गुजरात-काण्ड का यह पहलू दरअसल खुले बाज़ार के सांस्कृतिक महोत्सव का एक प्रतिनिधि दृश्य था। यह ऐसा दृश्य था जो भारतीय मध्यवर्ग के ऊपरी हिस्से की सामान्य सामाजिक भूमिका को, उसके आचार-विचार और संस्कृति को सान्द्र, 'कण्डेन्स्ड' फ़ॉर्म में प्रस्तुत करता था। यह "महान भारतीय मध्यवर्ग" की महागाथा का एक नया अध्याय था। यह रोमन साम्राज्य की सांस्कृतिक-नैतिक पतनशीलता को मात देने वाली इक्कीसवीं सदी के बुर्जुआ भारतीय समाज के सत्ताधारियों के दरबारियों की पतनशीलता का एक प्रतिनिधि दृश्य था। इस दृश्य के निहितार्थ को समझकर हम ऊपर की उस बीस करोड़ आबादी के जीवन-दर्शन को समझ सकते हैं जो आँसू और रक्त के सागर में निर्मित ऐश्वर्य और विलासिता के द्वीपों पर निवास करती है। सोचने का अहम मुद्दा यह भी है कि प्रगतिशील होने का दम भरने वाले जो बुद्धिजीवी, सत्ता से नाभिनालबद्ध इन रक्तपायी लोगों के साथ ही उठते-बैठते हैं, वे कहाँ खड़े हैं और उनकी 'पॉलिटिक्स' क्या है?

इसी प्रसंग में, एक राष्ट्रीय अंग्रेज़ी समाचार पत्र में प्रकाशित वह रिपोर्ट भी ग़ौरतलब है जिसमें इस तथ्य की विस्तार से चर्चा की गई है कि गुजरात को हिन्दुत्व की प्रयोगशाला बनाने की लम्बे समय से जारी मुहिम में आप्रवासी गुजराती धनिकों—व्यवसाइयों और नौकरीपेशा लोगों की आर्थिक सहायता की कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। ये वे लोग हैं जो ज़्यादा से ज़्यादा पैसा कमाने के लिए और आराम की ज़िन्दगी के लिए पश्चिम के नन्दन-कानन में जा बसे, लेकिन वहाँ की ज़िन्दगी से कटे-छँटे अपने पुरातनपन्थी विचारों और संस्कृति से चिपके रहे। पश्चिमी जीवन की पतनशीलता का कचरा और सिक्के तो इन्होंने ख़ूब बटोरे, पर वहाँ के आम सामाजिक जीवन में जिस हद तक भी इतिहास-प्रसूत तर्कणा और जनवाद के मूल्य बचे हुए हैं, उनसे अपने को पूरी तरह बचाए रखा। पश्चिम की सड़कों पर जब मज़दूरों, आप्रवासी ग़रीबों, अश्वेतों और स्त्रियों के हुजूम अपने अधिकारों के लिए आन्दोलित होकर उमड़ते हैं, उस समय ये वहाँ बनाए गए मन्दिरों में भजन-कीर्तन करते होते हैं या फिर अपने अपार्टमेण्ट्स में बैठे आसाराम बापू और मुरारी बापू के प्रवचनों के वीडियो कैसेट्स सुनते होते हैं। मलाल इन्हें इस बात का ज़रूर रहता है कि तमाम सुख-सम्पदा के बावजूद, पश्चिमी देशों के नागरिक इन्हें हिक़ारत की निगाह से देखते हैं। ऐसे में, जड़ों से कटे हुए इन स्वार्थी भगोड़ों के लिए हिन्दुत्व श्रेष्ठता-बोध और अस्मिता की पहचान की एक मिथ्याभासी चेतना का काम करता है, लेकिन वास्तव में वह इनकी हीनता-ग्रंन्थि होती है। यही वे लोग हैं जो अयोध्या में राममन्दिर निर्माण के लिए और हिन्दुत्व के प्रचार-प्रसार के लिए विहिप को पिछले दस-बारह वर्षों से लगातार करोड़ों रुपये का सालाना चन्दा भेजते रहते हैं। इनकी निश्चिन्तता का एक कारण यह भी है कि हिन्दू राष्ट्र बनाने के नाम पर संघ परिवार यदि पूरे देश को गृहयुद्ध की आग में भी झोंक दे तो उसकी आँच इन तक नहीं पहुँचने वाली है। यूरोप में जो दक्षिणपन्थी ताक़तें तीसरी दुनिया के आप्रवासियों के ख़िलाफ़ नस्लवादी-रंगभेदवादी मुहिम चलाती रहती हैं, उनके शिकार भी मुख्यतः मज़दूर, निम्नमध्यवित्त तबके के नौकरीपेशा लोग और छात्र ही होते हैं। लेकिन उससे धनी आप्रवासियों में भी भय का संचार होता है। इस मनोविज्ञान के चलते भी उनमें "शक्तिशाली हिन्दू राष्ट्र" के निर्माण के नारे के प्रति एक आकर्षण पैदा होता है। भारतीय आप्रवासियों का जो हिस्सा अकादमिक क्षेत्र में काम करता है, वह अपने हमपेशा लोगों के साथ काफ़ी हद तक घुला-मिला जीवन बिताता है और उसी का एक हिस्सा ऐसा भी है जो स्थानीय जनवादी आन्दोलनों में हिस्सा लेता है तथा भारत में साम्प्रदायिकता के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाता है। पर ऐसे बुद्धिजीवियों की संख्या बहुत कम है।

मध्यवर्ग के बड़े हिस्से के ऐसे घोर प्रतिक्रियावादी हो जाने के पीछे गुजराती समाज की विशिष्ट संरचना और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की भी भूमिका है। सूरत और अहमदाबाद जैसे औद्योगिक केन्द्रों के बावजूद गुजरात में वाणिज्यिक पूँजी का तथा व्यापारी और मध्य तबके का बोलबाला है। गुजराती व्यवसायी काफ़ी लम्बे समय से विदेशों तक जाकर कारोबार करते रहे हैं और अमेरिका तथा कई अफ़्रीकी

देशों में इनकी ख़ासी तादाद है। वाणिज्यिक पूँजी से जुड़े व्यापारी तथा मध्य तबके के बीच ग़ैरजनतांत्रिक मूल्यों के हावी होने के बारे में ज़्यादा कहने की ज़रूरत नहीं, हम बस इस बात को रेखांकित कर रहे हैं।

सामान्यतः लोग गुजराती मध्यवर्ग की जिस व्यावसायिक उद्यमशीलता की तारीफ़ करते नहीं अघाते, मूल्यों-विचारों के धरातल पर वही उसके नकारात्मक पक्ष का आधार है। व्यावसायिक हित के तकाज़े से वे आम जीवन में विनम्र और धर्मभीरु प्रतीत होते हैं। लेकिन इन धर्मप्राण व्यवसाइयों की अन्तरात्मा में गहराई में घोर मानवद्रोही मूल्य बैठे होते हैं। वे ग़रीब जो इनके सामान ख़रीदने की हैसियत नहीं रखते वे इनके लिए मानो इन्सान ही नहीं होते। मेरे दफ़्तर के जो चन्द-एक लोग गुजरात के क़त्लेआम को सही ठहराने की संघी दलीलों के समर्थक हैं, उनमें से एक महिला सहकर्मी ने आन्ध्र प्रदेश में गर्मी से लोगों के मरने की ख़बरों पर मुँह बिचकाकर कहा कि जाने क्यों अख़बारवाले ये सब ख़बरें देते हैं। गर्मी से तो ज़्यादातर भिखारी या सड़कछाप लोग मरते हैं; उनके जीने-मरने से क्या फ़र्क़ पड़ता है? ये मध्यवर्ग के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से के प्रतिनिधि विचार हैं। व्यापारिक पूँजी की बहुलता-प्रचुरता वाले गुजराती समाज में ही मुरारी बापू, आसाराम बापू और तमाम अन्य स्वामी सम्प्रदाय क्यों पनपे, इसे भी समझना कठिन नहीं है।

गुजरात के दंगों की एक नई बात यह भी है कि इनकी लपटें गाँवों तक पहुँच गईं। राज्य के 1200 गाँव इससे प्रभावित हुए। सबसे बड़ी बात, इन दंगों में पिछड़ी जातियों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। यह चिन्ताजनक है पर आश्चर्यजनक नहीं। जिन भी देशों में धीमी गति से भूमि सुधार लागू हुए वहाँ कुलक सबसे कम जनतांत्रिक वर्ग रहा है। भारत जैसे पिछड़े देशों में तो कुलकों की भूमिका बहुत प्रतिक्रियावादी रही है। दलितों-स्त्रियों का ये बर्बर उत्पीड़न करते रहे हैं। पश्चिम उत्तर प्रदेश और बिहार में तो मध्य जातियों से उभरे कुलकों ने दलितों-स्त्रियों-खेतिहर मज़दूरों के दमन-उत्पीड़न के मामले में सवर्णों को भी पीछे छोड़ दिया है।

गुजरात के ग्रामीण क्षेत्रों में मध्य जातियों के कुलकों का बोलबाला है। पाटीदार (पटेल) आज़ादी के पहले से ही सम्पन्न थे और कोली, भील तथा अन्य निम्नक्षत्रिय जातियों में '47 के बाद समृद्धि आई और इनका राजनीतिक-सामाजिक प्रभाव भी बढ़ा। दुग्ध उत्पादन सहकारियों से जुड़े तथा मूंगफली, कपास, गन्ना, तम्बाकू आदि नक़दी फसलों का बाज़ार के लिए उत्पादन करने वाले गुजरात के सम्पन्न किसान आज महज़ किसान नहीं रह गए हैं। इनके ऊपरी तबके का सहकारी व सरकारी ऋणदाता समितियों पर कब्ज़ा है, कृषि उपकरणों, खाद-बीज आदि का व्यापार इनके पास है—ये बड़ी उद्यमी बन चुके हैं। शहर के व्यापारियों-उद्योगपतियों से इनके सम्पर्क-सूत्र जुड़े हैं। मध्यम किसानों की प्रकृति भी देश के अन्य इलाक़ों के मुक़ाबले शहरी मध्यवर्ग के ज़्यादा क़रीब है। (गुजरात में शहरीकरण की रफ़्तार भी बाक़ी देश से कहीं तेज़ रही है। वहाँ शहरों-क़स्बों की संख्या 1947 में 100 से बढ़कर आज 260 हो चुकी है।) इनकी फ़ासीवाद से निकटता और संघ परिवार की ग्रामीण इलाक़ों में पैठ का यही आधार है।

दूसरे, पिछड़ी जातियों का उभार तो गुजरात में हुआ पर उसमें ब्राह्मणवाद-विरोध का कोई तत्त्व नहीं था। कुछ धार्मिक सम्प्रदायों के नेतृत्व में संगठित पिछड़ी जातियों ने ऊपर उठने के लिए संस्कृतीकरण का रास्ता अपनाया। ख़ुद को ज़्यादा कट्टर हिन्दू दिखाने की जो प्रवृत्ति देश के कई इलाक़ों में मध्य जातियों में बढ़ी है, उसका असर गुजरात में कुछ ज़्यादा ही है।

मुसलमानों के ख़िलाफ़ दंगों में पिछड़ों और दलितों के इस्तेमाल की बात एक साथ करना ठीक नहीं है। पिछड़ी जातियों में हिन्दुत्ववादी शक्तियों की गहरी पैठ हो चुकी है जिसका एक स्पष्ट वर्गीय और सांस्कृतिक आधार है। गाँवों से मुसलमानों को बेदखल कर उनकी सम्पत्ति और कारोबार पर कब्ज़ा भी एक महत्त्वपूर्ण स्थानीय कारण है। लेकिन दलितों-आदिवासियों की स्थिति इससे भिन्न है। इनके आर्थिक रूप से सम्पन्न और मध्यवर्गीय तबकों में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया ने ज़ोर मारा है। सामाजिक समरसता की बातें करते हुए इस प्रक्रिया को निचले तबकों में ले जाने की कोशिश में आर.एस.एस. जुटा है। चिकित्सा शिविर,

स्वरोज़गार जैसे अनेक सुधार कार्यक्रमों की आड़ में संघी कार्यकर्ता दलितों-आदिवासियों के बीच हिन्दुत्व के विचारों का प्रचार करने और उनकी पिछड़ी चेतना का लाभ उठाकर तमाम क़िस्म की अफ़वाहें फैलाने और ख़तरनाक मिथकों को उनके दिमाग़ में बैठाने में लगे हैं। इसके बावजूद दलितों-आदिवासियों के एक अत्यन्त छोटे हिस्से ने ही लूटमार में हिस्सा लिया। ये वह लोग थे जिनके हित किसी न किसी प्रकार से संघ परिवार से जुड़ चुके हैं। उनके बीच पैसे और शराब बाँटने की भी ख़बरें आई हैं।

गुजरात में पूँजीवादी विकास और विदेशी पूँजी-निवेश के पीछे की सच्चाई यह है कि यह रोज़गारविहीन विकास है। वैसे 1980 के दशक के बाद से उद्योग और खेती दोनों की विकास दर में गिरावट आई है। इसने बड़ी तादाद में बेरोज़गारों और लम्पट सर्वहाराओं को जन्म दिया है जिनका इस्तेमाल फ़ासीवाद हमेशा ही करता है। गोर्की के शब्दों में, फ़ासिस्टों की भीड़ में सचेत हत्यारों के चन्द स्वस्थ-चमकते चेहरों के पीछे पीले-बीमार चेहरे और रुग्ण-मन वाले युवाओं की उन्मत्त भीड़ का बड़ा हिस्सा इन्हीं से आता है। आर्थिक मन्दी से पैदा हुए सामाजिक विक्षोभ को सही दिशा देने वाले रैडिकल आन्दोलनों की अनुपस्थिति ने इसे जातिगत और साम्प्रदायिक घृणा के रास्तों पर मोड़ने का संघ परिवार का काम आसान किया है।

गुजरात की स्थितियाँ कई मायनों में विशिष्ट हैं, पर यह भी सच है कि देश के दूसरे हिस्सों में भी इन स्थितियों के पैदा होने की ज़मीन पक रही है। गुजरात में भारतीय मध्यवर्ग की महागाथा का ही एक नया अध्याय जुड़ा है। याद करें कि काफ़ी पहले, तीस के दशक में, जवाहरलाल नेहरू ने भारत के राष्ट्रवादी मध्यवर्ग, विशेषकर उच्च मध्यवर्ग में फ़ासीवाद के प्रसार की उर्वर ज़मीन की मौजूदगी को रेखांकित किया था। भारतीय मध्यवर्ग का राष्ट्रवाद अपने प्रारम्भ से ही पुनर्जागरण-प्रबोधन प्रसूत जुझारू भौतिकवादी तर्कणा के बजाय औपनिवेशिक संरचना-प्रसूत पुनरुत्थानवाद से अभिप्रेरित था। आगे चलकर, इसका एक रैडिकल हिस्सा मध्यवर्गीय क्रान्तिकारी आन्दोलन और सर्वहारा आन्दोलन से जुड़ा, पर एक बड़ा हिस्सा "नेहरूवादी-समाजवादी" नारों के व्यामोह में जकड़ा रहा या पुनरुत्थानवादी दुराग्रहों के साथ बुर्जुआ राष्ट्रवाद की अनुदारवादी धारा के साथ जुड़ा रहा। स्वातंत्र्योत्तर काल में "नेहरूवादी समाजवादी" रास्ते ने राजकीय पूँजीवाद के जिस विराट तंत्र का निर्माण किया उसमें हद दर्ज़े की भ्रष्ट नौकरशाही और सत्ता से नाभिनालबद्ध बुद्धिजीवियों का एक व्यापक संस्तर अस्तित्व में आया, जो प्रवृत्ति से श्रम-विरोधी, जन-विरोधी और निरंकुश स्वेच्छाचारी था। इस मध्यवर्ग के ऊपरी हिस्से को आपातकाल की निरंकुश तानाशाही अपने हितों के लिए अत्यधिक अनुकूल प्रतीत हुई थी और इसके निचले हिस्से के बहुलांश ने भी या तो बिना किसी आपत्ति के, या क्षीण असन्तोष के साथ उसे स्वीकार ही किया था। उदारीकरण के दौर में मध्यवर्ग के खाते-पीते हिस्से की भी जनवादी प्रक्रिया और संस्थाओं के प्रति रही-सही प्रतिबद्धता का तेज़ी से ह्रास हुआ है और निम्न मध्यवर्ग के निराश युवाओं का एक बड़ा हिस्सा पूँजीवादी संकट के फ़ासीवादी समाधान की ओर तेज़ी से आकृष्ट हुआ है। इस सन्दर्भ में **पॉल आर. ब्रास** का यह निष्कर्ष ग़ौरतलब है कि मध्यवर्गों को राजनीतिक लोकतंत्र का मुख्य समर्थक मानने की समझ आज बदलने की ज़रूरत है क्योंकि पिछड़े देशों में इन वर्गों की बढ़ती हुई उपभोग-सम्बन्धी माँगों को बहुसंख्यक जनता की उपेक्षा करके या दमन करके ही पूरा किया जा सकता है।

औसत दर्ज़े के मध्यवर्ग का एक बड़ा हिस्सा सिर्फ़ बचत करके ही नहीं, तमाम तरह का भ्रष्टाचरण करके सुख-सुविधा और ऐशो-आराम के उन साधनों को लपक लेना चाहता है, जिनसे बाज़ार उसे ललचा रहा है। ख़ास तौर से भारत जैसे देशों का मध्यवर्ग उत्पादक वर्गों से इस क़दर कट चुका है कि उनके बारे में सोचना तो दूर, उनसे घृणा करता है। आम मेहनतकशों की असहनीय होती जा रही जीवन-स्थितियों, उनसे अतिलाभ निचोड़ने की प्रक्रिया और उनके बढ़ते दमन से वह न सिर्फ़ असम्पृक्त हुआ है, बल्कि वह खुद जनान्दोलनों के मुखर विरोधी और उनके दमन के पैरोकार की भूमिका में आता चला गया है। बेशक इसका एक ख़ासा-बड़ा हिस्सा बेहतर ज़िन्दगी हासिल कर पाने में लगातार पिछड़ते हुए जैसे-तैसे

जी रहा है और बदलाव का समर्थक है, पर हम यहाँ इस तथ्य को रेखांकित करना चाहते हैं कि पूँजीवादी विकास की अर्द्धशती के दौरान फलते-फूलते हुए भारतीय मध्यवर्ग का बहुत बड़ा हिस्सा उदारीकरण के दौर तक आकर पूरी तरह प्रतिक्रियावादी बन चुका है और फ़ासीवाद के सामाजिक आधार का काम कर रहा है। उदारीकरण के दौर की लोभ-लालच की लुटेरी संस्कृति ने मध्यवर्ग को ज़्यादा रुग्ण बनाया है। उसके बीच व्याप्त अतर्कपरकता, दकियानूसी और घोर कूपमण्डूकता भी फ़ासीवाद की स्वीकार्यता के लिए ज़मीन तैयार करते हैं। अन्तरराष्ट्रीय ब्राण्डों से लकदक उसके तन के भीतर उसके दिलो-दिमाग़ में सदियों पुराने अलगज़-मलगज़ के साथ ही उपभोग की हिंस्र लालसा घुल-मिल गई है।

विडम्बना यह है कि शिक्षित मध्यवर्ग का जो हिस्सा साम्प्रदायिकता और फ़ासीवाद का विरोध करता है, वह महानगरों के अकादमिक परिसरों, अख़बारी दुनिया और सांस्कृतिक जगत तक सीमित है और वहाँ भी वह अल्पमत में है। मध्यवर्ग के इस हिस्से की धर्मनिरपेक्षता उसकी बुर्जुआ जीवन-शैली और अभिजात बौद्धिक विमर्श की चौहद्दी में क़ैद है। अपने आसपास मौजूद उजरती गुलामी के महासागर में अपनी सुख-सुविधाओं के सुरक्षित टापू पर रहता हुआ यह वर्ग कभी "नेहरूवादी धर्मनिरपेक्षता" के दिनों की वापसी के लिए आहें भरता है तो कभी पश्चिमी देशों के "बुर्जुआ जनवादी" विभ्रमों को देख-देखकर हुलसता-ललकता है तो कभी "बाज़ार समाजवाद" या सामाजिक जनवाद के नये-नये नुस्खे-फ़ार्मूले परसने का काम करता है। मध्यवर्ग के इस हिस्से की कायर-सुविधाभोगी-नपुंसक धर्मनिरपेक्षता के एजेण्डे से आम मेहनतकश जनता का कोई जुड़ाव नहीं है और इस स्थिति का भरपूर लाभ अन्ततोगत्वा फ़ासिस्ट ताक़तों को ही मिलता है।

गुजरात के क़त्लेआम में मध्यवर्ग की भूमिका एक प्रातिनिधिक घटना है। कमोबेश उसमें पूरे भारतीय मध्यवर्ग की भूमिका की शिनाख़्त की जा सकती है। यह सांस्कृतिक आन्दोलन के समक्ष उपस्थित गम्भीर चुनौतियों का अहसास कराती है और साम्प्रदायिकता-विरोध की पूरी रणनीति पर नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य भी करती है।

हिटलर के तम्बू में

अब तक छिपे हुए थे उनके दाँत और नाख़ून ।
संस्   ति की भट्ठी में कच्चा गोश्त रहे थे भून ।
छाँट रहे थे अब तक बस वे बड़े-बड़े क़ानून ।
नहीं किसी को दिखता था दूधिया वस्त्र पर ख़ून ।
अब तक छिपे हुए थे उनके दाँत और नाख़ून ।
संस्   ति की भट्ठी में कच्चा गोश्त रहे थे भून ।

मायावी हैं, बड़े घाघ हैं, उन्हें न समझो मन्द ।
तक्षक ने सिखलाए उनको 'सर्प नृत्य' के छन्द ।
अजी, समझ लो उनका अपना नेता था जयचन्द ।
हिटलर के तम्बू में अब वे लगा रहे पैबन्द ।
मायावी हैं, बड़े घाघ हैं, उन्हें न समझो मन्द ।

– नागार्जुन

क्या कर सकते हैं लेखक और संस्कृतिकर्मी

गुजरात हर संवेदनशील इन्सान के सामने एक विकट यक्ष प्रश्न के समान खड़ा है। अगर यह सच है कि "ज़िन्दा लोग ज़िन्दा सवालों के बारे में सोचते हैं" (प्लेखानोव), तो यह इस समय का सबसे ज़िन्दा सवाल है।

बग़ैर किसी भूमिका के, हम सीधे प्रस्ताव के तौर पर कुछ बातें अपने समानधर्मा लोगों के सामने रखना चाहते हैं। लेकिन शुरू में ही हम क्षोभ प्रकट करने से ख़ुद को रोक नहीं पा रहे हैं। निर्मल वर्मा और अशोक वाजपेयी जैसों से तो यही अपेक्षा थी, लेकिन वामपन्थी हलक़ों में भी यहाँ-वहाँ ऐसी बातें चलीं कि बतौर लेखक-संस्कृतिकर्मी हम क्या कर सकते हैं? हमारी फ़ौरी और आसन्न-प्रभावी भूमिका कुछ ख़ास नहीं हो सकती। यही बात अशोक वाजपेयी ने भी कही, हालाँकि उन्होंने वक़्त आ जाने पर सड़क पर उतरने की बात भी कहकर अपने बचाव का रास्ता निकाल लिया है।

एक लेखक या संस्कृतिकर्मी होने के अतिरिक्त जागरूक-प्रबुद्ध नागरिक के तौर पर क्या हमारा कोई कार्यभार नहीं बनता?

क्या ऐसे समय भी फ़ासीवाद-विरोध को "राजनीतिक कर्म" कहकर इससे विरत रहा जा सकता है? क्या लेखक हर समय राजनीतिक कर्म से विरत रह सकता है? संस्कृतिकर्म और राजनीतिक कर्म के बीच विभाजक रेखा तो होती है, पर क्या वह अविचल, स्थैतिक, चीन की दीवार होती है?

वक़्त आने पर लीफ़लेट-पैम्फ़लेट या आम जन के लिए लोकप्रिय पुस्तिकाएँ लिखना भी तो लेखन का ही एक रूप है। नुक्कड़ नाटक करने वाली टोलियाँ नुक्कड़ सभाएँ करके और दरवाज़े-दरवाज़े जाकर अपना सन्देश व्यापक आबादी तक क्यों नहीं पहुँचा सकतीं? क्या लेखक या कलाकार सिर्फ़ लेखक और कलाकार ही होते हैं? अगर हम ऐसा समझते हैं तो

क्रिस्टोफ़र कॉडवेल, राल्फ़ फ़ॉक्स, डेविड गेस्ट जैसे अद्भुत मेधावी युवा रचनाकारों की क़ुर्बानी को किस रूप में देखते हैं जो स्पेन में फ़ासीवाद के विरुद्ध लड़ने के लिए इन्टरनेशनल ब्रिगेड में शामिल होकर गए थे?

यूरोप में अनेक वामपन्थी लेखकों ने फ़ासीवाद के विरुद्ध छापामार दस्तों में शिरकत की थी। सोवियत संघ पर हिटलर के हमले के समय अनगिनत लेखक-पत्रकार हथियार उठाकर लड़ाई में शामिल हुए। लातिनी अमेरिका की निरंकुश सत्ताओं के विरुद्ध हथियारबन्द संघर्ष में बड़ी संख्या में लेखकों-संस्कृतिकर्मियों की भागीदारी रही है। उनमें से बहुत से वामपन्थी नहीं हैं। दक्षिण अफ़्रीका के बहुतेरे लेखक बरसों-बरस जेल में रहे। या यूँ कहें कि केन सरोवीवा की शहादत को हम कैसे देखते हैं?

हमारी स्पष्ट धारणा है कि ऐसे कठिन समय में, जब फ़ासीवादी ताक़तें गुजरात के बर्बर प्रयोग को देश के दूसरे हिस्सों में विस्तारित करने की तैयारी कर रही हैं, तो लेखक फ़ासीवाद के विरोध की प्रत्यक्ष सामाजिक कार्रवाइयों से विरत रहने के लिए महज़ अपने लेखक होने की आड़ नहीं ले सकते।

हम समझते हैं कि हमें आज ही इस बात की पड़ताल करनी चाहिए कि अर्थनीति और राजनीति में निहित वस्तुगत कारक तत्त्वों के अतिरिक्त भारत के वामपन्थी आन्दोलन की वे कौन सी बुनियादी रणनीतिक चूकें रही हैं जिन्होंने फ़ासीवाद को मज़बूत बनाने में मदद पहुँचाई है, अथवा जिनके कारण फ़ासीवाद का कारगर विरोध वाम राजनीति के वर्चस्व में संगठित नहीं हो सका। लेकिन यह तो एक लम्बी प्रक्रिया है। आज की फ़ौरी ज़रूरत यह है कि हम प्रतिरोध के लिए सड़क पर उतरें। आनुष्ठानिक, प्रतीकात्मक या औपचारिक प्रतिरोध की चौहद्दी को तोड़कर वास्तविक, प्रभावी प्रतिरोध विकसित करें।

फ़ासीवाद अपना सामाजिक आधार विस्तारित करता रहा है। **हमें प्रतिरोध के सामाजिक आधार का विस्तार करना होगा।** फ़ासीवाद-विरोधी प्रचार और आन्दोलन के दायरे को शहरी मध्यवर्ग से नीचे लेकर जाना होगा। उसे आम शहरी सर्वहारा आबादी और गाँव के ग़रीबों तक ले चलना होगा। वामपन्थी कुलीनता आज की तारीख़ में सांघातिक रोग है। फ़ासीवाद की वास्तविक प्रतिरोधक जनशक्ति तक हमें पहुँचना ही होगा। ग़ौरतलब है कि फ़ासिस्टों के स्वयंसेवक तरह-तरह के रास्तों से वहाँ तक पहुँच रहे हैं। इसलिए हमें अभिव्यक्ति के ख़तरे उठाने ही होंगे। प्रतिरोध का जोखिम मोल लेना ही होगा।

हमारा दृढ़ मत है कि आज की तारीख़ में साम्प्रदायिक फ़ासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चा गठित करने की सबसे अधिक और आसन्न ज़रूरत है। सभी प्रगतिशील व्यक्तियों, सांस्कृतिक टोलियों, संगठनों-मंचों को इसके बारे में पहल करनी चाहिए और न्यूनतम सहमति के आधार पर प्रतिरोध का एक ठोस कार्यक्रम अवश्य ही लिया जाना चाहिए। उदाहरण के तौर पर, हमारा सुझाव है कि देश की सभी भाषाओं के वामपन्थी, प्रगतिशील, जनवादी, जनपक्षधर लेखक-संस्कृतिकर्मी दिल्ली में जुटें और उनका एक व्यापक विरोध प्रदर्शन आयोजित किया जाए। इसी तरह का विरोध प्रदर्शन वरिष्ठ लेखकों-कलाकारों, सम्मानित बुद्धिजीवियों की अगुवाई में अहमदाबाद में भी किया जा सकता है। इसे रोकने की स्थिति में गिरफ़्तारी देकर जनमानस को उद्वेलित किया जा सकता है। निर्मल वर्मा को अरण्य रोदन करने दें कि लेखक की कौन सुनता है। अलग-अलग लेखकों की भले न सुने लेकिन जिस दिन हर भाषा के हजारों प्रगतिशील रचनाकार-संस्कृतिकर्मी सत्ता का प्रतिरोध करते हुए गिरफ़्तारी देंगे, उस दिन जनता उन्हें अपना लेखक और कलाकार मानेगी, और उनकी सुनेगी, इसका हमें पूरा विश्वास है।

यदि ऐसा कोई संयुक्त मोर्चा अस्तित्व में आता है तो फ़ौरी और त्वरित कार्रवाई के संचालन के लिए एक केन्द्रीय समन्वय डेस्क भी बनाया जा सकता है।

फ़ासीवाद विरोधी संयुक्त सांस्कृतिक मोर्चा गठित करने के प्रस्ताव के साथ ही यह समय की सबसे बड़ी ज़रूरत है कि व्यापक स्तर पर फ़ासीवाद-विरोधी जन प्रतिरोध मोर्चा संगठित किया जाए जिसमें मज़दूर, स्त्री, छात्र-युवा संगठनों के साथ ही सांस्कृतिक संगठन भी बतौर जनसंगठन शामिल हों। इसी सोच पर बल देने के लिए पिछले दिनों कुछ संगठनों द्वारा चलाए गए 'जुझारू जन-एकजुटता अभियान' में विभिन्न जनसंगठनों के साथ ही मज़दूर संगठनों की शिरकत पर विशेष ज़ोर रहा।

यह अवसर तमाम सारे वैचारिक और कार्यक्रमगत मतभेदों के बावजूद जनपक्षधर शक्तियों से न्यूनतम सहमति के मुद्दों पर व्यापकतम सम्भव एकता की माँग करता है। तत्काल कुछ करने की विवशता भले ही हमें अलग से कोई कार्यक्रम लेने को बाध्य करे, लेकिन हर हाल में हमारा ज़ोर साझा कार्रवाइयों पर होना चाहिए। कतिपय जनसंगठनों और संस्कृतिकर्मियों ने फ़ासीवादी मुहिम के ख़िलाफ़ 1857 के शहीदों की याद में फ़ैज़ाबाद में जो कार्यक्रम आयोजित किया और प्रशासन के दमन का बहादुरी से मुक़ाबला करते हुए अपने उद्देश्य में सफलता हासिल की, उसे हम एक महत्त्वपूर्ण सकारात्मक क़दम मानते हैं। लेकिन इसका नकारात्मक पक्ष यह है कि इस कार्यक्रम के लिए तमाम मतभेदों-पूर्वाग्रहों के बावजूद साम्प्रदायिक फ़ासीवाद विरोधी अन्य प्रगतिशील जनसंगठनों-संस्कृतिकर्मियों को आमंत्रित किया जाना चाहिए था, साथ लेने की कोशिश अवश्य की जानी चाहिए थी, जो नहीं की गई।

आख़िर कब तक हम इस संकीर्णतावाद का शिकार रहेंगे कि गुजरात जनसंहार जैसे प्रश्न पर भी अपनी-अपनी ढपली अलग बजाते रहेंगे?

एक और अहम सवाल यह है कि जाँच दलों की रिपोर्टें या संघ परिवार को बेनक़ाब करने वाली पुस्तिकाएँ वामपन्थी बुद्धिजीवी भी केवल अंग्रेज़ी में ही क्यों निकालते हैं? हिन्दी ही नहीं, सभी भारतीय भाषाओं में आम जन तक इन्हें क्यों नहीं पहुँचाया जा सकता? जो बुद्धिजीवी ऐसी सामग्री को हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में लाने की ज़रूरत ही नहीं समझते, वे भला लगातार पर्चे निकालने, घर-घर सम्पर्क करने, नुक्कड़ सभाओं, मुहल्ला बैठकों आदि की ज़रूरत को क्या महसूस कर पाएँगे?

हम समझते हैं कि आज लेखकों-कवियों-कलाकारों को भी मज़दूर बस्तियों में नियमित रूप से समय निकालकर जाना चाहिए और रात्रि पाठशालाओं तथा जनशिक्षा कार्यक्रमों में हिस्सा लेकर मज़दूरों की चेतना को 'रैडिकलाइज़' कर फ़ासीवाद के विरुद्ध उन्हें जागृत और लामबन्द करने में हाथ बँटाना चाहिए। यह सही है कि मुख्यतः यह काम राजनीतिक कार्यकर्ताओं का है लेकिन आज के समय में संस्कृतिकर्मियों को भी इसमें भागीदारी करनी चाहिए। कहने की ज़रूरत नहीं कि इस प्रक्रिया में हमें जीवन के बारे में जो ठोस जानकारियाँ मिलेंगी वह हमारे रचनाकर्म को भी समृद्ध बनाएँगी।

फ़ौरी तौर पर इतना तो बिना समय गँवाए किया जाना चाहिए कि हम जनपक्ष में खड़ा होने का दावा करने वाले सभी लेखकों-कलाकारों पर दबाव बनाएँ कि वे केन्द्र और गुजरात सरकार के कुकर्मों के विरोधस्वरूप सत्ता से प्राप्त तमाम सम्मान व पुरस्कार वापस लौटा दें, पदों-पीठों से इस्तीफा दे दें, अकादमियों से हट जाएँ और विरोध की अपनी इस कार्रवाई को व्यापक जनता में प्रचारित करें।

ये तो महज़ कुछ प्रस्ताव हैं जिनके ज़रिए हम कार्रवाई के स्वरूप की अपनी समझ और दृष्टिकोण को साथियों-सहयात्रियों तक सम्प्रेषित करना चाहते हैं। हमें विश्वास है कि इन प्रस्तावों से सहमति जताने वाले साथी-मित्र तत्काल सम्पर्क करेंगे, पत्र लिखेंगे। लेखक संगठनों से हमारी अपील है कि वे इन पर विचार करें और पहल लें। हम हर तरह से इसमें भागीदारी के लिए तैयार हैं।

आख़िर हम क्यों कुछ नहीं कर सकते? हम बहुत कुछ कर सकते हैं।

कात्यायनी
सत्यम

आह मेरे लोगो! ओ मेरे लोगो!

(गुजरात—2002)

कात्यायनी

धुआँ और राख और जली-अधजली लाशों
और बलात्कृत स्त्रियों-बच्चियों और चीर दिए गर्भो
और टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए शिशु-शरीरों के बीच,
कुचल दी गई मानवता, चूर कर दिए गए विवेक और
दफ़्न कर दी गई सच्चाई के बीच,
संस्कृति और विचार के ध्वंसावशेषों में
कुछ हेरते, भटकते,
रुदन नहीं, सिसकी की तरह,
उमड़ते रक्त से रुंधे गले से
बस निकल पड़ते हैं नाज़िम हिकमत के ये शब्द :
'आह मेरे लोगो!'
'साधो, ये मुरदों का गाँव'
—सुनते हैं कबीर की धिक्कार।
नहीं है मेरा कोई देश कि रोऊँ उसके लिए :
'आह मेरे देश!'
नहीं है कोई लगाव इस श्मशान-समय से, कि कहूँ :
'आह मेरे समय!'
इन दिनों कोई कविता नहीं,
सीझते-पकते फ़ैसलों के बीच, बस तीन अश्रु-स्वेद-रक्त स्नात शब्द :
'आह, मेरे लोगो!'

दर-बदर भटकते ब्रेष्ट का टेलीग्राम कल ही कहीं से मिला,
अभी आज ही सुबह आया था
कॉडवेल, राल्फ फॉक्स, डेविड गेस्ट आदि का भेजा हुआ हरकारा
पूछता हुआ ये सवाल कि एक अरब लोगों के इस देश में
क्या उतने लोग भी नहीं जुट पा रहे
जितने थे इण्टरनेशनल ब्रिगेड में?
क्या हैं कुछ नौजवान इंसानियत की रूह में हरक़त पैदा करने के लिए
कुछ भी कर गुज़रने को तैयार?—पूछा है भगतसिंह ने।
ग़दरी बाबाओं ने रोटी के टुकड़े पर रक्त से
लिख भेजा है सन्देश।

महज़ मोमबत्तियाँ जलाकर, शान्ति मार्च करके,
कहीं धरने पर बैठने के बाद घर लौटकर
हम अपनी दीनता ही प्रकट करेंगे
और कायरता भी और चालाकी भरी हृदयहीनता भी
शताब्दियों पुराने कल्पित अतीत की ओर देश को घसीटते
हत्यारों का इतिहास तक़रीबन पचहत्तर वर्षों पुराना है।
धर्म-गौरव की उन्मादी मिथ्याभासी चेतना फैलती रही,
शिशु मन्दिरों में विष घोले जाते रहे शिशु मस्तिष्कों में,
विष-वृक्ष की शाखाएँ रोपी जाती रहीं मोहल्ले-मोहल्ले,
वित्तीय पूँजी की कृत्या की मनोरोगी सन्तानें
वर्तमान की सेंधमारी करती हुई,
भविष्य को गिरवी रखती हुई,
अतीत का वैभव बखानती रहीं
और हम निश्चिन्त रहे
और हम अनदेखी करते रहे
और फिर हम रामभरोसे हो गए
और फिर कहर की तरह बरपा हुआ रामसेवक समय।
अभी भी हममें से ज़्यादातर रत हैं
प्रतीकात्मक कार्रवाइयों और विश्लेषणों में, पूजा-पाठ की तरह
अपराध-बोध लिये मन में।

ये समय है कि
वातानुकूलित परिवेश-अनुकूलित
गंजी-तुंदियल या छैल-छबीली वाम विद्वत्ताओं से
अलग करें हम अपने आप को,
संस्कृति की सोनागाछी के दलालों के साथ

मण्डी हाउस या इण्डिया इण्टरनेशनल सेण्टर में
काफ़ी पीने का लम्पट-बीमार मोह त्यागें,
हमें
निश्चय ही,
निश्चय ही,
निश्चय ही,
अपने लोगों के बीच होना है।
हमें उनके साथ एक यात्रा करनी है
प्रतिरक्षा से दुर्द्धर्ष प्रतिरोध तक।
इस फ़ौरी काम के बाद भी
हमें सजग रहना होगा।
ये हमलावर लौटेंगे बार-बार आगे भी, क्योंकि
विनाश और मृत्यु के ये उन्मादी दूत,
पीले-बीमार चेहरों की भीड़ लिये अपने पीछे
चमकते चेहरों वाले ये लोग ही हैं
इस तंत्र की आख़िरी सुरक्षा-पंक्ति।

सहयात्रियों का हाथ पकड़कर कहना चाहते हैं हम उनसे,
साथियो! दूरवर्ती लक्ष्य तक पहुँचने के रास्ते और रणनीति के बारे में
अपने मतभेद सुलझाने तक,
तैयारी के निहायत ज़रूरी, लेकिन दीर्घकालिक काम निपटाने तक
हम स्थगित नहीं रख सकते
अपना फ़ौरी काम।
गुजरात को न समझें एक गुज़री हुई रात।
इस एक मुद्दे पर हमें
एक साथ आना ही होगा।
'आह मेरे लोगो!'—इतना कहकर
अपनी आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करें
कि एक स्वर से आवाज़ दें : 'ओ मेरे लोगो!'
—ये तय करना है हमें
अभी, इसी वक़्त!

शशिप्रकाश की सात कविताएँ

द्वन्द्व

एक अमूर्त चित्र मुझे आकृष्ट कर रहा है।
एक अस्पष्ट दिशा मुझे खींच रही है।
एक निश्चित भविष्य समकालीन अनिश्चय को जन्म दे रहा है।
(या समकालीन अनिश्चय एक निश्चित भविष्य में ढल रहा है?)
एक अनिश्चय मुझे निर्णायक बना रहा है।
एक अगम्भीर हँसी मुझे रुला रही है।
एक आत्यन्तिक दार्शनिकता मुझे हँसा रही है।
एक अवश करने वाला प्यार मुझे चिन्तित कर रहा है।
एक असमाप्त कथा मुझे जगा रही है।
एक अधूरा विचार मुझे जिला रहा है।
एक त्रासदी मुझे कुछ कहने से रोक रही है।
एक सहज ज़िन्दगी मुझे सबसे कठिन चीज़ों पर सोचने के लिए
मजबूर कर रही है।
एक सरल राह मुझे सबसे कठिन यात्रा पर लिये जा रही है।

(1 मई, 1995)

विसंगति

कुछ ज़िम्मेदारियाँ हैं
कविता जिन्हें पूरा नहीं कर पा रही है।
कुछ विचार हैं
कविता जिन्हें बाँध नहीं पा रही है।
कुछ गाँठें हैं
कविता जिन्हें खोल नहीं पा रही है।

कुछ स्वप्न हैं
कविता जिन्हें भाख नहीं पा रही है।
कुछ स्मृतियाँ हैं
कविता जिन्हें छोड़ नहीं पा रही है।
कुछ आगत है
कविता जिसे देख नहीं पा रही है।
कुछ अनुभव हैं
कविता जिनका समाहार नहीं कर पा रही है।

यही सब कारण हैं
कि तमाम परेशानियों के बावजूद
कविता फिर भी है
इतना सब कुछ कर पाने की
कोशिशों के साथ
अपने अधूरेपन के अहसास के साथ
अक्षमता के बोध के साथ
हमारे इतने निकट।
कविता को पता है
अपने होने की ज़रूरत
और यह भी कि आने वाली दुनिया को
उसकी और भी अधिक ज़रूरत है। **(5 मई, 1995)**

शिनाख़्त

धरती चाक की तरह घूमती है।
ज़िन्दगी को प्याले की तरह
गढ़ता है समय।
धूप में सुखाता है।
दुख को पीते हैं हम
चुपचाप।
शोरगुल में मौज-मस्ती का जाम।
प्याला छलकता है।
कुछ दुख और कुछ सुख
आत्मा का सफ़ेद मेज़पोश
भिगो देते हैं।
कल समय धो डालेगा
सूखे हुए धब्बों को।

कुछ हल्के निशान
फिर भी बचे रहेंगे।
स्मृतियाँ
अद्‌भुत ढंग से
हमें आने वाली दुनिया तक
लेकर जाएँगी।
सबकुछ दुहराया जाएगा फिर से
पर हूबहू
वैसे ही नहीं। **(1 दिसम्बर, 1997)**

कठिन समय में विचार

रात की काली चमड़ी में
धँसा
रोशनी का पीला नुकीला ख़ंजर।
बाहर निकलेगा
चमकते, गर्म लाल
ख़ून के लिए
रास्ता बनाता हुआ। **(5 दिसम्बर, 1997)**

नींद

कोई प्रार्थना
या अनुरोध नहीं,
हठ नहीं।
नींद को
एक आग्रहपूर्ण आमंत्रण है।

एक नींद
जिसमें दूब की नोंक की
चुभन तक न हो,
तारों के नीचे
ओस से नम चटाई जैसी,
हथेलियों की गुनगुनी गर्माहट-सी
सुबह बुहारे गए कच्चे आँगन के
स्वच्छ ठण्डेपन जैसी

एक नींद
पीले पड़ते पत्ते जैसी।
एक नींद
चीज़ों की आकृतियाँ जहाँ घुल रही हों
और संतृप्त हो रहा हो
समय का घोल।

एक नींद
उनींदी सराय में
घोड़े की पीठ से उतारे जा रहे
मुसाफ़िर के सामान जैसी
एक रुकी हुई आहट-सी
थमे हुए कोहरे-सी
नींद।

एक नींद
किसी 'वुडकट' जैसी ठोस,
नरम स्लेटी पत्थर जैसी,
किसी रेखाचित्र की आकृति के उड़ते बालों-सी,

एक नींद
रिक्तता जैसी
अनवरत अदृश्य फुहारों जैसी।

एक नींद
कविता के विचार
और योजनाओं के स्थापत्य के बीच
सतत् उपस्थित तनाव जैसी।
एक नींद
गम्भीर, सरल, शान्त और उदास,
बच्चे के गालों पर
सुबह की धूप की
मद्धम गर्माहट-सी।

एक नींद
ज़रूरी तन्हाई की,
सोए हुए दुखों पर ओढ़ाई गई चादर-सी,
उदासी की आत्मीय, मद्धम-सी
टीस जैसी नींद,
एक नींद जो

आत्मा और शरीर के प्रति
बराबर वफ़ादार हो।
एक लम्बे, जटिल संरचना वाले
वाक्य में पिरोए गए
अल्पविराम-सी ज़रूरी नींद,
ज़रूरी अर्थों को खोलती हुई।
विस्मृत लोरी-सी नहीं
आसमान की गहराइयों से उतरते-लहराते
पारभासी परदे-सी भी नहीं,
शान्त-सुखद स्वप्नों से सज्जित भी नहीं,
बस एक सीधी-सादी सी नींद
कि सब कुछ रुका हुआ हो
कुछ देर को ही सही।

कहीं योजनाएँ प्रतीक्षा करती रहें
(और दूसरी कोई भी प्रतीक्षा न हो)
विचार लौट जाएँ
बिना दस्तक दिए, फिर आने के लिए
(और कोई भी न आए इस बीच
और आए भी तो लौट जाए
फिर कभी न आने के लिए)
नये तनाव अभी अंकुरित न हुए हों,
किसी उत्तेजित ख़ुशी का शोर
न हो कहीं आसपास,
कोई आश्वस्ति न हो
फिर भी एक नींद।

एक नींद
आम नींदों से अलग
कि सामने पड़े हैं कुछ काम
आम कामों से अलग,
और ज़िन्दगी एकदम आम लग रही है।

एक नींद
कल की ताज़गी
और आने वाले दिनों की ख़ातिर
निमंत्रित है।

(23 दिसम्बर, 2000)

शिशिर-सिम्फ़नी-2000

(अम्मा को सम्बोधित)

उस दिन मैंने देखा तुमको
एक लम्बे समय बाद
और सोचा कि
यूँ पहुँचती है समापन तक
एक अजेय शौर्यगाथा
और पृथ्वी के गर्भ में
अनवरत सुलगती रहती है
दर्द की कोई अकथ कथा,
यूँ बीतता है शीतकाल,
और बसन्त भी
और ग्रीष्म और बरसात भी
और क़िताबों में समा जाती है
शवगृहों की दुर्गन्ध-युक्त सीलन
और ज़िन्दगी
गर्म पिघले तारकोल की तरह
बहती रहती है
और दुख
सूखे हुए आँसू के एक कतरे की तरह
चुप रहते हैं
और समय जलता रहता है
जले हुए काले मोबिल में सराबोर
पटुए की तरह
और प्यार
किशमिश की तरह सूखता रहता है
और चीख़ें जम जाती हैं
उत्तरी ध्रुव से भी कम तापमान पर
और उदासी होती है
अस्पताल की दीवारों की तरह
हर तकलीफ़ की गवाही देती हुई
और लगभग सभी नये-पुराने दोस्त होते हैं
आसपास ही कहीं
अपने अकेलेपन की तरह

और यह सारा सिलसिला
स्मृतियों-अनुभूतियों-घटनाओं-रहस्यों-विभ्रमों का
सोख लेती है
एक अकेली औरत की ज़िन्दगी
और एक सूखे काठ पर
बजती रहती है कठफोड़वा की चोंच
और हृदय की हर धक्-धक्
ज्यों कहती है—ठक्-ठक्!

कभी नहीं जाना चाहा
मैंने तुमसे दूर।
पर तुम तो जानती थी मेरी सनकें
और हर उचटती नींद में मेरा यह सोचना
कि किसी बौड़म-सा गुजरूँगा
मैं बस्तियों से गाते हुए
और तमाम हँसती-खिलखिलाती
मगर बेपनाह दुखों की मारी स्त्रियाँ
मेरे साथ हो लेंगी
और वे चूमेंगी मुझे
प्रेमिकाओं की तरह
या तुम्हारी तरह, एक माँ की तरह
और साए में सुस्ताते मज़दूर
देंगे मुझे रोटी, मिर्च, नमक, गुड़ और प्याज़
और कहेंगे रुककर खाते जाने के लिए।
और मैं रुकूँगा
और मैं फिर आगे बढ़ जाउँगा
और मैं रहूँगा
उतना ही विश्वसनीय
जितना कि अविश्वसनीय।
सिर्फ़ तुम जानती हो
मेरा यह चाहना कि
मुझपर भरोसा न किया जाए पूरी तरह
और किसी भी क़ीमत पर
सार्वजनिक न हो सकें
मेरे अपने दुख
और तुम जानती हो मेरी यह कामना

कि दुनिया में मूर्तियाँ न बनें कभी भी
और सब कुछ के बावजूद
तिरस्कृत, अकेला छोड़ दिए जाने की
हार्दिक आत्मपीड़क इच्छा
और यह कि
अमर प्रेम जैसी कोई चीज़
न हुआ करे दुनिया में
और वायदे हों
ज़्यादातर मामलों में
टूट जाने के लिए
क्योंकि हर चीज़ की तरह
वे भी पुराने पड़ जाते हैं।
और इन सबने भी शायद मुझे दूर किया
तुम्हारी गरिमा से,
तुम्हारे दुखों से,
और तुम्हारे प्यार से,
जो शायद मैं सह नहीं पाता था।

इसीलिए,
जब जेल-से दिन थे
और शायद अपने लिए कुछ लालच भी,
सोते से उठकर चल पड़ा था
उस सायबान से
यही कोई चौथाई सदी पहले
तुम्हारे दर्द से
सोखकर अपना ईंधन
बस इतनी सी ख्वाहिश लेकर
कि कोई अँधेरी सुरंग या भुला दिया गया रास्ता
या नदी में फूलकर बहता-उतराता
आत्मतुष्ट मृतक शरीर
नहीं बनना है
चीख़ना है सन्नाटे में सायरन की तरह
और चुप रहना है
स्मृति-बोझिल, पुरानी, काली चट्टान की तरह
और ढोना है
पत्थर ढोने वाले

उदास, पुराने ट्रक की तरह
तमाम विकलताओं का बोझ
और अहमक की तरह
तुम्हारी प्रतीक्षा करनी है
कि आओ, अपने दर्द को
हथियार बनाकर
मेरी सक्रियता में
और अपनी स्मृतियों से
ऊर्जस्वित करते हुए
मेरा विवेक
और मुझे बचाओ
स्त्रियों के प्रति असंवेदनशील
या निर्मम हो जाने की विभीषिका से
ताकि मैं बना रहूँ
अँधेरे की तरफ़ चुपचाप बढ़ते,
बहते हुए गर्म ख़ून का हमक़दम
और हरी काई की तरह
हर साँस में खींच सकूँ
तमाम मेहनतकश यंत्रणाओं की गन्ध
और भरपूर ज़िन्दादिली
और साहस की रौ में
जज़्ब कर सकूँ
गुमनाम-बेशिनाख़्त उदासियाँ,
हर जीवित यातना की अनुद्विग्नता
और सोच सकूँ
निर्मम-बेपरवाह तर्क-शक्ति के साथ।

यही सबकुछ था
या शायद सुदूर का कोई तारा था आँखों में
कि ज़ख़्मों पर स्तनों से होने वाली
दूध की फुहारों से
दूर कर सका था ख़ुद को,
दुनिया की सबसे सुन्दर स्त्री से
अलग हो सका था
जिसने गढ़ा था मुझे
अपने ही किसी मनचाहे साँचे में

और बेशक असफल रही थी
हर अच्छे कलाकार की तरह।
अभी भी, शायद,
दुनिया की कोई ताक़त मुझे
यह मानने को विवश नहीं कर सकती
कि तब मैं था अँधेरे में भयभीत
एक खोए हुए बच्चे की तरह।
पर माँ-बेटे के बीच
जो एक राज़ रहना चाहिए था
इसे खुला कर रहा हूँ मैं आज
एक आत्मस्वीकृति की तरह
अपनी ख़ातिर
और अपने साथियों
और अपने लोगों की ख़ातिर
कि जब इराक पर बमबारी हो रही थी
और मर रहे थे बेगुनाह लोग
और मासूम बच्चे,
जब अमेज़न के जंगलों की
तबाही के बारे में पढ़ रहा था,
जब चीन में टूट रहा था
मेहनतकशों का स्वप्न,
जब कहीं भूकम्प या समुद्री तूफ़ान
कहर बरपा कर रहा था
या कोई महामारी बन रही थी
प्रकृति का अन्धा प्रतिशोध,
जब कहीं कोई कायरता
या निर्माणाधीन महानता
असहनीय बन रही थी,
जब आन्ध्र में, बिहार में या कहीं भी
हमारे लोगों की ठण्डी हत्याएँ हो रही थीं,
जब कहीं कोई नया सौदा हो रहा था
श्रम का, सम्मान का, प्राकृतिक सम्पदा का या भविष्य का
जब कर्फ़्यू लगाया जा रहा था
नींद में स्वप्नों की आवाजाही रोकने की ख़ातिर,
या कहीं भी यदि गोलीबारी,
जेलख़ाने और ज़ंजीरों की बातें थीं
तो मैं तुमसे मिलना चाहता था,

दो-चार बातें करना चाहता था।
तुम समझती हो मेरी हर बात।
दुनिया में जिस हद तक होगा
किसी के पास एक माँ जैसा दिल
उतनी ही उसकी समझ होगी
कविता की, लोगों की, जीवन और स्वप्नों की,
उतना ही वह समझ सकेगा
भविष्य के रहस्य-संकेत।

बहुत बचपन की याद है अभी भी
जब लोग तुम्हें
मधुबाला-सी सुन्दर कहते थे
और मैं गर्व महसूस करता था
और तुम्हारे दुख, तुम्हारा धैर्य,
तुम्हारी प्रतीक्षाएँ, तुम्हारे शोक,
और तुम्हारी आकुलता
और तुम्हारी कठोरता और आर्द्रता
सबकुछ भरता रहता था
अन्तस्तल के अनगिन कोटरों में,
नहीं जानते हुए भी
उस जीवन को
जो आगे मुझे चुनना था।
आज जंगल-से इस जीवन में
बाघ की तरह रहता हुआ
रात में आता हूँ
चौकन्ना-दबे पाँव
स्मृतियों की पुरातन नदी के तट पर
और पीता हूँ
तुम्हारी अजेय आत्मा का अप्रतिम सौन्दर्य।
तब शायद अचानक
तुम जागकर
कान लगाकर सुनने लगती होगी
निस्तब्ध अँधेरे में कहाँ से आ रही है
'चप्-चप्' की आवाज़!
लेकिन तब तक
मैं निकल पड़ता हूँ

फिर किसी खोज में,
किसी शिकार की तलाश में
या किसी अपूर्व युद्ध की पदचापों को
सूँघता हुआ
घने बीहड़ों की ओर
इस गौरव के साथ
कि मैं हूँ ऐसी माँ का बेटा।
फिर सोचता हूँ कि
दुनिया में अक़सर
अपनी माँ पर गर्व ही गढ़ता है
कुछ अलग करने को आतुर
सृजनाकुल मन।

इस बीच मुझ पर जो गुज़री
ज़्यादा कुछ नहीं रहा बताने को।
एक सामान्य-सी ज़िन्दगी ही रही
और जो असामान्य रहा
वह इसलिए कि
अनुभव कम थे मेरे
और मेरी अनुभवहीनता ने भी पैदा की
कई बार असामान्य-सी स्थितियाँ
या फिर इसलिए भी
कि समय ही कुछ कठिन था
असामान्य रूप से।
फिर भी यक़ीन करो,
नफ़रत मैं करता हूँ अभी भी
घुटा हुआ होने से,
गंजी-ठण्डी विद्वत्ता की शाहमुहरा-सी दमक से
और सूखी आँखों से
और अक़सर पार्कों में
पगडण्डियों के किनारे लेटकर
नापता हूँ चेहरों की धरती से दूरी
और कान लगाकर सुनता हूँ
आती-जाती पदचापें।
अब सीख गया हूँ
बर्फ़ीले समय में

स्लेजगाड़ी में नाधे गए
सधे कुत्तों की तरह
सावधान-सतर्क भागते रहना
और आत्मा से बर्फ़ के फ़ाहे झाड़ते रहना
और सुनता हूँ
खिड़कियों का खुलना कहीं,
अलाव का जलना कहीं,
पत्तों का झड़ना कहीं,
तारों का टूटना कहीं,
उम्मीदों का और जीवन का पूरा होना कहीं,
मिलना कहीं, मरना कहीं
और जन्मना कहीं।
धरती के किसी कोने से उठते
शोर पर कान देना
और किसी एक अकेली चीख़ पर भी,
आत्मसम्मोहित विद्वत्ताओं की तमाम क़िस्मों
और उजरती गुलामियों के तमाम रूपों को पहचानना,
गिलहरी की तरह
अनाज या संवेदना या दोस्ती या प्यार का
हर दाना
दोनों हाथों से थामना,
लंगर डाले नावों के रस्से
रात को चोरी से खोल देना,
अँखुवों के फूटने की आवाज़ें सुनना,
ख़ामोश कर दी गई ध्वनियों को
धरती के गर्भ से निकाल लाना,
बवण्डरों में
उन्मत्त घोड़ों की तरह भागना
और ऐसा ही बहुत कुछ
सीखता रहा हूँ लगातार
और ऐसे ही दूसरे हुनरों में
महारत हासिल करता रहा हूँ।
और सबसे बढ़कर यह कि
मैं लोगों के दुखों और इच्छाओं को
पढ़ सकता हूँ
तुम्हारी आँखों की तरह
और थकान भी पढ़ सकता हूँ

और भाँप सकता हूँ
भावनाओं का हर दबाया गया आवेग
या संकल्पों के खौलते लावे के
उमड़ने का समय
काफ़ी हद तक
और बचपन से जारी अभ्यास
अभी भी जारी रखता हूँ कि
तरलता आँखों में कभी न आए
उमड़ने की हद तक
और असफल भी होता रहता हूँ।

तुम्हारे पास से चलने के समय से
लेकर अब तक
मैं लगातार यात्रा करता रहा हूँ
गूँगी घाटियों, रक्त-सनी गर्म सड़कों,
कारख़ानों, खेतों, रहस्यमय प्रदेशों,
वीरान-उजड़ी बस्तियों,
व्याकुल नदियों, मरुस्थलों,
शीरे के पीपों, ख़ाली कनस्तरों,
चर्बी के दलदलों,
शराबख़ानों, पुस्तकालयों, सभागारों, वेश्यालयों,
खण्डित मनों, महानता-बोधग्रस्त दीवारों,
स्खलित संकल्पों,
लम्बी साँसें भरते मील के पत्थरों,
कलंकित-लांछित जंगलों,
डीह पूजती, देव बुलाती
मूर्ख और कपटी और पशुवत सरल
स्त्रियों के हुजूमों,
कस्टम और पासपोर्ट के दफ़्तरों
और टोल टैक्स वाले पुलों से
गुज़रता हुआ।
हर उस जगह रुकता रहा हूँ
हर उस मन में विराम लेता रहा हूँ
हर उस काया पर ठहरता रहा हूँ
जहाँ तुम्हारी कोई छाया थी,
कोई छाप या निशानी या अक्स

या कोई गन्ध थी तुम्हारी
और सोचता रहा हूँ,
एक यायावर की तरह
और स्त्रियाँ चूँकि नहीं होतीं
महज़ एक सायबान,
एक विश्राम-स्थली,
इसलिए वे शायद महसूस करती रही हैं
मेरे हाथों अपमानित अपने-आपको
और अकेली रह जाती रही हैं
मेरे अकेलेपन से सर्वथा अपरिचित
और मेरे साथ से भी।
मैं सोचता हूँ
स्त्रियों के दुखों के बारे में
और उनका आदर करता हूँ।
विज्ञान और इतिहास की
समझ से भी अधिक
शायद इसका कारण यह है
कि तुम एक स्त्री हो
जो लाई हो मुझे, यहाँ,
ज़िन्दगी की जद्दोजहद से सरगर्म
इस धरती पर।

उस दिन मैंने देखा तुम्हें
दूर से आते हुए
ज़िद्दी-चीमड़ बीमारियों को
तुम्हारे श्रम-तपे शरीर में धँसे हुए
जैसे किसी पुराने पेड़ में धँसी कुल्हाड़ी
या जैसे कोई दाँतेदार आरी
घुसी अँटकी हो ठोस दीवार में
मुझे तेज़ बारिश में हिलते
घोंसले याद आए
और एकदम अप्रासंगिक,
मैं अपनी यात्राओं के बारे में सोचने लगा।
याद करने लगा
दक्षिण की काली चट्टानों से
अपनी बातचीत,

झुकी पड़ी विंध्य-मेखला को
धिक्कारना निरर्थक प्रतीक्षा के लिए
और बताना अगस्त्य की कुटिलता के बारे में,
और यह कि क्या माँग रहा था मैं
कोणार्क के सूर्यमन्दिर के निकट
सागर-तट पर, तूफ़ानी लहरों से
और कि क्या किसी पीड़ा की गवाही के लिए
तैयार थी पश्चिमी घाटों की हरीतिमा?
एक रहस्य की तरह
ये विचार आए
मेरे हृदय के पास,
पहले चाकू की तरह
फिर दवा से भिगोए रुई के फ़ाहे की तरह।
तुमसे बातचीत की मैंने
और किसी शान्त समुद्री यात्रा जैसी,
लगातार सम गति से चलती
एक मालगाड़ी जैसी,
खदान में रिसते पानी जैसी
और चाँद के दुखों जैसी
एक और रात के गुज़र जाने के बाद
अगली सुबह
एक अकेला निश्चय था मेरे पास
कि इस शरीर को घिस दिया जाना चाहिए
इसकी तमाम बीमारियों सहित
और तमाम निठल्ले-विद्वत्तापूर्ण विमर्शों
और सन्नाटे जैसे चिन्तनों
और आरामदेह ठिकानों पर
आराम से तय होती
भावी युद्ध की रणनीतियों-योजनाओं के बीच,
इस दुनिया को बदल देने का काम
आख़िरी सम्भव हद तक
तेज़ कर दिया जाना चाहिए।

अभी भी विद्रोह है दुनिया में
अपने उज्ज्वल भविष्य
और विकसित होते नियमों के साथ

जैसे कि दुख है
लगातार गहराता हुआ
हर तरक़्क़ी के साथ,
और इसलिए, फिर भी लगता है
सबकुछ रुका हुआ
कि बहुत दुख है इस दुनिया में,
बहुत कालिख है साफ़ करने को,
बहुत मलबा है हटाने को,
जैसे कुछ के लिए बहुत विद्वत्ता है झाड़ने को।
बहुतों को
उपयोगी ज्ञान की दरकार है
स्थूल दुनिया के क्लासिकी बर्बर दुखों से
लड़ने के लिए
और कुछ को क्वाण्टम जगत की
ग़ैर-क्लासिकी सूक्ष्मता और अनिश्चितताओं के बारे में
सबकुछ जान लेने तक,
'सबकुछ का सिद्धान्त' खोज लिये जाने तक,
टाले रहना है
ज़मीनी कार्रवाइयों में उलझना
मसलन, लोगों को जागृत, गोलबन्द और संगठित करना
जैसे कि तमाम दूसरी व्यस्तताओं के दबाव में
टाल रहे हों वे
महज़ दोपहर की अपनी नींद।
दुख बहुत है
इस दुनिया में पसरा हुआ
किसी टूटे तेलवाहक जहाज़ से
सागर की सतह पर फैली
तेल की परत की तरह।
इसे धधका देना है।
जला देना है इसे
इसलिए तुम्हें अभी जागते रहना है
मेरे भीतर
और मुझसे आज़ाद,
और मुझे भी तुमसे आज़ाद रहना है
इस दुनिया को तबाह करने के काम में
लगातार लगे रहने के लिए
और नई दुनिया के निर्माण की समस्याओं-बाधाओं

के बारे में सोचते रहने के लिए।
पर तुम यूँ न बैठो
थककर रास्ते में
रखे हुए घायल घुटनों पर हाथ।
उठो कि
तुमसे अभी पाना है बहुत कुछ मुझे,
अभी और ईंधन सोखना है तुमसे।
उठो
और डाँटो मुझे
मेरी उच्छृंखलता और आवारगी के लिए।
कहो मुझसे
ज़रूरी काम समय से निपटाने के लिए,
लैम्प जलाकर, चटाई बिछाकर
पढ़ने बैठ जाने के लिए,
मुझे भेजो ठण्ड में भी नहलाकर,
बस्ता देकर स्कूल।
युवा हो जाओ
एक बार फिर मेरे भीतर
आकर साँस लो
और इस सदी में
लड़ाई को फ़ैसलाकुन अंजाम तक
पहुँचाने की ज़िद से
मुझे सराबोर कर दो
मेरी माँ!

(10-13 फरवरी, 2001)

जीवन की ऊष्मा-गतिकी

उत्पादों और उपभोग की चमक भरी दुनिया से
दूर हटा दी जानी हैं,
एकदम ओझल कर दी जानी हैं उत्पादन की हलचलें,
परेशानियाँ, गर्दो-गुबार और ख़तरों-आशंकाओं से भरा अँधेरा।
जारी किया जा चुका है राजधानी की सफ़ाई का फ़रमान।
घायल थके हुए पहिए सड़क पर बढ़ रहे हैं मद्धम गति से।
फेफड़ों पर जमी कालिख पर आज नहीं चढ़ी है धुँए की एक नई परत।
भूकम्प की कोई चेतावनी नहीं है फ़िलवक़्त।

महज़ कुछ तसलों-पतीलों, बत्ती वाले स्टोवों, कथरी-गुदड़ी और टीन के बक्सों,
कुछ हुनरमन्द हाथों और कुछ पारिवारिक चिन्ताओं,
निरुपाय महसूस कर रहे कुछ मायूस दिलों और कुछ दुखों,
कुछ खण्डित स्वप्नों और कुछ दुर्निवार मानवीय चाहतों,
कुछ उजरती गुलामियों और कुछ नाकाम बग़ावतों,
कुछ घुटी हुई चीख़ों और कुछ रक्त-सने पंखों के
इधर-उधर होने से धरती नहीं काँपती।
न्याय का तराज़ू अविचल रहता है।
पत्थर की कुर्सियाँ सलामत बनी रहती हैं।

धीरे-धीरे पुरबहार मौसम और ख़ुशगवार आबो-हवा वाले
ग्रहों के आसपास निर्मित होते हैं कुछ अन्धकारमय वलय
अनगिन छोटे-बड़े खगोलीय तप्त पिण्डों के,
लगातार चक्रिल गति में घूमते हुए
एक प्रचण्ड केन्द्राभिसारी शक्ति से संवेगमान।
एक नई बेचैनी मौसम-वैज्ञानिकों की परेशानी का
सबब बनने लगती है।
छोटी-छोटी हारें बड़ी हार का ज़ख़्म हरा करती हैं
और उसके कारणों पर सोचने को मजबूर करती हैं।
वापस लौटती हैं हवा में तिरोहित हो चुकी पूर्वजों की पुकारें।
स्मृतियों के संग्रहालय सजीव हो उठते हैं।
जीवाश्म भी बनने लगते हैं नये ऊर्जा स्रोत।
काली चट्टानें तपने लगती हैं।
वनस्पतियों में कौंधती है नई हरीतिमा और
अग्निमुखी पुष्प आँखें खोलने लगते हैं।
अनिश्चय की बर्फ़ पिघलने लगती है, दहकते विचारों को
लावे की तरह बहती ज़िन्दगी के अग्रभाग में जगह देती हुई।
किनारे पर लेटे जो धुरन्धर ज्ञान-धुरीण लहरों पर सवारी करने की
कला का घनघोर अध्ययन कर रहे थे, भागते हैं वे सुरक्षित
घरों की ओर धुरियाझार अपनी प्लास्टिक की नावें
सिर पर लादे हुए, अपने कुतुबनुमा, चप्पू और चमकीले नाविक-परिधानों के साथ।
एक नया फ़रमान जारी होता है ज़िन्दगी की सफ़ाई का
और बेशक,
उसपर अमल होता है तत्काल
भरपूर निश्चय के साथ!

(28 फरवरी, 2001)

दिनेश कुमार शुक्ल की कविता

कथा उस पार की

कहते-कहते यह अकथ कथा भाषा का पर्वत हुआ पार
उस पार एक घाटी में हम थे उतर रहे
ज्यों चढ़ी पतंगें आसमान के नीले पर्दे में घुलकर
नीले रंग को कुछ और अधिक गहरा-गाढ़ा कर जाती है
अब पहुँच रहे थे उस दुनिया में जिसमें हम
'होने' के भीतर छुपी वेदना को सीधे छू सकते थे
हम उसकी नाड़ी की धड़कन के झटकों में थे झूल रहे
उसके ज्वर की लपटों में आँखें निर्जल होकर झुलस गईं
हम देख रहे थे पानी की लपटों में जलता देश-काल
अपने साँचों के बाहर हम इस तरह निकलते आते थे
जैसे अपना ब्रह्माण्ड फोड़कर बाहर आते हैं अण्डज

वह घाटी क्या थी एक कथा थी भाषातीत लिखी जल पर
उस जलती हुई कहानी में हम खोज रहे थे गहन अर्थ
उस घाटी में थे फूल नहीं पर कुछ था बेहद खिला हुआ
रंगों पर रंगों की परतें चढ़ती थीं और उतरती थीं
अपनी सीमा के परे दूर तक सब कुछ फैला था धुँधला
स्वप्निल यथार्थ में छुपे सत्य को ढूँढ़ रही थी अरुणाभा
कविता थी या फिर दुनिया थी जल-थल था या था अधर देश
संक्रमित स्वयं को करके ही उस पल बच पाना सम्भव था

अनवरत मार नश्वरता की हँस-हँसकर हमें छकाती थी
जैसे कोई भारी-भरकम अदृश्य हाथ
घुसकर सबकी आत्मा में चाबी भरता था,
कस्तूरी-मृग की तरह
समय की गन्ध खोजती चौंक-चौंककर भाग रही थी वह दुनिया,
आकारहीन थे सभी दृश्य पर अँटी पड़ी थी वह घाटी

आवाज़ें सारी गुमसुम थीं पर गूँज रहा था वह आलम
जैसे लाखों घोड़ों पर चढ़कर चली आ रही हो सेना
युद्धों के अभिनव रूप छुपे थे परमशान्ति के पर्दे में
लिप्साएँ घुसी कन्दरा में गढ़ती जाती थीं पल-प्रतिपल
बर्बरता के इलहाम, घात-प्रतिघात, द्वन्द्व-प्रतिद्वन्द्व,

मुट्ठी की बालू-सा सबकुछ हम खोते चले जा रहे थे
हम हार-हारकर हेर रहे थे पीछे छूटी राहों को
हम हेर-हेर कर हार गए पर नई राह का पता नहीं
रह रहकर बिसूरने की लत
उस दुनिया से ले आए थे हम अपने ख़ाली साँचों में
वह घनी नीम पौराणिक गाथा जैसी अब भी दिखती थी
पर काँप-काँपकर कभी बिखर-सी जाती थी
फिर सहसा टुकड़े-टुकड़े जुड़कर वह दरख्त
ज्यों का त्यों फिर आ जाता था—पहले सा पूरा वही दृश्य!
अब ऐसे में तुम कहो दोष हम किसको दें
यह दृष्टि कर रही थी कौतुक
या चीज़ें चुहल कर रही थीं
भर आँख अगर कुछ देखो तो आँखें ही भर-भर आती थीं,
भीषण कोलाहल कभी कथा में उससे ज़्यादा घना मौन
यूँ दन्तकथा का समारम्भ भी अभी कहाँ हो पाया था
कोई रचना अपना वितान फैलाने में थी बहुत व्यस्त
पर बार-बार तम्बू-कनात
सब बिना हवा-बइहर के ही गिर पड़ते थे,
हमने देखी वह सुबह अभी जिसमें सूरज को आना था
हमने देखी अरुणाभा के आने के पहले की आभा
कानों में बजता सन्नाटा कुछ उसी तरह का था अनुभव
बेतरह चली हो रातों में ज्यों धूल भरी काली आँधी
फिर सहसा छँटने लगा अँधेरे का मंज़र

पर अभी सुबह हो बहुत दूर
उलझन में टूटी नींद देह को तोड़ रही मज्जा के भीतर घुस-घुसकर
दाँतों में आँखों कानों में मन के भीतर तक भरी रेत
यह स्वप्नलोक था नहीं क्योंकि हमने पहाड़ ख़ुद किया पार
अपने पाँवों से डग भरते हम पार कर रहे थे दलदल
आख्यान-उपाख्यानों की सँकरी गलियों में
हम खोज रहे थे कथा-सूत्र,
सहसा हमने फिर से देखा
पीछे छूटी दुनिया का अपना वह मकान

उसके आले पर धरा दिया
वह क्षीण ज्योति पतली जलधारा के समान
बुझ-बुझकर फिर जग जाती थी
कल-कल कर बहने लगती थी विस्मृत प्रकाश की निर्झरिणी
टाँड़ों पर रहने वाली कुछ गौरैयाँ भी
कोटर में बसे कबूतर भी
वह हँसते दाँतों वाला भूरा नेवला भी
वह नाली भी जिसमें घुसकर वह मुलुर-मुलुर ताका करता
वह सर्पाभास रेंगता सीने के ऊपर
वह पीले-पीले बरसाती मेढक की लम्बी सी उछाल
जाने क्या-क्या ला कर रचना फिर अपना मंच सजाती थी
पर कथा कहाँ थी दूर-दूर तक उसका नाम-निशान नहीं

वे तीनों सूत्रधार दुनिया के दिखे हमें
पर जाने कौन उन्हें उनके ही सूत्रों में
उलझाकर नाच नचाता था—
यह स्वतंत्रता की कठपुतली
वह समानता का व्यंग्य चित्र
वह गला घोंटता भ्रातृभाव
नाटक के भीतर नाटक में गिरता परदा उठता
था जटिल विदूषक भाव
हँसता कभी रुलाता कभी खिझाता कभी निरुत्तर करता-सा

मैंने देखी चिरपरिचित संध्या की आभा
माटी-राखी में सनी हुई वह लौट रही थी भट्ठे से
वापस फिर अपने चूल्हे में

झोपड़पट्टी की बस्ती का विस्तार दूर तक फैला था
उस दुनिया के भी परे जहाँ विस्तार सभी थम जाते थे,
गन्दे पानी के नाले में तैरते तेल के बुदबुद थे
जो कभी फूटते नहीं कि जैसे दुख अनश्वर होता है
कहते हैं ऐसे कर्दम में ही पहले जन्मा था जीवन,
काले अदृश्य पर्वत जैसी उठती सड़ाँध के बादल में
जगती आशा की तिमिर-ज्योति
में छुपा हुआ
उस दुनिया का आने वाला आलोक तभी हमने देखा
सूर्यास्त पार की लाली में
पिघले लोहे की नदी किनारे बैठी-सी
वह मेरे बचपन की पुरखिन जो ख़ूब कथाएँ कहती थी
गढ़ती जाती थी लोहे की कोमलता लेकर नवजीवन
ऐसा वह अद्‌भुत नवजीवन
उस घाटी में जो एक नया सुन्दर संसार बसाएगा।

स्मृति-विलेख

***मार्क ट्वेन** की अमर कहानी*

वह शख़्स जिसने हैडलेबर्ग को भ्रष्ट कर दिया

ये कई साल पहले की बात है। हैडलेबर्ग आसपास के सारे इलाक़े में सबसे ईमानदार और दयानतदार क़स्बा था। उसने पीढ़ियों से इस नेकनामी को बेदाग़ बनाए रखा था और उसे इस पर अपनी किसी भी दूसरी चीज़ से बढ़कर नाज़ था। उसे इस पर इस क़दर नाज़ था और वह इसे क़ायम रखने के लिए इतना बेताब था कि क़स्बे के लोग पालने में ही बच्चों को ईमानदारी की घुट्टी पिलाने लगते थे और उनकी शिक्षा के वर्षों के दौरान यही सबक उनकी पढ़ाई-लिखाई का मुख्य विषय होता था। साथ ही, परिपक्व होने तक बच्चों को हर तरह के लोभ-लालच से दूर रखा जाता था, ताकि उनकी ईमानदारी को अच्छी तरह पककर ठोस होने का मौक़ा मिले और वह उनके जिस्मो-जां का हिस्सा बन जाए। पड़ोसी क़स्बे इस सम्मानजनक श्रेष्ठता से जलते थे और हैडलेबर्ग के ख़ुद पर नाज़ करने को ग़ुरूर कहकर उसकी हँसी उड़ाते थे। लेकिन फिर भी, उन्हें ये स्वीकार करना ही पड़ता था कि हैडलेबर्ग वाक़ई ऐसा क़स्बा था जिसे भ्रष्ट नहीं किया जा सकता; और अगर थोड़ा ज़ोर दिया जाए तो वे ये भी स्वीकार करते कि अगर कोई नौजवान ज़िम्मेदारी वाले किसी रोज़गार की तलाश में अपना गृहनगर छोड़कर बाहर निकले तो उसे इस तथ्य के अलावा और किसी प्रमाणपत्र या सिफ़ारिश की ज़रूरत ही नहीं होती थी कि वह हैडलबर्ग का रहने वाला है।

लेकिन आख़िरकार, समय के फेर में, हैडलेबर्ग ने बदक़िस्मती से वहाँ से गुज़रते एक अजनबी को ठेस पहुँचाई—शायद ऐसा उसने अनजाने में किया, लेकिन निश्चित ही उसे इसकी कोई परवाह नहीं थी क्योंकि हैडलेबर्ग अपने आप में मगन था और अजनबियों या उनके ख़्यालों की ठेंगे भर भी परवाह

नहीं करता था। लेकिन बेहतर होता अगर उसने इस शख़्स के मामले में अपवाद किया होता क्योंकि वह कड़वाहट से भरा और बदला लेने पर आमादा इन्सान था। पूरे एक साल तक वह जहाँ भी गया अपने दिल को पहुँची ठेस को भूला नहीं और अपने सारे ख़ाली समय में वह इसकी तसल्लीबख़्श भरपाई के तरीक़े ढूँढ़ने में लगा रहता। उसने बहुत सी योजनाएँ बनाईं और सब अच्छी थीं, लेकिन उनमें से कोई भी पर्याप्त व्यापक नहीं थी। इनमें से सबसे कमज़ोर योजना भी बहुत से लोगों को नुकसान पहुँचा सकती थी, लेकिन वह तो एक ऐसी योजना चाहता था जो पूरे क़स्बे को चपेट में ले ले और एक भी आदमी सही-सलामत बच न सके। आख़िरकार उसे एक बात सूझ गई और जैसे ही ये उसके दिमाग़ में कौंधी उसका चेहरा एक दुष्टतापूर्ण ख़ुशी से चमक उठा। वह फ़ौरन योजना बनाने में जुट गया। वह ख़ुद से ये कहता जा रहा था, "हाँ, मैं यही करूँगा—मैं इस क़स्बे को भ्रष्ट कर दूँगा!"

छह माह बाद वह हैडलेबर्ग गया और एक बग्घी में बैठकर रात क़रीब दस बजे बैंक के बूढ़े कैशियर के घर पहुँचा। उसने बग्घी से एक बोरी निकाली, उसे कन्धे पर लादा और उसके बोझ से लड़खड़ाता हुआ अहाते से गुज़रकर दरवाज़े पर दस्तक दी। एक महिला की आवाज़ आई, "भीतर आ जाओ," और वह भीतर दाखिल हुआ, अपनी बोरी आतिशदान के पीछे रख दी और फिर लैम्प की रोशनी में 'मिशनरी हेरल्ड' पढ़ रही बूढ़ी महिला से विनम्रता से कहा :

"आप बैठी रहें मैडम, मैं आपको तंग नहीं करूँगा। हाँ—अब ये अच्छी तरह छुप गया है; किसी का शायद ही इसकी ओर ध्यान जाएगा। क्या मैं एक मिनट के लिए आपके शौहर से मिल सकता हूँ मैडम?"

नहीं, वह ब्रिक्सटन गए हैं और शायद सुबह के पहले नहीं लौटेंगे।

"ठीक है, ठीक है मैडम कोई बात नहीं। मैं बस इस बोरी को उनकी देखरेख में छोड़ना चाहता था ताकि जब भी इसका सही हकदार मिले तो उसे दे दी जाए। मैं एक अजनबी हूँ, वह मुझे नहीं जानते; मैं आज रात इस शहर से बस एक काम पूरा करने के लिए गुज़र रहा था जो काफ़ी दिनों से मेरे मन में था। मेरा काम पूरा हो गया है और अब मैं ख़ुशी-ख़ुशी और थोड़े फ़ख़्र के साथ यहाँ से जा रहा हूँ, और आप मुझे दोबारा कभी नहीं देखेंगी। बोरी के साथ एक काग़ज़ लगा हुआ है जिससे सब कुछ पता चल जाएगा। गुडनाइट मैडम।"

बूढ़ी महिला इस रहस्यमय लम्बे-चौड़े अजनबी से डर गई थी और उसे जाता देखकर ख़ुश हुई। लेकिन उसकी उत्सुकता जाग गई थी और वह सीधे बोरी के पास जाकर काग़ज़ ले आई। उसमें लिखा थाः

"इसे शहर के अख़बार में छपवा दिया जाए, या फिर आप ख़ुद ही सही आदमी का पता लगा लें—दोनों ही चलेंगे। इस बोरी में एक सौ साठ पौण्ड और चार औंस वज़न के सोने के सिक्के हैं—"

"हे भगवान...और दरवाज़ा भी बन्द नहीं है!"

मिसेज़ रिचर्ड्स ने काँपते हुए दौड़कर दरवाज़ा बन्द किया, फिर खिड़कियों की झिलमिली गिराई और फिर डरी, घबराई हुई सोचने लगी कि ख़ुद को और इस पैसे को सुरक्षित करने के लिए और क्या किया जा सकता है। पल भर वह कान लगाकर सुनती रही कि कहीं कोई चोर तो नहीं है, फिर उत्सुकता उस पर हावी हो गई और वह वापस लैम्प के पास जाकर काग़ज़ पर लिखी इबारत पढ़ने लगी :

"मैं एक परदेसी हूँ, और अब हमेशा के लिए अपने मुल्क लौट रहा हूँ। यहाँ लम्बे समय तक रहने के दौरान मैंने जो कुछ भी पाया उसके लिए मैं अमेरिका का शुक्रगुज़ार हूँ; और उसके एक नागरिक—हैडलेबर्ग के एक नागरिक—का तो ख़ास तौर पर एहसानमन्द हूँ जिसने साल-दो साल पहले मेरे साथ बड़ी भलाई की थी। बल्कि दो भलाइयाँ की थीं। मैं बताता हूँ कि क्या हुआ था। मैं एक जुआड़ी था। मैंने कहा 'मैं था।' मैं जुए में बरबाद हो चुका था। मैं इस क़स्बे में रात को पहुँचा, भूखा-प्यासा, जेब में फूटी-कौड़ी भी नहीं। मैंने मदद माँगी—अँधेरे में; उजाले में भीख माँगते मुझे शर्म आती थी। पर मैंने सही आदमी के आगे हाथ फैलाया था। उसने मुझे बीस डॉलर दिए—या यूँ कहें कि उसने मुझे ज़िन्दगी दे दी, मुझे ऐसा

ही लगा। उसके ये पैसे बड़े क़िस्मतवाले थे क्योंकि इन्हीं से मैं फिर जुए में जीतकर अमीर हो गया। और सबसे बढ़कर, उसने मुझे एक बात कही जो आज तक मुझे याद है; और आख़िर अब मैं उस बात का क़ायल हो गया हूँ। इसने मेरे बचे-खुचे ज़मीर को मरने से बचा लिया। अब मैं कभी जुआ नहीं खेलूँगा। मुझे बिल्कुल पता नहीं कि वह आदमी कौन था, लेकिन मैं चाहता हूँ कि उसका पता लगे, और मैं चाहता हूँ कि ये पैसा उसे मिल जाए। फिर वह चाहे इसे बाँट दे, फेंक दे, या रखे, जो जी में आए, करे। ये तो बस उसके प्रति कृतज्ञता दिखाने का मेरा तरीक़ा है। अगर मैं रुक सकता तो ख़ुद ही उसे ढूँढता, लेकिन उसका पता चल ही जाएगा। ये एक ईमानदार क़स्बा है; इसे भ्रष्ट नहीं किया जा सकता, और मैं जानता हूँ कि बेधड़क इस पर भरोसा कर सकता हूँ। उस आदमी ने मुझसे जो बात कही थी, उससे उसे पहचाना जा सकता है; मुझे यक़ीन है कि उसे वह बात याद होगी।

"मेरी योजना ये है : अगर आप अकेले ही पता लगाना चाहें तो ऐसा ही करें। आपकी नज़र में जो सही आदमी हो, उसे इस ख़त के बारे में बताएँ। अगर वह कहता है, मैं ही वह आदमी हूँ, मैंने उससे फ़लाँ-फ़लाँ बात कही थी, तो इस बात की जाँच कीजिए : बोरी खोलिए और उसमें आपको एक मुहरबन्द लिफ़ाफ़ा मिलेगा जिसमें वह जुमला लिखा रखा है। अगर उम्मीदवार द्वारा बताई गई बात इससे मिल जाए तो बिना और कुछ पूछे उसे पैसे दे दें क्योंकि बिला शक वही सही आदमी है।

"लेकिन अगर आप खुली जाँच कराना चाहें तो इस ख़त को शहर के अख़बार में छपवा दें—और साथ में ये हिदायतें भी : इन पैसों का दावेदार आज से तीस दिन बाद शाम आठ बजे टाउनहाल में पहुँचे और अपनी बात एक मुहरबन्द लिफ़ाफ़े में पादरी मि. बर्गेस (अगर वह इस काम के लिए तैयार हों तो) को सौंप दे। मि. बर्गेस वहीं, उसी समय बोरी की मुहर तोड़कर उसमें रखे काग़ज़ से उस जुमले का मिलान करें और मिल जाए तो मेरी हार्दिक शुभकामनाओं सहित पैसा मेरे उपकारक को सौंप दिया जाए।"

मिसेज़ रिचर्ड्स बैठ गईं। उत्तेजना से उनके बदन में फुरफुरी-सी हो रही थी और जल्दी ही वह ख़्यालों में डूब गई जिनका ढर्रा कुछ यूँ था : "कैसी अजीब बात है!...नेकी कर दरिया में डालने वाले उस भले आदमी के तो भाग ही खुल गये।...काश मेरे पति ने ऐसा किया होता!—आख़िर हम इतने ग़रीब हैं, इतने बूढ़े और लाचार हैं!..." फिर आह भरकर—"लेकिन वह मेरा एडवर्ड नहीं हो सकता; नहीं, अजनबी को बीस डॉलर देने वाला वह नहीं था। हाय, हमारे ऐसे नसीब कहाँ..." फिर अचानक चौंककर—"लेकिन ये तो **जुए** का पैसा है! पाप की कमाई; हम इसे नहीं ले सकते; हम तो इसे छू भी नहीं सकते। मुझे इसके पास रहना भी अच्छा नहीं लगता; यहाँ रहना ही मुझ अपवित्र कर देगा।" वह दूर वाली कुर्सी पर जाकर बैठ गई।... "काश एडवर्ड आ जाता और इसे बैंक ले जाता; कभी भी कोई चोर आ सकता है। इसके साथ यहाँ अकेला रहना बड़ा डरावना है।"

ग्यारह बजे रिचर्ड्स वापस लौटा और जिस वक़्त उसकी बीवी कह रही थी, "मैं कितनी ख़ुश हूँ कि तुम आ गए हो!" उस वक़्त वह कह रहा था, "मैं इस क़दर थक गया हूँ—थककर चूर हो गया हूँ। ग़रीब होना बड़ा भयावह है, अब इस उम्र में ऐसे तकलीफ़देह सफ़र करने पड़ते हैं। थोड़ी सी तनख़्वाह के लिए बस जुते रहो, जुते रहो, जुते रहो—दूसरे की ग़ुलामी करते रहो, जबकि वह मज़े से घर में बैठा होगा।"

"मुझे तुम्हारे लिए बड़ी तकलीफ़ होती है एडवर्ड, तुम जानते हो; पर ऐसे दुखी न हो। आख़िर हम अपनी मेहनत की कमाई खाते हैं; समाज में हमारी प्रतिष्ठा है—"

"हाँ, मैरी, यही सबसे बड़ी चीज़ है। मेरी बातों का बुरा मत मानना—ऐसे ही झुंझलाहट में बोल गया। आओ, मेरा बोसा लो—लो, बस, सब ख़त्म; अब मुझे कोई शिकायत नहीं। अरे, तुमने कुछ सामान मँगाया है क्या? उस बोरी में क्या है?"

उसकी बीवी ने उसे सारी बात बताई। एक पल के लिए वह हक्का-बक्का रह गया, फिर बोला :

"ये एक सौ साठ पौण्ड है? अरे, मैरी, ये चा-लीस हज़ार डॉलर हैं—ज़रा सोचो तो—पूरा ख़ज़ाना! इस

शहर में दस आदमी भी इतने पैसे वाले नहीं हैं। मुझे वह काग़ज़ तो दो।"

वह जल्दी-जल्दी उसे पढ़ गया और कहा :

"ये अद्‌भुत कारनामे जैसा है न? कितना हैरतअंगेज़! ऐसी असम्भव-सी बातें तो आदमी क़िताबों में पढ़ता है, ज़िन्दगी में ऐसा कहाँ होता है!" अब उसकी उत्तेजना जाग गई थी, वह ख़ुश था, बल्कि ख़ुशी से फूला नहीं समा रहा था। उसने बूढ़ी पत्नी के गालों को थपथपाया और मज़ाकिया लहजे में कहा : "अरे मैरी, अब हम अमीर हैं, अमीर; बस, हम ये पैसा ज़मीन में गाड़ देंगे और कागजों को जला डालेंगे। अगर वह जुआड़ी कभी पूछने आया तो हम उसे घूरकर कहेंगे : 'क्या बकवास कर रहा है तू? हमने कभी तेरे और तेरी इस सोने की बोरी के बारे में सुना तक नहीं है।' कैसा बेवक़ूफ़ दिखेगा, और—"

"तुम्हें मज़ाक सूझ रहा है, और पैसा अब भी यहाँ पड़ा है, और चोरों के निकलने का समय हो रहा है।"

"ठीक कह रही हो तुम। पर हमें करना क्या चाहिए—अकेले ही पता लगाएँ? नहीं, नहीं, इससे तो सारा मज़ा किरकिरा हो जाएगा। खुली जाँच बेहतर रहेगी। ज़रा सोचो, क्या शोर मचेगा! दूसरे सारे शहर जल-भुनकर कबाब हो जाएँगे क्योंकि कोई भी अजनबी ऐसे काम के लिए हैडलेबर्ग के अलावा और किसी पर भरोसा नहीं करता। ये हमारी शान में चार चाँद लगा देगा। पर मुझे फ़ौरन अख़बार के दफ़्तर लपकना चाहिए वरना देर हो जाएगी।"

"अरे रुको—रुको—मुझे इसके साथ अकेली छोड़कर मत जाओ एडवर्ड!"

पर वह जा चुका था। लेकिन थोड़ी ही देर के लिए क्योंकि अपने घर से कुछ ही दूरी पर उसे सम्पादक—यानी अख़बार का मालिक मिल गया और उसने उसे काग़ज़ दे दिया। "ये तुम्हारे लिए एक अच्छी ख़बर है कॉक्स—छाप दो इसे।"

"शायद अब देर हो चुकी है मि. रिचर्ड्स, पर मैं देखूँगा।"

घर लौटकर वह और उसकी बीवी फिर बैठकर इस अद्‌भुत रहस्य पर बातें करने लगे; दोनों में से कोई सोने की हालत में नहीं था। पहला सवाल था, आख़िर वह कौन नागरिक था जिसने अजनबी को बीस डॉलर दिए थे? शायद ये आसान सवाल था; दोनों ने एक ही साँस में इसका जवाब दिया—"बारक्ले गुडसन।"

"हाँ," रिचर्ड्स ने कहा, "वह ऐसा कर सकता था, उसका मिज़ाज ऐसा था, दूसरा कोई नहीं है शहर में जो ऐसा कर सके।"

"इससे कोई इन्कार नहीं करेगा एडवर्ड—पर खुलकर कोई नहीं कहेगा। पिछले छह महीने से, अब ये क़स्बा फिर से अपने जैसा हो गया है—ईमानदार, तंगदिल, घमण्डी, और कंजूस।"

"वह मरते दम तक इसे यही कहता रहा—और सबके मुँह पर कहता था।"

"हाँ, और इसीलिए लोग उससे नफ़रत करते थे।"

"ओह हाँ, पर वह किसी की परवाह कहाँ करता था। मेरे ख़्याल से हमारे बीच सबसे ज़्यादा नफ़रत लोग किसी से करते थे तो उसी से, पादरी बर्गेस के अलावा।"

"बर्गेस है ही इसी के लायक। अब यहाँ वह फिर कोई समागम नहीं कर पाएगा। ये शहर चाहे जितना ओछा हो, *उसके* जैसे लोगों को पहचानना जानता है। एडवर्ड, तुम्हें क्या ये अजीब नहीं लगता कि अजनबी ने पैसे सही आदमी को सौंपने की ज़िम्मेदारी बर्गेस को दे दी?"

"अ-अ-हाँ-हाँ...लगता है। ये तो—ये तो—"

"ये तो-ये तो क्या कर रहे हो? क्या तुम उसे चुनते?"

"मैरी, शायद वह अजनबी उसे क़स्बेवालों से बेहतर जानता हो।"

"हुँह, जैसे मैं उसे जानती ही नहीं हूँ"

शौहर को जैसे कोई जवाब नहीं सूझ रहा था। बीवी की नज़र उस पर गड़ी थी और वह इन्तज़ार कर रही थी। आख़िरकार रिचर्ड्स ने कहा, लेकिन ऐसे हिचकिचाते हुए जैसे बोलने से पहले ही लग रहा हो कि उसकी बात पर यक़ीन नहीं किया जाएगा।

"मैरी, बर्गेस बुरा आदमी नहीं है।"

उसकी पत्नी वाक़ई हैरान रह गई।

"बकवास!" उसने तमककर कहा।

"वह बुरा आदमी नहीं है। मैं जानता हूँ। उसकी सारी बदनामी की जड़ में बस एक ही बात है—वही बात जिस पर इतना शोर मचा था।"

"बस वही "एक बात'। वाह! जैसे वह "एक बात' अपने में काफ़ी नहीं हो।"

"बेशक। बेशक। पर वह इसमें दोषी नहीं था।"

"कैसी बात कर रहे हो? दोषी नहीं था। हर कोई जानता है कि वह दोषी था।"

"मैरी, मैं क़सम खाकर कहता हूँ—वह बेक़सूर था।"

"मैं इसे नहीं मान सकती और मैं मानूँगी भी नहीं। तुम कैसे जानते हो?"

"मैं गुनाह कबूल कर रहा हूँ। मैं शर्मिन्दा हूँ, लेकिन मैं ऐसा करूँगा। मैं ही अकेला आदमी था जो जानता था कि वह बेक़सूर है। मैं उसे बचा सकता था, और—और—ख़ैर, तुम जानती हो क़स्बे में कैसा बावेला मचा हुआ था—मुझे ऐसा करने की हिम्मत नहीं हुई। इससे हर कोई मेरे ख़िलाफ़ हो जाता। मैं अपनी ही नज़रों में गिर गया, पर फिर भी मैं हिम्मत नहीं कर सका। मुझमें वह सब झेलने की बहादुरी नहीं थी।"

मैरी के चेहरे पर परेशानी साफ़ झलक रही थी, और कुछ देर वह ख़ामोश रही। फिर उसने लड़खड़ाती आवाज़ में कहा :

"मुझे—मुझे नहीं लगता कि तुम्हारा ऐसा करना—मेरा मतलब—अ-अ—लोगों की राय—ऐसे मामलों में इतना सावधान रहना पड़ता है—इसलिए—" ये डगर कठिन थी और वह बीच में अटक गई; लेकिन थोड़ी देर बाद वह फिर शुरू हो गई। "ये बड़ा दुखद हुआ, लेकिन—एडवर्ड, हम इसे झेल नहीं सकते थे—हम बिल्कुल नहीं झेल पाते। ओह, मैं किसी सूरत में तुम्हें ऐसा नहीं करने देती!"

"इससे हम बहुत से लोगों के लिए बुरे बन जाते, मैरी; और फिर—और फिर—"

"अब मैं ये सोचकर परेशान हूँ कि वह हमारे बारे में क्या सोचता होगा, एडवर्ड।"

"वह? उसे तो अन्दाज़ा भी नहीं कि मैं उसे बचा सकता था।"

"ओह," पत्नी ने राहत की साँस लेते हुए कहा। "मुझे इसकी ख़ुशी है। जब तक उसे ये पता नहीं कि तुम उसे बचा सकते थे, वह—वह—चलो, अच्छा है। अरे, मुझे तो ये समझ ही लेना चाहिए था कि उसे पता नहीं है क्योंकि वह हमेशा हमसे दोस्ताना दिखाने की कोशिश करता रहता है; ये अलग बात है कि हम उसे ज़्यादा बढ़ावा नहीं देते। कई बार लोग मुझे इसके लिए ताना मार चुके हैं। विल्सन और विल्कॉक्स दम्पति और वह हार्कनेस, वे मज़ा ले-लेकर कहते हैं '*आपका मित्र* बर्गेस', क्योंकि वे जानते हैं कि इससे मुझे चिढ़ होती है। मैं तो मनाती हूँ कि वह हमें इस तरह पसन्द करना छोड़ दे; मुझे समझ नहीं आता कि वह अब भी क्यों लगा हुआ है?"

"इसकी वजह मैं बताता हूँ। ये एक और गुनाह का इक़बाल है। जब मामला अभी ताज़ा-ताज़ा और गर्म था, और क़स्बेवालों ने उसकी फ़जीहत करने की योजना बनाई, तो अपने ज़मीर पर इस बोझ को सहन करना मेरे लिए मुश्किल हो गया और मैंने चुपके से जाकर उसे बता दिया। वह क़स्बे से निकल गया और तभी लौटा जब मामला ठण्डा पड़ चुका था।"

"एडवर्ड! अगर लोगों को पता चल जाता तो—"

"*नहीं!* ऐसा कहो भी मत! मुझे इसके बारे में सोचकर अब तक डर लगता है। ऐसा करने के फ़ौरन बाद ही मुझे पछतावा होने लगा और मैं तुम्हें बताने से डरता था कि कहीं तुम्हारा चेहरा किसी के सामने पोल न खोल दे। उस रात मैं चिन्ता के मारे सो नहीं पाया। लेकिन कुछ दिन बाद मैंने देखा कि किसी को भी मुझपर शक नहीं है और तब से मुझे इस बात की ख़ुशी होने लगी कि मैंने ऐसा किया। और मैरी, मुझे अब भी ख़ुशी होती है—मुझे बहुत ख़ुशी होती है।"

"अब मैं भी ऐसा ही महसूस कर रही हूँ, क्योंकि बर्गेस के साथ बड़ा बुरा बरताव हुआ होता। हाँ, मैं ख़ुश हूँ, क्योंकि उसका कर्ज़ उतारने का इससे अच्छा तरीक़ा नहीं हो सकता था। लेकिन एडवर्ड, ज़रा सोचो, अगर किसी दिन ये राज़ खुल गया तो!"

"ऐसा नहीं होगा।"

"क्यों?"

"क्योंकि हर कोई मान बैठा है कि ये काम गुडसन का था।"

"ज़ाहिर है, वे तो यही सोचेंगे।"

"बिल्कुल। लेकिन *उसे* इसकी रत्तीभर परवाह नहीं थी। उन लोगों ने बेचारे साल्सबेरी को तैयार किया कि वह जाकर उस पर ये इल्ज़ाम लगाए, और उसने भड़भड़ाते हुए जाकर बोल दिया। गुडसन ने उसे ऊपर से नीचे तक देखा, मानो ऐसी जगह तलाश रहा हो जिससे उसको सबसे ज़्यादा नफ़रत हो। फिर वह बोला, 'तो तुम हो जाँच कमेटी, क्यों?' साल्सबेरी ने कहा कि हाँ, ऐसा ही है। 'हूँ। क्या उन्हें ब्योरे चाहिए, या तुम्हारे ख़्याल से *आम* क़िस्म का जवाब चल जाएगा?' 'अगर उन्हें ब्योरों की ज़रूरत होगी, तो मैं फिर आ जाउँगा मि. गुडसन। मैं पहले आम जवाब ले जाता हूँ।' 'फिर ठीक है, उनसे कह दो कि भाड़ में जाएँ वे—मेरे ख़्याल से ये काफ़ी आम है। और मैं तुम्हें भी एक सलाह देता हूँ, साल्सबेरी; जब ब्योरों के लिए वापस आना तो एक टोकरी साथ ले आना—अपनी बची-खुची हड्डी-पसलियाँ बटोरकर ले जाने के लिए।'"

"गुडसन बिल्कुल ऐसे ही बोलता था। उसे एक ही बात का तो घमण्ड था, उसे लगता था कि उससे अच्छी सलाह कोई नहीं दे सकता था।"

"इससे मामला सुलट गया, और हम बच गए मैरी। मामला वहीं ख़त्म हो गया।"

"भगवान भला करे, ऐसा ही हो।"

इसके बाद वे फिर सोने की बोरी की बातें करने लगे, लेकिन पहले से ज़्यादा दिलचस्पी के साथ। जल्दी ही बातचीत का सिलसिला टूटने लगा—दोनों सोच में डूब जाते और बातचीत वहीं रुक जाती। रुकावटें ज़्यादा जल्दी-जल्दी आने लगीं। आख़िरकार रिचर्ड्स पूरी तरह अपने ख़्यालों में गुम हो गया। वह देर तक ख़ाली-ख़ाली नज़रों से फ़र्श को घूरता बैठा रहा और फिर अनजाने ही उसके ख़्यालों के साथ-साथ उसके हाथ भी हरकत करने लगे जिससे पता चलता था कि वह गहरी उधेड़बुन में है। इस बीच उसकी बीवी भी सोचपूर्ण चुप्पी में डूब चुकी थी और उसके बदन की जुम्बिश से लग रहा था कि उसे बड़ी उलझन हो रही है। आख़िर रिचर्ड्स उठ बैठा और कमरे में निरुद्देश्य इधर-उधर टहलने लगा। वह बार-बार बालों में हाथ फिरा रहा था, जैसे कोई नींद में चलने वाला बुरा ख़्वाब देखते हुए करता है। फिर लगा कि वह किसी फ़ैसले पर पहुँच गया है; और बिना कुछ कहे उसने टोप पहना और तेज़ी से घर से निकल गया। उसकी बीवी सोच में डूबी बैठी रही; उसके चेहरे पर बेचैनी थी, और लगता था कि उसे अकेले रह जाने का अहसास नहीं था। बीच-बीच में वह बुदबुदा उठती थी, "हे प्रभो, लोभ-लालच, माया-मोह से हमारी रक्षा करना... लेकिन—लेकिन—हम इतने ग़रीब हैं, इतने लाचार!... प्रभो, हमें बचाना... आह, इससे किसी का क्या बिगड़ जाएगा?—और किसी को पता भी नहीं चलेगा... हे प्रभो..." उसकी आवाज़ अस्पष्ट बुदबुदाहट में खो गई। कुछ देर बाद उसने नज़र उठाई और भयमिश्रित ख़ुशी के स्वर में बड़बड़ाई—

"चले गए! ओह, लेकिन शायद उन्होंने देर कर दी, बहुत देर कर दी।...या शायद अभी न हुई हो—शायद अब भी समय हो।" वह सोच में डूबी खड़ी हो गई, उसकी हथेलियाँ घबराहट में खुल और बन्द हो रही थीं। उसके शरीर के आर-पार एक हल्की सिहरन दौड़ गई और वह सूखे गले से बोली, "हमें क्षमा करना प्रभो—ऐसी बातें सोचना भी पाप है—लेकिन...हे भगवान, तूने हमें ऐसा क्यों बनाया—ओह, ऐसा विचित्र क्यों बनाया हमें!"

उसने लैम्प की बत्ती नीची कर दी और धीरे से बोरी के पास जाकर घुटनों के बल बैठ गई और उसके उभरे हुए किनारों पर प्यार से हाथ फिराने लगी; उसकी बूढ़ी आँखों में एक बदनीयत चमक थी। बीच-बीच

में वह कहीं खो जाती थी और थोड़ी-थोड़ी देर पर बड़बड़ा उठती थी, "काश, हमने इन्तज़ार किया होता—ओह, अगर बस हम थोड़ी देर रुक गए होते, ऐसी हड़बड़ी न की होती!"

इस बीच कॉक्स अपने दफ़्तर से घर चला गया था और इस अजीबोग़रीब वाक़ए के बारे में अपनी बीवी को बता चुका था। दोनों बड़ी उत्सुकता के साथ इस पर बात करते रहे थे और उन्होंने भी अनुमान लगाया था कि स्वर्गीय गुडसन ही क़स्बे का अकेला ऐसा इन्सान था जो एक परेशानहाल अजनबी की मदद के लिए उसे बीस डॉलर जैसी रक़म दे सकता था। फिर कुछ देर ख़ामोशी छाई रही, और दोनों चुपचाप अपने-अपने ख़्यालों में खोए रहे। और फिर क्रमशः अधीर और बेचैन होते गये। आख़िरकार पत्नी ने कहा, मानो ख़ुद से कह रही हो, "रिचर्ड्स दम्पति... और हमारे सिवा... इस राज़ को और कोई नहीं जानता...कोई नहीं।"

उसका पति हल्के से चौंककर ख़्यालों के घेरे से बाहर आया और लालायित दृष्टि से पत्नी की ओर देखा जिसका चेहरा बिल्कुल ज़र्द पड़ गया था। फिर वह हिचकिचाते हुए उठा और कनखी से अपने टोप और फिर अपनी बीवी की ओर देखा—ये एक तरह से एक मूक प्रश्न था। मिसेज़ कॉक्स ने गले पर हाथ रखकर एक-दो बार थूक गटका, फिर कुछ कहने के बजाय सिर झुकाकर हामी भरी। पल भर में वह अकेली थी और ख़ुद से कुछ बुदबुदा रही थी।

अब रिचर्ड्स और कॉक्स वीरान सड़कों पर विपरीत दिशाओं से तेज़ी से चले आ रहे थे। प्रिंटिंग प्रेस की सीढ़ियों के पास उनकी मुलाक़ात हुई; दोनों हाँफ रहे थे। रात की धुँधली रोशनी में दोनों ने एक-दूसरे का चेहरा पढ़ा। कॉक्स फुसफुसाया :

"इसके बारे में हमारे सिवा कोई नहीं जानता?"

फुसफुसाकर दिया गया जवाब था :

"कोई भी नहीं, ईमान क़सम, कोई भी नहीं!"

"बस, अब देर न हुई हो—"

दोनों सीढ़ियों पर चढ़ना शुरू ही कर रहे थे कि एक लड़का उनकी बगल से गुज़रा और कॉक्स ने पूछा,

"जॉनी, तुम हो?"

"हाँ, सर।"

"पहली डाक भेजने की ज़रूरत नहीं है—बल्कि *कोई भी* डाक मत भेजो, जब तक मैं न कहूँ।"

"वह तो जा चुकी है, सर।"

"जा चुकी है?" इन शब्दों में ऐसी हताशा थी जिसका बयान नहीं किया जा सकता।

"हाँ, सर। ब्रिक्सटन और उसके आगे के सारे शहरों का टाइमटेबल आज बदल गया सर—रोज़ से बीस मिनट पहले अख़बार स्टेशन पर पहुँचाना पड़ा। मुझे भागते हुए जाना पड़ा, अगर दो मिनट की भी देर हो जाती तो—"

उसकी बात पूरी सुने बिना दोनों मुड़कर भारी क़दमों से वापस चल पड़े। दस मिनट तक कोई कुछ नहीं बोला; फिर कॉक्स ने खिसियाई आवाज़ में कहा,

"मेरी समझ में नहीं आता, आपको ऐसी क्या हड़बड़ी मची थी?"

जवाब पर्याप्त विनम्रता से दिया गया :

"अब मैं समझ रहा हूँ, लेकिन न जाने क्यों तब मैंने सोचा ही नहीं, और जब सोचा तो देर हो चुकी थी। लेकिन चलो, अगली बार—"

"अगली बार जाए भाड़ में! अब ये मौक़ा हज़ार साल में नहीं आने वाला।"

दोनों दोस्त शुभरात्रि कहे बिना अपने-अपने रास्ते हो लिये और किसी तरह क़दम घसीटते हुए घर पहुँचे। उन्हें देखकर लगता था मानो किसी घातक चोट से उनके प्राणपखेरू उड़ने ही वाले हों। घर पहुँचते ही उनकी बीवियाँ उत्सुकता से "क्या हुआ?" कहते हुए फ़ुर्ती से उठ बैठीं—फिर उनकी आँखों में ही जवाब पढ़ लिया और शब्दों में इसे सुनने का इन्तज़ार किए बिना दुख से ढह गईं। दोनों घरों में तेज़, गर्मागर्म बहस शुरू हो

गई—ये एक नई चीज़ थी। बहस पहले भी हो जाया करती थी, पर उग्र नहीं, अप्रिय नहीं होती थी। आज रात होने वाली बहसें जैसे एक-दूसरे की सीधी नक़ल थीं। मिसेज़ रिचर्ड्स ने कहा :

"काश तुमने ज़रा देर इन्तज़ार कर लिया होता, एडवर्ड—थोड़ा ठहरकर सोच लिया होता। लेकिन नहीं, तुम तो सीधे दौड़े चले गए प्रेस में, फैला आए इसे दुनियाभर में।"

"इसमें *लिखा था* कि इसे छपवाना है।"

"ये कोई बात नहीं हुई! इसमें ये भी तो लिखा था कि अगर चाहें तो निजी तौर पर पता कर सकते हैं। क्यों—ये सच है, या नहीं?

"हाँ-हाँ, ये सच है; लेकिन जब मैंने सोचा कि इससे कितना हंगामा मचेगा और हैडलेबर्ग के लिए ये कितने फ़ख़्र की बात होगी कि एक अजनबी ने उस पर इतना भरोसा किया—"

"हाँ, बेशक, ये सब मैं जानती हूँ। लेकिन अगर तुमने ठहरकर सोचा होता, तो तुम समझ जाते कि सही आदमी का पता तो *लग ही नहीं सकता,* क्योंकि वह तो परलोकसिधार चुका है, और उसके तो न आगे नाथ था न पीछे पगहा; और अगर ये पैसा किसी ज़रूरतमन्द को मिल जाता, और किसी का इससे कुछ नहीं बिगड़ता, और—और—"

कहते-कहते वह रोने लगी। उसका पति उसे ढाढ़स बँधाने वाली कोई बात सोच रहा था, और फिर वह बोला :

"पर मैरी, जो भी हुआ, अच्छे के लिए ही हुआ होगा—ज़रूर ऐसा ही होगा; तुम तो जानती ही हो। और ये मत भूलो कि हमारे नसीब में जो लिखा होता है वही मिलता है—"

"नसीब में लिखा था! हुँह, जब आदमी कोई बेवकूफ़ी का काम कर डालता है तो सबसे अच्छा बहाना होता है क़िस्मत का लेखा। ऐसे ही, ये भी लिखा हुआ था कि ये पैसा इस ख़ास तरीक़े से हमारे पास आएगा, और ये तुम थे जो जा पहुँचे विधाता की मर्जी के बीच में अपनी टाँग अड़ाने—किसने दिया तुम्हें ये अधिकार? ये बहुत घटिया हरकत थी—पाप था ये, पाप; तुम जैसे दब्बू और भले आदमी को ये बिल्कुल शोभा नहीं देता—"

"लेकिन, मैरी, तुम जानती हो कि सारे क़स्बे की तरह हमें भी बचपन से ऐसी घुट्टी पिलाई गई है कि ईमानदारी का काम पड़ जाए तो हमें पल भर भी सोचना नहीं पड़ता, ये हमारे स्वाभाव में ढल गया है—"

"ओह, जानती हूँ मैं, ख़ूब जानती हूँ—जीवन भर हमें ईमानदारी का सबक-दर-सबक-दर-सबक सिखाया गया है—ऐसी ईमानदारी जिस पर कभी किसी लोभ-लालच की छाया ही नहीं पड़ने दी गई। अरे ये ईमानदारी *नक़ली* है, ऊपर से लादी गई, और लालच का पहला झोंका आते ही कपूर की तरह उड़ जाती है। आज रात देख तो लिया। भगवान जानता है कि मुझे आज तक अपनी चट्टान की तरह मज़बूत और अभेद ईमानदारी पर रत्तीभर भी शक-शुबहा नहीं हुआ था—और अब, पहला बड़ा और असली प्रलोभन आया नहीं कि मैं—एडवर्ड, मुझे यक़ीन है कि इस शहर की ईमानदारी भी उतनी ही सड़ी है जितनी मेरी, उतनी ही सड़ी जितनी तुम्हारी। ये एक घटिया शहर है; कूपमण्डूक, बदबूदार शहर है ये। इसके पास कोई गुण नहीं है, सिवाय इस ईमानदारी के, जिसके लिए इसके इतने चर्चे हैं और जिस पर ये इतना इतराता फिरता है। मेरी बात गाँठ बाँध लो—जिस दिन इसकी ईमानदारी पर किसी बड़े लालच की चोट पड़ी, इसकी महान प्रतिष्ठा रेत के महल की तरह भरभराकर गिर जाएगी। आह, दिल की भड़ास निकल गई। अब मैं बेहतर महसूस कर रही हूँ। मैं कपटी हूँ; जीवनभर मैं कपट करती रही हूँ, बिना जाने। आज के बाद कोई मुझे ईमानदार न कहे—बस बहुत हो चुका।"

"मैं—देखो, मैरी, मुझे भी कुछ ऐसा ही लग रहा है; हाँ, बिल्कुल ऐसे ही लग रहा है। पर ये अजीब लगता है बड़ा अजीब लगता है, मैं कभी सोच भी नहीं सकता था—कब्भी नहीं।"

देर तक चुप्पी छाई रही; दोनों सोच में डूबे हुए थे। आख़िरकार पत्नी ने नज़र उठाई और कहा :

"मैं जानती हूँ तुम क्या सोच रहे हो, एडवर्ड।"

रिचर्ड्स ऐसे झेंप गया जैसे चोरी करते पकड़ा गया हो।

"मुझे ये कबूल करते हुए शर्म आ रही है, मैरी, लेकिन—"

"कोई बात नहीं, एडवर्ड, मैं भी यही सोच रही थी।"

"शायद हाँ। मुझे बताओ।"

"तुम सोच रहे थे कि क्या कोई ये अनुमान लगा सकता है कि गुडसन ने उस अजनबी से *क्या बात कही थी*।"

"एकदम यही बात है। मैं अपराधी और शर्मिन्दा महसूस कर रहा हूँ। और तुम?"

"मैं इससे ऊपर उठ चुकी हूँ। चलो, इसे ढँक दें; हमें सुबह बैंक खुलने तक इस बोरी की हिफ़ाज़त करनी है, फिर हम इसे जमा कर देंगे...हे भगवान, हे भगवान—काश हमने वह ग़लती न की होती!"

बोरी ढँक दी गई, और मैरी ने कहा :

"खुल जा सिमसिम—आख़िर वह क्या बात रही होगी? मैं सोच नहीं पा रही हूँ कि उसने क्या कहा होगा। लेकिन चलो, अब हम बिस्तर पर चलें।"

"और सो जाएँ?"

"नहीं; सोचें।"

"हाँ; सोचें।"

इस समय तक कॉक्स दम्पति भी अपना झगड़ा और फिर मेल पूरा कर चुके थे और शयनकक्ष में जा चुके थे—सोने नहीं, बल्कि सोचने, करवटें बदलने, खीझकर उठ बैठने और इस बात की उधेड़बुन में लगे रहने के लिए कि गुडसन ने उस दिवालिया जुआड़ी से क्या कहा होगा; वह स्वर्णिम कथन क्या रहा होगा; कौन से होंगे वे शब्द जिनकी क़ीमत चालीस हज़ार डॉलर नक़द है।

उस रात क़स्बे का टेलीग्राफ़ आफ़िस सामान्य से ज़्यादा देर तक खुला रहा। वजह ये थी; कॉक्स के अख़बार का फ़ोरमैन एसोसिएटेड प्रेस का स्थानीय प्रतिनिधि भी था। बल्कि ये कहना ज़्यादा सही होगा कि वह उसका मानद प्रतिनिधि था क्योंकि साल में चार मौक़े भी ऐसे नहीं होते थे जब वह स्वीकार किए जाने लायक तीस शब्द भी भेज पाता था। लेकिन इस बार सब कुछ बदल गया था। उसके हाथ जो ख़बर लगी थी उसके बारे में भेजी डिस्पैच का फ़ौरन जवाब आया;

"पूरी ख़बर भेजो—तफ़सीलों सहित—बारह सौ शब्द।"

ये एक ज़बर्दस्त ऑर्डर था! फ़ोरमैन ने पूरी कहानी लिख मारी; और उसके फ़ख़्र का ठिकाना न था। अगली सुबह नाश्ते के समय तक ईमान के रखवाले हैडलेबर्ग का नाम अमेरिका की हर ज़बान पर था—मौंट्रियल से लेकर मेक्सिको की खाड़ी तक, अलास्का के ग्लेशियरों से लेकर फ्लोरिडा के सन्तरा बागानों तक; और करोड़ों-करोड़ लोग अजनबी और उसकी सोने की बोरी की चर्चा कर रहे थे और अटकलें लगा रहे थे कि क्या सही आदमी का पता चलेगा, और उम्मीद कर रहे थे कि जल्दी ही इस मामले में कोई और ख़बर मिलेगी।

दो

हैडलेबर्ग क़स्बा सोकर उठा तो वह विश्वविख्यात था—और अचम्भित—और प्रसन्न—और दम्भ से भरा हुआ। कल्पनातीत दम्भ से भरा हुआ। उसके उन्नीस गणमान्य नागरिक और उनकी पत्नियाँ घूम-घूमकर एक-दूसरे से मिल रही थीं, मुस्कुरा रही थीं, दाँत निपोर रही थीं, एक-दूसरे को बधाइयाँ दे रही थीं और कह रही थीं कि इस घटना ने शब्दकोश में एक नया शब्द जोड़ दिया है—*हैडलेबर्ग*, यानी *ईमान के रखवाले* का पर्याय। अब ये नाम शब्दकोशों में हमेशा के लिए अमर हो गया! और छोटे तथा मामूली नागरिक भी अपनी

पत्नियों के साथ इसी अन्दाज़ में घूम रहे थे। हर कोई बैंक जाकर सोने की बोरी देख आया था; और दोपहर होने से पहले ही ब्रिक्सटन और सभी पड़ोसी क़स्बों से दुखी और ईर्ष्यालु लोगों की भीड़ उमड़ने लगी और उस शाम और फिर अगले दिन हर जगह से प्रेस रिपोर्टर वहाँ पहुँचने लगे। वे बोरी और इसके साथ जुड़े इतिहास की पुष्टि करते और फिर हरेक अपने-अपने ढंग से सारी कहानी को नये सिरे से लिखता था। अख़बारों और पत्रिकाओं के चित्रकार बोरी, और रिचर्ड्स के मकान और बैंक, और प्रेस्बिटेरियन चर्च और बैपटिस्ट चर्च, और क़स्बे के चौक और उस टाउनहाल की तस्वीरें बना-बनाकर भेज रहे थे जहाँ सही आदमी की जाँच और उसे पैसे प्रदान करने का कार्यक्रम होना था। वे रिचर्ड्स दम्पति और बैंकर पिंकरटन, और कॉक्स, और फ़ोरमैन, और रेवरेण्ड बर्गेस, और पोस्टमास्टर के पोर्ट्रेट भी बना रहे थे। यहाँ तक कि उन्होंने जैक हैलीडे की भी तस्वीर बनाई जो क़स्बे का आवारा, मस्तमलंग, बेघर, किसी की परवाह न करनेवाला, कभी मछुआरा, कभी शिकारी, बच्चों का दोस्त, आवारा कुत्तों का दोस्त—यानी खाँटी "सैम लॉसन" था। ठिगना, काइयाँ और तेल चुपड़ा पिंकरटन तमाम आने वालों को बड़े फ़ख़्र से बोरी दिखाता था और अपनी नाज़ुक हथेलियाँ ख़ुशी से रगड़ते हुए ईमानदारी के लिए शहर की पुरानी प्रतिष्ठा और इस नये शानदार तमगे का बखान करते हुए कहता था कि उसे आशा ही नहीं बल्कि विश्वास है कि ये उदाहरण अब पूरे अमेरिका में दूर-दूर तक फैल जाएगा और नैतिक उत्थान की दृष्टि से युगान्तरकारी सिद्ध होगा, आदि-आदि।

एक हफ़्ता बीतते-बीतते सब कुछ फिर शान्त हो गया था; गर्व और ख़ुशी का बेलगाम नशा अब एक नर्म, मधुर, ख़ामोश ख़ुशी में बदल गया था—ये एक क़िस्म की गहरी भावना थी जिसे कोई नाम नहीं दिया जा सकता था, जिसका बयान नहीं किया जा सकता था। सभी चेहरों पर एक शान्त, सात्विक प्रसन्नता झलकती थी।

फिर एक बदलाव आया। ये बदलाव धीरे-धीरे हुआ; इतना धीरे-धीरे कि शुरुआत में इसकी ओर शायद ही किसी का ध्यान गया, बल्कि किसी का भी ध्यान नहीं गया, सिवाय जैक हैलीडे के जो हमेशा हर चीज़ ताड़ लेता था और हमेशा उसका मज़ाक उड़ाता था, चाहे वह कुछ भी हो। उसने लोगों को इस बात पर फब्तियाँ कसनी शुरू कर दीं कि वे उतने ख़ुश नहीं दिख रहे हैं जितने एक-दो दिन पहले थे; और फिर उसने दावा किया कि ये नया पहलू अब धीरे-धीरे पक्के तौर पर उदासी का रूप धारण कर रहा है; फिर उसने कहा कि लोगों के चेहरे बीमार लगने लगे हैं और आख़िरकार वह कहने लगा कि हर कोई इतना चिड़चिड़ा, खोया-खोया सा और अन्यमनस्क हो गया है कि वह शहर के सबसे कंजूस आदमी की पतलून की जेब में पड़ा सिक्का निकाल ले तो भी उसका ध्यान नहीं टूटेगा।

इस मंज़िल पर—या इस मंज़िल के आसपास—सभी उन्नीस मानिन्द परिवारों के मुखिया के मुँह से इस तरह की बात निकली—प्रायः ठण्डी साँस भरते हुए :

"आह, आख़िर गुडसन ने *क्या कहा होगा*?"

और उसकी पत्नी तुरन्त ही चौंककर कहती :

"ओह, ऐसा *मत करो!* कैसी भयानक बात तुम्हारे दिमाग़ में चल रही है? भगवान के लिए इससे दूर रहो!"

लेकिन अगली रात फिर यही सवाल मर्दों की ज़बान से फिसल पड़ता—और फिर उसका प्रतिवाद होता। लेकिन पहले से कमज़ोर।

और तीसरी रात मर्दों ने फिर वही सवाल दुहराया—थोड़े क्षोभ के साथ और ख़्यालों में डूबे हुए। इस बार—और फिर अगली रात पत्नियों ने बेचैनी से पहलू बदला और कुछ कहने की कोशिश की। लेकिन कहा नहीं।

और फिर इसके बाद वाली रात वे बोल पाईं और लालसाभरे स्वर में कहा :

"ओह, काश हम अनुमान लगा पाते!"

हैलीडे की टिप्पणियाँ रोज़ ज़्यादा से ज़्यादा तीखी और गहरी मार करने वाली होती गईं। वह घूम-घूमकर

शहर में सबका मज़ाक उड़ाता था, अकेले में भी और सरेआम भी। लेकिन क़स्बे में एक उसी के पास हँसी बची थी : उसके फ़िकरे और मज़ाक एक खोखले, शोकपूर्ण ख़ालीपन और शून्य में गुम हो जाते थे। कहीं कोई मुस्कान भी मिलनी मुश्किल थी। हैलीडे सिगार के एक ख़ाली डिब्बे को कैमरे की तरह गले में लटकाए घूमता था और आने-जाने वालों को रोककर कहता था, "तैयार!—कृपया अब मुस्कुराइए," लेकिन इस मज़ाक से भी वीरान चेहरों पर मुस्कान की कोई लकीर नहीं उभरती थी।

इस तरह तीन हफ़्ते बीत गए—एक हफ़्ता बाक़ी रह गया था। शनिवार की शाम ब्यालू के बाद का समय था। पहले की तरह शनिवार की शाम की चहल-पहल, ख़रीदारी और मटरगश्ती के बजाय सड़कें ख़ाली और वीरान थीं। रिचर्ड्स और उसकी बूढ़ी पत्नी अपनी छोटी-सी बैठक में एक-दूसरे से दूर बैठे थे—उदास और गहरी सोच में डूबे हुए। अब ये उनकी रोज़ शाम की आदत बन चुकी थी। पहले की तरह कुछ पढ़ने, बुनाई करने और एक-दूसरे से बातें करने या फिर पड़ोसियों से मिलने-जुलने की जीवनभर की उनकी आदत मर चुकी थी, युगों पहले—दो या तीन हफ़्ते पहले—भुलाई जा चुकी थी; अब कोई एक-दूसरे से बातचीत नहीं करता था, कोई पढ़ता नहीं था, कोई किसी से मिलने-जुलने नहीं जाता था—पूरा क़स्बा घर पर बैठा चुपचाप आहें भरता और चिन्ता में डूबा रहता था। और अनुमान लगाता रहता था कि वह बात क्या रही होगी।

डाकिया कोई चिट्ठी डाल गया। रिचर्ड्स ने अनमने ढंग से लिफ़ाफ़े की लिखावट और डाक की मुहर पर नज़र दौड़ाई—दोनों अपरिचित थे—और फिर चिट्ठी को मेज़ पर फेंककर तमाम सम्भावित बातों के सिलसिले को आगे बढ़ाने की हताश कोशिशों में जुट गया। दो-तीन घण्टे बाद उसकी पत्नी आहें भरते हुए उठी और शुभरात्रि कहे बिना सोने जा रही थी—जो अब आम बात थी—पर चिट्ठी को देखकर रुक गई और कुछ देर यूँही उसे देखती रही, और फिर लिफ़ाफ़ा खोलकर उस पर नज़र फिराने लगी। कुर्सी को पीछे दीवार की ओर झुकाए और घुटनों पर ठुड्डी टिकाकर बैठे रिचर्ड्स ने कुछ गिरने की आवाज़ सुनी। ये उसकी बीवी थी। वह लपककर उसके पास गया लेकिन वह चीख़ पड़ी :

"मुझे छोड़ दो, मैं बहुत ख़ुश हूँ। चिट्ठी पढ़ो—चिट्ठी!"

वह पढ़ गया। मुँह खोले वह इसके एक-एक शब्द को जैसे निगल रहा था, उसका दिमाग़ ख़ुशी से चक्कर खा रहा था। ख़त दूर के एक राज्य से भेजा गया था और उसमें लिखा था :

"मैं आपके लिए एक अजनबी हूँ, पर इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। मुझे आपको कुछ बताना है। मैं अभी मेक्सिको से घर लौटा हूँ, और उस वाक़ए के बारे में मुझे अभी पता चला है। ज़ाहिर है आप ये नहीं जानते कि वह बात किसने कही थी, लेकिन मैं जानता हूँ और शायद मैं ही वह अकेला जीवित व्यक्ति हूँ जिसे ये बात मालूम है। वह गुडसन था। कई साल पहले वह मेरा दोस्त था। उस रात मैं आपके क़स्बे से गुज़रा था और आधी रात के वक़्त आने वाली गाड़ी का इन्तज़ार करते हुए उसके घर पर रुका था। मैंने उसे अँधेरे में अजनबी से वह बात कहते हुए सुना था—ये हेल की गली की बात है। घर लौटते हुए और फिर उसके घर में बैठकर तम्बाकू पीते हुए हम दोनों इस बारे में बातें करते रहे। उसने आपके क़स्बे के ज़्यादातर लोगों का नाम लिया—ज़्यादातर के बारे में उसकी राय अच्छी नहीं थी, लेकिन दो या तीन लोगों के बारे में उसने अनुकूल टिप्पणी की, जिनमें आप भी थे। मैं दोहरा दूँ, 'अनुकूल टिप्पणी'—इससे ज़्यादा और कुछ नहीं। मुझे याद है कि उसने कहा था कि वह शहर के किसी भी इन्सान को **पसन्द** *नहीं करता; लेकिन आपने—मेरे* **ख़्याल से** *उसने आपका ही नाम लिया था, मुझे लगभग इस बात का यक़ीन है—कभी उसकी बड़ी मदद की थी, शायद आपको भी इस मदद के महत्त्व का ठीक से पता नहीं था। गुडसन ने कहा कि अगर उसके पास दौलत होती तो वह मरते समय आपके लिए ये दौलत और बाक़ी लोगों के नाम एक-एक गाली छोड़ जाता। इसलिए अगर वह आप ही हैं जिसने उसकी मदद की थी तो आप उसके असली वारिस हैं और सोने की बोरी पाने का हक़ आपको ही है। मुझे मालूम है कि मैं आपकी न्यायपरता और ईमानदारी पर भरोसा कर सकता हूँ क्योंकि हैडलेबर्ग*

के हर नागरिक को ये गुण तो विरासत में मिलते हैं। इसलिए मैं आपको वह बात बताने जा रहा हूँ। मुझे यक़ीन है कि अगर आप सही व्यक्ति नहीं होंगे तो आप सही आदमी का पता लगाकर ये सुनिश्चित करेंगे कि बेचारा गुडसन अपनी मदद के बदले जो एहसान मानता था उसका कर्ज़ चुका दिया जाए। वह बात ये थी : **'तुम बुरे आदमी नहीं हो : जाओ, सुधर जाओ।'"**

"हावर्ड एल. स्टीफ़ेन्सन"

"ओह एडवर्ड, अब ये पैसा हमारा है, और मैं कृतज्ञता से भर गई हूँ, ओह, मैं इतनी ख़ुश हूँ—मुझे चूमो प्रिय, ज़माना हो गया हमें चूमे हुए—और हमें इसकी इतनी सख़्त ज़रूरत है—इस पैसे की—अब तुम पिंकरटन और उसके बैंक से आज़ाद हो और अब किसी की ग़ुलामी करने की ज़रूरत नहीं। मुझे तो लगता है कि मैं ख़ुशी से उड़ने लगूँगी।"

अगला आधा घण्टा बेहद ख़ुशी का था। वृद्ध दम्पति सेटी पर एक-दूसरे का हाथ थामे बैठे थे; पुराने दिन फिर लौट आए थे—वे दिन जो युवावस्था में उनके प्रेम से शुरू हुए थे और बिना किसी बाधा के तब तक चलते आए थे जब तक वह अजनबी ये घातक धन लेकर नहीं आया था। प्रेम-प्यार, हँसी-ख़ुशी की बातों के बाद पत्नी ने कहा :

"ओह एडवर्ड, कितनी ख़ुशक़िस्मती की बात है कि तुमने बेचारे गुडसन के साथ इतनी बड़ी भलाई का काम किया! मैं उसे कभी पसन्द नहीं करती थी लेकिन अब तो मुझे उस पर प्यार आ रहा है; और ये तुम्हारा बड़प्पन ही था कि तुमने कभी इसकी डींग हाँकना तो दूर इसका ज़िक्र तक नहीं किया।" फिर हल्के से उलाहने भरे अन्दाज़ में उसने कहा, "लेकिन एडवर्ड तुम्हें मुझे तो बताना चाहिए था, तुम्हें अपनी बीवी को तो बताना ही चाहिए था न।"

"ऐसा है, मैं अँ...अँ, मैरी, देखो—"

"ये टालमटोल बन्द करो और मुझे इसके बारे में बताओ, एडवर्ड। मैं हमेशा तुम्हें प्यार करती रही हूँ, और अब मुझे तुम पर फ़ख़्र महसूस हो रहा है। हर कोई मानता है कि इस क़स्बे में सिर्फ़ एक उदार भलामानस था, लेकिन अब पता चला कि तुम भी—एडवर्ड, तुम मुझे बताते क्यों नहीं?"

"देखो—अँ—अँ—मैरी, मैं नहीं बता सकता!"

"नहीं बता सकते? क्यों नहीं बता सकते?"

"क्योंकि, उसने, उसने—ऐसा है कि उसने मुझसे वादा लिया था कि मैं इसके बारे में किसी को नहीं बताउँगा।"

उसकी पत्नी ने उसे ग़ौर से देखा, और फिर, बहुत धीरे से पूछा :

"तुमसे—वादा—लिया था? एडवर्ड, तुम मुझे ये क्यों बता रहे हो?"

"मैरी, क्या तुम सोचती हो कि मैं झूठ बोलूँगा?"

उसके चेहरे पर परेशानी झलकी और वह पल भर ख़ामोश रही, फिर उसने अपना हाथ पति के हाथ में दे दिया और कहा :

"नहीं...नहीं। हम पहले ही बहुत दूर निकल आए हैं—हे भगवान, अब ये तो न कराओ! जीवनभर तुमने कभी झूठ नहीं बोला है। लेकिन अब—जबकि हर चीज़ की बुनियाद दरकती नज़र आ रही है, हम—हम—" पलभर के लिए वह अचानक चुप हो गई, फिर टूटे स्वर में कहा, "लोभ-लालच, माया-मोह से हमारी रक्षा करना...मेरे ख़्याल से तुमने वादा किया था, एडवर्ड। चलो, इस बात को यहीं रहने दो। हम इस प्रसंग से दूर ही रहें तो अच्छा। अब—वह सब तो बीत चुका; चलो अब हम फिर से ख़ुश हो जाएँ; ये परेशान होने का समय नहीं है।"

इस बात पर अमल करने में एडवर्ड को ख़ासी मशक़्क़त करनी पड़ी क्योंकि उसका दिमाग़ कहीं और भटक रहा था—वह याद करने की कोशिश कर रहा था कि गुडसन के साथ उसने क्या भलाई की थी।

दोनों क़रीब सारी रात सो न सके। मैरी ख़ुश और व्यस्त थी, एडवर्ड व्यस्त था पर इतना ख़ुश नहीं। मैरी योजना बना रही थी कि पैसे से क्या-क्या करेगी। एडवर्ड भलाई का वह काम याद करने की कोशिश कर रहा था। शुरू में उसका ज़मीर उसे कचोट रहा था कि उसने मैरी से झूठ बोला—अगर वह झूठ था तो। काफ़ी सोच-विचार के बाद वह इस नतीजे पर पहुँचा—माना कि वह झूठ *था,* तो क्या हुआ? क्या ये इतनी बड़ी बात थी? क्या हम हमेशा ही झूठ का सहारा नहीं लेते रहते हैं? फिर उसे कह देने में क्या हर्ज़ है? मैरी को देखो—देखो उसने क्या किया। जिस वक़्त वह ईमानदारी से अपना फ़र्ज़ पूरा करने भागा जा रहा था, उस वक़्त वह क्या कर रही थी? इस बात पर पछता रही थी कि कागजों को नष्ट करके पैसे रख क्यों नहीं लिये गये। क्या चोरी झूठ बोलने से बेहतर है?

इस मुद्दे की धार कुन्द पड़ गई—झूठ पृष्ठभूमि में चला गया और अपने पीछे एक राहत छोड़ गया। अब अगला मुद्दा सामने आ गया : क्या उसने भलाई का वह काम किया था? स्टीफ़ेन्सन के ख़त के मुताबिक इसकी गवाही तो ख़ुद गुडसन ने दी थी; इससे बेहतर साक्ष्य भला और क्या हो सकता है—बल्कि ये तो इस बात का *सबूत* था कि उसने गुडसन के साथ भलाई की थी। इसमें कोई शक नहीं। इस तरह ये मुद्दा भी निपट गया...लेकिन नहीं, पूरी तरह नहीं। अचानक उठी दर्द की टीस की तरह उसे याद हो आया कि इस अनजान मि. स्टीफ़ेन्सन को भी हल्का सा अनिश्चय था कि भलाई करने वाला रिचर्ड्स ही था या कोई और—ओह, अब बात रिचर्ड्स की न्यायनिष्ठा पर आ टिकी थी! अब उसे ख़ुद ही ये फ़ैसला करना था कि पैसा कहाँ जाए—और मि. स्टीफ़ेन्सन को इस बात पर कोई शक नहीं था कि अगर वह ग़लत आदमी होगा तो वह ईमानदारी से ख़ुद ही जाकर सही आदमी का पता लगा लेगा। ओह, किसी इन्सान को ऐसी हालत में डालना बड़ी ही नीच हरकत थी—आह, क्या स्टीफ़ेन्सन ये सन्देह छोड़े बिना नहीं रह सकता था? भला क्यों उसने अपने ख़त में इसकी गुंजाइश छोड़ी?

और सोच-विचार। ऐसा कैसे हुआ कि सही आदमी के तौर पर *रिचर्ड्स* का ही नाम स्टीफ़ेन्सन के दिमाग़ में रह गया, किसी और का नहीं? ये बात तो जम रही है। हाँ, ये वाक़ई ठीक लगती है। बल्कि वह लगातार बेहतर से और बेहतर लगने लगी—और फिर धीरे-धीरे वह बढ़कर बिल्कुल ठोस सबूत में बदल गई। और फिर रिचर्ड्स ने फ़ौरन इस मामले को अपने दिमाग़ से निकाल दिया क्योंकि उसके दिल से एक आवाज़ आई कि एक बार जब कोई *सबूत* पक्का हो जाए तो उससे छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिए।

अब वह काफ़ी राहत महसूस कर रहा था, लेकिन अब भी एक छोटी सी तफ़सील बाक़ी थी जो बार-बार उसका ध्यान खींच रही थी : बेशक उसने भलाई का काम किया था—ये तो साबित हो चुका था; लेकिन वह काम आख़िर था क्या? उसे याद करना ही होगा—उसे याद किए बग़ैर वह सो नहीं सकता था; इसके बिना उसकी मन की शान्ति अधूरी रहेगी। और इसलिए वह सोचता रहा, सोचता रहा। उसने दर्जन भर चीज़ें सोचीं—तमाम ऐसे भलाई के कामों और मदद के तरीक़ों के बारे में सोचा, लेकिन इनमें से कोई भी पर्याप्त नहीं जान पड़ा, इनमें से कोई भी इतना बड़ा नहीं लगा कि उसके बदले गुडसन अपनी दौलत उसके नाम कर जाने की बात कहता। और फिर, सबसे बड़ी बात ये थी कि उसे याद ही नहीं आ रहा था कि उसने ये काम किया था। तब फिर—तब फिर—किस क़िस्म की मदद होगी वह जो एक आदमी को इस क़दर एहसानमन्द बना दे? आह—उसकी आत्मा को सही रास्ते पर लाना! हाँ, यही बात होगी। हाँ, अब उसे याद आ रहा है, कि कैसे उसने एक बार तय किया था कि गुडसन को सही राह पर ले आएगा और इस कोशिश में जुटा रहा था—वह कहने जा रहा था, तीन महीने तक; लेकिन थोड़ा ग़ौर से जाँचने पर वह सिकुड़कर एक महीना, फिर एक हफ़्ता, फिर एक दिन और फिर कुछ मिनट रह गया। हाँ, अब उसे याद आ गया, बिल्कुल साफ़-साफ़ याद हो आया कि गुडसन ने उससे क्या कहा था—भाड़ में जाओ और अपने काम से काम रखो; उसे हैडलेबर्ग वालों के पीछे-पीछे स्वर्ग जाने में कोई दिलचस्पी नहीं थी!

इस तरह ये समाधान भी नाकाम रहा—उसने गुडसन की आत्मा की रक्षा भी नहीं की थी। रिचर्ड्स हतोत्साहित होने लगा। फिर कुछ देर बाद एक और ख़्याल आया : क्या उसने गुडसन की सम्पत्ति बचाई

थी? नहीं, ये नहीं चलेगा—उसके पास कुछ था ही नहीं। उसकी ज़िन्दगी? हाँ, यही था! बेशक। अरे, उसे तो पहले ही इसका ख़्याल आना चाहिए था। निस्सन्देह, इस बार वह सही राह पर था। एक मिनट में उसकी कल्पना के घोड़े दौड़ने लगे थे।

इसके बाद, बुरी तरह थका देने वाले दो घण्टों के दौरान वह गुडसन की ज़िन्दगी बचाने में लगा रहा। उसने तमाम तरह के मुश्किल और जोखिमभरे तरीक़ों से उसकी जान बचाई। हर मामले में वह एक निश्चित बिन्दु तक उसे तसल्लीबख़्श ढंग से बचा ले आता था; फिर जैसे ही उसे विश्वास होने लगता था कि ऐसा वाक़ई हुआ था, कोई मुश्किल पैदा करनेवाला ब्योरा सामने आ जाता था जिससे पूरा मामला असम्भव लगने लगता था। उदाहरण के लिए, डूबने वाला मामला। इस मामले में वह तैरकर गया था और बेहोश हालत में गुडसन को किनारे खींच लाया था; अच्छी-ख़ासी भीड़ जमा थी और उसकी तारीफ़ की जा रही थी, लेकिन जब उसने पूरा किस्सा सोच लिया था और इस बारे में सारी बातें याद कर रहा था, तभी इसे खारिज करने वाले ब्योरों का पूरा झुण्ड आ पहुँचा : इस घटना के बारे में पूरे क़स्बे को मालूम पड़ा होता, मैरी भी इसे जान गई होती, और सबसे बढ़कर ये बात ख़ुद उसकी याददाश्त में चमकते सितारे की तरह मौजूद रहती, न कि ये कोई ऐसी मदद होती जो उसने शायद "अनजाने में ही कर दी थी।" और इसी समय उसे याद आया कि वह तो तैरना ही नहीं जानता था।

आह—*इस* बिन्दु की तो वह शुरू से ही अनदेखी करता आ रहा था : ये तो कोई ऐसी मदद होनी चाहिए जो उसने शायद "अनजाने में की थी।" वाक़ई, इसे ढूँढ़ना तो ज़्यादा मुश्किल नहीं होना चाहिए—बाकियों के मुक़ाबले तो काफ़ी आसान होगा यह। और बेशक, सोचते-सोचते, उसने इसे पा ही लिया। बहुत साल पहले नैन्सी ह्यूइट नाम की एक प्यारी और ख़ूबसूरत लड़की से गुडसन शादी करने ही वाला था, लेकिन किसी वजह से सगाई टूट गई। वह लड़की मर गई, गुडसन ज़िन्दगी भर कुंआरा रहा और धीरे-धीरे कड़वाहट से भरता गया और लोगों से खुल्लमखुल्ला नफ़रत करने लगा। लड़की की मौत के कुछ ही दिन बाद क़स्बे वालों ने पता लगाया, या सोचा कि उन्होंने पता लगाया है कि उसकी रगों में चम्मचभर नीग्रो ख़ून भी मिला हुआ था। रिचर्ड्स देर तक इन ब्योरों पर काम करता रहा और आख़िरकार उसने सोच लिया कि उसे इस सम्बन्ध में ऐसी बातें याद हो आई हैं जो लम्बी उपेक्षा के कारण उसकी स्मृति में कहीं खो गई थीं। उसे लगा कि उसे इस बात की धुंधली सी याद है कि नीग्रो ख़ून के बारे में उसी ने पता लगाया था; कि वही था जिसने क़स्बेवालों को ये बात बताई थी; कि क़स्बेवालों ने गुडसन को बता दिया था कि उन्हें इसका पता किससे चला; कि इस तरह उसने गुडसन को उस दाग़ी लड़की से शादी करने से बचा लिया था; कि उसने "बिना इसका पूरा मोल जाने" उसकी ये महान मदद की थी; लेकिन गुडसन इसका मोल जानता था और ये भी समझता था कि वह कैसे बाल-बाल बचा है, और इसलिए वह मरते दम तक अपने उद्धारक का एहसानमन्द रहा और ये कामना करता रहा कि उसके पास दौलत होती तो उसके नाम कर जाता। अब सब कुछ बिल्कुल साफ़ और सीधा था, और वह ज्यों-ज्यों इस पर सोचता गया ये ज़्यादा से ज़्यादा चमकदार और निश्चित लगने लगा; और आख़िरकार जब वह सन्तुष्ट और प्रसन्नचित्त होकर सोने लगा, तो उसे सारा मामला इस तरह याद हो आया जैसे ये कल की ही बात हो। यहाँ तक कि उसे इस बात की भी धुँधली-सी याद आई कि गुडसन ने कभी इस बात का ज़िक्र किया था कि वह उसके प्रति कितना कृतज्ञ है। इस बीच मैरी ने अपने लिए एक नये मकान और अपने पादरी के लिए एक जोड़ी नई चप्पलों पर छह हज़ार डॉलर ख़र्च कर दिए थे और फिर शान्ति से सो गई थी।

शनिवार की उसी शाम डाकिये ने बाक़ी मानिन्द नागरिकों में से हरेक के घर एक ख़त पहुँचाया था—कुल उन्नीस ख़त। कोई भी दो लिफ़ाफ़े एक से नहीं थे और उन पर लिखे किन्हीं भी दो पतों की लिखावट भी एक सी नहीं थी, लेकिन भीतर रखे ख़त हूबहू एक जैसे थे, सिर्फ़ एक ब्योरे को छोड़कर। वे रिचर्ड्स को मिले ख़त की हूबहू प्रतिलिपियाँ थीं—लिखावट भी एक-सी थी—और सब पर स्टीफ़ेन्सन के दस्तख़त थे, बस रिचर्ड्स के नाम की जगह हर पाने वाले का नाम आ गया था।

सारी रात अठारह मानिन्द नागरिक वही करते रहे जो उनका वर्ग-बन्धु रिचर्ड्स उस समय कर रहा था—उन्होंने अपनी सारी ऊर्जा ये याद करने में लगा दी कि आख़िर उन्होंने बिना ध्यान दिए बारक्ले गुडसन के साथ कौन सी भलाई की थी। ये क़तई आसान काम नहीं था; फिर भी वे कामयाब रहे।

और जिस दौरान वे इस काम में लगे थे, जो कठिन था, उनकी बीवियाँ सारी रात पैसे को ख़र्च करने में जुटी थीं, जो आसान था। उस एक रात में उन्नीस बीवियों ने बोरी के चालीस हज़ार डॉलरों में से औसतन सात-सात हज़ार ख़र्च किए—कुल मिलाकर एक सौ तैंतीस हज़ार डॉलर।

अगले दिन जैक हैलीडे हैरान रह गया। उसने देखा कि उन्नीस प्रमुख नागरिकों और उनकी बीवियों के चेहरों पर फिर से शान्त और सात्विक प्रसन्नता का भाव विराजमान है। वह इसे समझ नहीं पाया, और न ही इस बारे में कोई ऐसी करारी टिप्पणी सोच पाया जो उसमें ख़लल डाले या उसे नुकसान पहुँचाए। और इस तरह अब जीवन से दुखी होने की बारी उसकी थी। इस ख़ुशी के कारणों के बारे में उसके सारे अनुमान जाँच में ग़लत साबित हुए। जब वह मिसेज़ विल्कॉक्स से मिला और उनके चेहरे पर छाया निर्मल आनन्द देखा, तो उसने ख़ुद से कहा, "इसकी बिल्ली ने बच्चे दिए हैं"—और जाकर उनके बावर्ची से पूछा; ऐसा नहीं था, बावर्ची ने भी उनकी ख़ुशी पर ध्यान दिया था लेकिन कारण उसे नहीं पता था। जब हैलीडे ने हूबहू ऐसा ही आनन्द "पिचके पेट वाले" बिलसन के चेहरे पर देखा, तो उसे पक्का यक़ीन हो गया कि बिलसन के किसी पड़ोसी की टाँग टूट गई है, लेकिन जाँच से साबित हुआ कि ऐसा नहीं है। ग्रेगरी येट्स के चेहरे पर दबे-दबे से हर्ष के भाव का एक ही मतलब हो सकता था—उसकी सास उसे अलविदा कह गई है; ये एक और ग़लती थी। "और पिंकरटन—उसने ज़रूर ऐसे दस सेण्ट वसूल लिये हैं जिन्हें वह गँवाया मान बैठा था।" ऐसा ही हर मामले में हुआ। कुछ मामलों में उसके अनुमान सन्दिग्ध रहे और ज़्यादातर में वे सरासर ग़लत साबित हुए। आख़िरकार हैलीडे ने ख़ुद से कहा, "जो भी हो, लगता है हैडलेबर्ग के ये उन्नीस परिवार अस्थायी रूप से स्वर्ग में हैं : मुझे नहीं पता ये कैसे हुआ; मैं बस ये जानता हूँ कि विधाता आज छुट्टी पर है।"

हाल ही में बगल के राज्य से आए एक आर्किटेक्ट और बिल्डर ने इस क़स्बे में छोटा-मोटा कारोबार शुरू किया था और उसका साइनबोर्ड टँगे एक हफ़्ता हो गया था। अब तक एक भी ग्राहक नहीं आया था। वह हताश हो चला था और ख़ुद को कोस रहा था कि यहाँ क्यों आया। लेकिन अब अचानक उसके जीवन में बहार आ गई। एक के बाद एक प्रमुख नागरिक की बीवी अकेले में आकर उससे कहती थी :

"अगले हफ़्ते हमारे घर आइए—लेकिन फ़िलहाल किसी से कुछ मत कहिएगा। हम नया मकान बनाने की सोच रहे हैं।"

उस दिन उसे ग्यारह आमंत्रण मिले। उसी रात उसने अपनी बेटी को ख़त लिखा और उसके छात्र से होने वाली उसकी सगाई तोड़ दी। उसने कहा कि अब वह इससे ऊँचे तबके में शादी कर सकती है।

बैंकर पिंकरटन और दो-तीन अन्य धनी-मानी व्यक्ति ज़िला-परिषद का चुनाव लड़ने की सोच रहे थे—लेकिन उन्होंने अभी इन्तज़ार करने का फ़ैसला किया। इस तरह के लोग अण्डों से चूज़े निकलने के पहले ही उनकी गिनती शुरू नहीं कर देते।

विल्सन दम्पति ने एक नई शानदार चीज़ सोची—एक फ़ैन्सी ड्रेस नाच पार्टी। उन्होंने सीधे कोई वादा तो नहीं किया लेकिन अपने तमाम जानने वालों को अकेले में बता दिया कि वे इस बारे में सोचते रहे हैं और उन्हें लगता है कि अब इसका समय आ गया है—"और ज़ाहिर है, अगर हमने पार्टी दी तो आपको तो आना ही होगा।" लोग चकित थे और एक-दूसरे से कहते थे, "इन बेचारे विल्सनों का दिमाग़ फिर गया है, अरे, ये पार्टी का ख़र्च कहाँ से उठाएँगे।" उन्नीस में से कई ने अकेले में अपने पतियों से कहा, "वैसे ये ख़्याल अच्छा है, हम उनकी घटिया पार्टी हो जाने का इन्तज़ार करेंगे, और फिर ऐसी शानदार पार्टी देंगे कि उनकी वाली को याद कर उबकाई आ जाए।"

दिन बीतते गए और भावी फ़िज़ूलख़र्चियाँ बढ़ती गईं, ज़्यादा से ज़्यादा बेलगाम, ज़्यादा से ज़्यादा मूर्खतापूर्ण और अँधाधुँध होती गईं। ऐसा लगने लगा कि उन्नीस की मण्डली का हर सदस्य पैसे मिलनेवाले दिन से

पहले ही न केवल अपने पूरे चालीस हज़ार डॉलर ख़र्च कर डालेगा बल्कि पैसे हाथ में आने तक कर्ज़ में डूब चुका होगा। कुछ ख़रदिमाग़ लोग तो सिर्फ़ ख़र्च करने की योजना तक ही सीमित नहीं रहे बल्कि वास्तव में ख़र्च करना शुरू कर दिया—उधार पर। उन्होंने ज़मीनें, फ़ार्म, कम्पनियों के शेयर, बढ़िया कपड़े, घोड़े और तमाम दूसरी चीज़ें ख़रीदीं, कुछ रक़म चुकाई और बाक़ी दस दिन में चुकाने का वादा कर दिया। फिर एक दूसरी सोच उन पर हावी होने लगी और हैलीडे ने ध्यान दिया कि कई चेहरों पर एक मनहूस बेचैनी दिखने लगी है। एक बार फिर वह उलझन में पड़ गया और कुछ नहीं समझ पाया कि इससे क्या मतलब निकाले। "विल्कॉक्स के बिल्ली के बच्चे मरे नहीं हैं क्योंकि वे तो पैदा ही नहीं हुए थे; किसी की टाँग नहीं टूटी है; सासों की गिनती में कोई कमी नहीं आई है; कुछ भी नहीं हुआ है—ये तो एक अबूझ रहस्य बन गया है।"

एक और आदमी इन दिनों उलझन में था—पादरी मि. बर्गेस। कुछ दिनों से वह जहाँ भी जाता, लगता था कि लोग उसका पीछा करते हैं या उसकी घात में रहते हैं; और जब भी वह किसी सुनसान जगह पर होता तो उन्नीस में से कोई एक अचानक वहाँ नमूदार होता, उसके हाथ में चुपके से एक लिफ़ाफ़ा थमाता, धीरे से फुसफुसाता "इसे शुक्रवार की शाम टाउनहाल में खोलना है," और फिर चोर की तरह वहाँ से खिसक लेता। वह उम्मीद कर रहा था कि बोरी का शायद ही कोई दावेदार हो क्योंकि गुडसन मर चुका था—लेकिन उसने कभी ख़्वाब में भी नहीं सोचा था कि ये सारी जमात दावेदार हो सकती है। आख़िरकार जब बहुप्रतीक्षित शुक्रवार का दिन आया तो उसने पाया कि उसके पास उन्नीस लिफ़ाफ़े हैं।

तीन

टाउनहाल पहले कभी इतना सजा-धजा नहीं था। मंच के पीछे रंग-बिरंगे पर्दे टँगे थे; दीवारें रंग-बिरंगे बन्दनवार से सजी थीं; दीर्घाओं को भी झण्डियों से ढँक दिया गया था; हॉल के खम्भे तक झण्डियों से पूरी तरह ढँके थे—ये सब अजनबी पर प्रभाव जमाने के लिए किया गया था क्योंकि यक़ीनन वह वहाँ दल-बल समेत आएगा, और इस बात की भी पूरी उम्मीद थी कि प्रेस वालों से भी उसके अच्छे रिश्ते होंगे। हॉल खचाखच भरा था। उसकी सभी 412 सीटें भर चुकी थीं; गलियारे में लगाई गई 68 अतिरिक्त कुर्सियाँ भरी हुई थीं; कुछ जाने-माने बाहरी लोगों को मंच पर बिठाया गया था; और मंच के सामने और दोनों बगल लगी मेजों पर लगभग हर जगह से आए विशेष संवाददाता विराजमान थे। क़स्बे के लोगों ने शायद ही कभी इतने बढ़िया कपड़े पहने हों। बहुत सी महिलाएँ मँहगा मेकअप धारण किए हुए थीं और कई सजी-धजी महिलाओं को देखकर ही लग रहा था कि वे ऐसी पोशाकों की आदी नहीं हैं।

सोने की बोरी मंच के सामने की ओर एक छोटी मेज़ पर रखी थी जहाँ से पूरा सदन उसे देख सकता था। ज़्यादातर लोग उसे एक गहरी रुचि, मुँह में पानी ला देने वाली रुचि, उत्कण्ठापूर्ण और उदास रुचि के साथ देख रहे थे; पर उन्नीस दम्पति उसे बड़े प्यार से, कोमलता से और स्वामित्वपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे और इस छोटी सी मण्डली का पुरुष अर्द्धांश उन छोटे-छोटे आशु भाषणों को मन ही मन दोहरा रहा था जो जल्दी ही उन्हें उठकर दर्शकों की तालियों और बधाइयों के जवाब में देने थे। थोड़ी-थोड़ी देर में इनमें से कोई अपनी वास्कट की जेब से काग़ज़ का एक पुर्ज़ा निकालकर इस पर नज़र फिरा लेता था।

ज़ाहिर है लोगों की बातचीत की भनभनाहट लगातार जारी थी—जैसाकि हमेशा ही होता है; लेकिन अन्त में जब रेव. मि. बर्गेस उठे और अपना हाथ बोरी पर रखा तो ऐसी ख़ामोशी छा गई कि वह अपनी चमड़ी के जीवाणुओं के कुतरने की आवाज़ सुन सकते थे। उन्होंने बोरी की विचित्र कथा बयान की और फिर बेदाग़ ईमानदारी की हैडलेबर्ग की पुरानी और मेहनत से अर्जित प्रतिष्ठा के बारे में और इस प्रतिष्ठा के प्रति क़स्बे के गर्व के बारे में गर्मजोशी के साथ बताया। उन्होंने कहा कि ये प्रतिष्ठा एक अनमोल ख़ज़ाना है; कि

विधाता की मर्ज़ी से अब इसका मूल्य अतुलनीय रूप से बढ़ गया है क्योंकि हाल के प्रसंग ने इस ख्याति को दूर-दूर तक फैला दिया है और इस तरह पूरी अमेरिकी दुनिया की आँखें इस क़स्बे पर टिक गई हैं। और उन्हें आशा और विश्वास है कि इसका नाम हमेशा के लिए व्यावसायिक ईमानदारी के पर्याय के रूप में अमर हो जाएगा। (*ज़ोरदार तालियाँ।*) "और इस ख्याति का रखवाला कौन होगा—पूरा समुदाय? नहीं! ज़िम्मेदारी व्यक्तिगत चीज़ है, सामुदायिक नहीं। आज से आप में से हरेक ख़ुद इसका विशेष रखवाला होगा और ये देखना हरेक की ज़िम्मेदारी होगी कि इसे कोई ठेस न पहुँचे। क्या आप—क्या आपमें से हरेक—इस महती दायित्व को उठाने के लिए तैयार हैं? (*ज़बर्दस्त शोर के साथ हामी भरी जाती है।*) ठीक है, ठीक है। इस ज़िम्मेदारी को आपको अपने बच्चों और अपने बच्चों के बच्चों को सौंपना है। आज आपकी सदाक़त पर कोई उँगली नहीं उठा सकता—ये ध्यान रखिए कि हमेशा ऐसा ही रहे। आज आपके बीच एक भी शख़्स ऐसा नहीं है जिसे दूसरे की फूटी कौड़ी को भी हाथ लगाने के लिए बहकाया जा सके—इस यक़ीन को क़ायम रखना आप सबका फ़र्ज़ है। (*"ऐसा ही होगा! ऐसा ही होगा!!"*) अपने और दूसरे क़स्बों के बीच मुक़ाबला करने का ये समय नहीं है—हालाँकि उनमें से कुछ हमारे प्रति शालीन नहीं रहे हैं; उनका तौरे-ज़िन्दगी अलग है, हमारा अलग। हमें अपने में सन्तुष्ट रहना चाहिए। (*तालियाँ।*) मैं अपनी बात पूरी करता हूँ। दोस्तो, मेरे हाथ के नीचे एक अजनबी की दी हुई वह सनद है, जिससे आज सारा ज़माना जान जाएगा कि हम क्या हैं। हम नहीं जानते कि वह कौन है लेकिन आप सबकी ओर से मैं उसे शुक्रिया अदा करता हूँ, और चाहूँगा कि आप भी बुलन्द आवाज़ में ऐसा ही करें।"

पूरा हॉल एक साथ उठ खड़ा हुआ और उसके कृतज्ञताज्ञापन से पूरे एक मिनट तक दीवारें थर्राती रही। फिर लोग बैठ गए, और मि. बर्गेस ने अपनी जेब से एक लिफ़ाफ़ा निकाला। उन्होंने लिफ़ाफ़ा फाड़कर खोला और उसमें से काग़ज़ का एक पुर्ज़ा निकाला; इस दौरान पूरा सदन साँस रोके बैठा रहा। उन्होंने काग़ज़ पर लिखी इबारत पढ़कर सुनाई—धीरे-धीरे और असरदार ढंग से—श्रोतागण मंत्रमुग्ध से इस जादुई दस्तावेज़ को सुन रहे थे, जिसके एक-एक शब्द का मोल सोने की एक सिल्ली के बराबर था :

"मुश्किल में फँसे अजनबी से मैंने ये कहा था : "तुम क़तई बुरे आदमी नहीं हो; जाओ, सुधर जाओ।" उन्होंने आगे कहा : "अभी पल भर में हमें पता चल जाएगा कि ये जुमला बोरी में बन्द शब्दों से मेल खाता है या नहीं; और अगर ऐसा होता है—और निस्सन्देह ऐसा ही होगा—तो सोने की ये बोरी हमारे एक शहरी की हो जाएगी जो आज के बाद पूरे मुल्क के सामने ईमानदारी की एक मिसाल बन जाएगा—उसका नाम है, मि. बिलसन!"

सदन ने ख़ुद को ज़बर्दस्त हर्षध्वनि के विस्फोट के लिए तैयार कर लिया था; लेकिन ऐसा करने के बजाय उसे मानो लकवा मार गया। एक-दो पल तक गहरा सन्नाटा छाया रहा, फिर पूरे हॉल में फुसफुसाहटों और बुदबुदाहटों की एक लहर दौड़ गई—जिसका भाव कुछ इस प्रकार था : "*बिलसन!* अरे नहीं, ये कैसे हो सकता है! एक अजनबी को—या किसी को भी—बीस डॉलर दे दे—वह भी *बिलसन*! ये बात किसी और को बताना!" और इसी समय अचानक एक और अचम्भे से सदन की साँस अटक गई, क्योंकि पता चला कि हॉल के एक हिस्से में गिरजे का कर्मचारी बिलसन सर झुकाए खड़ा था और दूसरे हिस्से में वकील विल्सन भी ऐसा ही कर रहा था। अब कुछ देर तक हैरानी भरी ख़ामोशी छाई रही। कोई भी कुछ समझ नहीं पा रहा था और उन्नीस दम्पति चकित और क्रुद्ध थे।

बिलसन और विल्सन ने मुड़कर एक-दूसरे को घूरकर देखा। बिलसन ने तीखी आवाज़ में पूछा :

"*आप* क्यों खड़े हो गए, मि. विल्सन?"

"क्योंकि मुझे ऐसा करने का हक़ है। लेकिन मेहरबानी करके आप लोगों को ये बताने की तकलीफ़ करें कि *आप* क्यों खड़े हो गये।"

"बड़ी ख़ुशी से। क्योंकि वह ख़त मैंने लिखा है।"

"ये एक बेशर्मीभरा झूठ है! मैंने ख़ुद इसे लिखा है।"

अब हक्का-बक्का होने की बारी बर्गेस की थी। वह भौचक दोनों को देख रहे थे और समझ नहीं पा रहे थे कि क्या करें। पूरे सदन को सनाका मार गया था। वकील विल्सन ने ऊँची आवाज़ में कहा :

"मैं सभापति महोदय से कहना चाहता हूँ कि काग़ज़ पर लिखा पूरा नाम पढ़ा जाए।"

इससे सभापति महोदय को जैसे होश आ गया और उन्होंने नाम पढ़कर सुनाया :

"जॉन वार्टन *बिलसन*।"

"देखा!" बिलसन चिल्लाया, "अब आप क्या कहेंगे? और आपने यहाँ जो छल-कपट करने की कोशिश की है उसके लिए आपको मुझसे और इस अपमानित सदन से माफ़ी माँगनी होगी।"

"कोई माफ़ी माँगने की ज़रूरत नहीं है। और जहाँ तक बाक़ी का सवाल है, मैं भरी सभा में आप पर ये इल्ज़ाम लगाता हूँ कि आपने मि. बर्गेस के पास से मेरा ख़त चुरा लिया और इसकी नक़ल अपने नाम से जमा कर दी। इसके सिवा और किसी तरीक़े से आप उन शब्दों का पता पा ही नहीं सकते थे। ज़िन्दा लोगों में सिर्फ़ और सिर्फ़ मैं इन शब्दों के रहस्य को जानता था।"

अगर ये ऐसे ही चलता रहा तो तय था कि भारी बदनामी होगी। सब ये देखकर चिन्तित थे कि पत्रकार बेतहाशा शार्टहैण्ड में लिखे जा रहे थे। कई लोग चिल्ला रहे थे, "सभापति महोदय, सभापति महोदय! शान्ति, शान्ति!" बर्गेस ने मेज़ पर मुगरी से ठक-ठक की और कहा :

"हमें अपनी शराफ़त नहीं भूलनी चाहिए। ज़ाहिर है कहीं कोई चूक हुई है, बस यही बात है। अगर मि. विल्सन ने मुझे कोई लिफ़ाफ़ा दिया था—और अब मुझे याद आ रहा है कि उन्होंने दिया था—हाँ, वह मेरे पास है।"

उन्होंने अपनी जेब से एक लिफ़ाफ़ा निकाला, उसे खोला, उस पर एक नज़र डाली, चकित और चिन्तित दिखे, और कुछ पल चुपचाप खड़े रहे। फिर उन्होंने खोए-खोए से और यांत्रिक अन्दाज़ में हाथ हिलाया और कुछ कहने की कोशिश की, मानो हार मानकर कोशिश छोड़ दी। कई आवाज़ें पुकार उठीं :

"इसे पढ़िए! इसे पढ़िए! क्या है ये?"

उन्होंने स्तब्ध मुद्रा में पढ़ना शुरू किया, जैसे नींद में चलते हुए बोल रहे हों :

"दुखी अजनबी से मैंने ये कहा था : 'तुम बुरे आदमी नहीं हो। (सदन अचरज से उनकी ओर देख रहा था।) *जाओ, सुधर जाओ।'"* (फुसफुसाहटें : "अरे! इसका क्या मतलब है?") "इस पर," सभापति ने कहा, "दस्तख़त हैं, थर्लो जी. विल्सन।"

"देख लिया!" विल्सन चिल्लाया, "मेरे ख़्याल से अब ये तय हो गया! मैं अच्छी तरह जानता था कि मेरा ख़त चुराया गया था।"

"चुराया!" बिलसन ने कड़ककर जवाब दिया। "मैं तुम्हें बताए देता हूँ कि तुम या तुम्हारी औक़ात के किसी भी आदमी ने अगर—"

सभापति : "शान्त हो जाइए, भद्रजनो, शान्त हो जाइए! आप दोनों कृपया अपनी-अपनी जगह बैठ जाएँ।"

गुस्से में बड़बड़ाते और सिर हिलाते हुए दोनों बैठ गये। सदन बुरी तरह चकरा गया था; उसे समझ नहीं आ रहा था कि इस विचित्र संकट का क्या हल किया जाए। फिर थॉमसन खड़ा हुआ। थॉमसन टोपियाँ बनाता था। वह भी उन्नीस की जमात में शामिल होना चाहता था, लेकिन उसकी ये ख्वाहिश अधूरी ही रह गई थी। उसकी टोपियों की दुकान इस हैसियत के लायक नहीं समझी जाती थी। उसने कहा :

"सभापति महोदय, आपकी इजाज़त से मैं ये कहना चाहता हूँ कि क्या ये दोनों महानुभाव सही हो सकते हैं? मैं इसका फ़ैसला आप पर छोड़ता हूँ जनाब, कि क्या ऐसा हो सकता है कि इन दोनों ने अजनबी से हूबहू एक ही शब्द कहे हों? मुझे तो लगता है—"

चमड़ासाज़ ने उठकर उसे टोका। चमड़ासाज़ एक असन्तुष्ट व्यक्ति था। वह ख़ुद को उन्नीस में से एक होने लायक मानता था लेकिन उसे मान्यता नहीं मिल सकी थी। इससे उसके हावभाव और बोली में थोड़ी

कड़वाहट आ गई थी। वह बोला :

"असल मुद्दा *ये* नहीं है! ऐसा इत्तफाक तो सौ-पचास साल में एकाध बार हो सकता है। पर दूसरी वाली बात नहीं हो सकती। इन दोनों में से *किसी ने भी* बीस डॉलर नहीं दिए होंगे!" (*समर्थन भरी हँसी की लहर।*)

बिलसन : *"मैंने दिए थे!"*

विल्सन : *"मैंने दिए थे!"*

फिर दोनों ने एक-दूसरे पर चोरी का इल्ज़ाम लगाया।

सभापति : "शान्ति! कृपया बैठ जाइए—आप दोनों बैठ जाइए। इन दोनों में से कोई भी ख़त पलभर के लिए भी मुझसे अलग नहीं हुआ है।"

एक आवाज़ : "बहुत अच्छे—इसका तो निपटारा हो गया!"

चमड़ासाज़ : "सभापति जी, एक बात तो अब साफ़ हो गई कि इन दोनों में से कोई दूसरे के पलंग के नीचे छुपकर जासूसी करता रहा है और अगर ऐसा कहना असंसदीय न समझा जाए, तो मैं कहूँगा कि ये दोनों ही ऐसा कर सकते हैं। (सभापति : "आर्डर! आर्डर!") मैं ये बात वापस लेता हूँ और बस इतना कहना चाहूँगा कि अगर इनमें से किसी ने इम्तहानी-जुमला अपनी पत्नी को बताते हुए दूसरे को सुना है, तो हम अभी उसे पकड़ लेंगे।"

एक आवाज़ : "कैसे?"

चमड़ासाज़ : "आसानी से। दोनों ने वह बात हूबहू एक जैसे शब्दों में नहीं कही है। अगर दोनों मज़मून पढ़े जाने के बीच ख़ासे समय और एक दिलचस्प झगड़े का फ़ासला नहीं होता तो आपका भी ध्यान इस ओर गया होता।"

एक आवाज़ : "क्या अन्तर है? बताओ, बताओ।"

चमड़ासाज़ : "बिलसन के ख़त में *क़तई* शब्द है जो दूसरे में नहीं है।"

कई आवाज़ें : "ठीक कह रहा है—बात सच है!"

चमड़ासाज़ : "और अगर सभापति जी बोरी में रखे इम्तहानी ख़त को पढ़ें तो हमें पता चल जाएगा कि इन दो धोखेबाज़ों—(सभापति : "आर्डर!")—इन दो बेईमानों—(सभापति : "आर्डर! आर्डर!")—इन दो शरीफ़ज़ादों (*हँसी और तालियाँ*)—में से वह कौन है जो इस शहर के पहले और अकेले बेईमान आदमी की पदवी का हकदार है—वह कौन है जिसने इस शहर को बदनाम किया है और जिसके लिए आज के बाद यहाँ जीना दूभर हो जाएगा!" (*ज़ोरदार तालियाँ।*)

कई आवाज़ें : "बोरी खोलिए!—बोरी को खोलिए!"

मि. बर्गेस ने बोरी में एक चीरा लगाया, अपना हाथ भीतर डाला और एक लिफ़ाफ़ा निकाला। इसके भीतर मोड़कर रखे गए दो ख़त थे। उन्होंने कहा :

"इनमें से एक पर लिखा है, 'इसे तब तक न खोला जाए जब तक सभापति के नाम लिखे सारे ख़त—यदि कोई हो तो—पढ़ न लिये जाएँ।' दूसरे पर लिखा है *'इम्तहान।'* मैं इसे पढ़ता हूँ :

'"मेरे मददगार की बात का पहला हिस्सा हूबहू दोहराया जाए ये ज़रूरी नहीं क्योंकि इसमें ऐसी कोई खासियत नहीं थी और कोई उसे भूल सकता है। लेकिन बाद के पन्द्रह लफ़्ज़ असाधारण थे और मेरे ख़्याल से ये आसानी से भूलने वाले नहीं हैं। अगर इन्हें हूबहू न पेश किया जाए तो उस दावेदार को धोखेबाज़ समझा जाए। मेरे मददगार ने शुरू में ये कहा कि वह शायद ही किसी को सलाह देता है लेकिन जब देता है तो वह लाख टके की बात होती है। फिर उसने ये कहा—जो मुझे कभी भूला नहीं है : *"तुम बुरे आदमी नहीं हो—"'*

एक साथ पचास आवाज़ें : "चलो तय हो गया—ये पैसा विल्सन का है! विल्सन! विल्सन! भाषण! भाषण! भाषण!"

लोग कूदकर विल्सन के इर्दगिर्द जमा हो गये। उससे हाथ मिलाने और बधाई देने वालों में होड़ लगी थी—और इस बीच सभापति मेज़ पर मुगरी पटक-पटककर चिल्ला रहे थे :

"शान्त हो जाइए, महानुभावो! शान्त हो जाइए, शान्त हो जाइए! मुझे पूरा पढ़ने दीजिए।" जब शान्ति क़ायम हो गई तो उन्होंने आगे पढ़ना शुरू किया :

*"जाओ, सुधर जाओ—वरना, मेरी बात ग़ौर से सुनो—किसी दिन अपने पापों के लिए तुम मरकर नर्क जाओगे या फिर हैडलेबर्ग—***कोशिश करो कि नर्क में ही जाओ।***"*

एक मनहूस सन्नाटा छा गया। पहले तो नागरिकों के चेहरों पर गुस्से की काली छाया छा गई; फिर धीरे-धीरे गुस्से का बादल छँटने लगा और एक गुदगुदी का भाव उसकी जगह लेने की कोशिश करने लगा; वह इतनी कड़ी कोशिश कर रहा था कि उसे बड़े कष्ट से ही दबाया जा रहा था। पत्रकार, ब्रिक्सटनवाले और अन्य बाहरी लोगों ने सिर नीचे कर चेहरों को हाथों से ढँक लिया और पूरी ताक़त और शिष्टाचार का सारा ज़ोर लगाकर किसी तरह अपनी हँसी रोकी। इस अत्यन्त असामयिक मौक़े पर अचानक ख़ामोशी में एक अकेली आवाज़ गूँज उठी—ये जैक हैलीडे था :

"वाह, ये हुई न बात!"

इसके बाद तो पूरे सदन में बेसाख़्ता हँसी फूट पड़ी। यहाँ तक कि मि. बर्गेस भी संजीदा न रह पाए, इससे दर्शकों ने मान लिया कि उन्हें हर तरह के लिहाज़ से औपचारिक छूट दे दी गई है और उन्होंने इस मौक़े का भरपूर फायदा उठाया। लोग दिल खोलकर पूरी ताक़त से देर तक ठहाके लगाते रहे, लेकिन आख़िरकार हँसी थमी—इतनी देर तक कि मि. बर्गेस आगे पढ़ने की कोशिश कर सकें और अपनी आँखें थोड़ी-बहुत पोंछ सकें; इसके बाद फिर हँसी फूट पड़ी, फिर थमी और फिर गूंज उठी; लेकिन आख़िरकार मि. बर्गेस ये संजीदा बातें कहने में कामयाब हो गए :

"अब सच्चाई पर पर्दा डालने की कोशिश बेकार है। हमारे सामने एक बेहद संगीन मसला है। ये आपके शहर की आबरू का सवाल है—इसने सीधे शहर की नेकनामी पर चोट की है। मि. बिलसन और मि. विल्सन के ख़तों में एक लफ़्ज़ का अन्तर अपने आप में एक संजीदा बात थी क्योंकि इससे ज़ाहिर होता था कि इन दोनों महानुभावों में से एक ने चोरी की है—"

दोनों व्यक्ति टूटे-कुचले, बेजान से बैठे थे, लेकिन ये शब्द सुनते ही दोनों के बदन में जैसे बिजली दौड़ गई और वे लपककर उठने लगे।

"बैठ जाइए!" सभापति ने तुर्शी के साथ कहा, और दोनों ने निर्देश का पालन किया। "जैसाकि मैंने कहा, वह एक संजीदा बात थी—लेकिन उनमें से सिर्फ़ एक के लिए। लेकिन अब मसला और भी संगीन हो गया है क्योंकि आप दोनों की इज़्ज़त ख़तरे में है। बल्कि मैं तो कहूँगा कि ऐसे ख़तरे में है जिससे बच निकलना नामुमकिन है। दोनों ने सबसे महत्त्वपूर्ण बीस शब्द छोड़ दिए हैं।" वह रुक गये। कुछ देर तक उन्होंने हॉल में हावी सन्नाटे का असर गहराने दिया और फिर कहा : "ऐसा सिर्फ़ एक हालत में हो सकता है। मैं इन दोनों महानुभावों से पूछता हूँ—क्या ये *मिलीभगत* थी?—*समझौता* था?"

सदन में एक धीमी फुसफुसाहट एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ गई जिसका आशय था, "दोनों गए काम से।"

बिलसन ऐसी आपात स्थितियों का आदी नहीं था; वह लस्त-पस्त पड़ा था। लेकिन विल्सन वकील था। व1ह किसी तरह खड़ा हुआ, उसका चेहरा ज़र्द और परेशान दिख रहा था। उसने कहना शुरू किया :

"मैं इस अत्यन्त पीड़ादाई मामले को समझाने की कोशिश करूँगा और मैं चाहता हूँ कि सदन मेरी बात पर ध्यान दे। मुझे ये सब कहने में अफ़सोस हो रहा है क्योंकि इससे मि. बिलसन की प्रतिष्ठा को भारी ठेस पहुँचेगी जिनका मैंने अब तक हमेशा ही सम्मान किया है, और किसी लालच के आगे न झुकने की जिनकी क्षमता में मैं हमेशा विश्वास करता रहा हूँ—जैसाकि आप सब भी करते रहे हैं। लेकिन ख़ुद अपनी प्रतिष्ठा के लिए मुझे सब कुछ साफ़-साफ़ कहना पड़ेगा। मैं शर्मिन्दगी के साथ ये स्वीकार करता हूँ—और मैं इसके

लिए आप सबसे क्षमायाचना करता हूँ—कि मैंने उस बरबाद अजनबी से वह पूरी बात कही थी जो इम्तहानी मज़मून में लिखी है, वे अपमानजनक बीस लफ़्ज़ भी मैंने कहे थे। (भीड़ में हलचल।) जब अख़बार में ये ख़बर छपी तो मुझे सब याद आ गया और मैंने सोने की बोरी हासिल करने की ठान ली क्योंकि हर तरह से ये मेरा हक़ बनता था। अब मैं चाहूँगा कि आप इस मुद्दे पर ग़ौर से सोचें; उस रात अजनबी मेरे प्रति बेइन्तहा एहसानमन्द था; उसने ख़ुद कहा कि वह अपनी कृतज्ञता शब्दों में नहीं जता सकता और अगर कभी वह सक्षम हुआ तो इसके बदले में मुझे हज़ार गुना चुकाएगा। अब मैं आपसे पूछता हूँ; क्या मैं ये उम्मीद कर सकता था—क्या मैं ये सोच भी सकता था—क्या मैं सपने में भी ये कल्पना कर सकता था—कि ऐसी भावना के बावजूद वह इतना एहसानफ़रामोश हो जाएगा कि अपने इम्तहान में उन्हीं अनावश्यक बीस लफ़्ज़ों को शामिल कर देगा?—मेरे लिए इस तरह जाल बिछाएगा?—इस तरह सार्वजनिक स्थल पर, मेरे अपने लोगों के सामने, ख़ुद अपने शहर की निन्दा करने वाले के रूप में मेरा भण्डाफोड़ करेगा? ये एकदम अनर्गल बात थी; ये असम्भव था। मुझे इस बात में ज़रा भी सन्देह नहीं था कि उसके इम्तहान में मेरी बात के सिर्फ़ शुरुआती लफ़्ज़ होंगे। आपने भी ऐसा ही सोचा होता। आप एक ऐसे इन्सान से ऐसे घटिया विश्वासघात की उम्मीद नहीं कर सकते जिसे आपने दोस्त समझा और जिसके ख़िलाफ़ आपने कोई ग़लत काम नहीं किया। और इसलिए पूरे यक़ीन के साथ, पूरे भरोसे के साथ, मैंने एक काग़ज़ पर शुरुआती शब्द—"जाओ, सुधर जाओ" तक लिखे, और उस पर दस्तख़त कर दिए। मैं उसे लिफ़ाफ़े में बन्द करने ही वाला था कि मुझे किसी काम से दफ़्तर के भीतर वाले कमरे में जाना पड़ा और मैंने बिना सोचे काग़ज़ अपनी मेज़ पर पड़ा छोड़ दिया।" वह रुका, धीरे से अपना सिर बिलसन की ओर घुमाया, पलभर इन्तज़ार किया, और फिर कहा : "इस नुक़्ते पर ग़ौर किया जाए; जब कुछ देर बाद मैं लौटा तो मि. बिलसन बाहर वाले दरवाज़े से निकल रहे थे।" *(लोगों में हलचल।)*

अगले ही क्षण बिलसन खड़ा होकर चिल्ला रहा था :

"ये झूठ है! ये एक बेहूदा सफ़ेद झूठ है!"

सभापति : "कृपया बैठ जाइए! मि. विल्सन को बात पूरी करने दीजिए।" बिलसन के दोस्तों ने उसे खींचकर बैठाया और शान्त किया। विल्सन ने फिर बोलना शुरू किया :

"मैं सिर्फ़ तथ्य आपके सामने रख रहा हूँ। मेरा ख़त अब मेज़ पर उस जगह से खिसका हुआ था जहाँ मैं उसे छोड़ गया था। इस ओर मेरा ध्यान गया पर मैंने इसे गम्भीरता से नहीं लिया और सोचा कि शायद ऐसा हवा की वजह से हुआ होगा। मि. बिलसन एक निजी ख़त पढ़ेंगे, ये बात मेरे दिमाग़ में ही नहीं आई; वह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं, और ऐसी हरकत नहीं कर सकते। अगर आपकी इजाज़त हो तो मैं कहना चाहूँगा कि अब उनके ख़त में आए फालतू शब्द 'क़तई' को भी समझा जा सकता है : ये याददाश्त का दोष है। मैं दुनिया का अकेला इन्सान हूँ जो इम्तहानी मज़मून का कोई भी हिस्सा यहाँ पेश कर सकता था—सम्मानजनक ढंग से। मुझे और कुछ नहीं कहना है।"

भाषण कला की चालों और भ्रमजालों से अनभिज्ञ श्रोताओं के मानसिक तंत्र को गड़बड़ा देने, उनके विश्वासों को उलट-पुलट देने और भावनाओं को भ्रष्ट कर देने के लिए एक असरदार भाषण से बढ़कर दुनिया में कोई चीज़ नहीं होती। विल्सन विजई भाव से अपनी सीट पर बैठ गया। सदन ने समर्थनभरी हर्षध्वनि के ज्वार में उसे डुबो दिया; दोस्तों ने उसे घेर लिया और उससे हाथ मिलाने और बधाइयाँ देने लगे जबकि बिलसन को चिल्लाकर चुप करा दिया गया और एक शब्द भी बोलने नहीं दिया गया। सभापति अपनी मुगरी पीटे जा रहे थे और चिल्ला रहे थे :

"लेकिन कार्रवाई आगे तो बढ़ाने दीजिए, महानुभावो, कार्रवाई आगे तो बढ़ाने दीजिए!"

आख़िरकार थोड़ी शान्ति हुई और टोपीसाज़ ने कहा :

"लेकिन अब आगे बढ़ने के लिए बचा ही क्या है जनाब, बस पैसे ही तो देने हैं?"

कई आवाज़ें : "हाँ! हाँ! आगे आओ विल्सन!"

टोपीसाज़ : "थ्री चियर्स फॉर मि. विल्सन, जो प्रतीक हैं उस विशेष सद्‌गुण के—"

उसकी बात पूरी होने के पहले ही लोगों ने हिप-हिप-हुर्रे करना शुरू कर दिया था, और इस हंगामे और मुगरी की ठक-ठक के बीच कुछ उत्साही जनों ने विल्सन को एक मज़बूत दोस्त के कन्धे पर चढ़ा दिया और विजेता की तरह उसे मंच की ओर ले चले। तभी इस शोर के ऊपर सभापति की चीख़ती आवाज़ सुनाई दी :

"बैठ जाइए! अपनी-अपनी जगहों पर वापस जाइए! आप भूल रहे हैं कि अब भी एक दस्तावेज़ पढ़ा जाना बाक़ी है।" जब शान्ति बहाल हो गई तो उन्होंने काग़ज़ उठाया और उसे पढ़ने जा रहे थे पर ये कहते हुए उसे वापस रख दिया, "मैं भूल गया; इसे तब तक नहीं पढ़ना है जब तक मुझे मिले सभी ख़त पढ़ न लिये जाएँ।" उन्होंने अपनी जेब से एक लिफ़ाफ़ा निकाला, उसे खोला, भीतर के काग़ज़ पर नज़र डाली—भौचक्के से दिखाई दिए—उसे हाथ में थामकर देखते रहे—बल्कि उसे घूरने लगे।

बीस-तीस आवाज़ों ने चिल्लाकर पूछा,

"क्या है ये? पढ़िए! पढ़िए!"

और उन्होंने पढ़ना शुरू किया—धीमे-धीमे और चकित स्वर में :

"अजनबी से मैंने ये कहा था—(आवाज़ें : "ओए, ये क्या माजरा है?") 'तुम बुरे आदमी नहीं हो। (आवाज़ें : "सुभानअल्ला! सुभानअल्ला") जाओ, सुधर जाओ।' (एक आवाज़ : "वो मारा पापड़वाले ने!") दस्तख़त हैं, मि. पिंकरटन, बैंकर।"

अब ख़ुशी का जो फव्वारा छूटा और जो हुल्लड़ मचा वह भद्रजनों को रुला देने के लिए काफ़ी था। हमेशा धीर-गम्भीर रहने वाले लोग भी इस क़दर हँसे कि आँखों से आँसू निकल आए; हँसी के दौरों के बीच कुछ लिखने की कोशिश में पत्रकारों की कापियाँ ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियों से भर गईं जिन्हें पढ़ पाना नामुमकिन था; और एक सोया हुआ कुत्ता बुरी तरह डरकर उछला और बेतहाशा भौंकने लगा। शोर-शराबे में तरह-तरह की आवाज़ें बिखरी थीं : "हम अमीर हो रहे हैं—दो-दो ईमान के पुतले!" "बिलसन को क्यों छोड़ दिया?" "तीन हो गए!—बिलसन को भी गिनो—जितने हों उतना अच्छा!" "ठीक है—बिलसन को भी चुन लिया!" "बेचारा विल्सन! दो-दो चोरों का शिकार!"

एक ऊँची आवाज़ : "ख़ामोश! सभापति ने जेब से कुछ और निकाला है।"

आवाज़ें : "हुर्रा! कुछ नया है क्या? पढ़िए! पढ़िए, पढ़िए!"

सभापति (पढ़ता है) : 'मैंने जो बात कही थी' वग़ैरह-वग़ैरह। 'तुम बुरे आदमी नहीं हो। जाओ,' वग़ैरह। दस्तख़त, 'ग्रेगरी येट्स'।"

आवाज़ों का तूफ़ान : "चार पुतले!" "येट्स की जय हो!" "निकालिए, निकालिए; और निकालिए!"

सदन में ज़बर्दस्त हँसी-ठट्ठे का माहौल था और लोग इस मौक़े का पूरा मज़ा लूटना चाहते थे। उन्नीस की जमात में से कई घबराए और चिन्तित दिखते हुए उठकर भीड़ के बीच से गलियारे की ओर बढ़ने लगे, लेकिन बीसियों आवाज़ें एक साथ उठीं :

"दरवाज़े बन्द करो, सारे दरवाज़े बन्द कर दो; ईमान का कोई पुतला यहाँ से जाने न पाए! बैठ जाइए, सब लोग बैठ जाइए!" आदेश का पालन किया गया।

"और निकालिए! पढ़िए! पढ़िए!"

सभापति ने फिर जेब में हाथ डाला, और एक बार फिर उनके होठों से परिचित शब्द झरने लगे—'तुम बुरे आदमी नहीं हो—'

"नाम! नाम! नाम क्या है?"

"एल. इंगोल्ड्सबी सार्जेण्ट।"

"पाँच हो गए! ईमान के पुतलों की भरमार हो रही है! चलते रहिए, चलते रहिए!"

'तुम बुरे आदमी नहीं हो—'

"नाम! नाम!"

‘निकोलस व्हिटवर्थ।’

“हुर्रे! हुर्रे! ये दिन है प्रतीकों का!
मौक़ा है लतीफ़ों का!”

कोई मस्ती की तरंग में चिल्लाया और इस तुकबन्दी को दिलकश ‘मिकाडो” धुन पर गाना शुरू कर दिया। दर्शक भरपूर आनन्द के साथ इसमें शामिल हो गए, और तभी, ठीक समय पर, किसी ने एक और पंक्ति जोड़ी—

“पर तुम ये न भूलो प्यारे—”

सदन ने भरपूर गले से इसे दोहराया। तीसरी पंक्ति भी तुरन्त ही मुहैया कराई गई—

“हैडलेबर्ग का नाम अमर करेंगे—”

सदन ने इसे भी गला फाड़कर दोहराया। जैसे ही आख़िरी स्वर मन्द पड़ा, जैक हैलीडे की ऊँची और साफ़ आवाज़ में छन्द की अन्तिम पंक्ति गूँज उठी—

“ईमान के ये पुतले हमारे!”

इसे ज़ोरदार उत्साह के साथ गाया गया। फिर ख़ुशी से भरे सदन ने शुरू से शुरू किया और भरपूर तरन्नुम के साथ चारों पंक्तियाँ दो बार दोहराईं।

फिर चारों ओर से लोग सभापति पर चिल्लाने लगे :

“आगे बढ़िए! आगे बढ़िए! पढ़िए! कुछ और पढ़िए! आपके पास जितने हैं सब पढ़िए!”

“बिल्कुल, बिल्कुल—आगे बढ़िए! आज हमारा नाम अमर होने से कोई माई का लाल नहीं रोक पाएगा!”

तभी एक दर्जन लोग खड़े होकर विरोध प्रकट करने लगे। उन्होंने कहा कि ये सारी नौटंकी किसी आवारा-मसख़रे की करामात है और इससे हैडलेबर्ग के पूरे समाज का अपमान हो रहा है। इसमें कोई शक नहीं कि ये सारे दस्तख़त जाली हैं।

“बैठ जाओ! बैठ जाओ! और अपना मुँह बन्द रखो! बचने के लिए बहाने गढ़ रहे हो तुम। अभी *तुम्हारे* नाम भी आने ही वाले हैं।”

“सभापति महोदय, आपके पास ऐसे कितने लिफ़ाफ़े हैं?”

सभापति ने गिने।

“अब तक पढ़े जा चुके ख़तों को मिलाकर, कुल उन्नीस हैं।”

खिल्ली उड़ाती हर्षध्वनि का तूफ़ान फट पड़ा।

“शायद इन सभी में वह राज़ है। मेरा प्रस्ताव है कि आप सब लिफ़ाफ़े खोलें और इस तरह के ख़त के दस्तख़त को पढ़ते जाएँ—और ख़त के पहले पाँच शब्द भी पढ़ दें।”

“प्रस्ताव का समर्थन कीजिए!”

प्रस्ताव प्रचण्ड ध्वनिमत से पारित हो गया। फिर बेचारा रिचर्ड्स खड़ा हुआ और फिर उसकी पत्नी भी धीरे से उठकर उसकी बगल में खड़ी हो गई। उसका सिर झुका हुआ था, ताकि कोई ये न देख सके कि वह रो रही है। उसके पति ने उसे सहारा दिया और कँपकँपाती आवाज़ में बोलने लगा :

“मेरे दोस्तो, हम दोनों—मैरी और मैं—जीवनभर इसी शहर में, आपके बीच रहते आए हैं। और मैं सोचता हूँ कि आप हमें पसन्द करते रहे हैं और हमारा सम्मान करते रहे हैं—”

सभापति ने उसे बीच में ही टोक दिया :

“माफ़ी चाहता हूँ। आप जो कह रहे हैं वह बिल्कुल सच है मि. रिचर्ड्स; ये शहर आप दोनों को जानता है; ये आपको पसन्द करता है; ये आपकी क़द्र करता है; और इससे भी बढ़कर ये आपका सम्मान करता है और आपको प्यार करता है—”

हैलीडे की आवाज़ गूँज उठी :

“ये बात सोलह आने सच है! अगर आप सभापति जी से सहमत हों तो एक साथ उठकर बोलिए।

चलिए, उठिए! हिप! हिप! हिप!—एक साथ बोलिए!"

पूरा हॉल एक साथ खड़ा हुआ, सब उत्साह के साथ वृद्ध दम्पति की ओर मुड़े, हवा में सैकड़ों रूमाल लहराए और पूरे दिल से सबने एक साथ हिप-हिप हुर्रे का जयकारा लगाया।

सभापति ने आगे कहा :

"मैं ये कहना चाह रहा था : हम जानते हैं कि आप कितने नेकदिल इन्सान हैं मि. रिचर्ड्स, लेकिन गुनहगारों के साथ दरियादिली दिखाने का ये मौक़ा नहीं है। (*"सही है! सही है!" की आवाज़ें*) आपके चेहरे से ही आपकी उदार नीयत का पता चल जाता है, लेकिन मैं आपको इन लोगों के साथ रहम की गुज़ारिश करने की इजाज़त नहीं दे सकता—"

"लेकिन मैं तो अपने—"

"कृपा करके बैठ जाइए मि. रिचर्ड्स। हमें बचे हुए सारे ख़त पढ़ने ही चाहिए—वरना उन लोगों के साथ नाइंसाफ़ी होगी जिनका भाँडा पहले फूट चुका है। मैं आपको ज़बान देता हूँ, जैसे ही ये काम पूरा हो जाएगा, हम आपकी बात सुनेंगे।"

कई आवाज़ें : "सही है!—सभापति की बात सही है—अब बीच में कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए! आगे बढ़िए!—नाम बताइए, नाम!—प्रस्ताव का पालन कीजिए!"

वृद्ध दम्पति हिचकिचाते हुए बैठ गए और रिचर्ड्स ने पत्नी के कान में कहा, "इन्तज़ार करना और भी दुखदाई है। हमें तब और भी ज़्यादा शर्मिन्दगी होगी जब उन्हें पता चलेगा कि हम तो दरअसल अपने लिए माफ़ी माँगने जा रहे थे।"

नाम पढ़े जाने के साथ ही एक बार फिर मस्ती का आलम छा गया।

"'तुम बुरे आदमी नहीं हो—' दस्तख़त, 'राबर्ट जे. टिटमार्श।"'

"'तुम बुरे आदमी नहीं हो—' दस्तख़त, "एलीफालेट वीक्स।"'

"'तुम बुरे आदमी नहीं हो—' दस्तख़त, 'ऑस्कर बी. विल्डर।"'

इस बिन्दु पर लोगों को अचानक ये ख़्याल आया कि शुरुआती पाँच शब्दों के लिए सभापति को क्यों ज़हमत दी जाए। उन्हें कोई एतराज़ नहीं हुआ। इसके बाद वह हरेक रुक्के को उठाते और इन्तज़ार करते। सदन एक साथ नपे-तुले और लयबद्ध सुर में इन पाँच शब्दों को दोहराता था (जो एक प्रसिद्ध चर्चगीत की धुन से काफ़ी मिलता-जुलता था)—"तुम बुरे आ ऽऽऽ दमी नहीं ऽऽऽ हो।" फिर सभापति कहते थे, "दस्तख़त, 'आर्चीबाल्ड विल्कॉक्स।"' एक के बाद एक नाम आता रहा और उन्नीस दूना अड़तीस अभागों को छोड़कर बाक़ी सबको ख़ूब मज़ा आ रहा था। बीच-बीच में, जब कोई ख़ास प्रतिष्ठित नाम ऊपर आ जाता तो सदन सभापति को इन्तज़ार करने का इशारा करके पूरा इम्तहानी मज़मून शुरू से लेकर इन आख़िरी शब्दों तक दोहराता था, "वरना नर्क में जाओगे या हैडलेबर्ग में—कोशिश करो नर्क में ही जाऽऽऽ ओ ऽऽऽ!" और इन ख़ास मामलों में वे ज़ोरदार ढंग से ये भी जोड़ देते थे, "आऽऽऽमीन!"

फ़ेहरिस्त घटती गई, घटती गई, घटती गई... बेचारा रिचर्ड्स एक-एक नाम गिन रहा था, ख़ुद से मिलता-जुलता कोई नाम पुकारा जाते ही उसका कलेजा मुँह को आ जाता था और बुरी तरह घबराए हुए वह उस मनहूस घड़ी का इन्तज़ार कर रहा था जब अपमान का घूँट पीने की बारी उसकी होगी और वह मैरी के साथ उठकर क्षमायाचना करेगा, जिसे वह इन शब्दों में पेश करने की सोच रहा था : "...क्योंकि अब तक हमने कभी कोई ग़लत काम नहीं किया है, बल्कि किसी को उँगली उठाने का मौक़ा दिए बिना विनम्रता से अपनी राह पर चलते रहे हैं। हम बहुत ग़रीब हैं, हम बूढ़े हैं, और हमारे कोई बाल-बच्चे नहीं हैं जो हमारी मदद कर सकें; हम बुरी तरह ललचा गए, और हमने घुटने टेक दिए। जब मैं अपना गुनाह क़ुबूल करने और माफ़ी माँगने के लिए उठा था तो मैं ये गुज़ारिश करना चाहता था कि मेरा नाम इस सार्वजनिक स्थल पर न पुकारा जाए, क्योंकि हमें लगा कि हम इसे बर्दाश्त नहीं कर पाएँगे; लेकिन हमें रोक दिया गया। यही उचित था; हमें भी औरों के साथ इस ज़लालत का सामना करना ही चाहिए था। हम पर ये सब बहुत भारी

गुज़रा है। हमने पहली बार किसी की ज़ुबान से अपना नाम कलंकित होते हुए सुना है। पुराने दिनों की ख़ातिर हम पर रहम कीजिए; हम पर शर्मिन्दगी का बोझ हल्का से हल्का रखने की कोशिश कीजिए। हम आपका एहसान कभी नहीं भूलेंगे।" तभी मैरी ने बगल में कोंच कर उसे दिवास्वप्न से जगा दिया; वह समझ गई थी कि उसका ध्यान कहीं और है। हॉल गूँज रहा था, "तुम बुरे आ-द-मी," आदि-आदि।

"तैयार हो जाओ," मैरी ने फुसफुसाकर कहा। "अब तुम्हारा नाम आने वाला है; वह अठारह पढ़ चुका है।"

भीड़ का अलाप पूरा हो गया।

"अगला! अगला! अगला!" हॉल में चारों ओर से आवाज़ें आईं।

मि. बर्गेस ने जेब में हाथ डाला। वृद्ध दम्पति काँपते हुए उठने लगे। मि. बर्गेस एक पल तक जेब में टटोलते रहे, फिर कहा :

"लगता है, मैं सारे पढ़ चुका हूँ।"

ख़ुशी और हैरानी से जैसे ग़श खाकर दोनों अपनी सीटों में धँस गए, और मैरी ने फुसफुसाकर कहा :

"ओह, भगवान तेरा लाख-लाख शुक्र है, हम बच गए! उससे हमारा वाला गुम हो गया है—मैं इसके बदले ऐसी सौ बोरियाँ छोड़ दूँ!"

हॉल में "मिकाडो" की पैरोडी गूँज उठी जिसे उत्तरोत्तर बढ़ते उत्साह के साथ तीन बार गाया गया। तीसरी बार जब ये अन्तिम पंक्ति गाई जा रही थी तो सारे लोग खड़े हो गए—

"ईमान के ये पुतले हमारे!"

और फिर सबने "हैडलेबर्ग की पवित्रता और इसके अठारह अमर प्रतिनिधियों" के नाम की ज़ोरदार जय-जयकार की।

फिर जीनसाज़ विनगेट ने उठकर ये प्रस्ताव रखा कि "शहर के सबसे खरे इन्सान, अकेले मानिन्द नागरिक जिन्होंने पैसा चुराने की कोशिश नहीं की, यानी एडवर्ड रिचर्ड्स" के नाम की जय-जयकार की जाए।

इस पर पूरे जोशोख़रोश और दिल को छू लेने वाले उत्साह के साथ अमल किया गया। फिर किसी ने प्रस्ताव किया कि "रिचर्ड्स को हैडलेबर्ग की पवित्र परम्परा का एकमात्र संरक्षक और प्रतीक चुना जाए, जिसके पास इस शहर की ओर से दुनिया की उपहासपूर्ण नज़रों का सामना करने का पूरा अधिकार और माद्दा हो।"

इसे ध्वनिमत से पारित कर दिया गया; फिर उन्होंने "मिकाडो" की धुन दुबारा गाई और इस पंक्ति के साथ गाना ख़त्म किया—

"ईमान के ये पुतले हमारे!"

कुछ देर ख़ामोशी रही; फिर—

एक आवाज़ : "हाँ तो, अब बोरी किसे मिलेगी?"

चमड़ासाज़ (*तीखे व्यंग्य भरे स्वर में*) : "ये तो आसान है। पैसे को ईमान के अठारह पुतलों में बाँट दिया जाना चाहिए। उन सबने बेचारे अजनबी को बीस-बीस डॉलर—और वह नेक सलाह—दी थी बारी-बारी से। यहाँ से उनका जुलूस गुज़रने में पूरे बाईस मिनट ख़र्च हुए हैं। अजनबी को दिए—कुल मिलाकर 360 डॉलर। अब वे सिर्फ़ अपना कर्ज़ वापस चाहते हैं—सूद-ब्याज़ सहित—बस चालीस हज़ार डॉलर।"

कई आवाज़ें (*हँसी उड़ाते हुए*) : "ये हुई न बात! बाँट दो! बाँट दो! बेचारे ग़रीबों पर दया करो—अरे अब और इन्तज़ार न कराओ इनसे।"

सभापति : "ऑर्डर! अब मैं अजनबी का आख़िरी दस्तावेज़ पढ़ता हूँ। इसमें लिखा है : 'अगर कोई दावेदार सामने न आए (*शोर*), तो मैं चाहूँगा कि आप बोरी खोलें और आप अपने शहर के मानिन्द नागरिकों के सामने पैसे गिनें, और इसे उनकी देखरेख में सौंप दिया जाए (*"ओह! ओह! ओह!" की आवाज़ें*), और

वे इस पैसे को आपके शहर की अटूट ईमानदारी की प्रतिष्ठा के प्रचार-प्रसार और संरक्षण के लिए जैसे उचित समझें ख़र्च करें *(फिर शोर)*—उनके नाम और उनके सद्प्रयास इस प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा देंगे।' *(उपहासपूर्ण फ़िकरे और तालियाँ।)* शायद इतना ही है। नहीं, नहीं—एक नोट भी है :

"'हैडलेबर्ग के नागरिको : इम्तहानी जुमले जैसी कोई चीज़ नहीं है—किसी ने ऐसा कुछ नहीं कहा था। *(ज़बर्दस्त सनसनी)* न तो कोई दिवालिया अजनबी था, न ही किसी ने बीस डॉलर की मदद की थी, और न ही उपदेश और सलाह दी थी—ये सब कल्पना की उपज है। *(चारों ओर हैरत और ख़ुशी की फुसफुसाहटें।)* मैं अपनी कहानी सुनाने की इजाज़त चाहता हूँ, ज़्यादा लम्बी नहीं है। एक बार मैं आपके शहर से गुज़रा और मुझे बेवजह गहरी ठेस पहुँचाई गई थी। कोई और होता तो आपमें से एक-दो को मारकर बदला चुका लेता, लेकिन मुझे ये बदला बहुत मामूली लगा, और नाकाफ़ी भी, क्योंकि मुर्दों को तकलीफ़ नहीं होती। दूसरे, मैं आप सबको तो मार नहीं सकता था—और, वैसे भी, मेरी फ़ितरत ऐसी है कि ऐसा करके भी मुझे तसल्ली नहीं होती। मैं इस शहर के एक-एक आदमी—और एक-एक औरत—को बरबाद कर देना चाहता था—उनके जान-माल को नहीं बल्कि उनके घमण्ड को चूर-चूर कर देना चाहता था मैं। कमज़ोर और बेवकूफ़ लोगों की सबसे बड़ी कमज़ोरी उनका घमण्ड ही है। इसलिए मैं भेस बदलकर लौटा और आप लोगों को बारीक़ी से परखता रहा। आप आसानी से शिकार बनाए जा सकते थे। आपके पास ईमानदारी की पुरानी और उच्च प्रतिष्ठा थी, और स्वाभाविक रूप से आपको इस पर गर्व था। ये आपका बेशक़ीमती ख़ज़ाना था, आपकी आँखों की पुतली थी। जैसे ही मुझे पता लगा कि आप ख़ुद को और अपने बच्चों को बड़ी सावधानी और सतर्कता के साथ लालच से दूर रखते हैं, मैं समझ गया कि मेरा रास्ता क्या होगा। अरे नादानो, सबसे कमज़ोर वह सद्गुण है जो किसी अग्निपरीक्षा से नहीं गुज़रा। मैंने एक योजना तैयार की और नामों की एक फ़ेहरिस्त बनाई। मेरा मंसूबा था कभी भ्रष्ट न हो सकने वाले हैडलेबर्ग को भ्रष्ट करना। मैं क़रीब पचास ऐसे बेदाग़ औरत-मर्दों को झुट्ठों और चोट्टों में तब्दील कर देना चाहता था जिन्होंने जीवन में कभी न तो झूठ बोला था और न कभी एक छदाम भी चुराया था। बस मुझे गुडसन से डर था। वह न तो हैडलबर्ग में जन्मा था, न यहाँ पला-बढ़ा था। मुझे डर था कि अगर मैंने अपना ख़त आपके सामने पेश कर अपनी योजना पर काम शुरू किया, तो आप ख़ुद से कहेंगे, 'हमारे बीच गुडसन ही वह अकेला शख़्स है जो किसी बेचारे को बीस डॉलर दे सकता है'—और फिर आप मेरे झाँसे में नहीं आते। लेकिन ऊपर वाले ने गुडसन को अपने पास बुला लिया। फिर मैं निश्चिन्त हो गया और मैंने अपना जाल बिछाया और चुग्गा डाल दिया। हो सकता है मैं उन सब को न पकड़ पाऊँ जिन्हें मैंने वह जाली इम्तहानी जुमला डाक से भेजा था, लेकिन अगर मैंने हैडलेबर्ग की फ़ितरत को ठीक से पहचाना है तो मुझे यक़ीन है कि ज़्यादातर को मैं फँसा लूँगा। (आवाज़ें : "क्या निशाना साधा है—एक-एक को पकड़ लिया!") मुझे यक़ीन है कि ये बेचारे, ललचाए गए, और ऐसी स्थितियों से अनजान लोग जुए के पैसे को भी छोड़ेंगे नहीं, उसे भी चुरा लेंगे। मुझे उम्मीद है कि मैं आपके घमण्ड को हमेशा-हमेशा के लिए कुचल डालने में कामयाब रहूँगा और हैडलेबर्ग को एक नई ख्याति दूँगा—ऐसी कुख्याति जो पीछा नहीं छोड़ेगी और दूर-दूर तक फैल जाएगी। अगर मैं कामयाब रहा हूँ तो बोरी खोलिए और 'हैडलेबर्ग प्रतिष्ठा के प्रसार और संरक्षण की कमेटी' को मंच पर बुलाइए।"'

आवाज़ों का तूफ़ान : "खोलिए! खोलिए! चलो अठारहो, सामने आओ! परम्परा के प्रसार की कमेटी! बढ़ चलो—ईमान के पुतलो!"

सभापति ने बोरी का मुँह खोल दिया और मुट्ठीभर चमकते, बड़े-बड़े, पीले सिक्के उठाए, उन्हें हिलाया, फिर ध्यान से देखा।

"दोस्तो, ये बस सीसे के गोल टुकड़े हैं जिन पर सुनहली पॉलिश चढ़ी है!"

इस ख़बर पर ज़बर्दस्त ख़ुशी का शोर फूट पड़ा, और जब हंगामा शान्त हुआ तो चमड़ासाज़ ने आवाज़ लगाई :

"इस धन्धे में उनकी महारत को देखते हुए मि. विल्सन परम्परा के प्रसार की कमेटी के अध्यक्ष होने

चाहिए। मेरा सुझाव है कि वह अपने हमजोलियों की तरफ़ से आगे आएँ और ये पैसा स्वीकार करें।"

एक साथ सौ आवाज़ें : "विल्सन! विल्सन! विल्सन! भाषण! भाषण!"

विल्सन (*गुस्से से काँपती आवाज़ में*) : "मैं ये कहने की इजाज़त चाहूँगा, और भाषा की ऐसी की तैसी, भाड़ में जाए ये पैसा!"

एक आवाज़ : "ओहो, क्या शराफ़त है!"

एक आवाज़ : "अब सत्रह पुतले बचे! आइए, महानुभावो, अपनी ज़िम्मेदारी स्वीकार कीजिए!"

कोई जवाब नहीं आया—ख़ामोशी छाई रही।

जीनसाज़ : "सभापति जी, जो भी हो भूतपूर्व गणमान्यों में से हमारे बीच एक साफ़-सुथरा इन्सान अब भी बचा है; और उन्हें पैसों की ज़रूरत है, और वे इसके हकदार भी हैं। मेरा प्रस्ताव है कि आप जैक हैलीडे को ये ज़िम्मा सौंपें कि वह मंच पर जाकर बीस-बीस डॉलर के उन नक़ली सिक्कों की बोरी की नीलामी बोले और उससे मिली आमदनी सही शख़्स को सौंप दी जाए—उस शख़्स को जिसका सम्मान कर हैडलेबर्ग को ख़ुशी होगी—मि. एडवर्ड रिचर्ड्स को।"

इसका ज़ोरदार उत्साह से स्वागत किया गया, जिसमें कुत्ते ने फिर योगदान किया। जीनसाज़ ने एक डॉलर से बोली शुरू की, ब्रिक्सटन के लोगों और बार्नम के प्रतिनिधि के बीच इसके लिए कड़ा मुक़ाबला चला और लोग हर बार बोली चढ़ने पर जमकर उत्साह बढ़ाते रहे। हर पल उत्तेजना बढ़ती जा रही थी, बोली बोलने वाले ज़्यादा से ज़्यादा दिलेर, ज़्यादा से ज़्यादा दृढ़ निश्चई होते जा रहे थे। एक-एक डॉलर चढ़ रही बोलियों में पहले पाँच का उछाल आना शुरू हुआ फिर दस, फिर बीस, फिर पचास, फिर सौ और फिर—

नीलामी शुरू होने पर रिचर्ड्स ने दुखी आवाज़ में पत्नी से कहा : "ओह मैरी, क्या ये ठीक है? ये—ये—देखो, ये एक सम्मान है—एक पुरस्कार, चरित्र की शुद्धता का एक प्रमाण; और—और—क्या हम ऐसा होने दे सकते हैं? क्या बेहतर नहीं होगा कि मैं उठकर—ओह, मैरी, हम क्या करें?—तुम क्या सोचती हो—" (*हैलीडे की आवाज़ : "हाँ, तो, पन्द्रह की बोली हुई!—इस बोरी के लिए पन्द्रह!—बीस!—वाह, शुक्रिया!—तीस—वाह, वाह! तीस, तीस, तीस!—क्या कहा, चालीस?—हाँ, तो, चालीस! बढ़ते रहिए, महानुभावो, बढ़ते रहिए!—पचास!—शुक्रिया, दरियादिल रोमन!—पचास पर जा रही है, पचास, पचास, पचास!—सत्तर!—नब्बे!—बहुत ख़ूब!—एक सौ!—और बढ़िए, और बढ़िए!—एक सौ बीस—चालीस!—बहुत सही!—एक सौ पचास!—दो सौ!—क्या बात है! क्या कहा, दो—अरे वाह!—दो सौ पचास!—"*)

"ये एक और लालच है, एडवर्ड—मुझे कँपकँपी हो रही है—लेकिन, ओह, हम एक लालच से तो बच गए, और इससे हमें सबक ले लेना चाहिए कि—(*"क्या कहा छह?—शुक्रिया!—छह सौ पचास, छह स—सात सौ!"*) लेकिन एडवर्ड, ये भी तो सोचो—किसी को शक—(*"आठ सौ डॉलर!—हुर्रा!—अरे, नौ कर दो नौ!—मि. पार्सन्स, क्या आपने कहा—शुक्रिया!—नौ!—बेदाग़ सीसे की ये दिव्य बोरी सिर्फ़ नौ सौ डॉलर में जा रही है, पॉलिश सहित—बोलिए, बोलिए! क्या कह रहे हैं—एक हज़ार!—बहुत ख़ूब!—क्या किसी ने ग्यारह कहा?—ये बोरी जो सारी दुनिया की सबसे मशहूर—"*)

"ओह एडवर्ड," (सिसकने लगती है) "हम इतने ग़रीब हैं!—लेकिन—लेकिन—जैसा तुम ठीक समझो, करो—जैसा तुम ठीक समझो, करो।"

एडवर्ड भहरा गया—यानी, वह चुपचाप बैठा रहा; एक ऐसे ज़मीर के साथ बैठा रहा जो शान्त तो नहीं था, लेकिन हालात उस पर हावी हो गए थे।

इस बीच किसी शौकिया जासूस जैसी वेशभूषा में एक अजनबी सभा की कार्रवाई को बड़ी दिलचस्पी और सन्तुष्ट भाव के साथ देख रहा था, और ख़ुद से बातें कर रहा था। इस वक़्त वह अपने आप से कुछ इस तरह की बात कह रहा था : 'अठारहों में से कोई भी बोली नहीं लगा रहा है; ये ठीक नहीं है; मुझे इसे बदलना होगा—इंसाफ़ का तकाज़ा यही है; जिस बोरी को वे हड़पना चाहते थे, उसका दाम उन्हें ही चुकाना चाहिए, और तगड़ा दाम चुकाना चाहिए—उनमें से कुछ ख़ासे अमीर हैं। और एक बात है; जब हैडलेबर्ग की

फ़ितरत पहचानने में मुझसे एक चूक हुई है तो मुझे इस ग़लती के लिए मजबूर करने वाला शख़्स एक बड़ी सम्मानराशि का हकदार है, और ये रक़म किसी को चुकानी ही पड़ेगी। इस बेचारे रिचर्ड्स ने मेरी समझदारी का माख़ौल बना दिया है; वह वाक़ई एक ईमानदार इन्सान है—मैं उसे समझ नहीं पाया, लेकिन मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ। हाँ, वह मेरे पाँसों को पहचान गया—साफ़-साफ़ समझ गया, और वही ईनाम का हकदार है। और अगर मैं कामयाब रहा, तो उसे भरपूर ईनाम मिलेगा। उसने मुझे निराश किया, लेकिन अब इस बात को भूल जाना चाहिए।"

वह बोलियाँ चढ़ते देख रहा था। एक हज़ार पर पहुंचने के बाद लोगों के हौसले पस्त हो गए; बोलियाँ गिरने लगीं। वह इन्तज़ार करता रहा—देखता रहा। एक व्यक्ति ने मैदान छोड़ा, फिर दूसरे ने, फिर एक और ने। अजनबी ने अब एक-दो बोलियाँ लगाईं। जब बोलियाँ दस-दस डॉलर पर उतर आईं तो उसने पाँच का भाव चढ़ाया; किसी ने उसे तीन डॉलर ऊपर किया; उसने एक पल इन्तज़ार किया, फिर सीधे पचास डॉलर बढ़ाकर बोली बोली, और बोरी उसकी हो गई—1282 डॉलर में। हॉल में हर्षध्वनि गूँज उठी—फिर शान्त हो गई; क्योंकि अजनबी खड़ा हो गया था और हाथ उठाकर चुप होने का इशारा कर रहा था। उसने बोलना शुरू किया :

"मैं दो शब्द कहना चाहता हूँ और आपसे एक मदद चाहता हूँ। मैं दुर्लभ वस्तुओं का कारोबार करता हूँ, और दुर्लभ सिक्कों में दिलचस्पी रखने वाले दुनियाभर के लोगों से मेरा वास्ता पड़ता है। मैं अपनी इस ख़रीद से ऐसे भी मुनाफ़ा पैदा कर सकता हूँ; लेकिन एक तरीक़ा है, अगर आप लोग मुझे इसकी इजाज़त दें तो, जिससे मैं सीसे के इन बीस डॉलर के सिक्कों का मोल सोने में इनकी क़ीमत के बराबर, या शायद इससे भी ज़्यादा पहुँचा सकता हूँ। मुझे अपनी इजाज़त दें, और मैं अपने मुनाफ़े का एक हिस्सा आपके मि. रिचर्ड्स को दे दूँगा, जिनकी अभेद्य सत्यनिष्ठा को आज शाम आप सबने इतने लगाव और उत्साह के साथ सम्मान दिया है। उनका हिस्सा होगा दस हज़ार डॉलर, और मैं उन्हें कल ये रक़म पहुँचा दूँगा। (*सदन का ज़ोरदार समर्थन।* लेकिन "अभेद्य सत्यनिष्ठा" पर रिचर्ड्स दम्पति बुरी तरह लजा गए; बहरहाल, इसे संकोच के रूप में लिया गया और इससे कोई नुकसान नहीं हुआ।) अगर आप मेरे प्रस्ताव को अच्छे बहुमत से पास कर दें—मैं दो-तिहाई मत चाहूँगा—तो मैं इसे शहर की मंज़ूरी मानूँगा, और मुझे बस इसी की दरकार है। कोई भी ऐसी चीज़ जो उत्सुकता बढ़ा दे और लोगों को बात करने पर मजबूर कर दे, उससे दुर्लभ वस्तुओं की क़ीमत बढ़ती ही है। अब अगर मुझे आपकी इजाज़त हो तो मैं इन तमाम सिक्कों के दोनों पहलुओं पर उन अठारह महानुभावों के नाम खुदवाना चाहता हूँ जिन्होंने—"

पलक झपकते नब्बे फ़ीसदी लोग उछलकर खड़े हो गए—कुत्ता भी इनमें शामिल था—और सहमतिसूचक तालियों और हँसी के तूफ़ान के बीच प्रस्ताव पारित हो गया।

वे बैठ गए, और अब "डॉ." क्ले हार्कनेस को छोड़ बाक़ी सभी "ईमान के पुतले" उठ खड़े हुए और इस अपमानजनक प्रस्ताव का ज़ोर-शोर से विरोध करने लगे। कुछ ने धमकी दी कि—

अजनबी ने शान्त स्वर में कहा, "कृपया मुझे धमकाने की कोशिश न करें। मैं अपने क़ानूनी अधिकार जानता हूँ और बन्दरघुड़कियों से डरने की मुझे आदत नहीं है।" *(तालियाँ)* वह बैठ गया। "डा." हार्कनेस को यहाँ एक मौक़ा दिखाई दिया। वह इस जगह के दो सबसे अमीर लोगों में से एक था, दूसरा पिंकरटन था। हार्कनेस एक टकसाल का मालिक था; कहने का मतलब वह एक प्रचलित पेटेण्ट दवा का मालिक था। वह एक पार्टी के टिकट पर असेम्बली का चुनाव लड़ रहा था, और पिंकरटन दूसरी के टिकट पर। मुक़ाबला काँटे का था और होड़ तीखी थी, जो दिन-ब-दिन और तीखी होती जा रही थी। दोनों पैसे के लालची थे। दोनों ने हाल ही में एक ख़ास मकसद से काफ़ी ज़मीन ख़रीदी थी। एक नई रेल लाइन बनने वाली थी, और दोनों असेम्बली में पहुँचना चाहते थे ताकि उसे अपनी ज़मीन की ओर मोड़ने में मदद कर सकें। क्या पता एक ही वोट से फ़ैसला हो जाए और क़िस्मत खुल जाए। दाँव बहुत बड़ा था और हार्कनेस एक दुस्साहसी जुआड़ी था। वह अजनबी के क़रीब ही बैठा था। जिस समय एक-दो ईमान के पुतले अपने विरोध और अपीलों से सदन का मनोरंजन कर रहे थे, हार्कनेस अजनबी की ओर झुका और फुसफुसाया,

"बोरी कितने में बेचोगे तुम?"
"चालीस हज़ार डॉलर।"
"मैं तुम्हें बीस दूँगा।"
"नहीं।"
"चलो, तीस ले लो।"
"इसका दाम है चालीस हज़ार डॉलर; एक पेनी भी कम नहीं।"
"ठीक है, मैं दूँगा। मैं कल सुबह दस बजे होटल में आऊँगा। मैं नहीं चाहता कि लोग इसके बारे में जानें; तुमसे अकेले में मिलूँगा।"
"ठीक है।" फिर अजनबी ने खड़े होकर सदन से कहा :
"मुझे देर हो रही है। ऐसा नहीं कि इन महानुभावों के भाषणों में दम नहीं है, या कोई दिलचस्पी नहीं है, या सलीका नहीं है; फिर भी अगर इजाज़त हो तो मैं चलना चाहूँगा। आपने मेरी बात मानकर जो एहसान किया है, उसके लिए मैं तहेदिल से शुक्रिया अदा करता हूँ। सभापति महोदय से मेरा अनुरोध है कि वह कल तक इस बोरी को मेरे लिए सँभाल कर रखें, और पाँच सौ डॉलर के ये तीन नोट मि. रिचर्ड्स को दे दें।" नोट सभापति तक पहुँचा दिए गये।
"नौ बजे मैं बोरी लेने आऊँगा और ग्यारह बजे दस हज़ार में से बाक़ी रक़म मैं खुद मि. रिचर्ड्स को उनके घर पर पहुँचा दूँगा। गुड नाइट।"
फिर दर्शकों को ज़बर्दस्त गुल-गपाड़ा मचाता छोड़ वह धीरे से बाहर निकल गया। ये शोर हुर्रा! और जयजयकार की तरह-तरह की आवाज़ों, "मिकाडो" गीत, कुत्ते की प्रतिक्रिया और इस लयबद्ध नारे से मिलकर बना था; "तुम बु-रे आदमी नहींऽऽऽ होऽऽऽ—आऽऽमीऽऽऽन!

चार

घर पर रिचर्ड्स दम्पति को आधी रात तक लोगों की बधाइयाँ और अभिनन्दन सहने पड़े। उसके बाद वे अकेले रह गये। वे थोड़ा उदास दिख रहे थे और सोच में डूबे चुपचाप बैठे थे। आख़िरकार मैरी ने गहरी साँस लेकर कहा :
"क्या तुम्हें लगता है एडवर्ड, कि दोष हमारा है—हम दोषी हैं?" उसकी नज़र आरोपपत्र जैसे लग रहे मेज़ पर पड़े तीन बड़े-बड़े बैंकनोटों की ओर चली गई। शाम से ही बधाई देने आने वाले लोग इन नोटों को घूर-घूरकर देखते और लगभग श्रद्धापूर्वक हाथों से छूते रहे थे। एडवर्ड ने तुरन्त कोई जवाब नहीं दिया; फिर आह भरी और हिचकिचाते हुए कहा :
"हम—हम इसे रोक नहीं सकते थे, मैरी। ये—ये नियति का खेल है। सब पहले से लिखा होता है।"
मैरी ने नज़र उठाई और उसे एकटक देखती रही, पर वह उससे आँख नहीं मिला सका। फिर मैरी ने कहा :
"मैं सोचती थी कि बधाइयाँ और प्रशंसा हमेशा अच्छी ही लगती हैं। लेकिन—अब मुझे लगता है... एडवर्ड?
"हूँ?"
"क्या तुम बैंक की नौकरी करते रहोगे?"
"न—नहीं।"
"इस्तीफा?"
"सुबह ही—लिखकर भेज दूँगा।"

"यही सबसे ठीक लगता है।"

रिचर्ड्स ने सिर झुकाकर चेहरा हाथों से ढँक लिया और बुदबुदाया :

"इन हाथों से होकर लोगों का अथाह पैसा गुज़रा है, पर मुझे कभी डर नहीं लगा, लेकिन अब—मैरी, मैं बुरी तरह थक गया हूँ, टूट गया हूँ—"

"चलो, सोने चलें।"

सुबह नौ बजे अजनबी बोरी लेने आया और एक बग्घी में इसे होटल ले गया। दस बजे हार्कनेस ने उससे अकेले में मुलाक़ात की। अजनबी ने एक महानगर के बैंक के पाँच 'बेयरर' चेक लिये—चार 1500-1500 डॉलर के, और एक 34,000 डॉलर का। उसने 1500 का एक चेक अपने बटुए में रखा और बाक़ी, कुल 38,500 डॉलर के चेक उसने एक लिफ़ाफ़े में डाले, और हार्कनेस के जाने के बाद एक रुक्का लिखकर साथ रख दिया। ग्यारह बजे वह रिचर्ड्स के घर पहुँचा और दरवाज़े पर दस्तक दी। मिसेज़ रिचर्ड्स ने झिरी से झाँका, फिर जाकर लिफ़ाफ़ा ले आई। अजनबी बिना कुछ कहे गायब हो गया। मिसेज़ रिचर्ड्स लौटी तो उत्तेजित थी और उसके पाँव हल्के से लड़खड़ा रहे थे। उसने हाँफती आवाज़ में कहा :

"मैंने उसे पहचान लिया; बिल्कुल वही था! कल रात ही मुझे लग रहा था कि मैंने उसे पहले कहीं देखा है।"

"यही आदमी बोरी लेकर यहाँ आया था?"

"मुझे लगभग पक्का यक़ीन है।"

"फिर तो स्टीफ़ेन्सन के नाम से ख़त लिखने वाला भी वही था। वही था जिसने अपने फर्जी राज़ के सहारे क़स्बे के हर मानिन्द शहरी को बेच डाला। अब अगर उसने पैसे के बजाय चेक भेजे हैं तो समझो हम भी बिक गए; और हम समझ रहे थे कि हम बच निकले हैं। रात भर के आराम के बाद मुझे फिर से सुकून आने लगा था, लेकिन इस लिफ़ाफ़े को देखकर मेरा जी घबरा रहा है। ये इतना पतला क्यों है; बड़े से बड़े बैंक नोटों में भी 8500 डॉलर की गड्डी इससे कहीं ज़्यादा मोटी दिखनी चाहिए।"

"एडवर्ड, तुम्हें चेक से क्या परेशानी है?"

"स्टीफ़ेन्सन के दस्तख़त वाले चेक! अगर 8500 डॉलर बैंक नोटों में हों तो लेने के लिए मैं तैयार हूँ—क्योंकि इसे तो नियति का लेखा माना जा सकता है, मैरी—लेकिन मुझमें इतनी हिम्मत नहीं है कि उस विनाशकारी नाम के दस्तख़त वाले चेक को भुनाने की कोशिश भी करूँ। ये ज़रूर कोई नया फन्दा होगा। उस आदमी ने हमें फँसाने की कोशिश की; हम किसी तरह बच निकले, और अब वह एक नई चाल चल रहा है। अगर ये चेक हैं—"

"ओह, एडवर्ड, ये तो बहुत बुरा हुआ!" उसने चेक पति की ओर बढ़ाए और रोने लगी।

"उन्हें आग में फेंक दो! जल्दी! हमें लालच का शिकार नहीं बनना है। ये एक चाल है ताकि दुनिया औरों के साथ-साथ हम पर भी हँसे, और—लाओ, तुम नहीं फेंक सकती तो मुझे दो!" उसने चेक झपट लिये और उन्हें ठीक से पकड़ने की कोशिश करते हुए आतिशदान की ओर चला; लेकिन आख़िर वह इन्सान था, और कैशियर था, इसलिए अनजाने ही पल भर ठिठककर उसने दस्तख़त पर नज़र दौड़ाई। फिर वह लगभग ग़श खा गया।

"हवा करो, मैरी, मुझे हवा करो! इनकी क़ीमत सोने से कम नहीं है।"

"ओह, कितनी ख़ुशी की बात है, एडवर्ड! लेकिन कैसे?"

"इस पर हार्कनेस के दस्तख़त हैं। इसमें क्या राज़ हो सकता है, मैरी?"

"एडवर्ड, क्या तुम्हें लगता है—"

"देखो इधर—ये देखो! पन्द्रह-पन्द्रह-पन्द्रह-चौंतीस। अड़तीस हज़ार पाँच सौ! मैरी, बोरी का मोल बारह डॉलर भी नहीं होगा, पर हार्कनेस ने तो इसके बदले सोने की बोरी की क़ीमत चुकाई है।"

"और तुम्हारे ख़्याल से क्या दस हज़ार के बजाय ये सब हमें मिल गया है?"

"क्यों, लगता तो ऐसा ही है। और चेक भी 'बेयरर' हैं।"

"क्या ये अच्छी बात है, एडवर्ड? इससे क्या होगा?"

"मेरे ख़्याल से ये एक संकेत है कि पैसा दूर के किसी बैंक से निकाला जाए। शायद हार्कनेस नहीं चाहता कि इस मामले का औरों को पता चले। ये क्या है—कोई ख़त?"

"हाँ। ये चेकों के साथ ही था।"

ये "स्टीफ़ेन्सन" की लिखावट में था, पर नीचे किसी का नाम नहीं था। इसमें लिखा था :

"मैं एक हारा हुआ इन्सान हूँ। आपकी ईमानदारी लालच से परे है। इसके बारे में मेरा कुछ और ख़्याल था, लेकिन वह ग़लत निकला, और मैं आपसे माफ़ी माँगता हूँ—सच्चे दिल से। मैं आपका सम्मान करता हूँ—सच्चे दिल से। ये शहर इस लायक भी नहीं कि आपकी क़दमबोसी कर सके। प्रिय महोदय, मैंने ख़ुद से शर्त बदी थी कि आपके मग़रूर क़स्बे में उन्नीस ऐसे लोग हैं जिन्हें भ्रष्ट किया जा सकता है। मैं हार गया। सारा माल आपका है, आप इसका हकदार हैं।"

रिचर्ड्स ने गहरी साँस भरी, और कहा :

"ये तेज़ाब से लिखा लगता है—इसका एक-एक शब्द जलता है। मैरी—मैं फिर दुखी हो गया हूँ।"

"मैं भी—आह प्रिय, काश—"

"ज़रा सोचो, मैरी—उसे मुझ पर यक़ीन है।"

"ओह, मत कहो, एडवर्ड—मुझसे सहा नहीं जाता।"

"अगर मैं इन सुन्दर शब्दों का हकदार होता, मैरी—और ईश्वर जानता है कि मैं कभी सोचता था कि मैं इनका हकदार हूँ—तो मुझे लगता है मैं इनके बदले चालीस हज़ार डॉलर छोड़ देता। और काग़ज़ के इस टुकड़े को मैं सोने और जवाहरात से भी बढ़कर बेशक़ीमती ख़ज़ाने के तौर पर हमेशा अपने पास रखता। लेकिन अब—इसकी मौजूदगी ही जैसे हम पर इल्ज़ाम की तरह है; हम इसके साए में नहीं जी सकते, मैरी।"

उसने काग़ज़ आग में डाल दिया।

कोई सन्देशवाहक आकर एक लिफ़ाफ़ा दे गया। रिचर्ड्स ने उसमें से ख़त निकालकर पढ़ा; ये बर्गेस की ओर से था :

'आपने एक मुश्किल समय में मुझे बचाया था। कल रात मैंने आपको बचा लिया। इसके लिए झूठ का सहारा लेना पड़ा, लेकिन मैंने कृतज्ञ हृदय से, बेहिचक ये त्याग किया। इस क़स्बे में मुझसे बढ़कर और कोई नहीं जानता कि आप कितने निडर, भले और उदार इन्सान हैं। दिल से आप मेरा सम्मान नहीं कर सकते क्योंकि आपको उस मामले का पता है जिसका मुझ पर इल्ज़ाम लगाया गया और मेरी भर्त्सना की गई; लेकिन मेरी प्रार्थना है कि कम से कम आप मुझे एक कृतज्ञ व्यक्ति मानें; इससे मेरे दिल का बोझ कुछ हल्का होगा।

(दस्तख़त) **बर्गेस**'

"बच गए, एक बार फिर। लेकिन किस शर्त पर!" उसने ख़त आग में डाल दिया। "मैं—मैं, काश मैं मर जाता, मैरी, काश मैं इस सबमें पड़ा ही न होता।"

"ओह, ये दुखदाई दिन हैं, एडवर्ड। इन वारों के घाव बड़े गहरे हैं—इनकी उदारता ने इन्हें और घातक बना दिया है—और कितने ताबड़तोड़ हुए हैं ये!"

चुनाव के तीन दिन पहले क़स्बे के दो हज़ार मतदाताओं में से हरेक को अचानक एक अनमोल स्मृतिचिह्न मिला—उन प्रसिद्ध जाली सिक्कों में से एक। इसके एक पहलू पर गोल मुहर की शक्ल में ये शब्द अंकित थे : **"मैंने बेचारे अजनबी से कहा था—"** दूसरे पहलू पर ये शब्द थे : **"जाओ, सुधर जाओ। (दस्तख़त) पिंकरटन।"** इस तरह उस कुख्यात प्रहसन का समूचा बचा हुआ कचरा एक शख़्स के सिर पर पटक दिया

गया, और इसका ज़बर्दस्त मारक असर हुआ। इसने क़स्बे की खिल्ली उड़ाने वाले उस नाटक की याद ताज़ा कर दी और उसे पिंकरटन पर केन्द्रित कर दिया; और हार्कनेस बड़ी आसानी से चुनाव जीत गया।

रिचर्ड्स दम्पति को चेक मिलने के चौबीस घण्टे के भीतर उनके ज़मीर में मची खलबली निराश होकर ठण्डी पड़ने लगी थी; वृद्ध दम्पति अपने पाप के साथ जीने की आदत डालना सीख रहे थे। लेकिन अब उन्हें ये भी सीखना था कि जब किसी पाप का भेद खुलने की आशंका हो तो वह नये और वास्तविक भय पैदा करने लगता है। ये इसे एक नया, ज़्यादा संजीदा और महत्त्वपूर्ण आयाम दे देता है। चर्च में सुबह का उपदेश हमेशा जैसा ही था; वही पुरानी बातें उसी पुराने तरीक़े से कही गईं; उन्होंने ये बातें हजारों बार सुनी थीं और उन्हें ये बिल्कुल अहानिकर, लगभग निरर्थक लगी थीं, जो उनकी नींद में ज़रा भी ख़लल नहीं डालती थीं; लेकिन अब सब बदल गया था। पादरी के उपदेश में उन्हें इल्ज़ामों के फनफनाते साँप अपनी ओर लपकते दिखाई दे रहे थे; लगता था सीधे और ख़ास तौर पर उन लोगों की ओर उँगली उठाई जा रही है जिन्होंने अपनी आत्मा में ख़तरनाक पाप छिपा रखे हैं। चर्च से निकलकर उन्होंने बधाई देने वालों की भीड़ से पीछा छुड़ाया और घर की ओर लपके; एक अज्ञात, रहस्यमय, अनिश्चित भय उनकी हड्डियों तक में घुसा जा रहा था। संयोगवश उन्हें एक नुक्कड़ पर मुड़ते हुए बर्गेस की एक झलक मिली। उसने इनके अभिवादन पर ध्यान नहीं दिया! उसने इन्हें देखा ही नहीं था; पर ये इस बात को नहीं जानते थे। उसके बर्ताव का क्या मतलब हो सकता है? इसका मतलब—इसका—मतलब—ओह, इसके कई भयावह अर्थ हो सकते हैं। क्या ये सम्भव था कि वह जानता हो कि बीते समय में रिचर्ड्स उसे इल्ज़ाम से बरी कर सकता था, और अब वह हिसाब बराबर करने के लिए चुपचाप मौक़े का इन्तज़ार कर रहा है? घर पहुँचने पर, परेशानी के आलम में वे ये कल्पना करने लगे कि जब रिचर्ड्स बर्गेस के निर्दोष होने की बात जानने का राज़ अपनी पत्नी को बता रहा था, उस समय उनकी नौकरानी बगल के कमरे में खड़ी सुन रही थी। फिर रिचर्ड्स को लगने लगा कि उसने उसी समय कमरे के बाहर घाघरे की सरसराहट सुनी थी; कुछ देर बाद उसे यक़ीन हो गया कि उसने वह आवाज़ सुनी थी। वे किसी बहाने से सारा को भीतर बुलाते; ये सोचकर कि अगर वह उनके भेद बर्गेस तक पहुँचाती रही है तो उसके हाव-भाव इसकी गवाही दे देंगे। उन्होंने उससे कुछ सवाल पूछे—ये सवाल इतने बेतरतीब, ऊटपटाँग और बेवजह से थे कि लड़की को यक़ीन हो गया कि अचानक मिले पैसों ने बूढ़े-बुढ़िया का दिमाग़ ख़राब कर दिया है। उसके चेहरे पर टिकी उनकी तीखी और तेज़ नज़रों से उसे डर लगता था, और इसने रही-सही कसर पूरी कर दी। वह झेंप जाती, घबराई और चकराई हुई-सी दिखती, और बूढ़े दम्पति को ये अपराधबोध के स्पष्ट लक्षण जान पड़ते—बिला शक वह जासूस और ग़द्दार थी। अकेले होने पर वे तमाम इधर-उधर की बातों के कुलाबे मिलाते रहते थे और अक़सर इस जोड़-गाँठ से डरावने नतीजों पर पहुँच जाते। जब चीज़ें बद से बदतर हो चुकी थीं तभी अचानक रिचर्ड्स के गले से एक घुटी हुई-सी चीख़ निकल पड़ी, और उसकी पत्नी ने पूछा :

"ओह, क्या हुआ?—क्या बात है?"

"वह ख़त—बर्गेस का ख़त! उसकी भाषा में कटाक्ष था, अब मेरी समझ में आया।" उसने ख़त का वह हिस्सा पढ़ा, 'दिल से आप मेरा सम्मान नहीं कर सकते क्योंकि आपको उस मामले का पता है जिसका मुझ पर इल्ज़ाम लगाया गया—' ओह, अब सब बिल्कुल साफ़ हो गया। हे प्रभु, अब तू ही रक्षा कर! वह जानता है कि मैं जानता हूँ! देखो कितनी चतुराई से लिखा है। ये एक फन्दा था—और किसी बेवकूफ़ की तरह मैं आँख मूँदकर उसमें जा फँसा। और मैरी—"

"ओह, ये तो सोचकर ही डर लगता है—मैं जानती हूँ आप क्या कहने जा रहे हैं—उसने झूठे इम्तिहानी जुमले वाला आपका ख़त लौटाया नहीं है।"

"नहीं—उसने हमें बरबाद करने के लिए उसे रख लिया है। मैरी, वह कुछ लोगों के सामने हमारा भाँडा फोड़ भी चुका है। मैं जानता हूँ—मैं अच्छी तरह जानता हूँ। चर्च के बाद कम से कम एक दर्जन चेहरों पर मैंने ये बात पढ़ी। और उसने हमारे अभिवादन का भी जवाब नहीं दिया—उसे मालूम है कि वह क्या करता रहा है!"

रात में डॉक्टर बुलाया गया। सुबह तक ये बात फैल चुकी थी कि बूढ़े दम्पति गम्भीर रूप से बीमार हैं। डॉक्टर ने कहा कि अचानक मिली दौलत की उत्तेजना, बधाइयों और देर रात तक जागने से हुई थकान बीमारी की वजह है। क़स्बे के लोग वाक़ई दुखी और परेशान थे क्योंकि अब ये बूढ़े दम्पति ही तो थे जिन पर वे गर्व कर सकते थे।

दो दिन बाद और बुरी ख़बरें मिलीं। बूढ़े दम्पति सन्निपात में अजीब हरकतें कर रहे थे। नर्सों का कहना था कि रिचर्ड्स ने उन्हें चेक दिखाए थे—8,500 डॉलर के? जी नहीं—38,500 डॉलर की हैरतअंगेज रक़म के! इस ज़बर्दस्त ख़ुशक़िस्मती के पीछे क्या राज़ हो सकता था?

अगले दिन नर्सों के पास नई ख़बर थी—और काफ़ी सनसनीख़ेज़। उन्होंने चेक छिपा देने का फ़ैसला किया था ताकि उन्हें नुकसान न पहुँचे; लेकिन ढूँढ़ने पर पता चला कि अब वे मरीज़ के तकिए के नीचे नहीं थे—गायब हो चुके थे। मरीज़ ने कहा :

"तकिया छोड़ दो; क्या चाहिए तुम्हें?"

"हमने सोचा कि बेहतर हो चेक—"

"वे तुम्हें कभी नज़र नहीं आएँगे—उन्हें नष्ट कर दिया गया है। उन्हें शैतान ने भेजा था। मैंने उन पर दोज़ख़ की मुहर देख ली थी, और मैं जान गया था कि वे मुझे पाप में धकेलने के लिए भेजे गए हैं।" फिर वह अजीबोग़रीब और डरावनी बातें करने लगा जो ठीक से समझ में नहीं आती थीं और जिनके बारे में डॉक्टर की हिदायत थी कि किसी को बताया न जाए।

रिचर्ड्स ठीक कह रहा था; चेक दुबारा कभी नहीं दिखाई दिए।

कोई नर्स ज़रूर नींद में बड़बड़ाई होगी, क्योंकि दो ही दिन में निषिद्ध की गई बकबक के बारे में सारा क़स्बा जान गया; और ये बातें कुछ हैरानी में डालने वाली थीं। इनसे ऐसा लगता था कि रिचर्ड्स ख़ुद भी बोरी के दावेदारों में से एक था, और कि बर्गेस ने ये तथ्य छुपा लिया था और फिर बदनीयती के साथ इसका राज़ फाश कर दिया था।

बर्गेस से ये पूछा गया और उसने पूरी ताक़त से इसका खण्डन किया। और उसने कहा कि दिमाग़ी सन्तुलन खो चुके एक बीमार बूढ़े आदमी की बकबक पर ज़्यादा ध्यान देना ठीक नहीं है। फिर भी, शुबहा तो पैदा हो ही गया और तरह-तरह की बातें चल पड़ीं।

एक-दो दिन बाद ख़बर आई कि सन्निपात में मिसेज़ रिचर्ड्स की बातें उनके पति की बातों की नक़ल जैसी हैं। अब शुबहा यक़ीन में बदलने लगा और बदनामी से बचे अपने एकमात्र मानिन्द शहरी की पवित्रता पर क़स्बे के गर्व की लौ धीमी पड़ते-पड़ते फड़फड़ाकर बुझने के क़रीब पहुँच गई।

छह दिन बीते, फिर और ख़बरें मिलीं। बूढ़े पति-पत्नी मर रहे थे। अन्तिम घड़ी में रिचर्ड्स के दिमाग़ के बादल छँट गए और उसने बर्गेस को बुलवाया। बर्गेस ने कहा :

"कमरा ख़ाली कर दीजिए। मेरे ख़्याल से वह अकेले में कुछ कहना चाहते हैं।"

"नहीं!" रिचर्ड्स ने कहा, "मुझे गवाह चाहिए। मैं आप सबके सामने अपना गुनाह क़ुबूल करना चाहता हूँ, ताकि मैं इन्सान की तरह मरूँ, कुत्ते की तरह नहीं। मैं साफ़-सुथरा था—बाक़ी सबकी तरह—बनावटी तौर पर; और बाक़ी सबकी तरह लालच मिलते ही मैं भी बहक गया। मैंने एक झूठ पर दस्तख़त किए और उस अभागी बोरी को हासिल करने की कोशिश की। मि. बर्गेस को याद था कि मैंने एक बार उनकी मदद की थी, और इस एहसान के चलते (और पूरी बात न जानने के कारण) उन्होंने मेरा दावा छुपा लिया और मुझे बचा लिया। आप जानते ही हैं कि बर्गेस पर कई साल पहले क्या इल्ज़ाम लगा था। मेरी गवाही, सिर्फ़ मेरी गवाही उन्हें बचा सकती थी, लेकिन मैं बुज़दिल था और उन्हें ज़लालत का सामना करने के लिए छोड़ दिया—"

"नहीं—नहीं—मि. रिचर्ड्स, आप—"

"मेरी नौकरानी ने ये राज़ उन्हें बता दिया—"

"मुझे किसी ने कोई राज़ नहीं बताया है—"

"और फिर उन्होंने बिल्कुल स्वाभाविक और उचित काम किया; उन्हें मुझे बचाने पर पछतावा हुआ, और उन्होंने मेरा भाण्डा फोड़ दिया—जिसका मैं पूरी तरह हकदार था—"

"नहीं, बिल्कुल नहीं!— मैं क़सम खाता हूँ—"

"मैं अपने दिल की गहराइयों से उन्हें इसके लिए माफ़ करता हूँ।"

बर्गेस बड़ी शिद्दत से इसका विरोध करता रहा, लेकिन उसकी बात सुनी नहीं गई; मरता हुआ आदमी बिना ये जाने गुज़र गया कि वह एक बार फिर बर्गेस के साथ अन्याय कर गया है। उसकी बीवी उसी रात मर गई।

पवित्र उन्नीस का आख़िरी शख़्स भी शैतानी बोरी का शिकार हो गया था। क़स्बे की प्राचीन प्रतिष्ठा का आख़िरी चिथड़ा भी छिन गया था। इसका शोक प्रकट नहीं था, लेकिन बड़ा गहरा था।

अनुरोधों और लिखित आवेदन के आधार पर असेम्बली ने क़ानून बनाकर हैडलेबर्ग को अपना नाम बदलने की इजाज़त दे दी (ये मत पूछिए कि क्या नाम रखा—मैं बताऊँगा नहीं), और उस आदर्श वाक्य से एक शब्द हटा दिया गया जो कई पीढ़ियों से शहर की सरकारी मुहर पर अंकित था।

अब ये एक बार फिर एक ईमानदार शहर है और अगर कोई दुबारा इसे नींद में पकड़ना चाहे तो उसे ज़रा जल्दी जागना होगा।

अनुवाद : सत्यम

संसार आदिकाल से लक्ष्मी की पूजा करता चला आता है। लेकिन संसार का जितना अकल्याण लक्ष्मी ने किया है, उतना शैतान ने नहीं किया। यह देवी नहीं डायन है। सम्पत्ति ने मनुष्य को क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल सम्पत्ति के संचय में बीत जाती है। मरते दम तक भी हमें यही हसरत रहती है कि हाय, इस सम्पत्ति का क्या हाल होगा। हम सम्पत्ति के लिए जीते हैं, उसी के लिए मरते हैं। हम विद्वान बनते हैं सम्पत्ति के लिए, गेरुए वस्त्र धारण करते हैं सम्पत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यों बेचते हैं? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा-यंत्र क्यों बनाते हैं? वेश्याएँ क्यों बनती हैं, और डाके क्यों पड़ते हैं? इसका एकमात्र कारण सम्पत्ति है। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन नहीं होगा, जब तक सम्पत्ति व्यक्तिवाद का अन्त न होगा, संसार को शान्ति न मिलेगी।

—प्रेमचन्द ('राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता' लेख से)

साहित्य को सर्वहारा वर्ग के सामान्य लक्ष्य का अभिन्न अंग बना देना होगा।

पूँजीवादी तौर-तरीकों, उसकी मुनाफ़ाख़ोरी, पूँजीवादी अख़बारों की व्यावसायिकता, पूँजीवादी साहित्यिक पदलोलुपता और व्यक्तिवाद, "अभिजातवर्गीय अराजकता" तथा मुनाफ़े की दौड़ के विपरीत, समाजवादी सर्वहारा वर्ग को पार्टी साहित्य के सिद्धान्त को आगे बढ़ाना चाहिए और उसे इसी सिद्धान्त, को जिस हद तक सम्भव हो उस हद तक, पूरे तौर से, हर माने में अमली रूप देना चाहिए।

पार्टी साहित्य का यह सिद्धान्त क्या है? इसका मतलब सिर्फ इतना ही नहीं है कि समाजवादी सर्वहारा वर्ग के लिए साहित्य व्यक्तियों अथवा दलों की जेबें भरने का साधन नहीं हो सकता : वास्तव में, सर्वहारा वर्ग के सामान्य लक्ष्य से स्वतंत्र कोई व्यक्तिगत व्यवसाय वह नहीं हो सकता। अपक्षधर लेखकों को धिक्कार है। साहित्यिकों को सर्वहारा वर्ग के सामान्य लक्ष्य का अभिन्न अंग बन जाना चाहिए। सम्पूर्ण मज़दूर वर्ग के राजनीतिक रूप से सचेत पूरे अगले दस्ते द्वारा चालू किये गये अविभाज्य महान सामाजिक-जनवादी यंत्र का उसे 'एक दाँता और एक पेंच" बन जाना चाहिए। साहित्य को सामाजिक-जनवादी पार्टी के संगठित, नियोजित और सम्पूर्ण कार्य का एक अंग बन जाना चाहिए।

एक जर्मन कहावत है कि, "तुलनाएँ सभी लँगड़ी होती हैं।" साहित्य की एक दाँते के साथ, एक जीवित आन्दोलन की एक यंत्र के साथ मैंने जो तुलना की है वह भी ऐसी ही है। और मुझे पूरा यकीन है कि ऐसे बकवासी बुद्धिजीवी भी ज़रूर ही निकलेंगे जो इस तुलना को लेकर खूब हंगामा मचाएँगे और कहेंगे कि यही चीज तो विचारों के उन्मुक्त संघर्ष, आलोचना की स्वतंत्रता, साहित्यिक सृजन की आज़ादी, आदि-आदि की क्रियाओं को पतित कर देती है, उन्हें चेतना-शून्य और जड़ बना देती है, उनमें "नौकरशाहियत ला देती है।" लेकिन वास्तव में इस तरह का शोरगुल पूँजीवादी बौद्धिक व्यक्तिवाद का प्रदर्शन-मात्र होगा। इस बात का तो सवाल ही नहीं उठता कि साहित्यिक को रत्ती भर भी यांत्रिक रूप से समन्वित किया जाये, या साहित्यिक क्षेत्र में अल्पमत के ऊपर बहुमत के शासन को लादा जाए। इस सवाल के बारे में कोई मतभेद नहीं है कि इस क्षेत्र में व्यक्तिगत उपक्रम (पहलकदमी), व्यक्तिगत अभिरुचि, चिन्तन तथा कल्पना के लिए, रूप और तत्व के लिए, असंदिग्ध रूप से और अधिक अवकाश दिया जाना चाहिए। यह सब निर्विवाद है, परन्तु इस सबका मतलब सिर्फ यह होता है कि सर्वहारा पार्टी के लक्ष्य के साहित्यिक पक्ष को उसके अन्य पक्षों के साथ यान्त्रिक रूप से नहीं मिलाया जा सकता। लेकिन इससे इस कथन का—जो कि पूँजीपति और पूँजीवादी जनवाद को ग़ैर और अजनबी लगता है—रत्तीभर भी खण्डन नहीं होता कि साहित्य को हर प्रकार से और अनिवार्य रूप से सामाजिक -जनवादी पार्टी के कार्य का ऐसा तत्व बन जाना चाहिए जो अन्य तत्वों के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हो।

— व्ला० इ० लेनिन

(पार्टी संगठन और पार्टी साहित्य)

परिकल्पना प्रकाशन और राहुल फाउंडेशन
की विस्तृत पुस्तकसूची तथा पुस्तकें मंगाने के लिए सम्पर्क करें :

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
फोन : 0522-2786782 ईमेल : janchetna@rediffmail.com

जनचेतना

के अन्य केन्द्र

जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001
फ़ोन : 0551-2241922

16/6, वाघम्बरी हाउसिंग स्कीम, अल्लापुर, इलाहाबाद, 09415646383

154, शहीद करनैलसिंह नगर,
फ़ेज़-3, पखोवाल रोड, लुधियाना
फ़ोन : 09871143788

दिल्ली : 9213639072, 9910462009, 9891993332

सचल प्रदर्शनी वाहन : 9818651276

सन्दर्श

समकालीन हिन्दी आलोचना : कुछ पद्धतिशास्त्रीय समस्याएँ

रामराज प्रसाद

कला-साहित्य जगत में साहित्य और कला की समालोचना संघर्ष के प्रमुख तरीक़ों में से एक है। —माओ त्से-तुङ

जाने-माने साहित्यकारों से अक़सर यह पूछने की इच्छा होती है कि क्या आपने हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना की दुनिया में कभी एक विद्यार्थी के समान, एक जिज्ञासु "सजल-उर शिष्य" के समान प्रवेश करने की कोशिश की है?—नहीं कर सकते। बड़े लोग बच्चे नहीं बन पाते। गुरु शिष्य नहीं बन पाते। ऐसा अति दुष्कर होता है। पर यदि कभी-कभी ऐसा सम्भव किया जाता तो लाभप्रद होता। यदि एक नवागन्तुक की दृष्टि से देखने की कोशिश की जाए तो परिवेश की अव्यवस्था को जानने-समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

हिन्दी आलोचना के महाभव्य भवन के सिंहद्वार से भीतर प्रवेश करते ही आपको भीषण कोलाहल सुनाई पड़ता है। घास भरे विशाल सूने आँगन और विशाल भव्य सूने बरामदे को पार करने के बाद, "ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य" बनने की इच्छा रखने वाले को एकदम माथा फेर देने वाला दृश्य दीखता है! यहाँ तो एक नहीं, दर्जनों ब्रह्मराक्षस आपस में भीषण युद्ध में उलझे हुए हैं। प्रचण्ड असि-घात से किसी का सिर धड़ से अलग हो जाता है तो किसी की बाँह, लेकिन वे फिर अपनी जगह वापस जुड़ जाते हैं। युद्ध पूर्ववत जारी रहता है क्योंकि ब्रह्मराक्षस की मृत्यु नहीं होती। मुक्ति होती है, जिसका एक मार्ग मुक्तिबोध ने बतलाया है।

हिन्दी की समकालीन मार्क्सवादी आलोचना की दुनिया में घनघोर

अराजकता का साम्राज्य फैला हुआ है। अनुभववाद और अटकलबाज़ी का घटाटोप है। कोई सुनिश्चित पहुँच-पद्धति नहीं। एक ही व्यक्ति आज यहाँ एक स्थापना देता है तो कल वहाँ दूसरी। कुछ ब्रह्मवाक्य-नुमा सूक्तियों को प्रतिमान बनाकर कृतियों-कृतिकारों पर मूल्य-निर्णय दे दिए जाते हैं। आलोचक प्रायः कलाकृति के अन्तर्भूत यथार्थ तक—उसके सारभूत द्वन्द्व तक, पहुँचने की कोशिश करते नहीं दीखते। वे कृति के भीतर के द्वन्द्व-युग्मों को, कृतिकार की चेतना के द्वन्द्वों को, उसके आत्मसंघर्ष को, वस्तुगत जीवन-जगत और उसके कलात्मक पुनर्सृजन के बीच के द्वन्द्वों को विश्लेषित करने के बजाय, रचना का जो प्रभाव उनके ऊपर पड़ता है, उसे ही सुगठित-सुन्दर अभिव्यक्ति देने की कोशिश करते प्रतीत होते हैं। यानी वे विश्लेषक के बजाय सजग-सक्षम पाठक की भूमिका निभाते हैं। यह एक क़िस्म का अनुभववाद ही है, जहाँ एक सुनिश्चित वैज्ञानिक पद्धति के अभाव में आलोचक की मनोगतता, एक सुनिश्चित वर्ग-अवस्थिति से, रचना-विशेष के वस्तुगत मूल्यांकन करने की राह में बाधा बनकर खड़ी हो जाती है। तय है कि आलोचक जब आलोचक की भूमिका में होगा तो उसे पाठक की भूमिका त्यागनी पड़ेगी और दार्शनिक और वैज्ञानिक के निकट-निकट का कोई सन्दर्भ-चौखटा अपने लिए चुनना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त, मुझे लगता है कि समकालीन मार्क्सवादी आलोचना में ज्ञान-मीमांसा (Epistemology) एकदम हाशिए पर धकेल दी गई है और सत्ता-मीमांसा (Ontology) ने मुख्य प्रवृत्ति का स्थान ले लिया है।

यथार्थ के द्वन्द्वात्मक संज्ञान (Cognition) की पद्धति में (चाहे वह जीवन का यथार्थ हो या कला जगत का) आगमनात्मक (Inductive) और निगमनात्मक (Deductive) तर्क-पद्धतियाँ अन्तर्निर्भर और अन्तर्सम्बन्धित होती हैं, लेकिन जब मूलभूत चरित्र और अभिलाक्षणिकताओं पर मूल्य-निर्णय की बात होती है तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आगमनात्मक पद्धति को ही आधारभूत स्थान देता है। लेकिन मेरी तो राय यह बन रही है कि हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना आज मूल्य-निर्णय की निर्णायक मंज़िल पर भी, प्रायः, आगमनात्मक पद्धति पर निगमनात्मक पद्धति को ही वरीयता देती है।

आलोचना-कर्म में हदबन्दी-गुटबन्दी-चकबन्दी-दलबन्दी और व्यक्तिगत आग्रहों-पूर्वाग्रहों का जो बोलबाला है, उस पर तो चुप ही रहना श्रेयस्कर है क्योंकि यह आलोचना की पद्धतिशास्त्रीय समस्या नहीं, बल्कि ईमानदारी-बेईमानी का सवाल है। राजनीतिक प्रतिबद्धता में मतभेद और रचनाकार की ईमानदारी का सवाल होता है, अवश्य होता है, पर इसके लिए एक दृष्टि-सम्पन्न आलोचक को रचनाकार का 'पार्टी-कार्ड' चेक करने, उसका 'बायो-डाटा' पलटने या उसके निजी जीवन की गुप्तचरी की कोई ज़रूरत नहीं होती। वह रचना का विश्लेषण करके निर्णय देने की क्षमता रखता है। और फिर यह मुमकिन है कि अपने राजनीतिक विचारों में कम्युनिज़्म को अस्वीकार करने वाला या किसी संशोधनवादी वाम दल से जुड़ा लेखक भी अपनी रचना में जीवन और समाज का जो द्वन्द्व उपस्थित करता हो उसमें आम जन के जीवन, संघर्ष और स्वप्नों के प्रति उसकी पक्षधरता सामने आए। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि किसी क्रान्तिकारी वामपन्थी संगठन से जुड़े हुए या उसकी राजनीति से जुड़े व्यक्ति की रचना में पाखण्ड हो, नक़ली पक्षधरता हो, यथार्थ का मिथ्याभास हो, या यहाँ तक कि उसकी अन्तर्वस्तु प्रतिक्रियावादी हो। इसे समझने के लिए 'लेजिटिमिस्ट' **बाल्ज़ाक** के महान यथार्थवादी कृतित्व के बारे में **मार्क्स** और **एंगेल्स** के विचारों पर और **लेनिन** के **तोल्स्तोय**-विषयक निबन्धों पर ग़ौर किया जाना चाहिए।

कला-साहित्य में पक्षधरता उतनी ही अनिवार्य सच्चाई है जितनी राजनीति में, चाहे वह सचेतन हो या अचेतन। सर्वहारा का पक्षधर साहित्य बहुत हो सकता है, पर वह समाजवादी यथार्थवादी साहित्य तभी हो सकता है जबकि वह पक्षधरता सचेतन हो। लेकिन इसका मतलब यह कत्तई नहीं हो सकता कि आप रचनाकार के राजनीतिक-सांगठनिक प्रतिबद्धता का पता लगाकर उससे रचना का मूल्य निर्धरित-निगमित करने लगें। यदि हमारे पास द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी आलोचना के औजार हैं तो हम रचना-विशेष के

विश्लेषण-समाहार से मूल्य-निर्णय तक पहुँचेंगे। यही रचना के सार के संज्ञान की सही, आगमनात्मक पद्धति होगी। कूपमण्डूकतापूर्ण और बेईमानी भरी गुटीय आलोचना के विकास में साहित्य के चौधरियों-महन्तों-आचार्यों आदि-आदि के साथ ही सांस्कृतिक संगठनों और पत्रिकाओं (उनके सम्पादकों और उनके इर्द-गिर्द संगठित गुटों) ने भी महत्त्वपूर्ण नकारात्मक भूमिका निभाई है। पुराने आचार्यों के पूर्वाग्रही 'पालिमिक्स' के इतिहास से भला कौन परिचित नहीं है! और उनमें से जो बचे हुए शलाकापुरुष हैं, वे आज भी अपने काम में बदस्तूर लगे हुए हैं। और बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि इनमें भी **नामवर सिंह** सबसे आगे हैं। स्थिति यह है कि आज इनके श्रीमुख से निकली हुई सही बात भी शंकाओं के घेरे में आ जाती है। और परमानन्द श्रीवास्तव जैसे जिन छोटे क़द के आलोचकों को इन्होंने पर्याप्त प्रतिष्ठा दी है, वे आज भी अपनी आत्मा से लोहियावादी, "लघु मानववादी" हैं जिन्होंने पश्चिमी वामपन्थी धारा के अलग-अलग स्कूलों के साहित्य-चिन्तकों से कुछ सूत्र और मुहावरे उधार लेने के अतिरिक्त, मुझे विश्वास है कि, मार्क्सवादी दर्शन और मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का कोई सुव्यवस्थित अध्ययन किया ही नहीं है। इसके बाद की पीढ़ी में अरविन्द त्रिपाठी जैसों की एक पूरी जमात है, जिसकी कला, इतिहास और दर्शन की रंचमात्र भी बुनियादी पढ़ाई नहीं है, और जिनके सारसंग्रहवाद (Eclecticism) की भी औक़ात यही है कि हिन्दी के साहित्यिक-आलोचकीय लेखों को पढ़ते-पढ़ते इनके पास कुछ मूर्खतापूर्ण बातों को धुले-सँवरे ढंग से कहने लायक शैली, मुहावरे और उद्धरण आ गए हैं।

डा. रामविलास शर्मा पर कुछ कहना तो बर्र के छत्ते में हाथ डालना होगा इस समय। वे ऋषि-तुल्य घोषित किए जा चुके हैं। हम रामविलास शर्मा की प्रचण्ड ईमानदारी, पद-पीठ-पुरस्कारों से विमुखता और अध्ययनशीलता के ज़बर्दस्त क़ायल हैं। साहित्येतिहास और भाषा के क्षेत्र में उनके कार्यों का अपना महत्त्व है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उनसे मतभेदों पर बहस उठाई ही न जाए और बहस उठाने वाले की नीयत पर ही सवाल उठाकर उसे कठघरे में खड़ा कर दिया जाए। इसके विपरीत हमारा कहना यह है कि सवाल यदि नामवर सिंह या वीरभारत तलवार भी उठाएँ और उनकी नीयत पर हमें स्पष्ट सन्देह हो, तो भी उठाए गए सवालों के तर्कपूर्ण उत्तर दिए जाने चाहिए न कि सवाल उठाने वाले पर अलग से सवाल उठाना शुरू कर दिया जाना चाहिए और न ही यह किया जाना चाहिए कि शर्माजी की महानता सिद्ध करने के लिए उठाए गए प्रश्नों से कतराकर, उनके अवदानों पर एक निबन्ध लिख दिया जाए। मठों-अखाड़ों के ध्वंस और निर्माण के शोरगुल में साहित्य और इतिहास के बहुत ज़रूरी मसलों पर वस्तुपरक ढंग से कोई बहस चल ही नहीं पा रही है, जिसका हम जैसे नई पीढ़ी के लोग वास्तव में कुछ लाभ उठा सकें। (1) आर्यों के उद्गम-स्थल (2) हिन्दी जाति की अवधारणा (3) वेदों के ऐतिहासिक मूल्यांकन (4) भाषा-प्रश्न (5) नवजागरण की अवधारणा और (6) भारत में पूंजीवादी विकास के काल-निर्धारण के प्रश्न आदि पर रामविलास शर्मा की मान्यताओं पर, चलताऊ लेखों और वाचिक चर्चाओं के अतिरिक्त, विस्तृत सन्दर्भोल्लेख सहित शोधपरक निबन्धों के ज़रिए कई चक्रों की बहस अभी तक संयोजित नहीं की जा सकी है। रामविलास शर्मा की चर्चा आते ही हिन्दी आलोचना का एक सिरा चित्रकूट का घाट बन जाता है जहाँ बस भक्तों की भीड़ और जैकारे हैं। दूसरा सिरा वह है जहाँ "वाचिक परम्परा" वाले परमहंस की मूर्ति-प्रतिष्ठा के लिए उनके भक्तों का द्रविड़ प्राणायाम जारी है। इससे हिन्दी साहित्य की अतुलनीय क्षति हो रही है और वामपन्थी कवियों-लेखकों की नई पीढ़ी की तैयारी का काम बहुत अधिक प्रभावित हो रहा है।

हमारे विचार से सबसे बुनियादी प्रश्न यह है कि रामविलास शर्मा की विश्लेषण-पद्धति की पड़ताल होनी चाहिए। क्या उनकी पद्धति में (चाहे वह साहित्येतिहास के मूल्यांकन-गर्भित प्रश्न हों या मुक्तिबोध की कविता या राहुल के अवदान या यशपाल पर उनकी राय) द्वन्द्वात्मकता के बजाय एकरेखीयता या एकांगी ज़ोर का अधिभूतवादी विचलन मौजूद नहीं है? इस पर खुली, जमकर और लम्बी बातचीत होनी चाहिए। इसी तरह नामवर सिंह की पद्धति का प्रश्न भी है। जबसे वे वाचिक परम्परा के पुरोधा बनकर प्रवचन, तथा मुण्डन-कनछेदन-जनेऊ की तरह विमोचन-प्रवर्तन आदि करने लगे हैं, तबसे वे कहाँ क्या स्थापना दे देंगे, कोई

भरोसा नहीं। पर उनके चिन्तन में वैचारिक अराजकतावाद और सामाजिक जनवादी विभ्रमों तथा पश्चिमी नव्य समीक्षा से लेकर "नववाम" तक का संश्लेषण पहले भी मौजूद रहा है। उनके "लिखित" साहित्य में भी निष्पत्तियों-परिणतियों के बीच व्याघात के अनेक संस्तर मौजूद हैं। इन अर्थ-सन्दर्भों में, कुछ प्रारम्भिक महत्त्वपूर्ण अवदानों के बाद, नामवर सिंह ने हिन्दी आलोचना को लगातार पर्याप्त नुकसान पहुँचाया है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े हुए और प्रगतिशील लेखक संघ के आलोचक और लेखक गण लम्बे समय तक **'कविता के नये प्रतिमान'** को प्रतिमान बनाकर उसका परचम लहराते रहे। दो दशक बाद 1989 में इलाहाबाद में 'कविता के नये प्रतिमान' पर पुनर्विचार करते हुए नामवर सिंह ने यह स्वीकार किया कि *"कविता के नये प्रतिमान का' रूपवाद यह है कि उसमें रूपवाद की आलोचना भी रूपवादी ढंग से की गई है, ऐतिहासिक आधार पर नहीं।"* नामवर सिंह ने पश्चिमी 'नई समीक्षा' के विचारधारा-निषेध का निषेध करते हुए उसी के तर्कतंत्र के गुंजलक में उलझकर मार्क्सवादी ऐतिहासिक द्वन्द्व की पद्धति का भी निषेध किया और फिर इसे बीस वर्षों बाद महसूस किया। 'कविता के नये प्रतिमान' से प्रत्यक्षतः-परोक्षतः अपना काव्य-सिद्धान्त और समीक्षा-सिद्धान्त निगमित करने वाले लोग तब अकबकाकर ताक़ते रह गये।

इधर तमाम क़िस्म के "उत्तर"-वादों, प्राच्यवाद और "नववाम" की धकापेल में पश्चिम से आयातित नये-नये सामाजिक सिद्धान्तों का जो कोहराम कला-साहित्य की दुनिया में मचा हुआ है, उसके प्रभाव में अचानक यहाँ भी मार्क्सवादी-गण का ध्यान मानो सहसा, कला-साहित्य के "समाजशास्त्रीय अध्ययन" की ओर गया है! कला-साहित्य की मार्क्सवादी आलोचना अपनी मूल अवधारणा में ही सामाजिक अध्ययन (सामाजिक परिघटनाओं-प्रवृत्तियों-संस्थाओं और विकास की दिशा के साथ कला-साहित्य के अन्तर्सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में, तथा, अन्तरअनुशासनिक अध्ययन के रूप में भी) के पहलू को लिये हुए होती है। वह केवल कला-मीमांसा या सौन्दर्य-मीमांसा तक सिमटी हुई क़तई नहीं होती। कलाकृति के आन्तरिक द्वन्द्वों के साथ ही हमें देश-काल के सामाजिक यथार्थ के साथ उसके द्वन्द्व का (और उक्त सामाजिक यथार्थ के आन्तरिक द्वन्द्वों का भी) भी अध्ययन करना होता है। कला-साहित्य का सामाजिक अध्ययन अपने आप में एक अलग अनुशासन है। अतीत में मार्क्सवादी आलोचना में "समाजशास्त्रीय अध्ययन" शब्दावली का इस्तेमाल ढीले-ढाले तौर पर ही हुआ है। मार्क्सवादी दर्शन का जब हम समाज के आर्थिक सम्बन्धों और सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं के अध्ययन में इस्तेमाल करते हैं तो वह स्वयं समाज का "शास्त्र" बन जाता है। हमें याद रखना चाहिए कि समाजशास्त्र का प्रवर्तक उन्नीसवीं शताब्दी का प्रत्यक्षवादी (Positivist) दार्शनिक **ओग्यूस्त कोम्त** था और उसके समाजशास्त्रीय मत का एक मुख्य विचार यह भी था कि क्रान्तिकारी साधनों से बुर्जुआ प्रणाली को बदलने का प्रयत्न करना निरर्थक है। यह भी स्मरणीय है कि अमेरिका और इंग्लैण्ड के बुर्जुआ अकादमीशियनों ने बीसवीं सदी में समाजशास्त्र को व्यवस्थित-बहुप्रचारित ढंग से मार्क्सवाद की काट के रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की थी। इधर जब फिर **'सोशल थ्योरी'** का बुखार चढ़ा है तो एक ओर **'सन्धान'** पत्रिका के सामाजिक जनवादी, नववामपन्थी तो दूसरी ओर **मैनेजर पाण्डेय** जैसे ज़िम्मेदार मार्क्सवादी आलोचक भी मार्क्सवादी आलोचना में "समाजशास्त्रीय अध्ययन" पर विशेष ज़ोर देने लगे हैं। नामवर सिंह की प्रतिक्रिया एकदम दूसरी ही है। साहित्य में 'सोशल थ्योरी' पर बल देने का विरोध वे एक ऐसी पोज़ीशन लेकर करते हैं जो प्राचीन रस-सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्यों के आसन के काफ़ी निकट है। मार्क्सवादी सिद्धान्त को विस्थापित करते हुए पश्चिम के बुर्जुआ रैडिकल और नववामपन्थी 'सोशल थ्योरी' की बात करते हैं, तो दूसरी ओर नामवर सिंह (हाल ही में अपने एक व्याख्यान में) यह स्थापना दे देते हैं कि 'थ्योरी' ने साहित्य का और पाठक का हाल के दिनों में काफ़ी नुकसान किया है! वे साहित्य में सिद्धान्त के स्थान को ही नकारने लगते हैं और यह स्थापना देने लगते हैं कि 'थ्योरी' ने साहित्य के आस्वाद में बाधाएँ पैदा की हैं और पाठक का बहुत नुकसान किया है। शायद बीस वर्षों बाद फिर नामवर सिंह सिंहावलोकन करते हुए कह दें कि उन्होंने 'सिद्धान्तहीनता के सिद्धान्त' की ज़मीन पर खड़े होकर ग़लत सिद्धान्त का विरोध किया था, पर आज तो विमर्श में विभ्रम पैदा करने का काम वे कर ही चुके हैं।

इन मुद्दों पर अलग से गम्भीर बहस की ज़रूरत है। यहाँ हम इनकी चर्चा महज़ उदाहरण के तौर पर कर रहे हैं। हमारा विचार है कि इन विभ्रमों-विवादों के मूल में जो चीज़ है, वह है पद्धति-दोष। हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों की पद्धति सांगोपांग द्वन्द्वात्मक नहीं है। भरपूर संकोच और भय के बावजूद, अपना यह सन्देह प्रकट करने से मैं स्वयं को रोक नहीं पा रहा हूँ कि हिन्दी के अधिकांश मार्क्सवादी आलोचकों ने मार्क्सवादी दर्शन की क्लासिकी कृतियों का अध्ययन करते रहने की आदत शायद छोड़ दी है। और अरविन्द त्रिपाठी जैसे बहुतेरे युवा आलोचकों के बारे में तो मुझे विश्वास है कि उन्होंने मार्क्सवाद का अध्ययन किया ही नहीं है।

मार्क्सवादी आलोचना और सौन्दर्यशास्त्र की देशी-विदेशी सैद्धान्तिक पुस्तकों को पढ़ने से या व्यावहारिक आलोचना के लेख पढ़ते-पढ़ते कोई मार्क्सवादी आलोचक क़तई नहीं बन सकता। यह सीखने का नितान्त भोंड़ा अनुभववादी तरीक़ा होगा। यह विचार ही अत्यन्त कूपमण्डूकतापूर्ण है कि मार्क्सवादी दर्शन का अध्ययन केवल राजनीति के क्षेत्र में काम करने वालों के लिए ज़रूरी है। आलोचना और सौन्दर्यशास्त्र की सैद्धान्तिक कृतियाँ भी अनुशासन-विशेष के सीमान्त में विश्व-दृष्टि विशेष और पद्धतिशास्त्र विशेष का व्यवहृत रूप ही होती हैं। इन्हें पढ़कर आलोचक बनने की समझ एक व्यवहारवादी समझ है। मार्क्सवादी आलोचना की व्यावहारिक कृतियों को पढ़ते-पढ़ते मार्क्सवादी आलोचक बन जाने की सोच तो और अधिक कूपमण्डूकतापूर्ण है। यहाँ-वहाँ से कुछ तर्क, कुछ मुहावरे और कुछ मॉडल लेकर हम द्वन्द्वात्मक विश्लेषण के सही उपकरण नहीं विकसित कर सकते। हमें दर्शन की चौहद्दी में घुसना ही होगा। पहले जानें तो प्रत्ययवादी और भौतिकवादी विश्वदृष्टि के बीच का तथा अधिभूतवादी और द्वन्द्ववादी पद्धतिशास्त्र के बीच का फ़र्क़ क्या है तथा द्वन्द्ववादी उपकरण से इतिहास, समाज, प्रकृति और मानवीय सारतत्त्व का विश्लेषण किस प्रकार किया जाता है। उसके बाद ही कला में इसके व्यवहृत रूप को तफ़सील से जानना उपयोगी सिद्ध हो सकेगा।

आलोचकों की वैचारिक क्षमता की कमी के ही कारण, आज आलोचना और समीक्षा (Review) के बीच का फ़र्क़ मिट-सा गया है या महज़ आकार का फ़र्क़ रह गया है। स्थिति यह है कि दर्जन भर पुस्तक-समीक्षाओं को संकलित कर दो, बस, आलोचना की एक नई पुस्तक तैयार! यह भी ख़ूब देखने में आता है कि विश्लेषण-क्षमता से रहित आलोचक कृति के बारे में लिखते हुए, ख़ूब कलात्मक आलंकारिक भाषा में, काव्यात्मक बिम्बों और रूपकों का इस्तेमाल करते हुए और कभी-कभी कविता की आलोचना में सिनेमा या संगीत की तकनीकी शब्दावली के चौंकाऊ इस्तेमाल की 'ट्रिकबाज़ी' करते हुए ख़ूब आलोचनाएँ लिख रहे हैं। यथा, "... फ़लाँ की कविता तरल जलरंगों से रचित पारभासी स्वप्निल चित्र जैसी है, जहाँ सुदूर स्मृतियों की अनुगूँजें हैं, एक सांगीतिक लय है जो अलग-अलग रागों या मेलोडी में ढलकर आती है, अक़सर 'पॉलीफोनिक' होती है और हर बार जब आती है तो अलग आघात की जाति, अलग वज़न के साथ और यही नयापन फ़लाँ की कविता की विशिष्टता है और ख़ास बात है कि उनकी अपनी एक ख़ास रंग-गन्ध वाली अपनी लोकधर्मिता है..." वग़ैरह-वग़ैरह। यह आलोचना नहीं, एक भाषाई छल है, एक माया है। इसी का एक दूसरा छोर है जहाँ भाषाई संरचना के भीतर ही अन्तर्वस्तु को खोजने की कोशिश होती है या फिर देश-काल से पूर्णतः विच्छिन्न, पाठ के विखण्डन द्वारा ही मनमाने अर्थ के सन्धान की कोशिश की जाती है। उत्तर-आधुनिकतावादी ही नहीं, आज इस तकनीक का इस्तेमाल घोषित मार्क्सवादी भी ख़ूब कर रहे हैं। आलोचना की विधा को कविता या ललित निबन्ध या गद्यगीत के निकट ले जाने की कोशिश भी वही करते हैं जो या तो कृति-विशेष के बारे में स्पष्ट विश्लेषण करना ही नहीं चाहते या फिर जिनकी विश्लेषण करने की क्षमता ही नहीं है। आलोचना को कविता-कहानी जैसी रचनात्मक लेखन-विधा के निकट ले जाना या उन जैसी ही एक विधा बनाने-बताने की कोशिश करना, आलोचना की वैज्ञानिकता का तो निषेध है ही, इसकी रचनात्मकता का भी निषेध है।

कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में आलोचना की विधा की दर्शन से और सामाजिक विज्ञान के अन्य अनुशासनों से सर्वाधिक निकटता होती है। यह निकटता काफ़ी प्रत्यक्ष और सचेत क़िस्म की भी होती है। समाज के आर्थिक आधार और सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं-विचारों का अध्ययन-विश्लेषण करने वाले अन्य अनुशासनों से इसकी विश्लेषण-पद्धति की भिन्नता का कारण, इस तथ्य में निहित होता है कि आलोचना भौतिक-आत्मिक जीवन के कलात्मक पुनर्सृजन से प्रादुर्भूत कृति का विश्लेषण-मूल्यांकन-समाहार करती है। राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति का जिस तरह इस्तेमाल होता है, हूबहू वैसा ही कला की दुनिया में नहीं हो सकता। माल, मुद्रा, बाज़ार, अतिरिक्त मूल्य के विनियोजन जैसी चीज़ों के विश्लेषण में लगभग-लगभग प्रकृति-विज्ञान जैसा जो ठोसपन-सटीकपन होता है, वैसा ही बिम्बों-रूपकों के विश्लेषण में, कला-मीमांसा और सौन्दर्य-मीमांसा में, नहीं हो सकता। लेकिन यह भिन्नता अनुप्रयोग की है जो विषय-वस्तु की विशिष्ट प्रकृति से उत्पन्न हुई है। इन अर्थों में दर्शन से, या एक ऐतिहासिक चेतना की निरन्तरता के रूप में विचारधारा से, आलोचना की सापेक्षतः अधिक प्रत्यक्ष निकटता है क्योंकि यह सांस्कृतिक-कलात्मक वस्तुगत यथार्थ की पड़ताल करती है, उस मानवीय सारतत्त्व की पड़ताल करती है जिसके भीतर समूचे इतिहास की सभ्यतागत उपलब्धि अपकर्षित (अमूर्तित) निचोड़ के रूप में मौजूद है—विचारों के घनत्व और भावनात्मक संवेग के संश्लेषण के रूप में मौजूद है। इसी कारण से साहित्यालोचन की भाषा में, अभिव्यक्ति में, एक हद तक की अमूर्तता और तरलता आ ही जाती है और यही इसकी रचनात्मकता है। यह आलोचना की वैज्ञानिकता का पक्ष है कि उसका मूल्य-निर्णय कितना स्पष्ट है और रचना के विविध स्तरों के अन्तरविरोधों/व्याघातों/द्वन्द्वों को उद्‌घाटित करने का काम वह कितने कुशल ढंग से करती है, रचनाकार के मनोजगत के द्वन्द्वों के साथ, रचना की वस्तुगत सामाजिक पृष्ठभूमि के द्वन्द्वों के साथ तथा पाठक के देश-काल के द्वन्द्वों के साथ वह रचना के द्वन्द्वों के सम्बन्धों को किस तरह से निरूपित करती है।

हर पाठक का अपना एक आलोचनात्मक विवेक होता है, लेकिन सजग से सजग पाठक का आलोचनात्मक विवेक आलोचना के उपकरण का स्थानापन्न नहीं हो सकता। इसी तरह, रचनात्मक लेखन में व्यापक अनुभवों के सामान्ईकरण से भी, कभी-कभी प्रतिभाशाली लेखक अच्छी कृतियों की रचना कर डालते हैं, जबकि कला और समाज की उनकी समझ वैज्ञानिक नहीं होती। आलोचना में ऐसा नहीं हो सकता। यह विशेष सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ("तकनीकी") शिक्षण-प्रशिक्षण की माँग करता है।

कलात्मक सृजन जब एक स्वतंत्र वस्तुगत सत्ता बन जाता है तो वहाँ भी सार (Essence) और प्रतीति (Appearance) का द्वन्द्व सामने आता है। जैसा कि **मार्क्स** ने कहा था, *"... यदि वस्तुओं का सार तथा उनकी प्रतीति समरूप होते तो सारा विज्ञान व्यर्थ होता।"* कलात्मक सृजन के सार का संज्ञान हम विज्ञान के द्वारा ही कर सकते हैं और यह आलोचना ही है जो इस विज्ञान की भूमिका निभाती है। प्रकृति और समाज की वस्तुगत सत्ताओं की ही भाँति कला जगत में भी वस्तुगत यथार्थ (कलाकृति विशेष) के सार का संज्ञान अपकर्षित (abstract) चिन्तन द्वारा जाँच की जाने वाली प्रक्रिया के सिद्धान्त की निर्मिति के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है। पर्यवेक्षण की लम्बी और सतत् प्रक्रिया से प्राप्त तथ्यों के सामान्यीकरण से वस्तुओं के निर्धारक तत्त्वों की तथा उनके उद्‌भव और विकास के नियमों की खोज, प्रतीतियों के वर्णन से स्पष्टीकरण की मंज़िल में या वस्तुओं के अस्तित्व के कारणों और आधारों की खोज की मंज़िल में संक्रमण, आनुभविक स्तर से सैद्धान्तिक स्तर पर अथवा बोध से धारणा के स्तर पर गुणात्मक छलाँग तथा वस्तुओं के गठन और पुनरुत्पादन की प्रविधियों का उद्‌घाटन और इस तरह से अपनी स्थापनाओं का सत्यापन—बहुत थोड़े में, यही संज्ञान का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त है, जिसे कलात्मक-साहित्यिक यथार्थ पर भी लागू करना होता है। इसके बिना हमारी दृष्टि अनुभववादी और पद्धति सारसंग्रहवादी अथवा

रूपवादी बनी रहेगी। हम प्रतीति के पर्यवेक्षणों को ही सैद्धान्तिक निष्पत्तियों के रूप में प्रस्तुत करते रहेंगे और प्रगतिशीलता के मुहावरों में परोसी जाने वाली कलावादी-रूपवादी या भोंड़ी यथार्थवादी-प्रकृतवादी कलाकृति के बारे में सही मूल्य-निर्णय नहीं दे सकेंगे।

आलोचना कलाकृति के वैज्ञानिक विश्लेषण का अनुशासन है और दर्शन के अध्ययन के बिना आलोचना-कर्म सम्भव ही नहीं है, क्योंकि पद्धतिशास्त्र को समझे बिना आकलन-समाहार का काम नहीं किया जा सकता। साथ ही, पदार्थगत जगत की ही भाँति, कला की दुनिया में भी, संज्ञान का कार्यभार महज़ सार को उजागर करना ही नहीं है। वह पहले से स्थापित नियमों और उनके अमल के क्षेत्रों को विस्तारित करने, अन्य नियमों के साथ उनके अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करने तथा उनके सत्यापन का भी काम करता है। कलाकृति विशेष के परिघटनात्मक संस्तरों से क्रमशः अधिक गहन संरचनात्मक संस्तरों के संज्ञान की ओर यात्रा जारी रहती है (पूर्ववर्ती मंज़िल का संरचनात्मक संस्तर अग्रवर्ती मंज़िल का परिघटनात्मक संस्तर बन जाता है) और इस प्रक्रिया में हम अधिक सामान्य (general) सम्बन्धों की प्रणाली से परिचित होते जाते हैं। इस तरह कलाकृतियों के वैज्ञानिक अध्ययन की गतिकी हमें कला-विधाओं और समग्र कलात्मक-सांस्कृतिक अधिरचना के बारे में भी नये-नये सामान्य नियमों-सिद्धान्तों के प्रतिपादन की दिशा में प्रवृत्त करती है। इस प्रक्रिया में आगमनात्मकता की मूल वृत्ति और इसकी आन्तरिक गतिशीलता स्वयंसिद्ध है।

हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना में अनुभववादी, प्रत्यक्षवादी और सारसंग्रहवादी प्रवृत्तियों का जो बोलबाला है, उसका मूल कारण पद्धतिशास्त्र-विषयक अज्ञान ही है। **लेनिन** ने इस बात पर विशेष ज़ोर दिया था कि सर्वहारा आन्दोलन की नेतृत्वकारी कतारों को द्वन्द्ववादी पद्धति की गहरी समझ के लिए **हेगेल** की कृतियाँ, विशेषकर **'तर्क का विज्ञान'** (Science of Logic), अवश्य ही पढ़नी चाहिए। कला-साहित्य के क्षेत्र में काम करने वालों के लिए इतना जोड़ देना काफ़ी है कि उन्हें हेगेल की एक अन्य पुस्तक 'सौन्दर्यशास्त्र पर भाषण' (Lectures on Aesthetics) का भी अध्ययन अवश्य करना चाहिए। हेगेल वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने ऐतिहासिक विकास और अन्तरविरोधों के सिद्धान्त को सौन्दर्यपरक क्रियाकलाप के क्षेत्र में लागू किया और पूँजीवादी उत्पादन की अन्तरविरोधपूर्ण प्रकृति के साथ सौन्दर्यपरक क्रियाकलाप की तुलना करने तथा सौन्दर्यपरकता के सार को समझने के लिए श्रम का महत्त्व उजागर करने में सफल रहे। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र और आलोचना के क्षेत्र में **मार्क्स-एंगेल्स** के स्फुट चिन्तन से लेकर **प्लेखानोव, लेनिन, लुनाचार्स्की, गोर्की, वोरोव्स्की, वोरोन्स्की, ग्राम्शी, ब्रेष्ट, राल्फ फाक्स, काडवेल** आदि का लेखन और **माओ** के येनान कला-साहित्य गोष्ठी में दिए गए भाषण तक—विशद क्लासिकी सामग्री मौजूद है। मेरा ख़्याल है कि नववाम के विभिन्न स्कूलों का अध्ययन अवश्य किया जाना चाहिए लेकिन इससे पहले उपरोक्त क्लासिकी सामग्री का अध्ययन करना चाहिए क्योंकि, अकादमिक कार्यों की उपेक्षा न करते हुए भी, मार्क्सवादी दृष्टि प्राथमिकता उन सैद्धान्तिक कार्यों को देती है जो ऐतिहासिक सामाजिक प्रयोगों से जुड़े हुए थे या निकटतर सम्बन्ध रखते थे। लेकिन मेरा कहना यह है (और मेरी यह दृढ़ मान्यता है) कि साहित्यालोचन के क्षेत्र में काम करने वालों के लिए सबसे पहले दर्शन का अध्ययन ज़रूरी है ताकि वे सुसंगत भौतिकवादी इतिहास-बोध से लैस हों और कला-साहित्य विषयक मान्यताएँ प्रतिपादित करते हुए अथवा कलाकृति-विशेष के बारे में मूल्य-निर्णय देते हुए वे द्वन्द्ववादी विश्लेषण-पद्धति का इस्तेमाल दक्षता के साथ कर सकें।

यह कहने में थोड़ा संकोच तो हो रहा है, पर मजबूरन कहना पड़ रहा है कि अधकचरे कूपमण्डूकों की तो बात ही छोड़ दें, अपने लेखों में **वाल्टर बेंजामिन, अदोर्नो, हैबरमास, अल्थूसर, लूकाच,** आदि-आदि के उद्धरण बात-बात में चेंपते रहने वाले शिखर-पुरुषों ने भी **'ग्रुंड्रिस्से', 'पवित्र परिवार', 'प्रकृति की द्वन्द्वात्मकता', 'लुडविग फायरबाख और क्लासिकीय जर्मन दर्शन का अन्त'** (मार्क्स-एंगेल्स), **'भौतिकवाद और इन्द्रियानुभविक आलोचना', 'हेगेल की कृति 'तर्क का विज्ञान' का विषय-सारांश', "द्वन्द्ववाद के प्रश्न के सम्बन्ध में'** (लेनिन) तथा **'अन्तरविरोध के बारे में', 'व्यवहार के बारे में', 'जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में', 'सही विचार कहाँ से आते हैं'** और **"द्वन्द्ववाद के बीस उदाहरण'** (माओ

त्से-तुङ) का किस हद तक अध्ययन किया है, किया भी है या नहीं, या कबसे नहीं किया है—ये विवादस्पद प्रश्न हैं। द्वन्द्ववादी पद्धति की बुनियादी शिक्षा के अभाव में हिन्दी आलोचना के विद्वत-समाज में नववामपन्थ की विविध विचार-सरणियों को भी बिना समझे-बूझे या सन्दर्भों से काटकर, प्रायः इतने अनर्थकारी ढंग से उद्धृत किया जाता है कि सिर पीट लेने को जी चाहता है।

जब हम किसी कला-कृति विशेष के सार के संज्ञान की दृष्टि से उसका आलोचनात्मक अध्ययन कर रहे होते हैं तो वस्तुतः हम उस कलाकृति की प्रतीति और सार के द्वन्द्व का, परिघटनात्मक और संरचनात्मक धरातल के द्वन्द्व का अध्ययन कर रहे होते हैं। कृति की अन्तर्वस्तु और रूप के द्वन्द्व का अध्ययन हमें कई धरातलों और संस्तरों पर करना होता है। *"एक को दो में बाँटने"* की द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग हमें कला-रूप या भाषिक-संरचना के स्तर पर भी करना होता है और कृति-विशेष की अन्तर्वस्तु या विषय-वस्तु या कथ्य के स्तर पर भी करना होता है। इस प्रक्रिया में कृति के सरंचनात्मक अन्तस्तल में पैठते हुए हम नये-नये द्वन्द्व-युग्मों और उनके आन्तरिक संघातों का अन्वेषण करते हैं, प्रमुख द्वन्द्व-युग्मों को अलग छाँटते हैं, उनके मुख्य पहलू की पड़ताल करते हैं और मूल्य-निर्णय की दिशा में हमारा विश्लेषण क़दम-ब-क़दम आगे बढ़ता जाता है।

परावर्तन का ज्ञान-मीमांसीय संज्ञान सिद्धान्त चेतना के धरातल पर संघटित परावर्तन की क्रिया को बाह्य जगत का निर्जीव "छाया-चित्रण" नहीं मानता, बल्कि उसे संवेदी और बौद्धिक संज्ञान, मानसिक और व्यावहारिक कार्यकलाप की अन्योन्यक्रिया की संश्लिष्ट-द्वन्द्वपूर्ण प्रक्रिया मानता है, ऐसी प्रक्रिया मानता है जिसमें मनुष्य सिर्फ़ निष्क्रिय ढंग से बाह्य जगत से अनुकूलित ही नहीं होता, बल्कि उसे प्रभावित भी करता है, अपने उद्देश्यों के अधीन भी करता है। चेतना के परावर्तनात्मक प्रकार्य की सही समझ के आधार पर ही इस बात को सही ढंग से समझा जा सकता है कि कलाकृति-विशेष के अन्तर्निहित द्वन्द्वों में, उस कृति में उपस्थित किए गए देश-काल के द्वन्द्व किस प्रकार अभिव्यक्त होते हैं और इसमें कृतिकार की चेतना के द्वन्द्व और उसके देश-काल के द्वन्द्व किस रूप में पुनर्सृजित होकर सामने आते हैं।

अतिशयोक्ति के आरोप का जोखिम उठाकर भी कहा जा सकता है कि **मुक्तिबोध** हिन्दी के सर्वाधिक सुसंगत द्वन्द्ववादी आलोचक थे (और आज भी हैं)। द्वन्द्वात्मक विश्लेषण-पद्धति का जो उन्नत प्रतिदर्श मुक्तिबोध ने निर्मित किया, उसका अतिक्रमण आज तक नहीं किया जा सका है। यह उल्लेखनीय है कि मुक्तिबोध ने ग्राम्शी, लूकाच, अदोर्नो, वाल्टर बेंजामिन आदि का अध्ययन किया हो, इसका कोई हवाला नहीं मिलता। हाँ, इतना ज़रूर लग जाता है कि मार्क्सवादी दर्शन की क्लासिकी कृतियों का अवश्य ही उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। यदि किसी पुस्तक को हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना के प्रकाश-स्तम्भ या शिखर-कृति का स्थान दिया जा सकता है तो निस्सन्देह वह **'कामायनी : एक पुनर्विचार'** ही हो सकती है।

"हमारा जीवन त्रिकोणात्मक है। उसकी एक भुजा हमारे बाह्य जगत, यानी मानव सम्बन्धों के विशिष्ट क्षेत्र अर्थात वर्ग जगत, और उस जगत के विविध जीवन-मूल्यों और आदर्शों के बीच से होती हुई, उस छोर तक पहुँच जाती है, जिसे हम देश और जाति की राजनीतिक-सामाजिक स्थिति कह सकते हैं; कि जो स्थिति मानवेतिहास के विकास के एक विशेष स्तर और विशेष अवस्था का नाम है। इस त्रिकोण की दूसरी भुजा हमारा वह अन्तरंग जीवन है कि जो अन्तर्जीवन बाल्यकाल से ही बाह्य को, बाह्य की क्रियाओं और रूपों को आत्मसात करता हुआ, उस बाह्य के विरुद्ध या अनुकूल प्रतिक्रियाएँ करता हुआ, उन प्रतिक्रियाओं के विभिन्न संवेदनात्मक पुंज बनाता हुआ, और उन पुंजों के सहारे जीवन-ज्ञान का विकास करता हुआ, और उस जीवन ज्ञान के सहारे स्वयं को बाह्य से मिलाने और बाह्य को अपने से मिलाने—अर्थात उस बाह्य के साथ स्वयं को द्वन्द्व रूप में या सामंजस्य रूप में अथवा इन दो स्थितियों के संगत-असंगत

सम्मिलित रूप में स्थापित करने, बाह्य की काट-छाँट कर उसे अपने अनुकूल बनाने या स्वयं ही काट-छाँट कर अपने को उसके अनुसार बनाने—का प्रयत्न करता रहता है। अन्तर्निहित इच्छाएँ जो मूलतः आत्मरक्षा और आत्मविकास की बुनियादी वृत्तियों से संचलित और परिचलित होती रहती हैं, उनकी तृप्ति के, तथा बाह्य से सामंजस्य की स्थापना के, द्विविध किन्तु एकीभूत प्रयत्न, मनुष्य स्वभाव ही का धर्म है। मनुष्य के अन्तर्जीवन का इतिहास बाह्य द्वारा दिए गए तत्त्वों से बना हुआ होता है।

"मनुष्य के हृदय में संचित जो अनुभव होते हैं उनका एक पक्ष आभ्यन्तर और दूसरा पक्ष बाह्यगत होता है। अनुभव में जो प्रवृत्ति परिलक्षित होती है वह अनुभव का आत्मपक्ष है। अनुभव के अन्तर्गत जो बिम्ब, भाव अथवा विचार प्रस्तुत होते हैं, वे वाह्य के ही सम्पादित-संशोधित रूप हैं।"

"हमारे जीवन के इस त्रिभुज की आधार-रेखा हमारी अपनी चेतना है, कि जो चेतना उपर्युक्त दो भुजाओं के बिना अपना स्वरूप और आकार ही स्थापित नहीं कर सकती। उन दो में से यदि एक भी लुप्त हो तो चेतना का कोई अर्थ ही नहीं रहता। हमारा अन्तर्जीवन और उसका क्रम अपने बाह्य परिवेश और परिस्थिति से आवयविक सम्बन्ध रखता है, और दोनों—अन्तर तथा बाह्य—अंगांगिभाव से एकीभूत होकर हमारा जीवन बनाते हैं।"

इन्हीं स्मारकीय पंक्तियों से 'कामायनीः एक पुनर्विचार' की शुरुआत होती है और इस लम्बे उद्धरण को यहाँ देने के पीछे हमारा मन्तव्य यह दर्शाना है कि मुक्तिबोध ने बाह्य जगत से अन्तर्जगत के द्वन्द्वात्मक अन्तर्सम्बन्धों को कितने सटीक ढंग से अभिव्यक्त किया था। वर्ग संघर्ष, आत्म संघर्ष और चेतना के संघर्ष के इसी त्रिभुज को समझकर मुक्तिबोध के समग्र कृतित्व के केन्द्रीय पद—आत्मसंघर्ष को सही ढंग से समझा जा सकता है चाहे वह नई कविता का आत्मसंघर्ष को, या फिर एक जनपक्षधर सर्जक का। जनपक्ष की अवस्थिति से वस्तुगत यथार्थ के आत्मसात्करण के संघर्ष, जीवन-दृष्टि के विकास के संघर्ष और अभिव्यक्ति-क्षम होने के संघर्ष की त्रयी भी उपरोक्त त्रयी की ही सहवर्ती है जो कलात्मक पुनर्सृजन के सीमान्तों में अपने सापेक्षतः स्वायत्त गति-नियमों से सतत गतिमान रहती है। मुक्तिबोध ने **'कला का तीसरा क्षण'** नामक निबन्ध में और अन्यत्र भी इसकी चर्चा की है। अपनी इन्हीं बुनियादी स्थापनाओं के आधार पर **प्रसाद** की जीवन दृष्टि और **'कामायनी'** का विश्लेषण करते हुए मुक्तिबोध ने यह स्थापना दी है कि 'कामायनी' की कथा एक फ़ैण्टेसी है जिसमें मन की निगूढ़ वृत्तियों का, अनुभूत जीवन-समस्याओं का, इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवन-स्थितियों का, प्रक्षेप हुआ है। **प्रसाद** जी ने एक ख़ास वर्ग-अवस्थिति पर खड़े होकर अपने समय की जीवन स्थितियों के प्रति अपनी संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं, तीव्र दंशों, निगूढ़ आघातों और जीवन-आलोचनात्मक सूत्रों को तथा उपस्थित जीवन-समस्या के (अपनी विश्व दृष्टि के अनुसार) दार्शनिक निदान को इस कृति में प्रस्तुत किया है—यह स्थापना देते हुए मुक्तिबोध संज्ञान के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त को — परावर्तन सिद्धान्त को जिस मौलिकता के साथ व्यवहार में लाए हैं, वह आज भी अद्वितीय है। प्रसाद का मुक्तिबोध-कृत यह मूल्यांकन हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक है जितना कि समस्त मार्क्सवादी आलोचना की सैद्धान्तिकी के लिए लेनिन द्वारा किया गया तोल्स्तोय का मूल्यांकन। मूल्यांकन की इस प्रक्रिया में मुक्तिबोध ने फ़ैण्टेसी के बारे में, बिम्ब-विधान के बारे में, यथार्थवादी दृष्टि और यथार्थवादी शिल्प के अन्तर तथा भाववादी दृष्टि और भाववादी शिल्प के अन्तर के बारे में जो महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ दी हैं, वे अलग से उल्लेखनीय हैं।

जैसा लेनिन ने तोल्स्तोय के साथ किया था, ठीक उसी प्रकार मुक्तिबोध ने प्रसाद की प्रत्ययवादी विश्व-दृष्टि और तज्जनित यूटोपिया के चरित्र को तथा उनके विचारों और कृतित्व में मौजूद तीव्र विरोधाभासों को उद्घाटित करने के साथ-साथ इस बात पर ज़ोर दिया है कि वे उस काल के भारतीय जीवन की जटिल, असंगत परिस्थितियों और ऐतिहासिक परम्पराओं को परावर्तित करते हैं। मुक्तिबोध की आलोचना के

मनोवैज्ञानिक पक्ष पर फ्रायडीय चिन्तन या अस्तित्ववाद का प्रभाव देखना तो विचार-संभ्रम या दृष्टि-भ्रम ही है। हाँ, इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि वस्तुगत यथार्थ की तुलना में उसके आभ्यन्तरीकृत रूप—मनोजगत के द्वन्द्वों की चर्चा करते हुए मुक्तिबोध मार्क्सवाद के एक "अधिक हेगेलीय" पाठ या संस्करण की ओर झुके हुए प्रतीत होते हैं। लेकिन, यह अलग से एक विस्तृत चर्चा का विषय है।

'कविता के नये प्रतिमान' के परिशिष्ट में **'अँधेरे में'** कविता और मुक्तिबोध के कृतित्व का मूल्यांकन करते हुए नामवर सिंह ने जिस हद तक मुक्तिबोध की पद्धति का अनुसरण किया है, उस हद तक वे सही लीक पर चले हैं और महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ देने में सफल रहे हैं। और जिस हद तक वे विचलित हुए हैं, उसी हद तक उनकी लक्ष्यच्युति भी द्रष्टव्य है। बाक़ी, शेष पूरी पुस्तक ('कविता के नये प्रतिमान') में तो "रूपवाद की रूपवादी आलोचना" का पक्ष ही हावी है, जैसा कि अब नामवर सिंह स्वयं स्वीकार करते हैं। नामवर की आलोचना-पद्धति के शब्द-शिल्प-पटु वाग्जाल में जहाँ भी मार्क्सवादी पद्धति की पथरेखा कौंधती दीखती है, वहाँ मुक्तिबोध की प्रभाव-छायाएँ मौजूद हैं। उनकी आलोचना का एक दूसरा—सामाजिक जनवादी या संशोधनवादी पक्ष है जो कभी पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्त से प्रभावित था तो कभी नव वाम की विचार-सरणियों से और आज फिर नव उदारवादी विचार-जगत के प्रभाव में सिद्धान्त का ही तिरस्कार करता हुआ एक नया "रस-सिद्धान्त" गढ़ने की ओर प्रवृत्त हो रहा है। पूरी सम्भावना यही है कि आने वाला समय इसे भी 'इतिहास की शव-साधना' का एक नया कर्मकाण्ड सिद्ध करेगा। नामवर की सुविधा यही है कि यह सब कुछ फ़िलहाल 'वाचिक' है, जिसका सुविधानुसार नया भाष्य प्रस्तुत किया जा सकता है।

आलोचना की पद्धतिशास्त्रीय समस्याओं की चर्चा करते हुए मैंने यहाँ मुख्यतः संज्ञान के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी पद्धति से विचलनों-विच्युतियों की सामान्य चर्चा की है। अलग-अलग समकालीन आलोचकों की कृतियों को लेकर विशिष्ट और ठोस चर्चा की सख़्त ज़रूरत है और आगे हम यह कोशिश भी करेंगे। यह पड़ताल भी ज़रूरी है कि सामाजिक-आर्थिक संरचना की सुसंगत समझ और इतिहास-दृष्टि का अभाव किस तरह से हिन्दी आलोचना की दुनिया में संक्रामक रोग के समान फैला हुआ है और बौद्धिक विकलांगता के अनेक रूपों को जन्म दे रहा है।

ज्ञान की दुनिया तब अजीबोग़रीब ढंग से पलट जाती है जब ख़ुद शिक्षकों को ही सीखने की शिक्षा दी जाने लगती है।

—बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

अभिमत

दलित समस्या और दलित साहित्य–एक संवाद

मास्टर त्रिलोचन सिंह

भारत एक अजीब देश है। देश से भी अजीब है इसकी रचना और इस खण्डित देश की अखण्डता का बहु-प्रचारित मिथक। आर्थिक दृष्टि से देखने पर यह दुनिया के और अनेक देशों की तरह वर्ग विभाजित दृष्टिमान होता है। यह इस और केवल इस देश की ही विशेषता है कि यह विभाजन यहीं तक सीमित नहीं रहता बल्कि असीमितता के सही अर्थों तक फैला है।

देश धर्मों में विभाजित है, वर्णों में विभाजित है, जातियों में विभाजित है। विभाजन का यह सिलसिला आगे चलता है, भारतीय समाज का विभाजन भौगोलिक आधार पर क्षेत्रों से लेकर भाषा-आधारित विभाजन तक फैला है। जातियों, उपजातियों तक ही नहीं बल्कि गोत्रों तक फैला है। पेरियन, द्रविड़ और आर्य नस्लों के अनुसार ये विभाजन अपनी फ़ैसलाकुन भूमिका अदा कर रहे हैं।

भारतीय सामाजिक ढाँचे पर दृष्टि डालते हुए हम आसानी से इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि भारत सचमुच ही विश्व का एक अद्वितीय अजूबा है। इस देश की विलक्षणता का सबसे अनोखा पहलू इसका जाति पर आधारित सामाजिक विभाजन है। बात केवल विभाजन तक ही सीमित नहीं बल्कि इससे जुड़ी है धार्मिक ग्रन्थों की सरपरस्ती प्राप्त आचरण-संहिता। यह गोत्र-विभाजन, वर्ण-विभाजन, जाति विभाजन, जाति-दर-जाति विभाजन का सिलसिला और इस सिलसिले के परिणामस्वरूप पैदा हुआ सामाजिक ढांचा, जहाँ इसके बहुत अधिक उलझे होने की गवाही देता है वहीं इस ताने-बाने की उलझनों को पूरी तरह समझे बिना 'रिपेयर' करने या बदलने की कोशिशें असफल हो जाने के महत्त्वपूर्ण कारणों को उजागर भी करता है। यह प्रबन्ध जहाँ समाज को बदलने के लिए यत्नशील लोगों के सामने गम्भीर प्रश्न पैदा

यह आलेख 'साझा सांस्तिक अभियान' द्वारा चण्डीगढ़ में 'दलित प्रश्न' पर आयोजित संगोष्ठी (9-11 नवम्बर 2000) में प्रस्तुत किया गया था।

करता है वहीं धर्म, ख़ास तौर पर हिन्दू धर्म के सामाजिक अनुशासन को तर्क की कसौटी पर परख करके उसको बेबुनियाद, तर्कहीन और सामाजिक तरक़्क़ी के रास्ते में रुकावट सिद्ध करता है।

सामाजिक जीवन को निर्धारित करने, या, इसको बनाने वालों के शब्दों में, अनुशासित करने के लिए बनाई गई आचरण संहिता की एक लम्बी प्रक्रिया से गुज़रने का ही नतीजा है कि भारतीय, मनुष्य से पहले और अनेक पहचानों से जुड़े हैं और चिन्ता का विषय यह है कि इन पर अभिमान भी करते हैं।

इस आचरण-संहिता, ने सामाजिक जीवन में जनता के एक हिस्से, ख़ास तौर पर मेहनती लोगों के एक हिस्से को अछूत बना दिया। वर्ण विभाजन के साथ ही दुखों की दास्तान का सिलसिला आरम्भ हुआ। अछूतों के साथ किए गए अमानवीय व्यवहार की अनेक ऐसी शर्मनाक कथाएँ और दन्तकथाएँ हैं जिनसे इतिहास इस प्रकार भरा पड़ा है कि मस्तक ख़ुद-ब-ख़ुद झुक जाता है—ख़ून ख़ुद-ब-ख़ुद उबलने लगता है।

इन अछूत करार दिए गए लोगों के विषय में बहुत से विद्वानों ने अपनी चिन्ता और दृष्टिकोण प्रकट किया। शहीद-ए-आज़म भगतसिंह ने उस दर्द को अपने दिल में महसूस करते हुए लिखा था, "हमारा देश बहुत ही अध्यात्मवादी देश है परन्तु हम मनुष्य को मनुष्य का दर्जा देते हुए भी झिझकते हैं। हम शिकायत करते हैं कि हमारे साथ विदेशों में अच्छा व्यवहार नहीं होता, अंग्रेज़ हमें अपने बराबर नहीं समझता, परन्तु क्या हमें यह शिकायत करने का अधिकार है? जब आप एक मनुष्य को पानी देने से भी इन्कार कर देते हैं, जब आप उनको पाठशाला में पढ़ने भी नहीं देते, तो आपको क्या अधिकार है कि अपने लिए अधिक अधिकारों की माँग करें? जब आप एक मनुष्य को बराबर के अधिकार देने से इन्कार कर देते हैं तो आप अधिक राजनीतिक अधिकार माँगने के हकदार कैसे हो गए?"

बात यह है कि सारे ही विचारक इस ग़लत विभाजन को लेकर चिन्तित थे और इसका अन्त चाहते थे। परन्तु अगर यह समस्या एक बड़ा युग गुज़र जाने के बाद भी समाज में अपना अस्तित्व बनाए बैठी है और आज के वैज्ञानिक युग के सामने एक चुनौती बन कर खड़ी है तो स्पष्ट है कि बात बहुत गम्भीर है। इसका एक प्रमाण यह भी है कि 11 अगस्त 2000 को जेनेवा में की मानवाधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र के अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में भारत की जाति-पाति प्रथा और शोषण को नस्ल आधारित और नस्लवाद के घेरे में लाने के लिए ज़ोरदार चर्चा हुई और इस भेदभाव की अन्तरराष्ट्रीय समुदाय ने सख्त आलोचना की।

घोर निन्दनीय जाति-प्रबन्ध और अछूत की धारणा साहित्य का निशाना तो बनती ही रही है परन्तु इस दर्द की सीमा तक कोई नहीं पहुँच सका। शरीर पर खुदी इबारत से लेकर मन की गहराइयों पर खुदे खुरदरे सत्य और सामाजिक भेदभाव की छाप अति गहरी है जो हमारी कलम ने उतनी गम्भीरता से नहीं व्यक्त की जितनी कि की जानी चाहिए।

इसी प्रकार सामाजिक ढाँचे को जड़ से ही उखाड़ने का दावा करने वाले लोग, जिनके लिए सामाजिक तब्दीली का सिर्फ़ एक ही नुक़्ता जीने-मरने की लड़ाई का आधार बना, वे भी इस सामाजिक प्रबन्ध की उलझी हुई स्थिति को अपने पुराने फ़ार्मूलों में फ़िट करके हल करने का प्रयत्न करते रहे। हम विदेशों में हो रहे नस्ली भेदभाव के विरूद्ध संघर्ष से पैदा हुए साहित्य को तो मान्यता देते रहे और उसकी प्रशंसा भी की परन्तु अपने ही घर में होते भेदभाव हमारी नज़रों से ओझल होते रहे।

कुछ विद्वानों ने इसको इंक़लाब आने के बाद हल होने वाला सांस्कृतिक प्रश्न कहकर ठण्डे बस्ते में डालने का रास्ता पकड़ा। कुछ ने हाथी की मौत के बाद जुओं के अपने आप मर जाने का एलान कर दिया, कुछ दूसरों ने इसको सामाजिक स्तर पर चेतना आन्दोलन चला कर समाप्त करने की सोची जबकि कुछ दूसरों ने इंक़लाब के लिए सबसे भरोसे योग्य वर्ग की बड़ी संख्या दलित या छोटी कही जाने वाली जातियों में से होने और जाति प्रथा का चुनौती पूर्ण होना स्वीकार करने के बाद इसको दावपेंच का (टैक्टिकल) प्रश्न बताया। ये दाव-पेंच क्या हैं यह सवाल आज तक सवाल ही है।

इस स्थिति और उससे निपटने के लिए सैद्धान्तिक स्पष्टता की कमी का ही नतीजा था कि प्रगतिवादी

साहित्यिक लहर को महसूस होता रहा कि जाति प्रथा या वर्ण व्यवस्था के बारे में अधिक बात करने से शायद मज़दूर वर्ग या उसका साहित्य और एकता बिखर जाएगी। जबकि ऐसा नहीं हो सकता था। बल्कि ऐसा होना था कि साहित्य और संघर्ष दोनों ही समृद्धि और विशाल आधार की तरफ़ बढ़ने थे। परन्तु ऐसा नहीं हो सका।

दुनिया के अनेक विद्वानों ने स्पष्ट किया है कि हर देश की अपनी स्थिति होती है। उन विशेष परिस्थितियों का निरीक्षण करने से ही उनसे निपटने का सही तरीक़ा ढूँढ़ा जा सकता है। माओ त्से-तुङ का बड़ा स्पष्ट कथन है, "पैरों को काट कर जूतों के अनुरूप मत करो।' चाओ एन-लाई की भारत के प्रति टिप्पणी विचार करने योग्य है, "जब तक भारत में जाति आधारित ऊँच-नीच और दर्जाबन्दी क़ायम है भारत कोई तरक़्क़ी नहीं कर पाएगा क्योंकि सामाजिक ग़ैर बराबरी आर्थिक और राजनीतिक बराबरी के लिए किए गए सब यत्नों को संकट में डाल देगी।" ऐसे ही अनेक सामाजिक विचारकों और समाज सुधारकों ने इस विराट समस्या के विकट रूप पर चिन्ता प्रकट की है।

इस बहुपरती प्रसार वाली, पुरानी बीमारी जैसी समस्या को पंजाब में और पंजाब के सन्दर्भ में समझने के यत्न बहुत ही कम हुए हैं। इनमें भी ज़्यादा अकादमिक स्तर पर खोज कार्य तक सीमित रहे और अकादमिक स्तर पर समस्या को विचारने की अपनी ही सीमाएँ रहती हैं। अतः सामाजिक तबदीली से जुड़ी धारानुसार इसकी जड़ें खोदने और इससे निपटने का कार्य अभी बाक़ी है।

वर्ण विभाजन और जातीय दर्जाबन्दी का सिद्धान्त और भौतिक आधार क्या है? इस बुनियादी सवाल पर विचार करने के बाद ही इसके सामाजिक ढाँचे पर की गई चर्चा सार्थक होगी।

प्रश्न उठता है कि क्या जाति प्रथा और अछूत की अवधारणा हमेशा से ही समाज में विद्यमान रही है? भारतीय सामाजिक रचना का 'स्टफ' (Stuff) कैसा है? विश्व में केवल भारत में ही ऐसा क्यों हुआ? कब और कैसे हुआ?

हर प्रश्न अपने आप में पूरी थीसिस जैसी व्याख्या की माँग करता है। यहाँ पर ऐसी व्याख्या करनी तो सम्भव नहीं फिर भी इस प्रश्न पर चिन्तकों के चिन्तन का निचोड़ और गम्भीर बहस के नतीजों को तो यहाँ पर दर्ज किया ही जा सकता है ताकि समस्या के पैदा होने और सामाजिक ढाँचे का आधार बनने के सफ़र के विषय में जाना जा सके।

नीचे कुछ महत्त्वपूर्ण नुक्ते दर्ज़ किए जा रहे हैं : -

1. ऋग्वेद के अनुसार जातिप्रथा हमेशा से है। विश्व के रचनाकर ब्रह्मा के मुख से जन्म लेने के कारण ब्राह्मण सर्वोत्तम है। दोनों भुजाओं से पैदा होने के कारण क्षत्रिय द्वितीय है। ब्रह्मा की जंघाओं से जन्म लेने के कारण वैश्य तीसरे स्थान का अधिकारी है परन्तु ब्रह्मा के पैरों से पैदा होने के कारण शूद्र नीच है।

ऋग्वेद के अनुसार यह चारों वर्ण मनुष्य के जीवन के साथ ही जुड़े हैं।

इसके बावजूद कि हिन्दू धर्मशास्त्री अपने स्वार्थ के लिए आज तक भी उपरोक्त विचार को पकड़े बैठे हैं, लगभग सारे ही समाजशास्त्रियों ने इस विचार को पूरी तरह रद्द कर दिया है।

2. एक और सिद्धान्त जिसको नस्ल का सिद्धान्त माना जाता है, के अनुसार भारत के मूल निवासी द्रविड़ों को ईरान से आए आर्यों ने ग़ुलाम बनाकर दास प्रथा चालू की। यहाँ से जातियों और उप-जातियों का सिलसिला आरम्भ हुआ। बेशक आर्यों द्वारा भारत के उत्तर में द्रविड़ों से हुए युद्धों के प्रमाण भी हैं परन्तु समाजशास्त्री इसको भी जाति प्रथा और अछूत की अवधारणा का आधार नहीं मानते।

3. इस प्रकार की अलग-अलग काम करने की सहूलियत से पैदा हुए वर्ण बताना भी अतीत की बात हो चुकी है। तो फिर प्रश्न पैदा होता है कि संसार में अपनी क़िस्म का अकेला यह जाति और अछूत प्रणाली का सिलसिला कैसे चला? प्रश्न बड़ा है और जवाब भी विस्तारपूर्वक हो सकता है लेकिन यहाँ कम शब्दों में ही चर्चा की जा सकती है।

सब समाजशास्त्री इससे सहमत हैं कि जब मनुष्य को सामाजिक ज्ञान होने लगा तो उसने समूह अथवा

कबीलों में रहना शुरू कर दिया। कबीले सामाजिक बराबरी के संकल्प पर आधारित पहला नमूना थे। कार्य विभाजन तब भी था लेकिन जाति और अछूत की अवधारणा का नामोनिशान तक न था। विश्व भर में कबीलों के अनेक आपसी युद्ध हुए, उथल-पुथल का दौर भी चला।

कबीला ख़ून के रिश्ते पर आधारित लोगों का समूह होता था। उथल-पुथल के दौरान कुछ लोग अपने कबीलों से निकल गये। कुछ और कारणों से निकाल दिए गये। ये निकले और निकाले गए लोग उन कबीलों की शरण में आ गए जिनके साथ उनका ख़ून का रिश्ता नहीं था। उन कबीलों ने इनको शरण तो दी मगर अपने कबीले में शामिल नहीं किया। उनको अपने कबीलों की रिहायशी हद से बाहर अलग रहने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार की घटनाएँ आयरलैण्ड और वेल्स के गाँवों के सामाजिक संगठनों में भी मिलती रही हैं।

आदिकालीन कबीलों के घुमक्कड़ समूहों के इलाक़ाई आवास के स्थायी प्रबन्ध ने इस व्यवस्था को और भी पक्का किया है जबकि आयरलैण्ड और वेल्स के अलग हुए लोगों को कबीलों में शामिल करने के लिए बाक़ायदा नियम बने। इस प्रकार वहाँ के अलग हुए लोग उन समूहों का हिस्सा बनकर जीवन बिताने लगे और घुल-मिल गये।

परन्तु भारत में इलाक़ाई और ग्रामीण समूहों को एक इकाई बनाने की जगह चार वर्णों में विभाजित करके सामाजिक विकास के रास्ते में दीवारें खड़ी की गईं। यह वर्ण विभाजन दो पक्षों से सामाजिक संकट पैदा करने का कारण बना। एक तो वर्णों में बँटे समाज का सबसे नीचा और घटिया समझे जाते चौथे वर्ण शूद्रों के प्रति अनादर का व्यवहार उनको दबाता और अपमानित करता रहा, दूसरी तरफ़ शूद्रों से भी घटिया समझे जाते अंत्यज या अंतिय लोगों (वह लोग जो गाँव की सीमा पर या अन्त में बस गए थे) जो व्यावहारिक रूप से पाँचवा वर्ण बन चुके थे, के प्रति घृणा और नफ़रत की अति भयंकर व्यवहार रहा। ये अंतिय लोग, जिनकी अधिकतर संख्या को चण्डाल कहा जाता था ही दरअसल अछूत कहे जाते थे जबकि चारों वर्णों के लोग दर्ज़ाबन्दी के होते हुए भी आपस में सामाजिक सम्बन्ध रखते थे।

वेदों की रचना के समय अपवित्रता की अवधारणा तो थी परन्तु अपवित्र हो जाने के बाद पवित्र हो जाने की व्यवस्था थी। मतलब यह कि अपवित्रता अस्थायी थी।

यहाँ होना तो यह चाहिए था कि प्राचीन धर्म ग्रन्थों के अनुसार जिन लोगों के कारण ऊँचे वर्णों के लोग अपवित्र हो जाते थे उन अछूतों या अंत्यज लोगों को समाज की मुख्य धारा में लाने की प्रक्रिया चलती, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। भारत में ठीक इससे विपरीत हुआ। वक़्त के प्रभाव और मनु स्मृति की सामाजिक आचार संहिता ने चौथे वर्ण शूद्रों को भी अछूत बना दिया। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि इस आचार संहिता ने ऐसे-ऐसे नियम और इनको तोड़ने वालों के लिए ऐसी-ऐसी सज़ाएँ तय कीं, कि जिनको पढ़ते-सुनते हुए ज़मीर काँप उठता है।

इस सन्दर्भ में कई विद्वानों का यह मत भी विचार करने योग्य है कि पशुओं और ख़ासकर पालतू पशुओं का मास प्राचीन मनुष्य का स्वाभाविक और प्राकृतिक भोजन रहा है। एक दौर में समाज के एक हिस्से ने माँस खाने, ख़ासकर गाय का माँस खाने पर स्वयं ही पाबन्दी लगा ली जबकि दूसरे हिस्से ने परम्परागत भोजन का सेवन वर्जित न समझा। इस प्रकार विभाजन और भी पक्का हो गया।

मनु स्मृति का रचनाकाल ईसा से 200 साल पहले का माना जाता है। तब से लेकर भारत में इस लम्बे समय के दौरान अनेक जातियों और उपजातियों की लगातार उत्पत्ति होती ही रही। आज की विकराल सामाजिक स्थिति हमारे सामने है।

असन्तुलित आर्थिक और सामाजिक विकास वाले भारत देश में जाति प्रथा भी अलग-अलग पड़ाव में है। कुछ प्रान्तों में तो यह अपने बहुत ही भयंकर रूप में है तो कुछ में इतने भयानक रूप में हमारे सामने नहीं। जातीय नफ़रत, जातीय हिंसा, जाति-आधारित राजनीतिक दांवपेच इसके मुख्य उदाहरण हैं।

पंजाब के सन्दर्भ में बेशक छुआ-छूत और अपवित्रता की धारणा काफ़ी हद तक लुप्त हो गई है परन्तु पूर्ण रूप से समाप्त नहीं की जा सकी। सारे भारत की तरह पंजाब में भी जातिप्रथा की घृणित दीवारें वैसे

की वैसी क़ायम हैं। यहाँ भी लाखों की संख्या में वे लोग अभी भी जीवित हैं जिनके शरीर पर वर्ण व्यवस्था की भयंकरता के निशान मौजूद हैं। उनके ज़ेहन में जाति-आधारित घृणा और तिरस्कार के अपवित्रता और छूत आधारित व्यवहार के अमिट नक़्श छपे हैं। लाख कोशिशों के बावजूद उनके मन से वह नफ़रतपूर्ण व्यवहार नहीं मिट पा रहा। आज के युग में बेशक नफ़रत की यह लकीर अपने प्रकट रूप और विकराल शक्ल में कम ही दिखाई देती है परन्तु मन में बैठा जातीय अभिमान और जातीय घटियापन का अहसास हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन को आज भी गहराई से प्रभावित कर रहा है। अगर इलाहाबाद हाईकोर्ट के एक दलित अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश के तबादले के बाद नये, सवर्ण जज क आने के पहले उनके चैम्बर के फर्नीचर को गंगा जल से धोया जाए तो आम जनता इस मामले में कितनी गहन पीड़ा सहन कर रही होगी, इसका अन्दाज़ा लगाना मुश्किल नहीं। वैज्ञानिक युग, ऊँची पदवी संवैधानिक निर्देश, सब बेबस और अर्थहीन हो जाते हैं।

सामाजिक समीकरण से लेकर राजनीतिक गुटबन्दी तक जातिप्रथा एक महत्त्वपूर्ण और फ़ैसलाकुन भूमिका अदा कर रही है। स्थिति तो इस तरफ़ मुड़ रही लगती है कि वर्ग आधारित संगठनों का कैडर वर्ण आधारित संगठनों की तरफ़ रुचित हो रहा है। समाज को तोड़ने और अपने हितोनुकूल समूह बनाने के इस मामले में जाति सबसे उपयोगी मंत्र सिद्ध हुई है। पंजाब में बेशक कोई अनुसूचित जनजाति नहीं है। परन्तु अनुसूचित जाति, पिछड़ी श्रेणियों की कई जातियाँ और उपजातियाँ बन गई है। ऊँची जातियों की भी असंख्य जातियाँ और इससे ऊपर गोत्र गुटबन्दियाँ हैं। पंजाब के नीची जाति के लोग आज भी अलग बस्तियों में रहते हैं। जिनको आम तौर पर 'चमारड़ी' या "झड़िक्की' कहा जाता हे। बद्दुओं की बस्तियाँ आम तौर पर क़स्बे से बाहर होती हैं, और तो और दूसरे के मुक़ाबले रैडिकल समझे जाने वाले सिख धर्म की पंजाब की सामाजिक ज़िन्दगी में प्रभावशाली भूमिका होने के बावजूद नीची जाति के अपने अलग गुरुद्वारे हैं। यहाँ तक कि मौत के बाद एक ही शमशान घाट में जलाए जाने की सख्त मनाही पंजाब के बहुत से गाँवों में है।

इस स्थिति में यह सोचना एक भ्रम पालना होगा कि ऊँची जातियों ने शूद्रों-अछूतों को पंजाब में बिल्कुल बराबर का दर्जा दिया है। इस काल्पनिक स्थिति से ही यह नतीजा निकाल लेना कि जाति प्रथा के सामाजिक ज़िन्दगी पर प्रभाव के विषय में विचार करना अर्थहीन है—और भी घातक है।

एक और महत्त्वपूर्ण नुक़्ता साफ़ करना भी बहुत ज़रूरी है। कुछ लोगों के अनुसार पंजाब में सिख धर्म का बोलबाला है और सिख अपना नेतृत्व ग्रन्थ साहिब से प्राप्त करते हैं। ग्रन्थ साहिब जाति प्रथा के पक्ष में नहीं इसलिए सिख जाति प्रथा के ख़िलाफ़ हैं या फिर सिखी ही जाति प्रथा को तोड़ने और इस हद तक कम करने अथवा लुप्त करने के लिए ज़िम्मेदार है। इस तरह के नतीजे भी कई तरह की शंकाओं को जन्म देते हैं।

सिख धर्म का रहनुमा ग्रन्थ साहिब सिर्फ़ सिखों का ही प्रतिनिधि ग्रंथ नहीं बल्कि हिन्दू और मुस्लिम कर्मकाण्डों, कुरीतियों के ख़िलाफ़ मध्य युग में उठे भक्ति लहर के कवियों का एक सम्मिलित दस्तावेज़ है। बाबा नानक, कबीर और रविदास ने वर्ण व्यवस्था और जातिप्रथा की निरर्थकता पर जम कर दार्शनिक प्रहार किये। कबीर का स्वर तो बहुत ही उग्र रूप में प्रकट होता है। भक्ति आन्दोलन के सारे कवि हिन्दू धर्म की अति बुनियादी धारणाओं के विषय में अपना अलग मत रखने में बेशक कामयाब न रहे हों परन्तु सुधारक और सामाजिक पक्ष से सिख गुरुओं सहित सारे ही भक्तिकालीन कवि जाति प्रथा के विरुद्ध ज़रूर एकमत थे। जातिप्रथा का दर्द सहन करने वाले भक्तों की प्रतिक्रिया विद्रोही थी जबकि बौद्धिक स्तर पर इसको रद्द करने वाले भक्तों और गुरुओं की प्रतिक्रिया सैद्धान्तिक स्तर पर रद्द करने या अनदेखी करने की रही है।

मनोहर सिंह मारको जैसा संवेदनशील सिख चिन्तक जब इस अधोगति के विषय में अपने सतगुरु को पत्र लिख-लिख रुदन करता है तो स्थिति समझ में आती है। आज भी स्थिति यह है कि समाचारपत्रों पर नज़र घुमाते ही विवाह से सम्बन्धित विज्ञापनों में जाट सिख, रामदसिया सिख, रामगढ़िया सिख, मज़हबी सिख, छींवा सिख आदि शब्द ही नहीं मिलते बल्कि कालम भी अलग हैं। नीची जातियों को गुरुद्वारों में

अपमान सहन करना पड़ता रहा है, जिसका नतीजा यह है कि आज अलग-अलग जातियों के अपने-अपने गुरुद्वारे हैं। जाति प्रभाव इतना तीक्ष्ण है कि अन्तरजातीय विवाह हो जाने पर सामाजिक ढाँचे में उथल-पुथल हो जाती है। इस स्थिति का लाभ जहाँ राजनीतिक लोग उठाने का यत्न करते हैं, वहीं असंख्य सन्तों, महन्तों और ढोंगियों के डेरों पर सबसे अधिक भीड़ इन ग़रीब लोगों की ही होती है। अपना आर्थिक और मानसिक शोषण करवा कर अपनी 'मुक्ति' का रास्ता ढूँढ़ते वे चक्रव्यूह में फँसा दिए गए हैं। यहीं राजनीतिक लोग डेरों के प्रभाव का प्रयोग करके अपना हलवा-माँडा चलाते हैं और ये ग़रीब लुटते रहते हैं।

इस प्रश्न को एक और पहलू से देखना भी ज़रूरी है कि पंजाब में सिखों का नुमायन्दा राजनीतिक दल, अकाली दल सियासी मैदान में है। अपने को जातिप्रथा विरोधी धर्म का नेतृत्व करने वाली पार्टी कहलाने वाले अकाली दल के साथ अनुसूचित जातियों के लोग कभी भी मन से नहीं जुड़े। वे कभी कांग्रेस का वोट बैंक बनते हैं तो कभी बी.एस.पी. का।

क्या कारण हो सकता है? दरअसल समय के साथ जाट जाति पंजाब में श्रेष्ठता प्राप्त कर गई। यह जाति जहाँ सिख धर्म को सामाजिक आधार प्रदान करती है वहीं राजनीतिक स्तर पर भी शक्तिशाली है। मेरे विचार से तब ब्राह्मण जाति के लोग ग्रंथों के अनुसार सर्वोत्तम होते हुए भी सामाजिक दर्जाबन्दी में दूसरे या तीसरे स्थान पर आ गये। इस स्थिति में छुआछूत के सारे ब्राह्मणी संस्कार इन सिखों के ज़रिए अछूतों पर लाद दिए गये। पंजाब के सामाजिक ढाँचे को पहले से ही तय धारणाओं में देखना हमें ग़लत नतीजों पर जाने के लिए मजबूर कर देगा। शासन करने की मजबूरी में से, सामाजिक ढाँचे की धारणाएँ टकराने की जगह समझौते का जो रास्ता जातिप्रथा के विरोधी इस्लाम धर्म के शासकों ने अपनाया, सिख शासकों ने बुनियादी रूप में उसका ही अनुसरण किया, जिसका नतीजा हमारे सामने है।

नीची जाति के लोग जहाँ सामाजिक स्तर पर अछूत कहलाए जाने से घृणा करते थे वहीं आर्थिक स्तर पर कंगालों वाली स्थिति में जीवन व्यतीत करने के कारण अपने जीवन निर्वाह के लिए कृषि पर और इसकी स्वामी जाट जाति पर निर्भर थे। सो इनका ज़्यादा सम्बन्ध जाट जाति द्वारा किए गए अपमान तथा सहन किए संताप से ही रहा। पिछले लगभग तीन दशकों से एक नया रुझान देखने में आया है कि पंजाब के कृषि मज़दूर ने अपना ध्यान खेती से हटाकर शहरों की तरफ़ किया है। आज पंजाब की खेती पूर्ण रूप से मशीनों और प्रवासी मज़दूरों पर ही टिकी है। पंजाब की उन्नति और इक्कीसवीं सदी के तमाम दावों के बावजूद इन "भइया मज़दूरों" के साथ किस तरह का "सम्मानपूर्ण" व्यवहार होता है यह किसी से छिपा नहीं।

अतः अनुसूचित जातियों के लोगों के अकालियों के ख़िलाफ़ होने के कारण की अगर पड़ताल की जाए तो मेरे विचार से यह राजनीतिक कम सामाजिक अधिक रहा है। सिखों के इन नये प्रतिनिधियों के विषय में इनके भीतर पनप रहे इस आक्रोश का यह बेशक कैथारसिस ही होता हो पर अछूतों के साथ सिखांशाही शासन के व्यवहार की वेदना उनके प्रति किए आपराधिक क़िस्म के सामाजिक अत्याचार के ज़ख़्मों की टीस की प्रतिक्रिया भी है। रियासतों के बहुत से सिख राजाओं की तरफ़ से दलितों की बस्तियाँ अलग बनाने और वह भी पश्चिम की तरफ़ बनाने के आदेश दिए गए ताकि सूरज की पहली किरण इन बस्तियों पर पड़कर अपवित्र न हो जाए। ये बस्तियाँ आज भी वैसे ही स्थित हैं।

पंजाब में जातिप्रथा के भेदभाव के सैकड़ों और उदाहरण हर रोज़ न केवल अशिक्षित ग्रामीण समाज में बल्कि शिक्षित लोगों में भी मिल सकते हैं। नीची जातियों के लोग इस्तेमाल किए जाने या भ्रमित किए जाने के उद्देश्य हेतु ही नज़दीक लाए जाते हैं। जहाँ सिख धर्म के वर्तमान रहनुमा इस नुक़्ते पर यथास्थितिवादी बन कर चुप हैं वहाँ अनेक डेरे और मठ अपनी ही मर्यादाएँ चला रहे हैं। इस सन्दर्भ में नामधारी पन्थ की मान्यताओं का खुलासा करना ग़ैर वाजिब नहीं होगा। ये जहाँ पूरे शुद्धतावादी और मर्यादा में निपुण कहलाते हैं और अपने को सिख गुरुगद्दी के असली वारिस भी कहलाते हैं, वहीं जाति प्रथा के पूर्ण रूप से अनुयाई भी हैं। जातीय भेदभाव भी बिना रुकावट चल रहा है। इसकी एक ही मिसाल देनी काफ़ी होगी कि करतारपुर में बाबा नानक की चलाई लंगर प्रथा में संगत और पंगत प्रथा नामधारी पन्थ में भी चलती है।

परन्तु फ़र्क़ यह है कि पंक्तियाँ दो हैं। नीची जाति के लोग ऊँची जाति के लोगों के साथ बैठकर लंगर नहीं छक सकते। यह हुक्म लिखित है और दीवार पर लटका है। सिख धर्म जैसा गतिशील धर्म आज के वैज्ञानिक युग में, इस जड़ रूप में और चुनौती रहित मौजूद हो—कितना दुखद है।

यहाँ यह बताना भी प्रसंग से बाहर नहीं होगा कि सिख धर्म अपनी पहचान बहुत तेज़ी से खो रहा है। दार्शनिक पहलू ग्रन्थ साहब तक ही सीमित और सुरक्षित रह जाएँगे। परन्तु व्यावहारिक धर्म कुछ और ही है और भविष्य में बिल्कुल ही अलग क़िस्म का होगा। हिन्दू धर्म की सब अलामतें इस पर बड़ी तेज़ी से लागू हो रही हैं। आम लोगों का अधिकतर वास्ता धर्म के व्यावहारिक रूप से ही हुआ करता है।

यह सच है कि दार्शनिक स्तर पर सिख धर्म सहित सारा भक्ति आन्दोलन ही जाति प्रथा विरोधी रहा है। इसने कुछ सीमा तक और एक ख़ास समय तक इस वर्ण व्यवस्था की जकड़ तोड़ने की सार्थक कोशिश भी की परन्तु वक़्त गुज़रने के साथ-साथ इसका व्यावहारिक स्वरूप जड़ होता गया। अतः इस सारी प्रक्रिया को सन्तुलित चौखटे में देखने की ज़रूरत है। इस एक ही नुक़्ते पर इतनी विस्तृत चर्चा करने का कारण सिर्फ़ एक ही था कि बहुत से चिन्तक इस नुक़्ते पर आकर समस्या को निपटाने की चेष्टा करते हैं।

अगर पंजाब में जाति प्रथा इतनी मज़बूत नहीं जितनी कि महाराष्ट्र, बिहार या उत्तर प्रदेश में है, तब कुछ कारण तो रहे ही होंगे कि यह तब्दीली हो गई। इस जकड़ के टूटने की प्रक्रिया का स्वरूप क्रमिक विकास का रहा है। इसलिए किसी एक ही कारक की निशानदेही करना दुरुस्त नहीं होगा। मेरी धारणा है कि सबसे पहले बेशक आंशिक रूप में या बीज रूप में ही सही, पंजाब में स्थापित हो रही सिख लहर ने जाति प्रथा पर प्रहार किया। तत्पश्चात देश की आज़ादी की इंक़लाबी लहरों ने अपना योगदान दिया। अंग्रेज़ साम्राज्य के विरुद्ध उठी विद्रोही लहरों के ये शूरवीर इन दकियानूसी बातों से मुक्त थे। उस समय के समाज में बेशक जाति प्रथा अपनी चरम सीमा पर थी परन्तु विद्रोही संगठनों के अन्दर का माहौल जाति और धर्म आदि के भेदभाव से मुक्त था।

कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी के एक खोजी विद्वान मार्क जरजंज़ मेयर ने लम्बे समय तक पंजाब में रहकर जातिप्रथा की स्थिति और इसके विरुद्ध संघर्ष का अध्ययन किया। इस अध्ययन का केन्द्रीय ध्रुव नीची जाति से सम्बन्धित एक व्यक्ति मंगूराम मूगोवाल (होशियारपुर) था। मंगू राम ने ग़दर पार्टी और ग़दर लहर में भी हिस्सा लिया था। इस लम्बे शोध का नतीजा एक बड़े आकार की पुस्तक "Religion as Social Vision" के अन्त में मंगू राम की प्रतिक्रिया दर्ज़ है जो ग़दर लहर के आन्तरिक माहौल को प्रकट करती है, "वह तो बिल्कुल ही एक नया समाज था, हम सब ही बराबर समझे जाते थे। सबके साथ एक-सा व्यवहार होता था।"

इसी प्रकार भगतसिंह और उनके साथियों की इंक़लाबी तहरीक़ में वर्ण विभाजन की सोच को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों से रद्द किया गया। उन्होंने जहाँ शोषण रहित समाज की रचना की जद्दोजहद में सब लोगों की शिरकत के लिए रास्ता आसान किया वहाँ इससे भी आगे जाकर अछूतों का आह्वान किया कि वे अपनी नर्क से भी बदतर ज़िन्दगी को बदलने और सारे मानवीय अधिकार प्राप्त करने के लिए अपने स्तर पर संगठित हों। अपने बहुचर्चित निबन्ध 'अछूत समस्या' के अन्त में भगतसिंह लिखते हैं, "संगठित होकर अपने पैरों पर खड़े हो जाओ, पूरे समाज को चुनौती दो। तब देखना कोई भी आपको आपके हक़ देने से इन्कार नहीं कर सकेगा। तुम दूसरों की खुराक मत बनो... उठो वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बगावत खड़ी कर दो... सामाजिक आन्दोलन से क्रान्ति पैदा करो और राजनीतिक तथा आर्थिक क्रान्ति के लिए कमर कस लो... सोए हुए शेरो! उठो और बगावत खड़ी कर दो।"

इसी तरह सामाजिक मानवीय अधिकारों के लिए छोटी जातियों को संगठित करने के ज्योति बा फुले से लेकर अम्बेदकर तक के आन्दोलन के पंजाब में आधार तथा प्रभाव ने भी वर्ण विभाजन पर चोट की।

एक और महत्त्वपूर्ण तथा फ़ैसलाकुन कारण पंजाब की धरती पर आए हरे इंक़लाब का भी है। इस महत्त्वपूर्ण तब्दीली के दौर में पुरानी क़िस्म का सामाजिक संगठन काफ़ी हद तक बिखर गया। समाज में नये उत्पादन सम्बन्ध बनने से नई सफ़बदियों ने जन्म लिया। संवैधानिक स्तर पर छुआछूत जुर्म माना गया।

अछूत कही जाने वाली जातियों के बच्चे भी पढ़ने लगे। उधर नौकरियों में आरक्षण की सुविधा थी और अलग-अलग सेवाओं में बैकलाग पड़ा था। आज जैसी विकट स्थिति नहीं थी। जो पढ़ जाता था उसको नौकरी मिलनी स्वाभाविक थी। इस प्रकार सरकारी सेवाओं में महत्त्वपूर्ण स्थानों पर छोटी जातियों के शिक्षित लोगों की बैकलाग के कारण बड़ी संख्या में भर्ती ने सामाजिक ढाँचे में अछूतों का स्थान एक बार तो ऊँचा उठा दिया। वैसे भी सामाजिक सम्बन्धों में सामन्तवादी धारणाओं की जगह पूँजीवादी मूल्यों का प्रभाव बढ़ते ही उन्हें अपनी भूमिका निभानी ही थी। उपरोक्त सब कारक मिलाकर पंजाब की स्थिति बेहतर बनी।

इस मानव विरोधी व्यवस्था को बदलने के लिए, मनुष्य के हाथों मनुष्य की लूट को ख़त्म करने के लिए, ग़रीबी और सामाजिक अन्याय पैदा करने वाले सामाजिक प्रबन्ध को तहस-नहस करने के लिए ज़रूरी है कि इसको पर्त-दर-पर्त समझा जाए। रेशम के कीड़े की तरह अपने इर्द-गिर्द मज़बूत खोल बुन कर इसमें छुपी बैठी इसकी सूत्रधार वर्ण तथा वर्ग व्यवस्था के नापाक गठजोड़ के रेशों को खोला जाए। इसको नज़रअन्दाज़ करके व्यवस्था को बदलने के सारे यत्न असफल हो जाएँगे और व्यवस्था विरोधी कहा जाने वाला संघर्ष अन्तिम रूप में आत्म सन्तुष्टि का साधन ही हो जाएगा।

यह तथ्य है कि सामाजिक तब्दीली की सबसे शक्तिशाली ताक़त मज़दूर वर्ग ही होगा। यह भी सत्य है कि इसका बहुत बड़ा हिस्सा सबसे नीची समझी जाने वाली जातियों में ही है। यहाँ जाति और वर्ग समान्तर रेखाओं की तरह चल रहे हैं। सामाजिक स्तर पर सबसे ज़्यादा दबाए गए लोग ही आर्थिक स्तर पर पूँजीवादी शोषण के सबसे अधिक शिकार हैं। इसलिए सामाजिक और आर्थिक दोनों स्तरों पर संघर्ष करना एक जैसा ही ज़रूरी है।

यहाँ पर एक दुखदाई, पर अहम पहलू यह है कि इसी नुक्ते पर आकर दलित और प्रगतिवादी दोनों साहित्यिक धारणाओं के विद्वानों ने अपनी एक-एक आँख बन्द की हुई लगती है। उसके ख़िलाफ़ प्रगतिवादी विद्वान समाज के असमान आर्थिक विभाजन, उसकी लूट और संघर्ष को अपनी रचनाओं और फ़लसफ़े के द्वारा प्रकट करना अपना कर्तव्य समझते हैं। कहीं-कहीं वर्ण व्यवस्था के बारे में भी बोल जाते हैं। ठीक उसी तरह दलित चिन्तकों की केवल एक चिन्ता दलितों के जीवन में जातीय भेदभाव और जाति व्यवस्था ही अक़सर रहती है। हाँ, कहीं-कहीं ग़रीबी, लूट और आर्थिक दशा भी चित्रित हो जाती है। सामाजिक व्यवस्था को समझने के लिए यह असन्तुलित दृष्टिकोण है। लड़ाई दोनों ही स्तरों पर एक जैसी शिद्दत के साथ लड़ी जानी ज़रूरी है।

भारतीय क्रान्ति के सन्दर्भ में देखें तो हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जात-पाँत और वर्ग रहित समाज की रचना ही इसका लक्ष्य होगा। वर्ण व्यवस्था के कोढ़ से छुटकारा इसी तरह मिल सकता है। यहाँ ज़रूरत रोटी के लिए संघर्ष की भी है और अपमान से मुक्ति की भी। इस प्रसंग में सन्त रविदास की वाणी को विचारना भी उचित रहेगा। वह लिखते हैं :

"ऐसा चाहुँ राज मैं, जहाँ मिले सभन को अन्न,
छोटे बड़े जहाँ सम बसैं, रविदास रहें प्रसन्न।"

सन्देश बहुत ही स्पष्ट है। वह तो इससे भी आगे जाते हैं, जब वह लिखते हैं :

"बेगमपुरा सहर को नाओ, दुख अदोह नहीं तिह ठाओ,
न तसबीस, खराज न माल, खौफ न खता तरहस ज्याल।"

यह है एक आदर्श समाज की तस्वीर जो शोषण रहित समाज की अवधारणा के अनुरूप है।

सन्त रविदास की रचनाओं का एक छोटा हिस्सा ही आम जनता के सामने आया है। विडम्बना यह भी है कि इसको भी एक ही पक्ष से पेश करके एक पक्ष की ही सोच उभारी जा रही है। ज़रूरत उसको पूर्ण परिप्रेक्ष्य में समझने की और उस समय के सामाजिक, राजनीतिक सरोकारों को जानने की है।

सन्त रविदास तो जाति व्यवस्था को ख़त्म करना चाहते थे। वह समझते थे कि इस तरह के जातियों-उपजातियों में विभाजित समाज में मानव जाति की एकता नहीं बन सकती। उन्होंने बहुत स्पष्ट लिखा है :

"जात जात लों जात है, जो केलन में पात,
रविदास न मानस जुड़ सके, जो लो जात न जात।

इस तरह रविदास किसी एक जाति विशेष के नहीं बल्कि सारी मानव जाति के प्रतिनिधि बनते हैं। ज़रूरत विभाजन की नहीं, बल्कि मानव जाति को जोड़ने की है। उनका मत है कि जब तक जाति प्रथा क़ायम है, मानव जाति जुड़ नहीं सकती, एकता नहीं हो सकती। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि अन्न छीनने वालों के साथ भूखों की या दुख देने वालों के साथ दुखियों की एकता हो ही नहीं सकती। फिर एकता का आधार क्या हो?

यहीं से साहित्यिक और राजनीतिक शब्दकोष में एक नया शब्द दाखिल होता है "दलित"। स्थिति की विडम्बना यह भी है कि दलित शब्द भी अपने अलग-अलग कितने ही अर्थों में हमारे रूबरू है। आम समझ के अनुसार यह शूद्र अन्त्यज और हरिजन के बाद इनका ही समानार्थी शब्द मात्र है।

कुछ दलित विद्वानों ने तो बड़ा स्पष्ट ऐलान किया है, "दलित से हमारा भाव अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ ही हैं।" उधर दलित साहित्यकारों की सूची तैयार करते हुए एक दलित विद्वान तुलसी राम तो रविदास, नन्द नार और चोखा मेला जैसे कवियों को खारिज करने तक चले जाते हैं। दोष लगाते हैं कि इन्होंने "ब्राह्मणवाद को मज़बूत करने में अपनी भूमिका अदा की है।"

इस स्थिति में इस शब्द के इतिहास और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को जानना बहुत ज़रूरी है।

'दलित' शब्द अंग्रेज़ी भाषा के Oppressed, Depressed, Suppressed, Downtrodden आदि के मिले-जुले अर्थों में ही लिया जाता है। जाति व्यवस्था के ख़िलाफ़ संघर्ष के दौरान यह शब्द काफ़ी देर के बाद प्रचलित हुआ।

अमेरिकन काले लोगों के ऊपर रंग भेद के आधार पर किए गए जुल्मों के ख़िलाफ़ चेतन काले लोगों का जो संगठन 1966 में शुरू हुआ उसका नाम था—'ब्लैक पैन्थर"। इसी की तर्ज़ पर 1972 में 'दलित पैन्थर' नाम का एक संगठन भारत में भी बना।

6 दिसम्बर 1978 को कांशी राम ने 'बैकवर्ड एण्ड माइनारिटी कम्युनिटीज़ इम्प्लाईज़ फ़ेडरेशन—बामसेफ' नाम के एक संगठन की नींव रखी। इस संगठन में पढ़े-लिखे मुलाजिमों की ताक़त इकट्ठा करने के उपरान्त उसने डी.एस.फ़ोर बनाई। इसका पूरा नाम था, 'दलित शोषित समाज संघर्ष समिति'। इस संस्था के बनते समय यह एलान बार-बार किया गया था कि दलित शोषित समाज जो छह हज़ार छोटी जातियों में विभाजित है, आबादी का 85 प्रतिशत बनता है। यह बहुत बड़ी गिनती है सो हम 15 प्रतिशत का राज सहन नहीं करेंगे। यहीं से 14 अप्रैल 1984 को डी.एस. फ़ोर के बहुजन समाज पार्टी में बँटने और बहुजन शब्द के प्रयोग का राज समझ में आता है।

चाहे व्यावहारिक रूप में दलित चेतना का यह प्रयोग कुछ ख़ास राजनीतिक समीकरणों और सौदेबाजियों के उपरान्त कुछ ख़ास जातियों तक सिमट कर रह गया, पर इस शब्द की व्यापकता से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। दलित शब्द को केवल कुछ जातियों तक सीमित करने वाले साहित्यिक विद्वानों और राजनीतिक नेताओं को अपनी ज़रूरतों, धारणाओं और सोच के मुताबिक कोई अलग शब्द ढूँढ़ लेना चाहिए। संकीर्ण सोच के तहत दलित में छिपी व्यापकता को अपमानित न किया जाए।

कुछ विद्वानों का कहना है कि दलित शब्द का उच्चारण छोटी कही जाने वाली जातियों के लोगों को अपमान का अनुभव नहीं देता जैसे कि इस आशय के लिए प्रयोग किए जाने वाले कई और शब्द देते हैं। मेरा विचार है कि जब तक सामाजिक स्थितियाँ और उनके साथ जुड़ी सोच समाज में मौजूद है तो अच्छे से अच्छा शब्द भी इस मनोरथ को नहीं प्राप्त कर सकेगा।

एक विचार यह भी है कि इस शब्द को शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिए। इसके अर्थ तय हो चुके हैं, शब्द प्रचलित और प्रमाणित हो चुका है अतः इसके बारे में बहस की ज़रूरत नहीं। मेरा विचार है कि दलित का प्रचलन चाहे दुरुस्त है पर इसका अर्थ और दायरा ठीक नहीं रखा गया। इसको संकीर्ण नहीं बल्कि

विशाल शोषित वर्ग के अर्थों में ही लिया जाना चाहिए। यही इसकी शुरुआती और सही व्याख्या रही है।

उत्पीड़न का व्यवहार बहुपर्ती और बहुप्रसारी है। उत्पीड़न की प्रक्रिया को ऐसे सरलीकृत करके नहीं समझा जा सकता। आज के युग में उत्पीड़ित और उत्पीड़क की सीधी-सादी निशानदेही भी कुछ नहीं संवार सकती।

मसलन नारी उत्पीड़न को कैसे परिभाषित किया जाए? मानव समाज की सर्वप्रथम ग़ुलाम तो नारी ही रही है। क्या उसको दलित या उत्पीड़ित की संज्ञा देने से इन्कार किया जा सकता है? पूँजी के प्रभुत्व वाले मर्द प्रधान समाज में नारी दोहरी ग़ुलामी के नीचे जी रही है। छोटी जातियों की औरतों की स्थिति तो और भी बदतर है।

एक तरफ़ तो सामाजिक परम्परा का जाति-आधारित तिरस्कार भरा व्यवहार, ऊपर से सितम यह कि इन जातियों के मर्द भी सामाजिक अपमान के अपने अन्दर इकट्ठा हुए ज़हर को मर्द प्रभुसत्ता का फायदा उठाते हुए अपनी औरतों पर निकालते हैं। यह चलन आम तौर पर समाज की मर्द मानसिकता का ही प्रतीक है। जाति व्यवस्था के पंजाब में इतने ज़्यादा विकराल रूप में सामने न आने के बावजूद समाज के सारे ही वर्णों और जातियों में अनेक घटनाएँ रोशनी में आती हैं। असंख्य घटनाओं के द्वारा नारी तिरस्कार हर पल हर रोज़ जारी है।

दलित चिन्तकों के पक्ष का अध्ययन करने के बाद यह महसूस होता है कि उनकी चिन्ता अधिकतर इस उत्पीड़न की दोहरी परत को नज़रन्दाज करने की ही रही है।

ऐतिहासिक दृष्टि से या प्राचीन कथाओं के, ग्रंथों के "ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी यह सब ताड़न के अधिकारी' जैसी बातों के अनुसार भी शूद्र और नारी एक ही हैं। रामायण की कथा अनुसार मर्यादा रूपी 'कोड ऑफ़ कण्डक्ट' ही तो था जिसकी ओट लेकर राम ने शूद्र ऋषि शम्बूक का क़त्ल किया और इसी मर्यादा का दूसरा सिरा था जिसके कारण उनकी अर्धांगिनी सीता को सारी परीक्षाओं के बाद घर से निकाल दिया गया। शम्बूक और सीता दोनों ने मर्यादा पुरुषोत्तम की मर्यादा अपने ऊपर झेली। मर्यादा ने दोनों को नहीं बख़्शा।

यहीं एक और प्रश्न पैदा होता है कि क्या उत्पीड़न केवल जाति-आधारित ही है? मेरा विचार यह है कि मनुष्य समाज के इतिहास में ताक़तवरों के हाथों से कमज़ोरों पर हुए ज़ुल्मों की गाथा को केवल जाति-आधारित उत्पीड़न तक ही सीमित कर देना इसकी तर्कशील व्याख्या क़तई नहीं है। शोषण, ज़ुल्म और तिरस्कार आम मनुष्य को किस तरह से जगह-जगह सहन करना पड़ रहा है, इसकी अनेक मिसालें दी जा सकती हैं। भूख, ग़रीबी इन्सान से क्या-क्या नहीं करवाती है—यह किसी से छुपा नहीं है। भूख और ग़रीबी, कंगाली और अपमान के ख़िलाफ़ संघर्ष इनके पैदा करने वालों के ख़िलाफ़ संघर्ष ही तो होगा। यह व्यवस्था ही तो है जिसका तेंदुए के समान शिकंजा है जो जाति-आधारित तिरस्कार और बेइज़्ज़ती के साथ-साथ समाज के एक बड़े हिस्से को लूट-लूट कर कंगाल कर रहा है। क्या उसके विरुद्ध संघर्ष सारे उत्पीड़ित-दलित लोगों का सम्मिलित संघर्ष नहीं बनता?

अतः दलित की अवधारणा जाति-आधार पर उत्पीड़ित सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर शोषित और दबाए वर्गों के विशाल अर्थ में ही है। इसको कुछ ही जातियों तक सीमित करना, जातियों में विभाजित समाज की राजनीतिक स्थिति में जातिवादी दावपेंच को सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने की कहीं कोशिश तो नहीं?

चर्चा के अगले चरण की ओर जाने से पहले दलित साहित्य की बहुचर्चित अवधारणा को जानना भी ज़रूरी है। यहाँ वही उपरोक्त संकट फिर मौजूद है। दलित विद्वान जातीय उत्पीड़न की पीड़ा से पैदा हुए उसकी व्याख्या और विरोध करने वाले साहित्य को दलित साहित्य की श्रेणी में रखते हैं। सो इसका आधार व्यापक करने का कार्य बेशक अभी बाक़ी है, फिर भी इस विशेष स्थिति का यह संकट हमारे सामने है कि इन हालात में दलित साहित्य के प्रचलित अर्थों में ही इसको लेकर संवाद आगे चलाया जा सकता है।

कहा जाता है कि "दलित साहित्य" सदियों से दबाए, जातिवादी भेदभाव का सन्ताप भोगते लोगों की दास्तान कहता है। उनको वर्ण व्यवस्था के कुष्ठ से मुक्ति के लिए तैयार करता है, विद्रोह की भावना को जगाता है। दलित साहित्य वर्ण व्यवस्था को तोड़ने के लिए संघर्ष के रास्ते पर डालता है।

अगर दलित साहित्य की उपरोक्त बहुप्रचलित परिभाषा के आधार पर ही बात करें तो भी ऐसे साहित्य को दलित कहना उचित नहीं है। अगर यह साहित्य दलित लोगों के विद्रोह की भाषा है तो यह ख़ुद दलित नहीं है। दलित व्यक्ति है, एक वर्ग है उसका साहित्य तो इस सारी स्थिति की अभिव्यक्ति है। व्यक्ति दलित है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं। यह दलित वर्ग के बारे में रचा गया साहित्य है न कि दलित साहित्य। पिछलग्गू बनकर 'दलित साहित्य' शब्द का प्रचलन विचार करने और बदलने के योग्य है।

दलित चिन्तकों ने एक और महत्त्वपूर्ण मुद्दा चर्चा में लिया है। वह यह कि दलित जातियों के अपमान की पीड़ा को, केवल इन जातियों में पैदा हुए साहित्यकार ही व्यक्त करने का अधिकार रखते हैं। इस धारा के तहत यहाँ राष्ट्रीय स्तर पर वर्ण विभाजन और जाति तिरस्कार के ख़िलाफ़ शक्तिशाली आवाज़ बुलन्द करने वाले महान चिन्तक राहुल सांकृत्यायन से लेकर प्रेमचन्द तक को छाँटा जा रहा है। दूसरी ओर पंजाबी की बहुत सी पत्रिकाएँ हरेक साहित्यकार की जाति ढूँढने और उनको जाति गुटबन्दियों में बाँधने में मसरूफ़ हैं। स्थिति वाक़ई चिन्ताजनक है

आइए ज़रा रचना प्रक्रिया के बुनियादी पहलू पर नज़र डालें। साहित्य रचना वेदना, संवेदना और अभिव्यक्ति का सुमेल होता है। किसी व्यक्ति या सामाजिक संगठन के अन्दर व्याप्त दर्द को कोई संवेदनशील व्यक्ति उसकी गहराई तक पहुँच कर महसूस करता है। अगर उसमें अभिव्यक्ति करने की कला है तो वह उसको अपने माध्यम के द्वारा लोगों तक ले जाता है। वेदना कितनी गहरी है—संवेदना कितनी सूक्ष्म है, अभिव्यक्ति कितनी कलात्मक और उसका दृष्टिकोण कितना लोकहितैषी है, यही कला या साहित्य की अमरता के आधार बनते हैं।

दलित साहित्य के नाम से जाना जाने वाला अधिकतर साहित्य आत्म-कथाओं के रूप में हमारे सामने है। साहित्य की इस विधा का जहाँ तक सम्बन्ध है—आत्म-कथाएँ निजी अनुभव ही तो हुआ करती हैं। अतः जाति तिरस्कार भोगने वाला ही अपने अनुभव, अपनी आत्म-कथा में दर्ज़ करेगा, दूसरा कोई नहीं कर सकेगा। परन्तु इस धारणा को साहित्य की सभी विधाओं पर लागू करना किसी भी तरह वाजिब नहीं।

वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा के हमारी व्यक्तिगत और सामाजिक प्रगति में रुकावटें बनने के विषय को कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता या किसी और भी विधा और कला माध्यम के द्वारा व्यक्त करने की हर कोशिश का स्वागत किया जाना चाहिए न कि साहित्य में ब्राह्मणवादी समाज के जैसी दीवारें खड़ी करके, अपनी संकीर्ण धारणाओं के अनुसार बन्दिशें लगाने के रास्ते चलना। इस धारणा से चिपक कर दलित साहित्य और साहित्यकारों का घेरा सिकोड़ने में लगे चिन्तकों और साहित्यकारों को आत्म चिन्तन करने की सख़्त ज़रूरत है।

सवाल पैदा होता है कि वर्ण व्यवस्था के ख़िलाफ़ पहली बार बुनियादी सैद्धान्तिक संघर्ष करने वाले महान चिन्तक महात्मा बुद्ध क्या शूद्र थे? क्या इसीलिए उनको अपने दायरे से बाहर निकालने की असफल कोशिश की जाए कि वह जन्म से क्षत्रिय थे। बुद्ध का बहुत ही संवेदनशील शिष्य मुदगलियान ही तो था जिसने बुद्ध के जीवन काल में ही वर्ण व्यवस्था के ख़िलाफ़ और बौद्ध धारणाओं के हक़ में बहस करते हुए अपना जीवन अर्पण कर दिया। वर्ण व्यवस्था के ख़िलाफ़ युद्ध का वह पहला महान शहीद है। मगर कौन था मुदगलियान? वह एक ब्राह्मण था जो बुद्ध के विचारों से प्रभावित होकर बौद्ध भिक्षु बन गया। भिक्षा लेने गया, एक ब्राह्मण से ही शास्त्रार्थ किया। बहस में हारते हुए देख उस ब्राह्मण ने ही इस ब्राह्मण/बौद्ध भिक्षु मुदगलियान का सर कलम कर दिया। क्या मुदगलियान को खारिज किया जाना चाहिए? क्या बाबा नानक दलित थे? दलित तो प्रेमचन्द भी नहीं थे। न ही 'सद्गति' जैसी शाहकार फ़िल्म के निर्देशक सत्यजीत रे दलित थे। आदिवासी वेदना की दिल हिला देने वाली फ़िल्म 'आक्रोश' का फ़िल्मकार गोविन्द निहलानी भी दलित या आदिवासी नहीं है। इसी चर्चा में हिन्दी, पंजाबी और कुछ और भाषाओं के सैकड़ों साहित्यकारों तथा कुछ और विधाओं

के साथ जुड़े महान लोगों के नाम लिये जा सकते हैं। यह धारणा कि, "उच्च जातियों में जन्मे साहित्यकार उनके ही प्रतिनिधि होंगे और नीची जातियों में जन्मे साहित्यकार इनके" बिल्कुल दुरुस्त नहीं हैं।

भारत में दलित और पिछड़ी कही जाने वाली जातियों में भी तो 'केलन में पात' वाली स्थिति है। बकौल कांशी राम छह हज़ार और संविधान के मुताबिक तीन दर्जन के क़रीब। अगर उपरोक्त सिद्धान्त को लागू करने की हिमाकत की जाती है तो दलित साहित्य भी दर्जनों या फिर सैकड़ों, हजारों क़िस्मों में विभाजित हो जाएगा। फिर चमार साहित्यकार अपनी ही जाति के अनुभवों तक महदूद रहेंगे। बाल्मीकि या भंगी (जिनसे चमार भी नफ़रत करते हैं) अपनी जाति ही के रुदन को भाषा प्रदान करेंगे और छोटी-छोटी जातियाँ और उपजातियाँ केवल अपनी ही जाति के साहित्यकार को मान्यता प्रदान करेंगी। इस स्थिति में आज का यह दलित साहित्य एक धारा न होकर बिखर जाएगा। इस अप्रासंगिक धारणा से अभी इसी वक़्त पीछा छुड़ाने की सख़्त ज़रूरत है।

अगर उच्च जाति में जन्मे साहित्यकार इस तर्कहीन सामाजिक चलन को अपनी रचना का आधार बनाते हैं तो यह स्वागत के योग्य है। इस नुक़्ते को समझने के लिए एक चर्चित प्रसंग का ज़िक्र करना दिलचस्प रहेगा।

चीन और रूस की कम्युनिस्ट पार्टियों के दरमियान साठ के दशक में एक तीक्ष्ण विचारधारात्मक संघर्ष चला था, जिसको महान बहस का नाम दिया गया। इस बहस के लिए जहाँ दस्तावेज़ों के लेन-देन होते वहाँ आमने-सामने बैठकर चर्चा भी होती। इसी बहस के सम्बन्ध में एक बार चीन के प्रधानमंत्री चाओ एन-लाई रूस गए हुए थे। रूस के राष्ट्रपति ख़ुश्चेव दूसरी तरफ़ से बहस में हिस्सा ले रहे थे। बहस का एक दौर ख़त्म होने पर दोनों खाने की मेज़ पर बैठे तो ख़ुश्चेव ने चाओ-एन-लाई पर व्यंग्य कसते हुए कहा, "देखो क्या अजीब इत्तफ़ाक है। तुम एक जागीरदार के घर पैदा हुए—मैं ग़रीब मोची के घर। तुम किसी और वर्ग से आए, मैं एक बिल्कुल अलग वर्ग से हूँ। अब हम यहाँ इकट्ठा बैठे हैं, जबकि हम दोनों में कोई भी वर्गीय समानता नहीं। इस पर चाओ एन-लाई ने तुरन्त पलटकर कहा "समानता क्यों नहीं? समानता तो है ही। हम दोनों ही ग़द्दार हैं। तुम अपने वर्ग से ग़द्दारी किए जा रहे हो और मैं अपने वर्ग से।"

अतः दलितों में जन्मे साहित्यकारों में थोड़ी खोज करें तो बहुत से ख़ुश्चेव मिल जाएँगे और कमी मुदगलियानों की भी नहीं है। मेरा स्पष्ट विचार यह है कि जाति के आधार पर रचना की लाईसेन्सिंग विधि ठीक नहीं है। विभाजन का आधार साहित्य का तत्त्व, विषय और दृष्टिकोण होने चाहिए न कि साहित्यकार की जाति। इन अर्थों में रचित साहित्य का स्वरूप प्रगतिवादी है और होगा। इस प्रकार इसका प्रचलित प्रगतिवादी साहित्य से कोई टकराव का रिश्ता नहीं बनता।

परन्तु कुछ कारण तो रहे ही होंगे कि दलित साहित्य की धारा अपनी अलग ही पहचान बनाने में रुचित और प्रयत्नशील है। कई दूसरे कारणों के साथ ही एक महत्त्वपूर्ण कारण मेरे अनुसार यह भी है कि प्रगतिवादी साहित्य धारा से सम्बन्धित साहित्यकारों का बड़ा हिस्सा अपने उच्च जातीय संस्कारों से मुक्त न हो पाने के कारण, साहित्य में बेशक प्रगतिवादी आदर्श की रचनाओं का रचनाकार रहा परन्तु आम सामाजिक जीवन में उनके अवचेतन मन में बैठे संस्कार उनके मार्गदर्शक बनते रहे।

पंजाब के सन्दर्भ में यह बात ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि प्रगतिवादी आन्दोलन से जुड़े साहित्यकारों का बहुत बड़ा भाग अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से मुँह मोड़ बैठा है। बौद्धिक रचनात्मक पक्ष और सामाजिक-व्यावहारिक जीवन दोनों को बिल्कुल ही अलग रखकर चल रहा है। इसका ही नतीजा है कि साहित्यिक समागम या मीटिंग से उठकर चर्चा जब बाहर पहुँचती है तब प्रसंग और धारणाएँ भी बदल जाती हैं। ऐसी स्थिति सदियों से दबाए चले आ रहे वर्ग के साहित्यकारों को अपने पहलू में लेने के प्रतिकूल है।

इसी तरह यह सवाल भी इसी चिन्ता का दूसरा नुक़्ता है कि कम्युनिस्टों के पास मार्क्सवाद जैसी वैज्ञानिक विचारधारा होते हुए भी समाज की निचली जाति होने का सामाजिक सन्ताप सहन करते हुए और आर्थिक सन्ताप के नीचे दबा सर्वहारा वर्ग अपनी मुक्ति के लिए इनसे क्यों न जुड़ा? या फिर कम्युनिस्टों

के सबसे भरोसे योग्य वर्ग का भरोसा वह क्यों नहीं जीत सके? क्यों वह एक या दूसरी राजनीतिक पार्टी द्वारा छले जाने के बाद भी इधर के बारे में नहीं सोच रहा?

मेरे विचार से सब भारतीय कम्युनिस्ट धाराओं, पार्टियों या संगठनों ने भारतीय समाज की कुष्ठ जाति प्रथा को तोड़ने का सवाल एक मुद्दा बनाकर कभी भी नहीं लड़ा। इस समस्या की गम्भीरता को नज़रन्दाज करके इसके ख़िलाफ़ अलग आन्दोलन की ज़रूरत कभी महसूस ही नहीं की। बल्कि सामाजिक न्याय और सामाजिक बराबरी के नुक्ते से अपने तरीक़े से संघर्ष कर रहे मार्क्सवादी दर्शन के शुभचिन्तक डा. अम्बेदकर के साथ की राजनीतिक धारणाओं के बारे में चाहे किसी के लाख मतभेद हों परन्तु कोई इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि आज भी डा. अम्बेदकर दलितों के लिए मसीहा हैं।

दूसरा पक्ष भी ज़रूरी और व्यावहारिक है। कम्युनिस्टों में दाखिल होने के साथ ही हर व्यक्ति की 'डिक्लास' होने की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। परन्तु सत्य तो यह है कि दशकों से आन्दोलन में काम करने के उपरान्त भी अनेक कामरेडों को ज़रा सा खरोंचने से जाट निकल आता है। बहुत सारे समझदार लोग भी अपने नाम के साथ अपना गोत्र लगाकर गर्व महसूस करते हैं। कुछ एक को छोड़कर बाक़ी सभी गोत्र, जात की पहचान के प्रतीक मात्र ही तो हैं। ऐसा नहीं है कि सारे ही एक जैसे हैं—ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने अपने आप को बदला। परन्तु उनकी संख्या पहले से काफ़ी कम है। एक उल्लेखनीय और चिन्ताजनक पहलू और भी है कि पंजाब के कामरेडों का एक हिस्सा भूमि का मोह, पैसे की लालसा और रुतबे की होड़ की तरफ़ तेज़ी से भाग रहा है। दलितों से आने वाले वर्कर कम्युनिस्टों को एक आदर्श और अपना सब कुछ न्योछावर करने वाला समूह मानकर उनके साथ जुड़ते हैं लेकिन उपरोक्त माहौल के भेदभाव भरे व्यवहार के कारण पैसिव होकर घर चले जाते हैं। कम्युनिस्ट भी कई बार उलाहना देते हैं कि हम इन दलितों के बारे में कितना सोचते हैं, और हमने उनकी मुक्ति के लिए मशाल उठाई है फिर ये हमारे पीछे क्यों नहीं आते?

स्थिति का अगर वर्गीय विश्लेषण करें तो दो नुक्ते उभरते हैं। पहला तो यह कि समस्या सोचने से नहीं, करने से हल होगी। दूसरा नुक्ता यह है कि पंजाब के कम्युनिस्टों, ख़ासकर कम्युनिस्ट इन्कलाबी संगठनों में काम करने वाले लोगों का मुख्य आधार और शक्ति मध्यवर्ग ही है। सवाल यह उत्पन्न होता है कि क्या यह मध्यवर्ग, दलितों में बैठे विशाल सर्वहारा वर्ग का मुक्तिदाता है या फिर सर्वहारा वर्ग मध्यवर्ग को मुक्ति दिलाएगा? मार्क्सवादी चिन्तन निस्सन्देह दूसरी धारणा की पुष्टि करता है। सामाजिक पक्ष से भी किसी घर की हालत मेहमान बनकर सुधारी नहीं जा सकती।

यह भी आज के दिन का कड़वा सत्य है कि राजनीतिक पक्ष से क्रान्ति तथा उथल-पुथल के हिमायती और क्रियाशील होते हुए भी सामाजिक, ख़ासकर जातीय भेदभाव मिटाने के सवाल पर लगभग सारे ही कम्युनिस्ट यथास्थितिवादी हैं और उनके अपने बेगानों के साथ हैं।

नतीजा यह है कि आज दलित वर्ग का अर्थ एक महत्त्वपूर्ण वोट बैंक बनकर रह गया है। राष्ट्रीय स्तर पर दलितों के प्रति प्यार दिखा भ्रमित करके अपने-अपने पक्ष में भुनाने के लिए प्रयत्न करते हुए लीडर अक़सर मिल जाते हैं ताकि मीठे पानी का लालच देकर कुएँ में गिराई गई बकरी के समान, उनकी पीठ के ऊपर से छलाँग लगाकर सत्ता हथियाने की लालसा पूरी कर सकें। पंजाब में भी, चुनाव के समय सियासी पार्टियाँ इन बिना बेहड़े (आँगन) वालों को शराब की पेटियाँ बाँट-बाँट कर मदहोश करके वोट अपने पक्ष में गिरवाने या फिर नोटों के बदले वोट ख़रीदने की जानी पहचानी प्रथा निर्विघ्न चल रही है।

इस पक्ष पर इतनी बारीक़ी में विचार करना इसलिए भी महत्त्वपूर्ण और ज़रूरी था क्योंकि राजनीतिक धारणाओं, राजनीतिक उथल-पुथल, राजनीतिक क्षेत्र के बदलते समीकरण साहित्य की धारणाओं को प्रत्यक्ष-परोक्ष दोनों रूपों में प्रभावित करते हैं। ये प्रभाव, दिशा प्रदान करने या दिशाहीन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

इस विस्तृत चर्चा का अन्तिम नुक्ता है कि चौथे वर्ण शूद्रों और अछूतों के जाति विभाजन को एक ही इकाई के रूप में गिना जाए या फिर स्थिति कुछ और है?

यथार्थ यह है कि यहाँ भी 'केलन में पात' वाली स्थिति है। अनगिनत जातियाँ है और हर जाति अपनी सीमा में डटकर बैठी है। रविदासिए अपने आपको बाल्मीकि जाति से श्रेष्ठ समझते हैं। आगे बाल्मीकि अपने आपको बाज़ीगर आदि बिरादरी से श्रेष्ठ समझते हैं। बाज़ीगर बिरादरी आगे बद्दू या गन्दीलियों को अपने से नीचा मानती है। पिछड़ी श्रेणी की स्थिति और भी त्रासद है। वह त्रिशंकु की तरह बीच में लटक रही है। व्यावहारिक ज़िन्दगी में वह ऊँची जातियों के लागियों का काम करते आ रहे हैं परन्तु वह अनुसूचित जातियों के लोगों से उच्च जाति से भी ज़्यादा दूर-दूर रहते हैं। कारण शायद यह भी हो कि वह नीचे की जातियों में मिलने के कारण, ऊपर वालों से मिलने वाली तिरस्कार भावना से डरते हों। शहरीकरण और सरमाएदाराना रिश्तों ने उपरोक्त स्थिति को थोड़ा कम ज़रूर किया है परन्तु इसका पंजाबी समाज, ख़ास तौर पर, ग्रामीण समाज में काफ़ी हद तक असर बना हुआ है।

क्या इन अनुसूचित जातियों या दलितों के आपसी सम्बन्ध रिश्तों में बदलते हैं? अपने लिए बराबरी पर आधारित व्यवहार की माँग करने वाले दलित कहे जाने वाले समाज में भी ऊँची-नीची जाति की सोच मौजूद है और इस सोच पर आधारित भेदभाव भी मौजूद है। प्रश्न किया जा सकता है कि कितने रविदासियों ने अपने लड़के-लड़कियों की शादियाँ बाल्मिकाओं, सांहसियों, ओड़ों, बाज़ीगरों आदि बिरादरियों में की? वास्तव में मानसिक आधार पर बराबरी का आलम इन जातियों में भी नहीं है। इस तरफ़ कोई प्रक्रिया भी नहीं चल रही दिखाई देती, बल्कि ये सारे भी समाज के दूसरे हिस्सों की तरह अपनी-अपनी जाति से चिपके हुए हैं। जातीय अपमान की प्रतिक्रिया जातीय अभिमान के रूप में करना स्वस्थ या सार्थक रुझान नहीं है। ज़रूरत जाति पर आधारित सामाजिक ढाँचों को ख़त्म करके इससे मुक्त होने की है न कि गर्व करने की। समझने वाला बुनियादी नुक़्ता यह है कि जब अपनी जाति पर गर्व करने का दांवपेच कोई व्यक्ति जाने या अनजाने अपनाता है तो अचेत या सचेत रूप में वर्ण व्यवस्था से पैदा हुई जाति प्रथा को जायज ठहराने और इस पर गर्व करने पर जाकर रुकता है।

पंजाबी में दलित साहित्य रचने की विधिवत प्रक्रिया कुछ देर पहले ही सामने आई है। यह मूल रूप में मराठी और कई दूसरी भाषाओं के साहित्य की धारणाओं का अनुसरण करती दिखाई देती है।

दलित साहित्य की एक बहुचर्चित विधा आत्म-कथाओं का अध्ययन करने से एक रिक्तता अवश्य महसूस होती है। ये आत्मकथाएँ भी दलित जीवन के सहज प्रवाह तथा इसके बहु-आयामी प्रसार और मनोवैज्ञानिक पक्ष से इसके अलग-अलग आयामों को प्रतिबिम्बित करने में पूरी तरह सफल अभी नहीं हो सकी हैं। मेरा मानना है कि ये आत्म-कथाएँ, बीते समय में अनुभव की गई पीड़ा की इनके चेतन रचनाकारों द्वारा (जो काफ़ी हद तक उस स्थिति से बाहर आ गए हैं) सम्पादित की गई अभिव्यक्ति है।

जिन-जिन इलाक़ों से ये आत्म-कथाएँ आई है उन्हीं बस्तियों में वर्तमान में जी रहे दलित लोगों का दर्द बयान किए गए दर्द से भी ज़्यादा गहरा है। यह दर्द शब्दहीन है, इस सामूहिक दर्द को ज़बान की बहुत ज़रूरत है। ये आत्म-कथाएँ बिना शक उस दर्द की धुन तो सुनाती हैं पर गीत नहीं बन सकीं। अभी और गहरे जाना पड़ेगा—अभी और संवेदनशील होने की ज़रूरत है।

साहित्य की सारी विधाओं में और सारे संवेदनशील रचनाकारों की कलमों को वर्गीय सत्य के साथ-साथ यह सामाजिक सत्य भी प्रबल करना पड़ेगा। दलित साहित्य के चिन्तकों को भी जहाँ अपनी सोच अधिक व्यापक करनी पड़ेगी, वहीं दलितों के नाम पर सारी सहूलियतों का आनन्द उठाने वाले परजीवी क़िस्म के 'दलितों' के बारे में भी सोचना पड़ेगा। प्रगतिवादी साहित्यिक धारणा के रचनाकारों को ईमानदारी के साथ आत्म-निरीक्षण करते हुए ग़रीब दलितों के दर्द की वाणी का सम्मान करते हुए दोस्ती का हाथ बढ़ाना पड़ेगा। ज़रूरत है इस सड़े-गले सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक ढाँचे को नेस्तो-नाबूद करके एक नया समाज बनाने की—नया बेग़मपुरा बनाने की।

पंजाबी से अनुवाद :
राजेन्द्र जण्डियाली

परम्परा-प्रसंग

इक्कीसवीं सदी में बाल्ज़ाक

कात्यायनी / सत्यम

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, साहित्य के जागरूक यूरोपीय पाठकों के बीच यह मान्यता काफ़ी लोकप्रिय हुआ करती थी कि विश्व का महानतम उपन्यास "युद्ध और शान्ति' है और महानतम उपन्यासकार बाल्ज़ाक हैं।

आज, एक शताब्दी बाद भी, विश्व-साहित्य के अध्येताओं का बहुलांश उपरोक्त धारणा से सहमत मिलेगा। पिछले डेढ़ सौ वर्षों के दौरान दुनिया के पाँच सार्वकालिक महानतम उपन्यासकारों की सूची जब कभी भी बनाई जाती तो उसमें बाल्ज़ाक का नाम शायद सबसे निर्विवाद और सुरक्षित होता। पिछले चार सौ वर्षों के विस्तृत विश्व-ऐतिहासिक कालखण्ड को सामने रखकर यदि उपन्यास-विधा पर केन्द्रित करें तो **राबेले, सर्वान्तेस, डेफ़ो, फ़ील्डिंग, स्टर्न, दिदेरो, वाल्टर स्कॉट, स्टेण्ढाल, तुर्गनेव, तोल्स्तोय, दोस्तोयेव्स्की, डिकेन्स, थैकरे, थामस हार्डी, फ्लॉबेयर, ज़ोला, थामस मान, अनातोल फ़्रांस, अप्टन सिंक्लेयर, जैक लण्डन, गोर्की, फ़देयेव, शोलोखोव, हेमिंग्वे, फ़ॉकनर, ग्राहम ग्रीन, गैब्रिएल गार्सिया मारख़ेज़** आदि-आदि से निर्मित विविध आलोकमय तारापुंजों के बीच बाल्ज़ाक का नाम ध्रुवतारे की तरह अलग चमकता हुआ नज़र आता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के फ़्रांस में यथार्थवाद के जन्म और विकास के इतिहास का प्रथम अध्याय वस्तुतः बाल्ज़ाक के रचनात्मक लेखन का पूरा कालखण्ड है। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के यथार्थवादी लेखकों की उत्तरवर्ती पीढ़ियों के प्रायः सभी पुरोधाओं पर बाल्ज़ाक ने गहरा प्रभाव छोड़ा। इनमें फ्लॉबेयर से लेकर तोल्स्तोय तक शामिल थे। बीसवीं शताब्दी में गोर्की और शोलोखोव से लेकर **लू शुन** और **प्रेमचन्द** तक—अधिकांश महान लेखकों ने उपन्यासकार के रूप में बाल्ज़ाक की सार्वकालिक महानता को स्वीकार किया है और उन्हें यथार्थवाद का आला उस्ताद बताया है। मार्क्सवादी सिद्धान्तकार समालोचक **जार्ज लूकाच** बाल्ज़ाक, स्टेण्ढाल और तोल्स्तोय की रचनाओं में ही आलोचनात्मक यथार्थवाद की व्यापकता और गहराई सर्वाधिक मानते थे।

यह बहुज्ञात तथ्य अनायास या अप्रत्याशित ज़रा भी नहीं लगता कि वैज्ञानिक समाजवाद के प्रणेता **कार्ल मार्क्स** सर्वान्तेस और बाल्ज़ाक को तमाम अन्य उपन्यासकारों के ऊपर रखते थे और उनके अनन्य मित्र और सहचिन्तक **फ्रे़डरिक एंगेल्स** भी उनके इन विचारों से पूरी तरह सहमत थे।

फ्रांसीसी मज़दूर आन्दोलन के प्रसिद्ध नेता तथा मार्क्स के शिष्य और दामाद **पॉल लफ़ार्ग** ने अपने एक संस्मरण में लिखा है : *"वह (मार्क्स) बाल्ज़ाक के इतने प्रशंसक थे कि राजनीतिक अर्थशास्त्र पर अपनी पुस्तक का लेखन-कार्य समाप्त करते ही वह उनकी महान रचना-शृंखला 'ह्यूमन कॉमेडी' (La Comedie Humaine) की समीक्षा लिखना चाहते थे। वह बाल्ज़ाक को अपने युग का इतिहासकार ही नहीं मानते थे, अपितु ऐसे पूर्वकल्पित पात्रों का स्रष्टा भी मानते थे जो अभी लुई फिलिप के ज़माने में भ्रूणावस्था में थे तथा जो बाल्ज़ाक के देहावसान के बाद, नेपोलियन तृतीय के काल में ही पूर्णतया विकसित हुए।"*

बाल्ज़ाक ने छोटे-बड़े निन्यानबे उपन्यास और कहानियाँ लिखीं और इसे हिन्दी जगत की कंगाली और हिन्दी पाठकों का दुर्भाग्य ही माना जाएगा कि इनमें से हमारी जानकारी के मुताबिक सिर्फ़ दो उपन्यासों (*'ओल्ड गोरियो'* और *'यूजीन ग्रान्दे'*) के अनुवाद ही हिन्दी में उपलब्ध हैं। बाल्ज़ाक की कम से कम प्रतिनिधि रचनाओं को हिन्दी में लाना हमारी समझ से एक बेहद, बेहद ज़रूरी काम है। हर दृष्टि से यह हिन्दी को समृद्ध करेगा। हिन्दी साहित्य को नई सदी के नये यथार्थ, नये स्वप्नों और नई चुनौतियों से जूझने के लिए अपनी जातीय परम्पराओं के अतिरिक्त विश्व-साहित्य की जिस अनश्वर विरासत को आत्मसात करना है, उसमें बाल्ज़ाक के कृतित्व का अनन्य स्थान है।

बाल्ज़ाक ने अपने उपन्यासों-उपन्यासिकाओं की शृंखला 'ह्यूमन कॉमेडी' को *"उन्नीसवीं सदी की जीवन-चर्या का अध्ययन"* बताया था। यह पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना और उसकी राजनीतिक-सांस्कृतिक अधिरचना के निर्माण का प्रारम्भिक दौर था। मार्क्स और एंगेल्स अपने मित्रों को प्रायः सलाह दिया करते थे कि वे फ्रांस में पूँजीवाद के उदय को जानने-समझने के लिए आर्थिक इतिहासकारों के उबाऊ ब्योरों के बजाय बाल्ज़ाक के उपन्यास पढ़ें। कभी-कभी यह देखकर आश्चर्य होता है कि पिछली आधी सदी की क्रमिक पूँजीवादी संक्रमण प्रक्रिया ने हमारे देश में भी चरित्रों-संस्थाओं के जिन 'टाइपों' का तथा बाज़ार-अर्थव्यवस्था की जिस मानवद्वेषी संस्कृति का विकास किया है, उन्हें समझने में बाल्ज़ाक से कितनी अधिक मदद मिलती है। हालाँकि उत्तर-औपनिवेशिक समाज, साम्राज्यवादी विश्व-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा भारतीय पूँजीवादी संक्रमण की अपनी कई विशिष्टताएँ और भिन्नताएँ हैं (और इस रूप में हर ऐतिहासिक तुलना या सादृश्यता आंशिक-अधूरी ही होती है), फिर भी अर्थशास्त्री **गिरीश मिश्र** (**'बाल्ज़ाक : मिरर ऑफ इमर्जिंग माडर्न कैपिटलिज़्म'** के लेखक) के इस विचार से सहमति के पर्याप्त आधार हैं कि : *"आज भारत में जो कुछ हो रहा है उसको समझने-बूझने में बाल्ज़ाक जितने सहायक हो सकते हैं उतने हमारे यहाँ के बड़े-बड़े विद्वानों और चिन्तकों के ग्रन्थ और शोध-निबन्ध नहीं, क्योंकि बाल्ज़ाक के पास जो समग्र विश्व दृष्टि, विश्लेषणात्मक दक्षता तथा तथ्यों को परखने और विभिन्न शक्तियों तथा पक्षों के अन्तर्सम्बन्धों की तह तक जाने की जो कला है वह अन्यत्र नहीं दीखती।"*

'ह्यूमन कॉमेडी' और उसके सर्जक के जीवन की महाकाव्यात्मक त्रासदी

बाल्ज़ाक के जन्म से दस वर्ष पहले, 1789 में महान फ्रांसीसी क्रान्ति सामन्ती सत्ता और सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को धूल में मिला चुकी थी। "अभिजातों को इन्सानों के दर्ज़े तक ऊँचा उठाया जा चुका था।" लेकिन पुरानी व्यवस्था की स्थानापन्न नई पूँजीवादी व्यवस्था अभी सुनिश्चित शक्ल नहीं ले पाई थी। नया सत्ताधारी बुर्जुआ वर्ग दस वर्षों तक सामन्ती पुनर्स्थापना की कोशिशों से, और उससे अधिक जनक्रान्ति की मुख्य ताक़त—आम मेहनतकश जनता की प्रतिनिधि शक्तियों से निपटता रहा जो क्रान्ति को आगे ले जाना चाहते थे और प्रबोधनकालीन दार्शनिकों के आदर्शों को वास्तव में, यथार्थ में रूपान्तरित करना चाहते थे। यह जटिल वर्ग-संघर्ष और भीषण सामाजिक उथल-पुथल का तरल परिदृश्य था। कहा जा सकता है कि

1799 में नेपोलियन के सत्तासीन होने के बाद ही, नई, पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना और राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण का काम विधिवत एजेण्डे पर आया। यह एक संयोग ही था कि इसी वर्ष मई में, तूर में ओनोरे द बाल्ज़ाक का जन्म हुआ।

फ्रान्सीसी क्रान्ति और उत्तरवर्ती दशक के उथल-पुथल के दौरान बाल्ज़ाक का परिवार किसान से शहरी मध्यवर्ग बन गया। बाल्ज़ाक की शिक्षा-दीक्षा पेरिस में कालेज द वान्दोम में और पेरिस लॉ स्कूल में हुई। इसके साथ ही वे नोटरी ऑफिस में प्रैक्टिस भी करते रहे। आगे चलकर पेरिस के शहरी जीवन के अपने इन अनुभवों का इस्तेमाल बाल्ज़ाक ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास *'ओल्ड गोरियो'* में किया। युवावस्था में बाल्ज़ाक की रुझान दर्शन की ओर थी। फ्रांसीसी प्रबोधनकालीन दार्शनिकों के प्रभाव में वे 'दार्शनिक' और 'कलाकार' की अवधारणाओं को अभिन्न मानते थे और इसी नाते उन्होंने अपने लिए लेखक का कैरियर चुना।

1822-25 के दौरान बाल्ज़ाक ने जां-लुई और अन्य विभिन्न छद्म नामों से अपने आठ उपन्यास प्रकाशित कराए, पर ये सभी असफल रहे। निराश बाल्ज़ाक एक टाइप फाउण्ड्री और प्रेस में हिस्सेदार बन गए, पर व्यवसाय-कुशलता के अभाव के कारण यहाँ भी वे विफल रहे। तीस वर्ष की उम्र में व्यवसाय से अलग होते समय वे कर्ज़ के भारी बोझ से लदे हुए थे, जिसे उतार पाना कभी सम्भव नहीं हो पाया। बहरहाल, इन अनुभवों ने उद्योग, वाणिज्य और वित्त की दुनिया की जिन तफ़सीलों से बाल्ज़ाक का परिचय कराया, उसका इस्तेमाल आगे चलकर उन्होंने अपनी रचनाओं में किया। इन अनुभवों ने बुर्जुआ समाज की संरचना, कार्य-प्रणाली और विभिन्न वर्गों की प्रकृति और व्यवहार को समझने में बाल्ज़ाक की काफ़ी मदद की।

युवा बाल्ज़ाक पर फ्रांसीसी प्रबोधन काल ("एज ऑफ एनलाइटेनमेण्ट') की भौतिकवादी विचारधारा का गहरा प्रभाव था। समाज में प्रभावी बुर्जुआ सम्बन्धों के वे निर्मम आलोचक थे और उनके प्रति इस हद तक घृणा से भरे हुए थे कि 1832 के आसपास 'लेजिटिमिस्ट' (राजतंत्रवादी) राजनीतिक विचारों के पक्षधर हो गये। राजतंत्र को वे राज्यसत्ता का स्थायित्वपूर्ण रूप मानते थे जो बुर्जुआ वर्ग के स्वार्थ पर अंकुश लगा सकता था तथा आर्थिक और नैतिक प्रगति को सम्भव बना सकता था। इसी तरह कैथोलिक धर्म को भी वे बुर्जुआ स्वार्थपरता का तोड़ ("एण्टीडोट') मानते थे। तोल्स्तोय की ही तरह, बाल्ज़ाक के भी ये अन्तर्निहित अन्तरविरोध उनकी मनोवैज्ञानिक स्थिति के विशुद्ध व्यक्तिगत लक्षणों के ही नहीं, बल्कि समाज के जीवन में वास्तविक अन्तरविरोधों के भी विचारधारात्मक प्रतिबिम्ब थे। बाल्ज़ाक के प्रतिगामी राजनीतिक विचारों के बावजूद, उनके आलोचनात्मक यथार्थवाद की महान क्रान्तिकारी भूमिका की तर्कसंगत व्याख्या फ्रेडरिक एंगेल्स ने इन शब्दों में प्रस्तुत की है : *"यह सच है कि बाल्ज़ाक अपने राजनीतिक दृष्टिकोण के मामले में लेजिटिमिस्ट थे; उनका महान कृतित्व उच्च समाज के असाध्य क्षय के बारे में सतत शोकगीत है; उनकी सारी सहानुभूति उस वर्ग के साथ है, जिसके नसीब में विलोप होना लिखा हुआ है। परन्तु यह सब होते हुए भी उनकी व्यंग्योक्तियाँ उतनी अधिक तीक्ष्ण, उतनी अधिक कटु और कभी नहीं होतीं, जितनी उस समय, जब वह ठीक उन पुरुषों और नारियों की, अभिजातों की तस्वीर खींचते हैं, जिनके साथ उनकी सबसे गहरी सहानुभूति है। और जिन लोगों की चर्चा वह सदैव अप्रच्छन्न प्रशंसा के साथ करते हैं, वे उनके कटुतम राजनीतिक विरोधी, जनतंत्रवादी—सेंट मेरी मठ के नायक* (जनतंत्रवादी पार्टी के वामपक्ष के वे विद्रोही जिन्होंने 1832 में सेंट मेरी मठ के पास लुई फिलिप के सैनिकों से बैरीकेडी युद्ध लड़ा था—सं.) *हैं, जो उस समय (1830-1836) सचमुच जनसाधारण के नायक थे। इस चीज़ को, कि बाल्ज़ाक इस तरह स्वयं अपनी वर्ग-सहानुभूतियों तथा राजनीतिक पूर्वाग्रहों के विरुद्ध खड़े होने के लिए विवश हुए, कि उन्होंने अपने प्रिय अभिजातों के पतन की आवश्यकता देखी और उनका ऐसे लोगों के रूप में वर्णन किया, जो बेहतर नसीब के पात्र नहीं हैं, कि उन्होंने भविष्य के वास्तविक लोगों को वहाँ देखा, जहाँ और केवल जहाँ वे उस समय मिल सकते थे—इस चीज़ को मैं यथार्थवाद की सबसे महती विजयों में से एक, अनुभवी बाल्ज़ाक के भव्यतम गुणों में से एक मानता हूँ।"* (मार्गरेट हार्कनेस को चिट्ठी, अप्रैल, 1888)

व्यवसाय में हाथ आज़माने के विफल दौर के बाद बाल्ज़ाक ने एक बार फिर जब लेखन की दुनिया में

प्रवेश किया तो पूरी तैयारी के साथ। राबेले, मोलिएर और वाल्टर स्कॉट को अपना मुख्य साहित्यिक गुरु मानते हुए उन्होंने अपनी साधना की नये सिरे से शुरुआत की। *'दि वाइल्ड ऐस'ज़ स्किन'* (1830-31) को स्वयं बाल्ज़ाक ने अपने कृतित्व का प्रस्थान-बिन्दु बताया है। इस उपन्यास की कहानी सूक्ष्म विस्तारों के साथ इस घटनाक्रम का ब्योरा पेश करती है कि किस तरह एक हत्यारा-बैंकर भ्रष्टाचारी प्रेस के ज़रिए जनमत को मनमुआफ़िक प्रभावित करता है और बढ़ती हुई बुर्जुआ स्वार्थपरता विश्वासों और उसूलों को तबाह कर डालती है। युवा रफाएल द वालेन्तीन, स्वयं से विश्वासघात करने के बावजूद, उन लोगों के प्रति तिरस्कार का रुख अपनाए रहता है जो ज़िन्दगी के मालिक बन बैठे थे। इस उपन्यास में बाल्ज़ाक ने स्वच्छन्दतावादी बिम्ब-विधान, प्रतीकवाद और सजीव चित्रात्मकता-युक्त गम्भीर विश्लेषण के साथ 1830 की क्रान्ति के बाद पेरिस के माहौल को उपस्थित किया है तथा उस दौर के लोगों की जटिल प्रकृति, भावाकुलता की त्रासदी, विज्ञान की दुनिया और जीवन के लगातार बढ़ते उथलेपन का चित्र खींचा है।

1834 में, जिस वर्ष बाल्ज़ाक का शाहकार उपन्यास 'ओल्ड गोरियो' प्रकाशित हुआ, उनके दिमाग़ में यह अनूठा विचार आया कि 1829 से लिखे गए उपन्यासों-उपन्यासिकाओं के साथ ही पिरोते हुए आगे उपन्यासों-कहानियों की एक पूरी शृंखला प्रस्तुत की जाए। इस शृंखला को पहले उन्होंने *'उन्नीसवीं शताब्दी की जीवन-चर्या का अध्ययन' (स्टडीज़ ऑफ नाइण्टीथ सेंचुरी मैनर्स)* का नाम दिया, लेकिन 1842 तक जब यह महाकाव्यात्मक परियोजना कुछ और परिपक्व और विकसित हो गई तो इसका नाम बदलकर उन्होंने **'ह्यूमन कॉमेडी'** रख दिया। बाल्ज़ाक इस शृंखला में तत्कालीन फ़्रांसीसी समाज के सभी वर्गों, संस्तरों, पेशों और विचारधाराओं के लगभग तीन-चार हज़ार पात्रों के माध्यम से उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास का और उस दिक्-काल के मनुष्य की चेतना और चरित्र का एक अध्ययन प्रस्तुत करना चाहते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के फ़्रांसीसी समाज और विश्व में सार्वभौमिक अन्तरनिर्भरता के विचार के मूर्त मानव-रूप के कलात्मक अध्ययन-विश्लेषण की इस महत्त्वाकांक्षी परियोजना का दार्शनिक फ्रेमवर्क अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवाद, प्रकृति-विज्ञान के तत्कालीन सिद्धान्तों और विविध रहस्यवादी धर्म-सिद्धान्तों के तत्त्वों के संयोजन से निर्मित हुआ था। 'ह्यूमन कॉमेडी' के कुल तीन प्रखण्ड थे : (1) निजी जीवन, प्रान्तीय जीवन, पेरिस के नगरीय जीवन, राजनीतिक जीवन, फौजी जीवन और ग्रामीण जीवन के दृश्यों को उपस्थित करते हुए नैतिकता और तौर-तरीक़ों का अध्ययन; (2) दार्शनिक अध्ययन; और (3) विश्लेषणात्मक अध्ययन। इन तीनों प्रखण्डों की प्राक्कल्पना एक ऐसी कुण्डलाकार संरचना के तीन वृत्तों के रूप में की गई थी जो तथ्यों को कारणों और सिद्धान्तों से जोड़ते हों।

अपनी इस योजना को अमल की प्रक्रिया में ज़्यादा से ज़्यादा ठोस रूप देते हुए बाल्ज़ाक ने 1945 में 144 उपन्यासों की एक पूरी सूची भी प्रकाशित की और इसे क्रियान्वित करने में जी-जान से जुट गये। कभी-कभी तो हफ़्तों और महीनों वे घर से बाहर तक नहीं निकलते थे। आर्थिक तंगी ज़बर्दस्त थी। किराए का मकान पेरिस की एक ग़रीब-गन्दी बस्ती में था जहाँ दिन भर लड़ाई-झगड़े का शोर रहता था। इस हो-हल्ले से बचने के लिए, दिन में सोना और रात में काली कॉफी पी-पीकर जागना और धुँआधार, चमत्कारी रफ़्तार से लिखना—बस यही बाल्ज़ाक का जीवन था। नतीजतन शरीर छीजता चला गया। 1850 में मात्र इक्यावन साल की उम्र में बाल्ज़ाक की मृत्यु हो गई। 144 उपन्यासों का सपना पूरा नहीं हो सका, 'ह्यूमन कॉमेडी' शृंखला के अन्तर्गत कुल नब्बे उपन्यास-उपन्यासिकाएँ और कहानियाँ ही लिखी जा सकीं। अपनी ज़िन्दगी के महत्त्वाकांक्षी मिशन को पूरा करने में बाल्ज़ाक ने अपने को इस क़दर झोंक दिया था कि जैसे जीना तक भूल चुके थे। 1832 में रूस में रहने वाली, पोलिश अभिजात समाज की एक महिला एवलिन हांस्का से बाल्ज़ाक का पत्र-व्यवहार शुरू हुआ था। उससे मिलने के लिए उन्होंने 1843 में सेण्ट पीटर्सबर्ग की और 1847-48 में उक्रेन तक की यात्रा भी की। मृत्यु से ठीक पाँच माह पहले ही हांस्का से उनका विवाह हो सका। लेखन-कर्म के अतिरिक्त बाल्ज़ाक ने यदि कुछ और किया तो यह कि 1832 और 1848 में, दो बार 'चैम्बर ऑफ डेपुटीज़' की सदस्यता के लिए चुनाव लड़ा और दोनों ही बार विफल रहे। दो बार

'अकादेमी फ्रांकेस' के चुनाव में भी (1849) हिस्सा लिया और इसमें भी पराजय ही हाथ लगी।

'ह्यूमन कॉमेडी' शृंखला के पहले की रचनाओं को लेकर बाल्ज़ाक ने कुल निन्यानबे छोटे-बड़े उपन्यास और कहानियाँ लिखीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने पाँच नाटक भी लिखे जिनमें 'दि स्टेपमदर' (1848) और 'ड्रोल स्टोरीज़' (1831-37) को काफ़ी ख्याति मिली। राबेले और फ़्रांसीसी लोक-साहित्य की स्पिरिट में लिखे गए ये नाटक बाल्ज़ाक के मानवतावादी चिन्तन और फ़्रांसीसी साहित्य-कला की राष्ट्रीय परम्परा के महत्त्वपूर्ण स्मारक माने जाते हैं।

अपने समय का इतिहासकार, अपने समाज का सचिव

बाल्ज़ाक स्वयं को उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का इतिहासकार कहा करते थे। यह दौर फ़्रांसीसी इतिहास का, बहुसंस्तरीय वर्ग-संघर्ष से भरपूर, उथल-पुथलकारी दौर था। बाल्ज़ाक ने कई जगह कहा है कि वे जिस समाज के 'स्वनियुक्त सचिव' और इतिहासकार हैं उसमें आर्थिक सत्ता सामन्ती अभिजनों के हाथों से निकलकर सेठों, बैंकरों और व्यापारियों के हाथों में चली गई है। उनके विचार से 1830 की क्रान्ति के बाद यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो गया था जब गद्दी पर तो लुई फिलिप बैठा था लेकिन सत्ता वस्तुतः पूँजीपतियों के पास थी। बाल्ज़ाक की अन्तर्भेदी दृष्टि ने प्रतीति को भेदकर सार को पहचाना। इस तरह उनका कृतित्व उन्नीसवीं शताब्दी के पहले पाँच दशकों के दौरान सामन्तवाद की पुनर्स्थापना के प्रयासों से लेकर पूँजीवादी व्यवस्था, संस्कृति और सामाजिक मनोविज्ञान के विकास के विविध पक्षों का प्रामाणिक दस्तावेज़ बन गया।

मार्क्स की पुत्री **लौरा लफ़ार्ग** के नाम अपने एक पत्र में फ़्रेडरिक एंगेल्स ने लिखा है : *"प्रसंगतः, जब मैं बिस्तर पर लेटा था, तो बाल्ज़ाक को छोड़कर प्रायः कुछ और नहीं पढ़ा, और इस विलक्षण इन्सान की रचनाओं को पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त किया। यहाँ 1818 से लेकर 1848 तक का फ़्रांस का इतिहास उससे कहीं ज़्यादा मात्रा में है, जितना सारे वोलाबेलेओं, काप्फ़िगों, लुई ब्लांओं के पास मिलाकर मिलता है। कैसा साहस है! उनके काव्यमय न्याय में कैसी क्रान्तिकारी द्वन्द्वात्मकता है!"* (13 दिसम्बर, 1883)

उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक की अंग्रेज़ समाजवादी लेखिका **मार्गरेट हार्कनेस** के नाम पत्र में यथार्थवाद के बारे में अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए एंगेल्स ने बाल्ज़ाक के बारे में लिखा है : *"बाल्ज़ाक, जिन्हें मैं अतीत, वर्तमान और भविष्य के तमाम ज़ोलाओं की तुलना में यथार्थवाद का कहीं बड़ा आचार्य मानता हूँ, 'ह्यूमन कॉमेडी' में फ़्रांसीसी "समाज" का, ख़ास तौर पर "पेरिस की दुनिया" का सबसे अद्‌भुत यथार्थवादी इतिहास हमारे सामने पेश करते हैं। उन्होंने उभरते बुर्जुआ वर्ग द्वारा अभिजातों के समाज में, जिसने 1815 के बाद अपना पुनर्गठन किया था और जिसने, जहाँ तक सम्भव हो सकता था, पुरानी फ़्रांसीसी नफ़ासत के प्रतिमान फिर से स्थापित किए थे, 1816 से 1848 तक बराबर घुसपैठ का लगभग साल दर साल का ब्योरा वृत्तान्त के रूप में किया है। वह यह बताते हैं कि उनके लिए इस आदर्श समाज के अन्तिम अवशेष किस प्रकार बाज़ारू क़िस्म के नये रईस के आगे धीरे-धीरे धराशाई होते गए या उस द्वारा भ्रष्ट होते गए; ऊँचे समाज की महिला के स्थान पर, जिसके दाम्पत्य जीवन में ग़ैरवफ़ादारी अपने को ठीक उसी ढंग के अनुसार, जिस ढंग से उसका विवाह कर उसे चलता कर दिया गया था, प्रतिष्ठित करने का उपाय मात्र थी, किस तरह बुर्जुआ महिला आई, जो नक़दी या ठाठदार वेशभूषा के लिए अपने पति को दग़ा देती थी। इस केन्द्रीय चित्र के चारों ओर बाल्ज़ाक ने फ़्रांसीसी समाज का पूरा इतिहास समेटा है, जिससे मुझे आर्थिक तफ़सीलों तक के मामले में (उदाहरण के लिए, क्रान्ति के बाद चल तथा अचल सम्पत्ति की पुनर्व्यवस्था के बारे में) इस अवधि के सारे के सारे विशेषज्ञों—इतिहासकारों, अर्थशास्त्रियों तथा सांख्यिकीविदों—की पुस्तकों से कहीं अधिक जानकारी मिली।"* (अप्रैल, 1888)

बाल्ज़ाक पूँजीवादी व्यवस्था की स्थापना के विश्व-ऐतिहासिक युग के साक्षी बने, जब सत्तासीन होते ही बुर्जुआ वर्ग 'स्वतंत्रता-समानता-भ्रातृत्व' के लाल झण्डे को धूल में फेंककर मुद्रा की रक्तपिपासु देवी के चरणों

में तांत्रिक साधना करने लगा और चर्च से "पवित्र गठबन्धन" करके सिर पर राजशाही का मुकुट झाड़-पोंछकर रखने के बाद आम जनता को राजदण्ड से हाँकने लगा। प्रबोधनकालीन आदर्शों के अनुरूप तर्कबुद्धिसंगत राज्य और समाज की स्थापना के बजाय चारों ओर मुनाफ़ाख़ोरी, महाजनी, धोखाधड़ी, जालसाज़ी, जमाख़ोरी, सट्टेबाज़ी, अपराध और नैतिक पतन का जो घटाटोप बाल्ज़ाक ने देखा, उसका सटीक वस्तुपरक विवरण एंगेल्स ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :

"...वे (प्रबोधनकाल के दार्शनिक—सं.) एक बुद्धिसंगत राज्य तथा बुद्धिसंगत समाज की स्थापना करना चाहते थे। वे ऐसी प्रत्येक वस्तु को निर्ममतापूर्वक हटा देना चाहते थे, जो शाश्वत बुद्धि के ख़िलाफ़ जाती थी। हमने यह भी देखा था कि वह शाश्वत बुद्धि वास्तव में अठारहवीं शताब्दी के उस नागरिक की समझ के आदर्श रूप के सिवा और कुछ नहीं थी, जिसका ठीक उसी समय पूँजीपति के रूप में विकास हो रहा था। इस बुद्धिसंगत समाज तथा बुद्धिसंगत राज्य को फ़्राँसीसी क्रान्ति ने मूर्त रूप दिया था। नई व्यवस्था पुरानी परिस्थितियों की तुलना में तो काफ़ी बुद्धिसंगत थी, परन्तु पता चला कि वह सर्वथा बुद्धिसंगत कदापि नहीं है। बुद्धि पर आधारित राज्य पूर्णतया ध्वस्त हो गया। रूसो की सामाजिक संविदा ने आतंक के शासन में मूर्त रूप प्राप्त किया था, जिससे घबराकर पूँजीपति वर्ग ने, जिसका स्वयं अपनी राजनीतिक क्षमता में विश्वास समाप्त हो गया था, पहले डायरेक्टरेट की भ्रष्टता की शरण ली, और अन्त में वह नेपोलियन की निरंकुशता की गोद में जाकर बैठ गया। वायदा किया गया था कि अब सदा शान्ति रहेगी। पर वह शाश्वत शान्ति दूसरे देशों को जीतने के एक अन्तहीन युद्ध में बदल गई। बुद्धि पर आधारित समाज का हाल इससे बेहतर नहीं था। अमीर और ग़रीब का विरोध मिटाकर सामान्य समृद्धि नहीं आई, बल्कि शिल्पी संघों के तथा अन्य प्रकार के उन विशेषाधिकारों के समाप्त कर दिए जाने के फलस्वरूप, जिनसे कुछ हद तक यह विरोध कम हो जाता था, और चर्च की दानशील संस्थाओं के ख़त्म कर दिए जाने के फलस्वरूप यह विरोध और तीव्र हो गया। पूँजीवादी आधार पर उद्योग का जो विकास हुआ, उसने श्रमिक जनता की दरिद्रता और कष्टों को समाज के अस्तित्व की आवश्यक शर्त बना दिया। अपराधों की संख्या वर्ष प्रतिवर्ष बढ़ती गई। पहले, सामन्ती दुराचार दिन-दहाड़े होता था; अब वह एकदम समाप्त तो नहीं हो गया था, पर कम से कम पृष्ठभूमि में ज़रूर चला गया था। उसके स्थान पर पूँजीवादी अनाचार, जो इसके पहले पर्दे के पीछे हुआ करता था, अब प्रचुर रूप में बढ़ने लगा था। व्यापार अधिकाधिक धोखेबाज़ी बनता गया। क्रान्तिकारी आदर्श सूत्र के "बन्धुत्व" ने होड़ के मैदान की ठगी तथा प्रतिस्पर्धा में मूर्त रूप प्राप्त किया। बलपूर्वक उत्पीड़न का स्थान भ्रष्टाचार ने ले लिया। समाज में ऊपर उठने के प्रथम साधन के रूप में तलवार का स्थान सोने ने ग्रहण कर लिया। लड़कियों के साथ पहली रात को सोने का अधिकार सामन्ती प्रभुओं के बजाय पूँजीवादी कारख़ानेदारों को मिल गया। वेश्यावृत्ति में इतनी अधिक वृद्धि हो गई, जो पहले कभी सुनी नहीं गई थी। विवाह प्रथा पहले की तरह अब भी वेश्यावृत्ति का क़ानूनी मान्यता प्राप्त रूप तथा उसकी सरकारी रामनामी बनी हुई थी, और इसके अलावा व्यापक परस्त्रीगमन उसके अनुपूरक का काम कर रहा था। संक्षेप में दार्शनिकों ने जो सुन्दर वायदे किए थे, उनकी तुलना में "बुद्धि की विजय" से उत्पन्न सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ घोर निराशाजनक व्यंग्यचित्र प्रतीत होती थीं।" ('ड्यूहरिंग मत-खण्डन')

यह एक दिलचस्प बात है कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, जब बाल्ज़ाक मुद्रा की सर्वशक्तिमान सत्ता को जीवन की धुरी बनते और मुनाफ़े को समस्त मानवीय भावनाओं की उत्तोलक शक्ति बनते देख रहे थे, लगभग उसी समय वैज्ञानिक समाजवाद के आविष्कारक मार्क्स और एंगेल्स भी यह देख रहे थे कि पूँजीपति वर्ग ने पारिवारिक सम्बन्धों के ऊपर से भावुकता का आवरण उतारकर उन्हें मात्र द्रव्य के सम्बन्धों में बदल डाला है। मार्क्स-एंगेल्स का यह पर्यवेक्षण पहली बार *'1844 की आर्थिक-दार्शनिक पाण्डुलिपियाँ'* में सामने आया और सर्वाधिक सान्द्र-सटीक और काव्यात्मक शब्दों में उन्होंने इसे 1848 में प्रकाशित *'कम्युनिस्ट पार्टी*

का घोषणापत्र' में सूत्रबद्ध किया : *"पूँजीपति वर्ग ने, जहाँ भी उसका पलड़ा भारी हुआ, वहाँ सभी सामन्ती, पितृसत्तात्मक और काव्यात्मक सम्बन्धों का अन्त कर दिया। उसने मनुष्य को अपने "स्वाभाविक बड़ों" के साथ बाँध रखने वाले नाना प्रकार के सामन्ती सम्बन्धों को निर्ममता से तोड़ डाला; और नग्न स्वार्थ के, "नक़द पैसे-कौड़ी" के हृदयशून्य व्यवहार के सिवा मनुष्यों के बीच और कोई दूसरा सम्बन्ध बाक़ी नहीं रहने दिया। धार्मिक श्रद्धा के स्वर्गोपम आनन्दातिरेक को, वीरोचित उत्साह और कूपमण्डूकतापूर्ण भावुकता को उसने आना-पाई के स्वार्थी हिसाब-क़िताब के बर्फ़ीले पानी में डुबो दिया है। मनुष्य के वैयक्तिक मूल्य को उसने विनिमय-मूल्य बना दिया है, और पहले के अनगिनत अनपहरणीय अधिकारपत्र द्वारा प्रदत्त स्वातंत्र्यों की जगह अब उसने एक ऐसे अन्तःकरणशून्य स्वातंत्र्य की स्थापना की है जिसे मुक्त व्यापार कहते हैं। संक्षेप में, धार्मिक और राजनीतिक भ्रमजाल के पीछे छिपे शोषण के स्थान पर उसने नग्न, निर्लज्ज, प्रत्यक्ष और पाशविक शोषण की स्थापना की है।"* (कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र)

'ह्यूमन कॉमेडी' शृंखला के उपन्यासों की अनेकशः घटनाओं और सैकड़ों पात्रों के चिन्तन और व्यवहार के ज़रिए पूँजीवादी समाज के इस सारतत्त्व को बाल्ज़ाक ने सटीक अभिव्यक्ति दी और कहीं-कहीं तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि न केवल पूँजीवादी समाज की आत्मिक रिक्तता के बारे में, बल्कि इतिहास की कूड़ेदानी में धकेल दिए गए सामन्ती अभिजातों की नियति के बारे में भी, अपने 'लेजिटिमिस्ट' विचारों के बावजूद, बाल्ज़ाक मार्क्स जैसी ही शब्दावली का प्रयोग करते हैं। हाँ, बाल्ज़ाक की कलात्मक दृष्टि की ऐतिहासिक-वैज्ञानिक सीमा यह थी कि वे उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे-पाँचवें दशक में फ़्रांस में मज़दूर आन्दोलन की सरगर्मियाँ शुरू हो जाने के बावजूद सर्वहारा वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका नहीं समझ सके। वे यह नहीं समझ सके कि, जैसा कि मार्क्स-एंगेल्स ने *'पवित्र-परिवार'* में लिखा था, *"निजी सम्पत्ति सर्वहारा को पैदा करके अपने को जो सज़ा सुनाती है, उसकी सर्वहारा ठीक उसी तरह तामील करता है, जिस प्रकार सर्वहारा उस सज़ा की तामील करता है जो उजरती श्रम ने दूसरों के लिए दौलत और अपने लिए ग़रीबी पैदा कर अपने को दी थी।"*

बावजूद इसके, बाल्ज़ाक की कालजयी महानता इस बात में निहित है कि उन्होंने मनुष्य को सामाजिक रूप से सक्रिय प्राणी के रूप में और अपने भाग्य के नियन्ता के रूप में, और अपने नैतिक आग्रहों और आदर्शों के लिए जूझते हुए दिखलाया। अपने अनगढ़-अधूरे वैज्ञानिक विचारों तथा अपने विचारों और आस्था के बीच के अन्तरविरोध के बावजूद, बाल्ज़ाक के सामाजिक मानव के प्रकृत इतिहास-सम्बन्धी सिद्धान्त और फ़्लॉबेयर के इस सिद्धान्त में कि कलाकार को देवता के समान तटस्थ होना चाहिए, भारी अन्तर है। राल्फ़ फॉक्स के शब्दों में, *"...जीवन को देखने का उनका दृष्टिकोण सच्चे अर्थ में यथार्थवादी था। वह मानव समाज को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में, एक ऐसी वस्तु के रूप में देखते थे, जो संघर्ष करती है और संघर्ष के दौरान विकसित होती है। फ़्लॉबेयर में जीवन जैसे आम और स्थिर हो गया है। 1848 के बाद जीवन को उसके विकास-क्रम में देखना और चित्रित करना सम्भव न रहा, कारण कि वह विकास-क्रम अत्यन्त पीड़ामय था। सो, जीवन उनके लिए एक जमी हुई झील बन गया।"* ('उपन्यास और लोकजीवन')

1848 के बाद बुर्जुआ उदारवाद और जनतंत्रवाद की सभी धाराएँ निःसत्व हो चुकी थीं। बुर्जुआ वर्ग का मुख्य काम अब मानवाधिकारों के नाम पर सामन्ती अभिजनों से लड़ना नहीं बल्कि नये उभरते सर्वहारा आन्दोलन से निपटना हो गया था। इस इतिहास-प्रक्रिया की गति-दिशा और 'पैटर्न' को समझ और पकड़ पाने में अक्षमता के चलते, बाल्ज़ाक के लेखन में शिखर-बिन्दु तक पहुँचने के बाद बुर्जुआ क्रान्तिकारी यथार्थवाद का विघटन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुख्यतः फ्लाबेयर और ज़ोला के लेखन में प्रकृतवाद के रूप में परिलक्षित होता है। वस्तुगत यथार्थ की सारभूत, गहन, द्वन्द्वात्मक गत्यात्मकता में पैठने के बजाय प्रकृतवाद ने कलात्मक सृजन को सांयोगिक, अलग-थलग वस्तुओं तथा परिघटनाओं की निष्क्रिय प्रतिछवि आँकने तक सीमित कर दिया।

स्टेण्ढाल, बाल्ज़ाक और डिकेन्स के लेखन में जहाँ मनुष्य विपरीत स्थितियों के विरुद्ध संघर्ष में सक्षम

दीखता था वहीं उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पश्चिमी साहित्यिक यथार्थवाद बुनियादी तौर पर व्यक्तित्व के अलगाव (एलियनेशन), विघटन और अवमूल्यन का तथा चरित्र, इच्छाशक्ति और परिवेश के विरुद्ध संघर्ष-क्षमता में ह्रास का चित्रण करने में संलग्न दीखता है। पश्चिमी यूरोप में पूँजीवाद की निर्णायक जीत और पूँजीवादी व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण के बाद, ऐसा प्रतीत होता है मानो आलोचनात्मक यथार्थवाद की ऊर्जस्वी, आवेगमय धारा वहाँ से विस्थापित होकर रूस में (तुर्गनेव, तोल्सतोय से चेखव तक के लेखन में) और अमेरिका में (मुख्यतः मार्क ट्वेन के लेखन में) प्रवाहित होने लगी थी। कहा जा सकता है कि जॉर्ज इलियट (ब्रिटेन) जैसे कुछ अपवाद भी थे, जिनके लेखन में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भी उदात्त मानवतावाद और मानवीय आदर्शों के लिए संघर्ष की सक्रिय चेतना मौजूद दीखती थी।

मुद्रा की सत्ता के विरुद्ध एक सर्जक का घनघोर युद्ध

नवजात बुर्जुआ समाज की कुरूपता और अमानवीयता की प्रथम प्रतिक्रिया कला-साहित्य की दुनिया में, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में स्वच्छन्दतावाद (रोमाण्टिसिज़्म) के रूप में सामने आई। स्वच्छन्दतावाद की एक धारा बुर्जुआ वर्ग की विजय की रूढ़िवादी, अतीतोन्मुख प्रतिक्रिया थी जो जनता के प्रति अविश्वास और भय से भरी हुई थी और भ्रामक आदर्शों की रचना करती थी। स्वच्छन्दतावाद की दूसरी धारा प्रकृति से प्रगतिशील थी, इसके द्वारा प्रस्तुत यूटोपिया में "भविष्य की कविता" की अनुगूँजें थीं, फिर भी इस धारा के कलाकारों-रचनाकारों में बुर्जुआ समाज के व्याघातों के प्रति समझदारी, जनसमुदाय के जीवन में दिलचस्पी तथा उसकी सक्रियता में और भविष्य में विश्वास जैसी अभिलाक्षणिकताएँ स्पष्ट दीखती थीं।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में उभरे स्वच्छन्दतावाद की उपरोक्त दूसरी धारा अठारहवीं शताब्दी के प्रबोधनकालीन यथार्थवाद की तुलना में अधिक गहन व गहरी थी। इसने मनुष्य के आन्तरिक जगत को चित्रित करते हुए व्यक्तित्व के भीतर के द्वन्द्वों-व्याघातों को तथा इसकी "मनोगत अनन्तता" को उद्‌घाटित करने का काम किया। साथ ही, स्वच्छन्दतावाद की क्रान्तिकारी धारा ने कला में इतिहासवाद (हिस्टॉरिसिज़्म) और जनसमुदाय से प्रगाढ़ सम्बन्धों के सिद्धान्त प्रस्तुत किये।

1830 के दशक में आलोचनात्मक यथार्थवाद की जो धारा विकसित हुई, जिसके शिखर-पुरुष बाल्ज़ाक थे, उसके स्वच्छन्दतावाद के साथ आनुवंशिक सम्बन्ध थे। दोनों ही कलात्मक विचार-सरणियों की ज़मीन थी—बुर्जुआ क्रान्ति से मोहभंग और पूँजीवादी व्यवस्था का अस्वीकार। स्वच्छन्दतावाद ने यथार्थवाद की इस नई प्रवृत्ति को वस्तुगत यथार्थ की जटिलताओं के साथ ही मनोगत जगत की गहराइयों में भी उतरने की क्षमता दी थी, जिसके सहारे बाल्ज़ाक, स्टेण्ढाल और डिकेन्स बुर्जुआ समाज का विस्तृत-वैविध्यपूर्ण चित्र औपन्यासिक कैनवास पर उकेरने में, "घटनाओं और मनोभावों के वृहद भण्डार के छुपे हुए अर्थ" (बाल्ज़ाक) को उद्‌घाटित करने में तथा उनके सामाजिक आधार को स्पष्ट कर पाने में सफल रहे। इस दौर में आलोचनात्मक यथार्थवादी साहित्य मुख्यतः उपन्यास-विधा में उभरकर सामने आया। इन उपन्यासों में सम्पत्ति की दुनिया के ख़िलाफ़ व्यक्तियों की अस्मिता और आज़ादी के संघर्ष, व्यापारियों की कुटिल साज़िशों और ग़रीबों के दुर्भाग्य के चित्रण के साथ ही प्रायः यह तस्वीर भी प्रस्तुत की जाती थी कि भौतिक समृद्धि किस तरह नैतिक पतन को जन्म दे रही है, किस तरह जन समुदाय के प्राकृतिक पारस्परिक बन्धन छीज और टूट रहे हैं और किस प्रकार शादी महज़ एक 'बिजनेस-डील' होकर रह गई है। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का यथार्थवाद अपनी आलोचनात्मक स्पिरिट के बावजूद सर्वनिषेधवादी नहीं था। मानवतावाद और प्रगति में विश्वास इसके बुनियादी सकारात्मक आदर्श थे। बाल्ज़ाक के उपन्यासों के सकारात्मक आदर्श और उनके वैज्ञानिक तर्कणायुक्त निरूपण के बारे में राल्फ़ फ़ॉक्स ने लिखा है :

"ह्यूमन कॉमेडी की भूमिका में खुद बाल्ज़ाक ने बताया है कि वह मानव को समाज की देन के रूप में देखते थे, उसे उसके प्राकृतिक वातावरण के बीच देखते थे, और यह कि वैज्ञानिक ढंग से उसका अध्ययन करने की वैसी ही आकांक्षा वह भी अनुभव करते थे जैसी कि पशुजगत का अध्ययन करने वाले

महान प्रकृति-वैज्ञानिक अनुभव करते हैं। उनके राजनीतिक और धार्मिक विचार वही थे जो पुराने सामन्ती फ़्रांस के थे, किन्तु मानव के प्रति उनका यह रवैया, मानवीय जीवन के सुखान्त नाटक की उनकी धारणा, क्रान्ति की, उन जैकोबिनों की, जिन्होंने फ़्रांसीसी समाज की सामाजिक बेड़ियों को पूरी निर्ममता से चकनाचूर कर दिया था, अभियान करते उन सैनिकों की देन थी, जिन्होंने यूरोप की बादशाहतों को नेपोलियन के नेतृत्व के आगे घुटने टेकने के लिए बाध्य कर दिया था। बाल्ज़ाक, इसमें सन्देह नहीं, फ़्रांस के साहित्यिक नेपोलियन थे। उन्होंने साहित्य के क्षेत्र में सामन्ती विचारों को उतनी ही पूर्णता के साथ नष्ट किया, जितनी पूर्णता के साथ राजनीतिक क्षेत्र में उस महान सैनिक ने सामन्ती व्यवस्था को नष्ट किया था। पुनर्स्थापना काल के फ़्रांस में पूँजीवादी समाज की, नये पूँजीवादी सामाजिक सम्बन्धों की आलोचना रोमाण्टिसिज़्म के मध्यकालीन चोले में प्रकट होती थी। अपने व्यक्तिगत जीवन में और इसी प्रकार कला के क्षेत्र में भी, रोमाण्टिकों की स्वच्छन्दताएँ वर्तमान के विरुद्ध उनके विद्रोह को तथा वर्तमान से उनके पलायन को व्यक्त करती थीं। बाल्ज़ाक ने न तो विद्रोह किया न पलायन। रोमाण्टिकों की सारी कल्पना-प्रवीणता, उनकी कविता और यहाँ तक कि उनकी रहस्यवादिता बाल्ज़ाक में मौजूद थी, किन्तु वह उनसे ऊपर उठे और वर्तमान पर अपने यथार्थवादी आक्रमण द्वारा एक नये साहित्य का उन्होंने रास्ता दिखाया। समसामयिक जीवन की वास्तविकता को कल्पनात्मक रूप से धारण करने में वह क़रीब-क़रीब उसी पैमाने पर समर्थ हुए, जिस पर कि राबेले और सर्वान्तेस। किन्तु यह बाल्ज़ाक का सौभाग्य था कि उन्होंने शताब्दी के शुरू के भाग में जीवन बिताया, जबकि राष्ट्रीय शक्ति के उस भीमाकार उभार—जिसने क्रान्ति और नैपोलियनी महाकाव्य की सृष्टि की—की ताक़त और तपिश का असर चौथे और पाँचवें दशक के प्रारम्भ के साहित्यिक आन्दोलन में अभी मौजूद था।" ('उपन्यास और लोक जीवन')

'ह्यूमन कॉमेडी' की नाटकीय महाकाव्यात्मकता के मूल स्रोत उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के युग की नाटकीयता के साथ ही स्वयं मानव अस्तित्व की नाटकीयता में निहित हैं। एक ओर, समाज और इतिहास पर व्यक्ति की निर्भरता को बाल्ज़ाक से पहले किसी भी अन्य लेखक ने इतने व्यापक और गहरे अर्थों में नहीं समझा था। दूसरी ओर, "मुद्रा की सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता और सर्वहितैषिता" (बाल्ज़ाक) से पैदा होने वाले प्रातिनिधिक द्वन्द्वों को भी समझने और अभिव्यक्ति देने में बाल्ज़ाक की क्षमता अचूक और बेजोड़ थी। "फूहड़ धनिक नौबढ़ों" के प्रभाव में अपना मान-सम्मान खो देने वाले अभिजातों (मक्सीम द त्राई, रास्तीनाक व अन्य); चतुर-चालाक डीलरों व अन्य महत्त्वाकांक्षी लोगों और साथ ही उनके शिकार बनने वालों; लूट के वैधीकरण, विश्वासघात और बेशुमार दौलत को जन्म देने वाले घृणित षड्यंत्रों ('गोबसेक', 1930, *"यूजीन ग्रान्दे'*, 1833 'दि नुसिंजेन हाउस' 1838, दि पींज़ेण्ट्स,' 1844, कज़िन पोंस, 1846-47 और अन्य;) मृत्यु और निष्क्रिय जीवन में से विकल्प चुनते युवा और नैतिक अधःपतन (रास्तीनाक, लूसियां द रूबम्प्रे और मार्कस); कला की वेश्यावृत्ति ('लॉस्ट इल्यूजंस', 1837-43 और "ए डॉटर ऑफ ईव, 1838); एक विद्वान और आविष्कारक की त्रासदी; तथा पारिवारिक और निजी सम्बन्धों में ख़रीदने-बेचने के सिद्धान्तों के वर्चस्व से पैदा होने वाली अनन्त त्रासदियों को बाल्ज़ाक ने पटुता के साथ कथाबन्धों में बाँधकर न केवल उस युग का "प्रकृत इतिहास" लिख दिया, बल्कि मुनाफ़ा, माल-उत्पादन और मुद्रा के वर्चस्व की दुनिया के सारतत्त्व को उद्घाटित करने में अद्वितीय सफलता हासिल की।

कृषि, व्यापार, वित्तीय संस्थाओं, नौकरशाही, शिक्षा, संस्कृति और राजनीति के क्षेत्रों के साथ ही पारिवारिक और आत्मिक जीवन तक में पूँजीवादीकरण के परिणामस्वरूप जो परिवर्तन हो रहे थे और जिस तरह पैसा-परमेश्वर की सत्ता ने धोखाधड़ी, जालसाज़ी, व्यभिचार आदि के साथ अनेक क़िस्म के सफ़ेदपोश अपराधों से समाज को भर दिया था, यह देखते हुए बाल्ज़ाक पूँजीवादी समाज के इस सत्त्व को समझ चुके थे कि *"हर सम्पत्ति-साम्राज्य अपराध की बुनियाद पर खड़ा होता है।"* मोंतेस्क्यू के इस कथन को वे विशेष तौर पर रेखांकित करते हैं कि *"क़ानून एक ऐसा मकड़जाल है, जिसमें से बड़ी मक्खियाँ तो निकल जाती हैं परन्तु छोटी फँस जाती हैं।"* उन्होंने जिस तरह भविष्य में युवा और प्रौढ़ होने वाले पूँजीवादी समाज के पात्रों को उनकी शैशवावस्था

में ही पहचान लिया था और उनके भावी विकास को अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया था, उसी तरह पूँजीवाद के तमाम अपविकासों-विकृतियों को भी उन्होंने उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के फ़्रांसीसी जीवन में प्रवृत्ति-रूप में पहचानने के बाद उपन्यासों में यूँ उपस्थित किया था कि वे आज के जीवन के चित्र प्रतीत होते हैं।

लालफ़ीताशाही, घूसख़ोरी, 'अण्डरवर्ल्ड' ('ओल्ड गोरियो', 'लॉस्ट इल्यूजंस', 'ए हारलॉट हाई एण्ड लो', 'हिस्ट्री ऑफ दि थर्टीन') और स्टॉक एक्सचेंज की नियामक शक्ति ('द वाइल्ड ऐस'ज़ स्किन') की उन्होंने डेढ़ सौ वर्ष पहले इतनी जीवन्त तस्वीर उकेरी थी कि वह आज की प्रतीत होती है। बाल्ज़ाक ने पहली बार राजनीति, राज्यसत्ता और क़ानून की दुनिया के पीछे के भौतिक हितों-स्वार्थों को साहित्य में इतनी वस्तुगत सटीकता और तफ़सीलों के साथ उजागर किया। वे दो टूक शब्दों में कहते हैं : *"हमसे सुन्दर चित्रों की माँग की जाती है, किन्तु उनके नमूने इस समाज-व्यवस्था में हैं कहाँ? आपके घिनौने वस्त्र, आपकी अपरिपक्व क्रान्तियाँ, आपका बातूनी बुर्जुआ, आपका मृत धर्म, आपकी निकृष्ट शक्ति, बिना सिंहासन के आपके बादशाह, ये सब क्या इतने काव्यात्मक हैं कि इनका चित्रण किया जाए? हम अधिक से अधिक इनका मख़ौल उड़ा सकते हैं।"* अन्तस्तल में गहरे पैठी इस तिक्तता के बावजूद बाल्ज़ाक प्रकृतवादी नियतिवाद का शिकार होने के बजाय सहकार ('लॉस्ट इल्यूजंस'), दयालुता ('मास फॉर ऐन एथीस्ट' आदि), चरित्र की न्यायनिष्ठा ('कर्नल शाबेर' में शाबेर) शौर्य, ('दि कण्ट्री डॉक्टर', गोग्यूल'), दोटूकपन ('दि पीज़ेण्ट्स' में निसेरों), आपसी विश्वास और समर्पण ('कज़िन पोंस' में पोंस और श्मूक) आदि उच्च मानवीय आदर्शों के प्रति अपनी अटल आस्था क़ायम रखते हैं।

बाल्ज़ाक की रचनाओं में प्रस्तुत मानवीय सारतत्त्व की व्यापकता और गहराई निस्सन्देह उनमें से अधिकांश को सार्वकालिक महत्त्व वाली क्लासिकी कृतियों की श्रेणी में स्थापित कर देती है। पूँजीवादी समाज के सारतत्त्व को तथा सामाजिक सम्बन्धों और नैतिक मूल्यों को बाल्ज़ाक ने महान कलाकार की अन्तर्दृष्टि के साथ ही एक समाजवैज्ञानिक की वस्तुपरकता के साथ इतनी कुशलता से प्रस्तुत किया है कि हम आज के पूँजीवाद की छायाएँ-छवियाँ भी उनमें देख सकते हैं। विशेषकर भारत में, जहाँ उपनिवेशोत्तरकालीन अर्द्धशती की लम्बी अवधि में रुग्ण-विकलाँग पूँजीवाद पीड़ादाई मन्थर गति से भौतिक-आत्मिक जीवन के रग-रेशे को बेधता रहा है, वहाँ इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भ में भी बाल्ज़ाक मानो हमारे आसपास की सच्चाई पर रोशनी डालते और उसे समझने में मदद करते प्रतीत होते हैं।

ऐसा लगता है कि बाल्ज़ाक ने पूँजीवादी समाज की शैशवावस्था में जिन कुरूपताओं-विकृतियों को देखा था, उनके ही और स्पष्ट विकसित रूपों को हम उसके वार्धक्य की अवस्था में देख रहे हैं। कहा भी जाता है कि बुढ़ापा बचपन की वापसी होता है। जो भी हो, इतना तय है कि जब तक निजी सम्पत्ति की दुनिया रहेगी, तब तक बाल्ज़ाक प्रासंगिक बने रहेंगे।

यही बाल्ज़ाक की महानता है।

ग्रामीण जीवन में पूँजी का प्रवेश : बाल्ज़ाक के पर्यवेक्षण और 'किसान'

बाल्ज़ाक का उपन्यास 'दि पीज़ेण्ट्री, ('संस ऑफ दि सॉयल' नाम से भी अंग्रेज़ी में प्रकाशित) 1844 में प्रकाशित हुआ। यानी यह 'ह्यूमन कॉमेडी' शृंखला के अन्तिम चरण की रचना है। इसकी गणना बाल्ज़ाक की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और परिपक्व कृतियों में की जाती है।

बाल्ज़ाक की अगली पीढ़ी के प्रसिद्ध लेखक गोंकूर बन्धुओं (जूल और एडमण्ड गोंकूर) की डायरी में 'किसान' की चर्चा करते हुए बाल्ज़ाक की ऐतिहासिक महत्ता और मर्मभेदी अर्थवत्ता को इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है :

"मैंने बाल्ज़ाक की कृति 'किसान' अभी-अभी दुबारा पढ़कर ख़त्म की है। बाल्ज़ाक को अभी तक किसी ने राजनेता नहीं कहा है, फिर भी वे शायद हमारे समय के महानतम राजनेता थे, ऐसे एकमात्र व्यक्ति थे जो हमारी बीमारी की जड़ को समझ सका। अकेले वही थे, जिसने एक ऊँचाई से, 1789 के

उपरान्त फ़्रांस के विशृंखलन को, क़ानून के पीछे के तौर-तरीक़ों को, शब्दों के पीछे के तथ्यों को, प्रत्यक्ष व्यवस्था की सतह के नीचे व्याप्त निरंकुश स्वार्थों की अव्यवस्था को, दुरुपयोगों का स्थान लेने वाले प्रभावों को, न्यायाधीश के सामने असमानता के द्वारा क़ानून के सामने समानता के विनाश को देखा। संक्षेप में यह कि उन्होंने 1789 के कार्यक्रम में निहित उस झूठ को उजागर किया जिसने बड़े नामों की जगह बड़े सिक्कों की स्थापना की और पदवीधारी कुलीनों (मार्क्विसों) को बैंकरों में तब्दील कर दिया। और यह एक उपन्यासकार था जिसने इस सबके मर्म को समझा।"

बाल्ज़ाक ने 'ह्यूमन कॉमेडी' की पूरी परियोजना के अन्तर्गत, अपने चार उपन्यासों में फ़्रांसीसी ग्रामीण जीवन के अन्तरंग और बहिरंग को चित्रित करते हुए, सामन्ती भूमि-सम्बन्धों के पूँजीवादी रूपान्तरण तथा आधुनिक पूँजीवाद के विकास में कृषि की भूमिका को, पूँजीवाद के अन्तर्गत गाँव और शहर के बीच लगातार बढ़ती खाई को, छोटे मालिक किसानों पर सूदख़ोर महाजनों की जकड़बन्दी को, शहरी और ग्रामीण महाजनी के फ़र्क़ को, कृषि में माल-उत्पादन के बढ़ते वर्चस्व और किसानी जीवन पर मुद्रा के आच्छादनकारी प्रभाव को तथा किसान आबादी के विभेदीकरण (डिफरेंसिएशन) और कंगालीकरण को जिस अन्तर्भेदी गहराई और चहुँमुखी व्यापकता के साथ प्रस्तुत किया है, वह आर्थिक इतिहास या समाज-विज्ञान की किसी पुस्तक में भी देखने को नहीं मिलता। कृषि के पूँजीवादी विकास और गाँवों में पूँजीवादी भूमि-सम्बन्धों तथा उनकी परिणतियों को सामग्रिक रूप में जानने-समझने के लिए मार्क्स और लेनिन के तद्विषयक लेखन के साथ ही बाल्ज़ाक के इन चार उपन्यासों को और इनमें भी ख़ासकर 'किसान' को पढ़ने की सिफ़ारिश पुरज़ोर शब्दों में की जा सकती है।

बाल्ज़ाक शहरी मध्यवर्गीय रोमानी नज़रिए से न तो कहीं 'अहा, ग्राम्य-जीवन भी क्या है' की आहें भरते नज़र आते हैं, न ही उन "काव्यात्मक सम्बन्धों" और पुरानी संस्थाओं-सम्बन्धों-चीज़ों के लिए बिसूरते दीखते हैं जिन्हें पूँजी या तो लील जाती है, या पुनःसंस्कारित करके अपना लेती है या फिर अजायबघरों में सुरक्षित कर देती है। इसके विपरीत वह ठहरे हुए ग्रामीण जीवन की कूपमण्डूकतापूर्ण तुष्टि के प्रति वितृष्णा प्रकट करते हैं और उस मध्यवर्गीय शहरी नज़रिए की खिल्ली उड़ाते हैं जिसे ग्राम्य जीवन एक ख़ूबसूरत लैण्डस्कैप नज़र आता है।

एक ठण्डी वस्तुपरकता के साथ बाल्ज़ाक गाँवों में व्याप्त पिछड़ेपन, अज्ञानता, विपन्नता, कूपमण्डूकता, निर्ममता और उस अमानवीकरण की चर्चा करते हैं जो मन्थर गति वाले अलग-थलग पड़े "स्वायत्तप्राय" ग्रामीण परिवेश के अपरिहार्य गुण हैं और गाँवों में पूँजी का प्रवेश इन्हें और निर्मम-निरंकुश बनाने का काम ही करता है।

पश्चिमी दुनिया में कृषि में पूँजीवाद का प्रवेश सबसे क्रान्तिकारी ढंग से फ़्रांस और अमेरिका में हुआ। वहाँ के बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के उत्तरकालीन परिदृश्य को चित्रित करते हुए बाल्ज़ाक ने दिखलाया है कि ग्रामीण जीवन वहाँ भी लगभग ठहरा हुआ सा है, भविष्य को लेकर कहीं कोई उत्साह नहीं है, बाहरी दुनिया से नाम-मात्र का सम्पर्क है, नये विचारों का प्रभाव नगण्य है। खेतिहर मज़दूर, छोटा मालिक किसान, रिटायर्ड फौजी—सभी आत्मविश्वास से रिक्त, रामभरोसे जी रहे हैं। खेतों में भरपूर हाड़ गलाने के बावजूद कुछ भी हासिल नहीं होता। ग़रीबी, भूमिहीनता, ऋणग्रस्तता, कुपोषण, बीमारी, ग़रीबी के चलते ऊँची जन्म दर और ऊँची मृत्यु दर—विशेषकर शिशु मृत्यु दर तथा अन्धविश्वास और भाग्यवाद का चतुर्दिक बोलबाला है।

पिछली आधी सदी के दौरान, भारत के गाँवों का दुःसह पीड़ादाई मन्थर गति से जो पूँजीवादीकरण हुआ है, उसकी बाल्ज़ाक द्वारा प्रस्तुत फ़्रांस के ग्रामीण परिदृश्य से काफ़ी समानता है। भारत में ऐसे विलायतपलट शहरी समाजशास्त्रियों-अर्थशास्त्रियों, कठमुल्लावादी वामपन्थियों और कल्पना और अधकचरी सैद्धान्तिकता के सहारे "यथार्थ" का चित्र खींचने वाले लेखकों की बहुतायत है जो महज़ पिछड़ेपन, प्राक्-पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक अवशेषों, पुराने विचारों-संस्थाओं और बाह्य रूपों के आधार पर आज भी भारत के ग्रामीण जीवन को सामन्तवाद से जकड़ा हुआ मानते हैं और पूँजी की निर्णायक पकड़ को देख ही नहीं पाते। वे पूँजीवाद को उस हद तक आमूल परिवर्तनकारी, क्रान्तिकारी, जनवादी रूप में देखना चाहते हैं जितना वह उस फ़्रांस

तक में नहीं था जहाँ कि क्लासिकी पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति "सर्वाधिक क्रान्तिकारी" ढंग से सम्पन्न हुई थी। ऐसे लोगों को बाल्ज़ाक द्वारा चित्रित फ़्रांसीसी ग्रामीण जीवन में पूँजीवादी संक्रमण का अध्ययन करना चाहिए।

किसी कुशल अर्थशास्त्री से भी अधिक कुशलता से बाल्ज़ाक ने इस चीज़ को दिखलाया है कि असमान विनिमय के चलते पूँजीवाद के अन्तर्गत गाँव और शहर का अन्तर बढ़ता ही चला जाता है। भूस्वामी, व्यापारी, सूदख़ोर महाजन और सरकारी अमले—सबकी निगाह किसान द्वारा उत्पादित अधिशेष (सरप्लस) पर रहती है। नक़दी की ज़रूरत तथा विपणन तथा भण्डारण की मजबूरी के चलते किसान सटोरियों, दलालों, आढ़तियों के चंगुल में फँसता चला जाता है और जिस बड़े भूस्वामी के पास पूँजी की ताक़त होती है, वह छोटे मालिक किसानों को उजाड़कर खेतिहर मज़दूरों की कतारों में धकेलता चला जाता है। स्वयं बाल्ज़ाक के ही शब्दों में, *"छोटे किसान की त्रासदी यह है कि सामन्ती शोषण से मुक्त होकर वह पूँजीवादी शोषण के जाल में फँस गया है।"*

ग्रामीण अर्थव्यवस्था और किसानों की स्थिति के हर पहलू को तफ़सील से देखते हुए बाल्ज़ाक **'किसान'** में समस्या के सारतत्त्व को पकड़ते हैं और बताते हैं कि सवाल भूस्वामित्व की सामन्ती व्यवस्था का नहीं है, बल्कि अपने आप में भू-स्वामित्व की पूरी व्यवस्था का ही है। सामन्ती भूस्वामी की जगह पूँजीवादी फौजी जनरल या ऑपेरा गायिका के आ जाने से आम किसान की स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। किसान की ख़ून-पसीने की कमाई के मुख्य अपहर्ता प्रायः सामने नहीं होते। वे बदलते रहते हैं, पर किसानों का रोज़मर्रा के जीवन में जिन बिचौलियों से साबका पड़ता है, उनकी स्थिति अपरिवर्तित रहती है। 'किसान' उपन्यास में बाल्ज़ाक रिगू-गोबर्ते गँठजोड़ के रूप में व्यापारी-भूस्वामी-सूदख़ोर गँठजोड़ की किसानों पर चतुर्दिक जकड़बन्दी की तस्वीर उपस्थित करते हैं और दिखलाते हैं कि किस तरह प्रशासन, न्याय, ऋण और व्यापार के पूरे तंत्र पर इस गिरोह का ऑक्टोपसी नियंत्रण क़ायम है।

रिगू पादरी से स्थानीय महाजन बना है जो न सिर्फ़ एक हद तक प्रेमचन्द की कहानी 'सवा सेर गेहूँ' के विप्र महाराज की याद दिलाता है बल्कि उन्हीं का उन्नत, ज़्यादा धूर्त संस्करण प्रतीत होता है। बाल्ज़ाक ने रिगू के चरित्र-चित्रण पर एक पूरा अध्याय ख़र्च किया है। बड़ी तफ़सील से वे गोबसेक, ग्राँदे, रूगे आदि शहरी महाजनों से रिगू की तुलना करते हुए शहर और गाँव में महाजनों की और ऋण की भूमिका की भिन्नताओं-समानताओं को निरूपित करते हैं।

ग़ौरतलब है कि 'पूँजी' खण्ड-तीन के पहले भाग के पहले अध्याय में लागत, क़ीमत तथा लाभ की विवेचना करते हुए गाँवों में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत सूदख़ोरी द्वारा किसानों को दोहरे स्तर पर निचोड़ने की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए बाल्ज़ाक के 'किसान' उपन्यास को ही कार्ल मार्क्स ने प्रातिनिधिक साक्ष्य के रूप में चुना है। वे लिखते हैं :

"पूँजीवादी उत्पादन द्वारा अभिभूत सामाजिक व्यवस्था में ग़ैर पूँजीपति उत्पादक भी पूँजीवादी अवधारणाओं से ग्रस्त हो जाता है। बाल्ज़ाक, जो सामान्यतः यथार्थ की अपनी गहरी समझ के लिए उल्लेखनीय हैं, अपने अन्तिम उपन्यास, 'किसान' में इसका बड़ा ही सटीक वर्णन करते हैं कि किस तरह एक छोटा किसान अपने महाजन के लिए बहुत से काम मुफ़्त करता है, जिसकी सद्‌भावना को वह बनाए रखने का इच्छुक है, और किस तरह यह सोचता है कि वह महाजन को मुफ़्त कुछ नहीं देता, क्योंकि स्वयं अपने श्रम पर उसे नक़द कुछ नहीं ख़र्च करना पड़ता। जहाँ तक महाजन की बात है, वह इस तरह एक तीर से दो शिकार कर लेता है। वह मज़दूरी पर नक़द खर्चा बचाता है और किसान को, जो अपने खेत को श्रम से वंचित करते जाने के कारण धीरे-धीरे कंगाल होता जाता है, सूदख़ोरी के मकड़जाल में अधिकाधिक गहरे फँसाता चला जाता है।"

विचारों से 'लेजिटिमिस्ट' होने के बावजूद एक महान कलाकार की युगदर्शी दृष्टि के चलते बाल्ज़ाक इस बात को बख़ूबी समझ रहे थे कि पूँजीवाद की धारा को वापस नहीं पलटा जा सकता। सामन्तवाद के दिन ऐतिहासिक तौर पर पूरे होने के बाद पूँजीपति वर्ग के हितों के अनुरूप ही सामाजिक-आर्थिक क्रिया-व्यापार संचालित होने हैं तथा मूल्य-विचार पुनःसंस्कारित होने हैं। जैसे ऋण के प्रश्न को लें। चूँकि ऋण पूँजीवादी

कारोबार के लिए अनिवार्य है, अतः न सिर्फ़ इसे मध्ययुगीन पाबन्दियों से मुक्त कर दिया गया, बल्कि सूद को घृण्य, त्याज्य और पाप की श्रेणी से भी बाहर कर दिया गया।

बाल्ज़ाक को यह विश्वास था कि संचार-परिवहन के विस्तार और बाज़ार की शक्तियों के आगमन से गाँव की स्थिति बदलेगी। वे यह भी देख रहे थे कि चूँकि पिछड़ी खेती पूँजीवाद के विकास का आधार नहीं हो सकती, इसलिए एक बार राज्यसत्ता पूँजीपति वर्ग के हाथों में आने के बाद भूमि-सम्बन्धों में बदलाव तथा कृषि-अर्थव्यवस्था का पुनर्गठन अवश्यम्भावी है, लेकिन वे यह भी देख रहे थे कि इस परिवर्तन से गाँव के ग़रीबों—मज़दूरी कमाने वालों और छोटे मालिक तबकों को कोई लाभ नहीं होने वाला।

बाल्ज़ाक भूमि-प्रश्न का कोई तोल्स्तोयपन्थी, गाँधीवादी, नरोदवादी या "सर्वोदयवादी" समाधान नहीं प्रस्तुत करते। यही उनके यथार्थवाद की महानता है जो देश-काल का अतिक्रमण करता प्रतीत होता है। 'किसान' उपन्यास में पाठक की मुलाक़ात जां फ्रांस्वा निसेरों नामक व्यक्ति से होती है जिसने क्रान्ति में अपना सर्वस्व झोंककर वीरोचित भूमिका निभाई थी। उसे क्रान्ति से बड़ी अपेक्षाएँ थीं। उसने क्रान्ति से कोई लाभ नहीं उठाया और सुख-सुविधाएँ त्यागकर सादा जीवन बिताने का रास्ता चुना। धनिक वर्गों से उसे घृणा थी। किसानों से उसका आपसी प्यार-विश्वास का रिश्ता था। लेकिन वह भीषण द्वन्द्व का शिकार था। उसकी इच्छा-सदिच्छा से स्वतंत्र जो पूँजीवाद तेज़ी से पनप रहा था, उसकी कुरूपताओं व दुर्गुणों को वह निरुपाय देख रहा था और किंकर्तव्यविमूढ़ था। बाल्ज़ाक ने उसे "क्रान्ति से उपजे कवि" की संज्ञा दी है, जो शायद उसके अन्तर्द्वन्द्व की सर्वाधिक सटीक अभिव्यक्ति है।

हमारा विचार है कि पूँजीवादी संक्रमण से गुज़र रहे गाँवों के सामान्य जन-जीवन के यथार्थ को समझने की दृष्टि से 'किसान' उपन्यास आज इक्कीसवीं सदी के भारत में भी अत्यधिक प्रासंगिक है। यही नहीं, भूमि-प्रश्न और उत्पादन-सम्बन्धों को लेकर विमर्शरत अर्थशास्त्रियों और वामपन्थी सामाजिक-राजनीतिक कर्मियों को भी यह उपन्यास अवश्य पढ़ना चाहिए।

...अक्षुण्ण है बाल्ज़ाक की अद्वितीयता, और उनकी प्रासंगिकता भी!

कार्ल मार्क्स के अनुसार, पुनर्जागरण काल में शेक्सपियर ने इस बात को भली भाँति समझा था कि सोने की, मुद्रा की सत्ता कितनी सर्वशाक्तिमान और सर्वव्यापी है। उसके बाद सम्पूर्ण जीवन पर मुद्रा की सूक्ष्म पैठ और व्यापक प्रभाव को यदि किसी ने सबसे सांगोपांग-व्यवस्थित ढंग से समझा तो निस्सन्देह वह बाल्ज़ाक ही थे।

आगे चलकर, मार्क ट्वेन से लेकर गोर्की, जैक लण्डन, अप्टन सिंक्लेयर और फ़ेदिन आदि ने मुद्रा के मानवद्रोही, आत्मा-संहारक और सभ्यता-विनाशक चरित्र के विविध पक्षों को उद्घाटित करते हुए बाल्ज़ाक की परम्परा को ही आगे विस्तार दिया, पर विस्तार और गहराई की दृष्टि से, व्यापकता और सूक्ष्मता की दृष्टि से बाल्ज़ाक की अद्वितीयता आज भी क़ायम है।

पूँजीवाद की कार्य-प्रणाली में चाहे जितने भी बदलाव आएँ, चाहे पूँजीवादी सभ्यता जितने भी रूप बदले, प्रौद्योगिक प्रगति के नये-नये कीर्तिमानों के सहारे चाहे जितने भी भौतिक-आत्मिक ऐन्द्रजालिक दृष्टिभ्रम-मतिभ्रम रचे जाएँ; जब तक सभी मानवीय सम्बन्धों-भावनाओं-मूल्यों को आने-पाई के ठण्डे पानी में डुबोया जाता रहेगा, जब तक श्रमशक्ति बेचने, उजरत कमाने और अधिशेष निचोड़ने का सिलसिला जारी रहेगा, जब तक मुद्रा जीवन, उत्पादन, सर्जना और प्रगति की उत्तोलक-नियामक शक्ति बनी रहेगी, तब तक बाल्ज़ाक एकदम प्रासंगिक बने रहेंगे और इतने सजीव कि लगभग समकालीन प्रतीत होंगे।

(बाल्ज़ाक के उपन्यास 'किसान' के राजकमल प्रकाशन से छपे
हिन्दी अनुवाद की सम्पादकीय प्रस्तावना के रूप में प्रकाशित)

'किसान', ओनोरे द बाल्ज़ाक, अनुवाद : सत्यम
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य : 65 रुपए (पेपरबैक)

मज़दूर वर्ग और संस्कृति

मुझे प्रायः जर्जर सूती जाकेट पहने मज़दूरों से मिलने का मौक़ा मिला है, जो जर्मनी के सबसे "सुसंस्कृत" बुर्जुआ लोगों से कहीं ज्यादा ज्ञान के साथ भूवैज्ञानिक, खगोल-वैज्ञानिक आदि विषयों पर बात करते हैं। अंग्रेज सर्वहारा कितनी अधिक मात्रा में स्व-शिक्षा प्राप्त करने में सफल रहा है, इसका पता विशेष रूप से इस तथ्य से चलता है कि आधुनिक दार्शनिक, राजनीतिक तथा काव्यात्मक साहित्य की युगान्तरकारी रचनाएँ लगभग विशिष्टतया मजदूरों द्वारा पढ़ी जाती हैं। सामाजिक अवस्थाओं तथा उनसे जुड़े पूर्वाग्रहों का दास बुर्जुआ डरते हुए उस सबको परे रखने के लिए हाथ हिलाता है, उस सबसे बचने के लिए दुआएँ मांगता है, जो वस्तुतः प्रगति का द्योतक है; सर्वहारा तो यह सब आँखें खोलकर देखता है और उसका हर्षपूर्वक तथा सफलतापूर्वक अध्ययन करता है। इस मामले में समाजवादियों ने विशेष रूप से सर्वहारा की शिक्षा के लिए चमत्कार कर दिखाए हैं। उन्होंने फ्रांसीसी भौतिकवादियों, **हेल्वेतियस, हालबाख, दिदेरो** आदि की कृतियों का अनुवाद किया है तथा उन्हें सर्वोत्तम अंग्रेजी कृतियों के साथ सस्ते संस्करणों में प्रसारित किया है। स्ट्रॉस की 'ईसा का जीवन' तथा प्रूदों की 'स्वामित्व क्या है?' शीर्षक कृतियां भी सर्वहाराओं के बीच प्रसारित हो रही हैं। प्रतिभा का धनी **शेली**, पैगम्बर शेली तथा अपनी देदीप्यमान विषयासक्ति तथा हमारे विद्यमान समाज पर कटु व्यंग्य के साथ **बायरन** अपने अधिकतर पाठक सर्वहारा वर्ग के बीच पाते हैं; बुर्जुआ वर्ग के पास केवल वह है, जिसे "पारिवारिक प्रकाशन" कहते हैं—बंध्यकृत, आज की पाखण्डपूर्ण नैतिकता के अनुकूल काटा-छाँटा गया। नूतनतम काल के दो महान व्यावहारिक दार्शनिक **बेंथम** तथा **गॉडविन**—विशेष रूप से गॉडविन—सर्वहारा की विशिष्ट सम्पदा हैं। यद्यपि आमूलवादी बुर्जुआ वर्ग के बीच बेंथम के अनुयायी विद्यमान हैं, तथापि केवल सर्वहारा वर्ग तथा समाजवादी ही उनकी शिक्षा को विकसित कर एक क़दम आगे ले जाने में सफल रहे हैं। सर्वहारा वर्ग ने इस आधार पर ऐसे साहित्य का निर्माण किया है, जो मुख्यतया पत्रिकाओं और पैम्फ़लेटों को लेकर बना है और अपनी अन्तर्वस्तु की दृष्टि से बुर्जुआ साहित्य से कहीं आगे है।

—फ्रेडरिक एंगेल्स

('इंग्लैण्ड में मजदूर वर्ग की दशा')

भाषा-विज्ञान के इतिहास में मार्क्सवाद और वोलोशिनोव

कात्यायनी / सत्यम

मानव-चिन्तन और संज्ञान की प्रक्रिया के सामान्य नियमों की खोज में आगे बढ़ते हुए, भाषा के प्रश्न से दर्शन की मुठभेड़ प्राचीन काल में ही हो चुकी थी। मानव-समाज की समस्त भौतिक और आत्मिक गतिविधियों के दौरान संज्ञानात्मक और संसर्गात्मक प्रकार्यों (function) की पूर्ति करनेवाली आधारभूत संकेत-प्रणाली के रूप में भाषा के विकास, उसकी प्रकृति और संरचना के अध्ययन के साथ-साथ, अव्यवस्थित ढंग से ही सही, पर शताब्दियों तक, दार्शनिक इन प्रश्नों से भी जूझते रहे कि भाषा किस हद तक मनुष्य की अन्य प्राणियों से इतर, प्राकृतिक-जैविक विशिष्टता की उपज है और किस हद तक यह एक सामाजिक परिघटना है।

यह धारणा मार्क्सवाद के जन्म से पहले ही मान्यता प्राप्त कर चुकी थी कि भाषा एक सामाजिक परिघटना है जो मानव कार्य-कलाप के समन्वय का साधन है। ऐतिहासिक भौतिकवाद ने भाषा-वैज्ञानिक चिन्तन को आगे बढ़ाते हुए उपरोक्त धारणा में यह बात जोड़ी कि भाषा सामाजिक उत्पादन के विकास के दौरान जन्म लेती है तथा उत्पादन-सम्बन्धों के कुल योग के आधार पर जीवन की जो आम सामाजिक-बौद्धिक-राजनीतिक प्रक्रिया गतिमान होती है, उसका माध्यम बनने के साथ ही, उसके दौरान, उसके साथ-साथ, सतत् विकसित भी होती रहती है।

समाज-विज्ञान या मानविकी की एक पृथक् प्रशाखा के रूप में, भाषा-विज्ञान का उन्नीसवीं शताब्दी से पहले अस्तित्व नहीं था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक यह तर्कशास्त्र से अलग नहीं माना जाता था। उस समय तक दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र के एक अंग के तौर पर, चिन्तन की अभिव्यक्ति के एकीकृत, सार्वभौमिक साधनों का अध्ययन भाषा-विज्ञान का विषय था।

तर्कशास्त्रीय भाषा चिन्तन की दो सहस्राब्दियाँ

भाषा के अध्ययन की प्राचीनतम अवस्थाएँ हमें प्राचीन यूनान और भारत में देखने को मिलती हैं। **अफलातून** (पाँचवी-चौथी शताब्दी ईसा पूर्व) के प्रसिद्ध दार्शनिक

संवादों में, पहली बार, विचारों के पाठ (text) में रूपान्तरण की परिकल्पनाओं ("प्रकल्पों" या "model") की एक पूरी व्यवस्था हमें दिखाई देती है। अफलातून का कहना था कि वस्तुओं का सारतत्त्व ("वस्तुगत विचार") आत्मगत मानव-संज्ञान में विविध पक्षों से परावर्तित होता है और तदनुरूप, विभिन्न नामों द्वारा द्योतित-निरूपित होता है। **अरस्तू** (चौथी शताब्दी ईसा पूर्व) ने तर्कशास्त्र का पूरक अंग मानते हुए भी भाषा को अफलातून से अधिक महत्त्व दिया। अरस्तू की तर्कशास्त्रीय-भाषावैज्ञानिक अवधारणा का प्रस्थान-बिन्दु है—शब्द-अवधारणाओं (*logoi*) की व्यवस्था जो प्रवर्गों में बँट जाती है और अन्त में वह उद्‌गारों और निर्णयों और उनके पूर्वापर सम्बन्धों के विभिन्न प्ररूपों का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अरस्तू ने अपनी दार्शनिक प्रणाली में वस्तुगत अस्तित्वों की उच्चतम व्यवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करनेवाले दस प्रवर्गों की अवधारणा प्रस्तुत की। इन प्रवर्गों में सारतत्त्व, परिमाण, गुण और सम्बन्ध सहित कठोर पद-सोपानिक क्रम में विधेय के वे सभी रूप (संज्ञा-रूपों से लेकर क्रिया-रूपों तक तथा स्वतंत्र रूपों से लेकर सापेक्षतः निर्भर रूपों तक) शामिल थे जो प्राचीन यूनानी भाषा के एक सरल वाक्य में पाए जा सकते थे। अरस्तू पहला क्लासिकी चिन्तक था जिसने व्याकरणिक रूपों की समस्या को छुआ और शब्दों की विभिन्न व्याकरणीय कोटियों के लिए एक शब्दभेद-सिद्धान्त विकसित किया।

भारत में **ऐन्द्र, शाक्तायन, यास्क** आदि वैयाकरणों की पाणिनी पूर्व काल में लम्बी परम्परा थी, लेकिन इनमें से यास्क का *'निरुक्त'* ही विस्मृत होने से बच सका। अपने पहले की परम्पराओं को आगे विकसित करते हुए **पाणिनी** (पाँचवी-चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व) ने अफलातून और अरस्तू द्वारा आम दार्शनिक चिन्तन के तन्तुबद्धीकरण की प्रक्रिया में भाषा पर चिन्तन की प्रवृत्ति से अलग हटकर भाषा-प्रश्न को एक स्वतंत्र-स्वायत्त प्रश्न के रूप में उठाया। व्याकरण की अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'अष्टाध्यायी'* में पाणिनी ने, अर्थ-विज्ञान (semantics) की किसी प्रणाली के बग़ैर ही, संस्कृत के स्वर-विज्ञान (phonetics), आकृति-विज्ञान (morphology), शब्द-संरचना और वाक्य-विन्यासगत तत्त्वों पर विस्तार से विचार किया। पाणिनी शब्द के मूल, प्रत्यय और धातु की अवधारणाएँ तथा शब्द-रूपों के निर्माण की अवधारणा प्रस्तुत करनेवाले पहले व्यक्ति थे। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यादृच्छिक प्रतीकात्मक वर्णनात्मक भाषा का इस्तेमाल किया। कई मायने में पाणिनी का व्याकरण बीसवीं शताब्दी के भाषाशास्त्रीय अध्ययनों के स्तर का है। पाणिनी की चिन्तन-परम्परा को उत्तरवर्ती काल में **नागेश भट्ट, कुन्द भट्ट, कात्यायन, पतंजलि** और **भर्तृहरि** ने आगे विकसित किया। इसी भारतीय व्याकरण-परम्परा में *स्फोट सिद्धान्त* का प्रवर्तन हुआ जिसमें ठोस भाषिक-रूपों के आदि-प्ररूप (प्रोटो-टाइप) देखने को मिलते हैं।

यूरोपीय संस्कृति के बाहर सर्वाधिक सांगोपांग विकसित तर्कशास्त्रीय-भाषावैज्ञानिक अवधारणाएँ यदि कहीं दीखती हैं तो वह है *नव्य-न्याय* का भारतीय दर्शन जिसका सूत्रपात तेरहवीं शताब्दी में हुआ। नव्य-न्याय की चिन्तनधारा प्रवर्गों पर आधारित 'अप्रोच' की अरस्तू की अवधारणा से मिलती-जुलती थी, लेकिन नव्य-न्यायवादी 'जेण्डर' और विधेय के रूपों के बजाय प्रारम्भिक प्रवर्गों को ही गुण मानते थे। वे भाषा के सारतत्त्व और नामों के अर्थों का वास्तविक, वस्तुपरक अस्तित्व स्वीकार करते थे। वे मानते थे कि *ज्ञान* यदि सत्य है तो वह एक वस्तुगत तथ्य है। अरस्तू की ही तरह नव्य-न्याय का दर्शन भी सीधे भाषा पर निर्भर था।

यहीं पर प्रारम्भिक **स्टोआ काल** (तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व) के **जेनो** और **क्रिसिप्पस** आदि स्टोइक पन्थ के दार्शनिकों की भी चर्चा ज़रूरी है जिन्होंने उद्‌गार (utterance) पर आधारित एक तर्कसंगत 'अप्रोच' विकसित किया। पहली बार उन्होंने यह खोज की कि उद्‌गार के दो विषय होते हैं : पहला, *टेलोस* (telos), यानी यथार्थ जगत की कोई वस्तु [बीसवीं शताब्दी की तर्कशास्त्रीय और भाषा-वैज्ञानिक शब्दावली में "संकेत या व्याप्ति की वस्तु"(object of denotation), "संकेतित" (denotete), "अभिप्राय या आशय" (meaning) या, "विस्तारात्मक" (extensional)]; और दूसरा, *लेक्टोन* (lecton), कोई विशिष्ट, अमूर्त सारतत्त्व [बीसवीं शताब्दी की अर्थ-वैज्ञानिक (semantic) शब्दावली में "अभिप्रेत" (intentional), द्योतक

अथवा अर्थ-संकेतक (signifier)]। अफलातून या अरस्तू के विपरीत, स्टोइकों ने उद्गार की अन्तर्वस्तु का तर्कपूर्ण-परीक्षण, अमूर्त अवधारणाओं या किसी एक विशिष्ट टाइप या क़िस्म के सार-तत्त्वों के समुच्चय के रूप में नहीं, बल्कि एक इकाई के रूप में, अवधारणाओं, अवबोधों और मानवीय भावनाओं के एक सम्मिलन के रूप में किया। '*लेक्टोन*' स्वीकरण या अस्वीकरण से अधिक व्यापक, ज्ञान का एक विशिष्ट रूप था, जिसकी सादृश्यता काफ़ी हद तक *ज्ञान* की प्राचीन भारतीय अवधारणा के साथ स्थापित की जा सकती है।

यूनानी और भारतीय भाषा-वैज्ञानिक चिन्तन की परम्पराओं के ही प्रभाव में प्राचीन अरबी भाषा-विज्ञान का भी विकास हुआ जिसका स्वर्ण युग सातवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच माना जा सकता है जब शब्दकोश-कला (lexicography) का विकास हुआ, अरबी व्याकरण की प्रसिद्ध पुस्तक '*अल-क़िताब*' और **फिरुज़ाबादी** का शब्दकोश प्रकाशित हुए। इस दौरान अरबी और अन्य सामी भाषाओं की अभिलाक्षणिकताओं के अध्ययन हुए, इनके त्रिपक्षीय मूलों को, जो इनकी एक विशिष्टता थी, परिभाषित किया गया और ध्वनियों के उत्पादन के साधनों का अध्ययन किया गया। अरबी भाषा-विज्ञान में पहली बार शब्दों और ध्वनियों के बीच फ़र्क़ किया गया। अरब विद्वानों द्वारा प्रस्तावित धातुओं और प्रत्ययों की परिभाषाओं ने उन्नीसवीं शताब्दी के, ख़ास तौर पर, फ्रांत्स बॉप के, भाषा-वैज्ञानिक अध्ययनों को काफ़ी प्रभावित किया।

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में तर्कशास्त्रीय प्रवृत्ति का वर्चस्व कमोबेश अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक बना रहा, हालाँकि तब तक अरस्तू के और स्टोइकों के बहुतेरे विचार भुलाए जा चुके थे। फ़्रांस के **पोर्ट-रोयाल** भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा विकसित व्याकरण और तर्कशास्त्र के सिद्धान्त इस प्रवृत्ति के विकास के चरम-बिन्दु थे। पोर्ट-रोयाल के भाषा-वैज्ञानिकों ने अवधारणा, निर्णय और नौ शब्द-भेदों (parts of speech) जैसे भाषा के तर्कशास्त्रीय रूपों को सभी भाषाओं के लिए सामान्य, सार्वभौमिक रूप माना। तर्कशास्त्रीय प्रवृत्ति के इस सामान्य फ्रेमवर्क का सकारात्मक पहलू यह था कि इसने मनुष्य के एक सार्वभौमिक गुण के रूप में भाषा का अध्ययन करने की दिशा में, एक सार्वभौमिक व्याकरण की रचना की दिशा में और ऐसे अध्ययनों की एक सामान्य पद्धति के विकास की दिशा में महत्त्वपूर्ण क़दम उठाए। लेकिन इनका नकारात्मक पहलू यह था कि विश्व की अलग-अलग भाषाओं की विशिष्ट ऐतिहासिक भिन्नताओं की उपेक्षा की गई। भाषा-विज्ञान की यह प्रवृत्ति उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक विभिन्न भाषाओं के विद्वत्तापूर्ण व्याकरणों के आधार के रूप में इस्तेमाल होती रही और बीसवीं शताब्दी में भी व्याकरण की शैक्षिक पाठ्यपुस्तकों पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है।

भाषा–विज्ञान की परिपक्व अवस्था : ऐतिहासिक–तुलनात्मक भाषा–विज्ञान का उद्भव और विकास

भाषा-विज्ञान के विकास की अगली मंज़िल की शुरुआत अठारहवीं शताब्दी के अन्त से मानी जा सकती है जब *ऐतिहासिक-तुलनात्मक अध्ययन-पद्धति* का प्रादुर्भाव हुआ। ऐतिहासिक-तुलनात्मक भाषा-विज्ञान शुरू में एक पूर्णतः स्वतंत्र विज्ञान के रूप में देखा गया जिसके अभिलाक्षणिक बुनियादी सिद्धान्त निम्नलिखित थे :

(i) प्रत्येक भाषा के अपने विशिष्ट गुण-धर्म होते हैं जो उसे अन्य भाषाओं से अलग पहचान देते हैं। ये विशिष्ट गुण-धर्म तुलना के द्वारा पहचाने जाते हैं।

(ii) भाषाओं की तुलना उनके बीच के उन सम्बन्धों को उद्घाटित करती है जो एक ही स्रोत से उत्पन्न हुए रहते हैं। वह स्रोत मूल भाषा (parent language) होती है। वह एक जीवित भाषा हो सकती है या मृत हो सकती है। भाषाओं का वंश-विषयक प्रवर्गीकरण सम्बन्धित भाषाओं को अलग-अलग समूहों में ऐक्यबद्ध करता है, जैसे कि जर्मेनिक या स्लाविक भाषाएँ। और फिर ये समूह वृहत्तर भाषा-परिवारों में संगठित होते हैं, जैसे कि इण्डो-यूरोपियन, फिनो-उग्रिक या सामी भाषा-परिवार।

(iii) सम्बन्धित भाषाओं के बीच के विभेदों की व्याख्या सिर्फ़ भाषाओं के सतत ऐतिहासिक परिवर्तन

के आधार पर ही की जा सकती है। यह परिवर्तन हर भाषा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण होता है।

(iv) भाषाओं के ऐतिहासिक परिवर्तन में, दूसरे तत्त्वों के मुक़ाबले ध्वनियाँ अधिक तेज़ी से बदलती हैं। किसी एक भाषा के भीतर ध्वनि-रूपान्तरण पूरी तरह से नियमबद्ध ढंग से होते हैं और उन्हें स्वर विज्ञान के नियमों के अनुसार स्पष्टतः सूत्रबद्ध किया जा सकता है। किसी भाषा के मूल तत्त्व—शब्द मूल, प्रत्यय, और विभक्तियाँ—हजारों वर्षों तक स्थिर-अपरिवर्तित बनी रहती हैं।

(v) ऐतिहासिक परिवर्तनों के आधार पर, पहले मौजूद रही किसी सर्वनिष्ठ भाषा की सामान्य अभिलाक्षणिकताओं का पुनःकल्पन या पुनर्गठन (reconstruction) किया जा सकता है (इसके पूर्व यह माना जाता था कि किसी मूल भाषा का पूरी तरह से पुनःकल्पन किया जा सकता है)।

मूल भाषा और पुनःकल्पन की अवधारणाओं ने भाषा के सामान्य अध्ययन और अलग-अलग विशिष्ट भाषाओं के अध्ययन के लिए उत्प्रेरक और उपकरण की भूमिका निभाई। भाषा के मुख्य तत्त्वों के स्थायित्व की धारणा ने विद्वानों को उसे (यानी भाषा को) एक विशेष क़िस्म की स्वतंत्र प्रणाली (system) या व्यवस्था मानने के विचार तक पहुँचाया। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में, अधिकांश भाषा-वैज्ञानिक भाषा को एक अंगभूत या समाकलित (integral) प्रणाली मानने के बजाय यह मानते थे कि यह परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील—दो प्रकार के तत्त्वों से संघटित होती है। ये तत्त्व ही तुलनात्मक-ऐतिहासिक व्याकरण के विषय होते हैं, जो तुलनात्मक-ऐतिहासिक पद्धति के साधनों से निर्मित होता है।

इन विचारों को सूत्रबद्ध करने का काम पहली बार **फ्रांत्स बॉप** और **रास्मस क्रिश्चियन रास्क** ने किया। फिर **फ़्रेडरिक फ़ॉन श्लेगेल**, **जैकब ग्रिम** और **वोस्तोकोव** आदि ने इन्हें आगे विकसित किया। पहली बार बॉप के *तुलनात्मक व्याकरण* (1833) ने इन विचारों को ठोस रूप दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विभिन्न इण्डो-यूरोपियन भाषा-समुदायों के ऐतिहासिक-तुलनात्मक व्याकरण तैयार किए गए जिनमें **ग्रिम** (जर्मेनिक भाषा-समूह), **दिएज़** (रोमान्स भाषा-समूह) और **मिक्लोसिक** (स्लाविक भाषा-समूह) के व्याकरण उल्लेखनीय हैं। फिर इनके आधार पर, **रेनान** ने सामी भाषा-समूह के भी तुलनात्मक-ऐतिहासिक व्याकरण की पुस्तक तैयार की। एक नया समाहारमूलक अध्ययन **ऑग्यूस्त श्लीखर** की व्याकरण की प्रसिद्ध पुस्तक (1861-62) में सामने आया जो एक सामान्य इण्डो-यूरोपियन मूल भाषा की अवधारणा पर आधारित था। डार्विनवाद के जीवशास्त्रीय सिद्धान्तों को लागू करते हुए श्लीखर ने यह विचार प्रतिपादित किया कि भाषा एक विकासमान 'आर्गेनिज़्म' के समान होती है। इन विचारों के आधार पर भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में जीवशास्त्रीय प्रकृतवाद का विचार भी उभरा, लेकिन वह अल्पप्रचलित और अल्पजीवी ही सिद्ध हुआ।

तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के दृष्टिकोण के समान्तर और साथ ही, काफ़ी हद तक उसी के फ़्रेमवर्क के भीतर, **कार्ल विल्हेल्म फ़ॉन हम्बोल्ट** ने अपना भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, जिसका न सिर्फ़ उन्नीसवीं शताब्दी में, बल्कि बीसवीं शताब्दी में उससे भी अधिक प्रभाव रहा। हम्बोल्ट जर्मन दार्शनिक **काण्ट** के प्रागनुभविक प्रत्ययवाद और अज्ञेयवाद से प्रभावित थे और "वस्तु-निजरूप" (thing in itself) की दार्शनिक अवधारणा की ही तरह भाषा को एक स्वतःस्फूर्त (self contained) प्रणाली के रूप में देखते थे, एक ऐसी व्यवस्था के रूप में, जो अन्तिम नहीं है बल्कि "जन समुदाय की गूढ़-गहन स्पिरिट" को अभिव्यक्त करनेवाली "सक्रियता" के रूप में निरन्तर सृजित हो रही है। आगे चलकर बीसवीं शताब्दी की नवहम्बोल्टवादी और संरचनावादी भाषा-वैज्ञानिक विचार-सरणियों पर हम्बोल्ट के चिन्तन का गहरा प्रभाव मौजूद रहा।

तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के ही फ़्रेमवर्क से एक और शाखा जो फूटी वह जर्मन विद्वान **स्टाइन्थाल** और कुछ अन्य भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा प्रवर्तित मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति थी जो भाषा-विज्ञान के तर्कशास्त्र से किसी भी क़िस्म के बुनियादी सम्बन्ध को अस्वीकार करती थी और मनोवैज्ञानिक नियमों की एकता के आधार पर मानवीय भाषा की एकता की व्याख्या करती थी जबकि भाषाओं की विविधता की व्याख्या वह अलग-अलग जन-समुदायों की मनोवृत्तियों की विशिष्ट अभिलाक्षणिकताओं के आधार पर

करती थी। प्रसिद्ध उक्रइनी-रूसी भाषाविद् **पोतेब्निया** भी इसी धारा के विचारों को मानता था। उसने इन विचारों को आगे विकसित किया। पोतेब्निया की अवधारणा के अनुसार, भाषा का अध्ययन मनुष्य द्वारा चिन्तन में, मानस में, भाषा में और कलात्मक सृजन में, वस्तुगत जगत के अभिज्ञान को प्रकट करता है। पोतेब्निया-स्कूल के अनुसार, चिन्तन सुनिश्चित अर्थ-वैज्ञानिक (semantic) नियमों के अनुसार भाषा के घनिष्ठ सहयोजन में विकसित होता है। इन नियमों में संकेत-प्रतिस्थापन (sign substitution) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जो शब्दों में (शब्द के अतिरिक्त रूप के स्तर पर) भी होता है और वाक्यों के अर्थगत और विन्यासगत रूपान्तरण (शब्द-भेदों यानी parts of speech के प्रतिस्थापन) में भी होता है। तुलनात्मक-ऐतिहासिक मनोवैज्ञानिक भाषा-विज्ञान के विकास के आधार पर जो शोध-पद्धतियाँ विकसित हुई, उनसे विशेष तौर पर, भाषा के रूपों के अध्ययन और पुनर्रचना से जुड़े उपक्रमों को विशेष लाभ मिला।

रूसी विद्वान **फोर्तुनातोव** ने भाषा के संरचनागत पक्षों के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया। मनोवैज्ञानिक भाषा-अध्ययन के आधार पर परवर्ती उन्नीसवीं शताब्दी में, तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की एक और प्रशाखा *नवव्याकरणवाद* (neogrammerianism) सामने आई जिसका आधारभूत सिद्धान्त जर्मन भाषा-वैज्ञानिक **ओस्थोफ** और **ब्रुगमान** ने अपनी पुस्तक *'मॉर्फोलॉजिकल स्टडीज़ इन दि इण्डो-यूरोपियन लैंग्वेजेज़'* (भाग 1-6, 1878-1910) में तथा **एच. पॉल** ने *'प्रिन्सिपल्स ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ लैंग्वेज'* (1880) में प्रस्तुत किया। इन पुस्तकों को नवव्याकरणवाद का घोषणापत्र माना गया। किसी भी भाषा के अध्ययन का, विशेष तौर पर आकृति-विज्ञान (morphology) की दृष्टि से इसकी संरचना या रूप की पुनर्रचना का, आधार तैयार करने के साथ ही इन नववैयाकरणों ने मनोवृत्तिगत नियमों की एकता और वक्तृत्व के स्वर-विज्ञानगत या ध्वन्यात्मक (phonetic) नियमों की अपरिवर्तनीयता के विचारों को बढ़ावा दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी में तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की सबसे बड़ी भूमिका यह रही कि उसने भाषाओं की तुलना तथा उनके लुप्त रूपों और नियमों की पुनर्रचना की श्रमसाध्य पद्धति विकसित की। वृहद भाषा-परिवारों के, विशेष तौर पर इण्डो-यूरोपियन परिवार के, इतिहास के अध्ययन में तथा जीवित भाषाओं में होनेवाले परिवर्तनों के प्रमुख स्वर-विज्ञान विषयक तथा अर्थ-विज्ञान विषयक नियमों को स्थापित करने में इसने ऐतिहासिक भूमिका निभाई। लेकिन इस प्रवृत्ति के समक्ष एक संकट यह पैदा हुआ कि भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन के विषय के—भाषा और मानसिक स्थिति-संरचना के रूप में जारी विभाजन की प्रवृत्ति की परिणति अनेक द्वैतवादी सादृश्यों के रूप में सामने आई, जैसे, ध्वनि और ध्वनि की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति, तथा अर्थ (meaning) और अर्थ की मनोवैज्ञानिक प्रस्तुति। उत्तरवर्ती दौर में, मनोवैज्ञानिक और नवव्याकरणीय प्रवृत्तियों सहित, तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन की धारा की एक नकारात्मक प्रवृत्ति यह विकसित हुई कि भाषा के तंत्र के सामग्रिक अध्ययन का स्थान अनेकशः छोटे-बड़े, अविच्छिन्न उपादानों (जैसे ध्वनियाँ, शब्द-रूप आदि-आदि) के विश्लेषण ने ले लिया। व्यक्तिगत मनोविज्ञान और व्यक्तिगत वक्तृत्व (speech) की भूमिका बढ़ा-चढ़ाकर देखी जाने लगी जिसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति के वक्तृत्व को "एकमात्र भाषा-वैज्ञानिक यथार्थ" की मान्यता दी जाने लगी।

संरचनावादी भाषा-विज्ञान की विकास-यात्रा

नवव्याकरणवाद के उपरोक्त संकट ने एक नई धारा—संरचनावादी भाषा-विज्ञान या भाषा-वैज्ञानिक संरचनावाद के उद्भव और विकास का आधार निर्मित करने में अहम भूमिका निभाई। संरचनावादी भाषा-विज्ञान संरचनावादी दार्शनिक-सौन्दर्यशास्त्रीय विचारसरणि के 'फ्रेमवर्क' के भीतर ही विकसित हुआ था, या यूँ कहें कि उसी की एक प्रशाखा या उपधारा था। दरअसल, बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, मानविकी के क्षेत्रों में विषयों और वस्तुओं की आन्तरिक संरचना को प्रकट करनेवाली एक ठोस वैज्ञानिक पद्धति के रूप में

संरचनावाद का जन्म प्रत्यक्षवादी विकासक्रमवाद (positivist evolutionism) की प्रतिक्रिया के तौर पर हुआ था और इसी के समान्तर संरचनावादी भाषा-विज्ञान का विकास नवव्याकरणवाद के प्रतिक्रियास्वरूप हुआ था।

संरचनावाद ने साहित्य-कला की आलोचना, मनोविज्ञान, नृजातिविज्ञान आदि के क्षेत्र में प्रकृति-विज्ञानों द्वारा विकसित संरचनात्मक अन्वेषण-विधियों का इस्तेमाल किया। यह अनुसन्धान के विषयों या वस्तुओं की वर्तमान अवस्था के वर्णन पर ध्यान केन्द्रित करते हुए उनके अन्तर्निहित कालेतर गुणों को उद्घाटित करता है तथा अनुसन्धान का विषय बनी प्रणाली के तथ्यों या तत्त्वों के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। विषय का अनुसन्धान करने में संरचनावाद पर्यावलोकित तथ्यों के प्रारम्भिक संगठन से विषय की आन्तरिक संरचना (उसके सोपान, प्रत्येक स्तर पर तत्त्वों के बीच अन्तर्सम्बन्ध) को उजागर करने तथा उनका वर्णन करने की ओर, और उसके बाद विषय का सैद्धान्तिक प्रतिरूप निर्मित करने की ओर आगे बढ़ता है। संरचनावाद के विचारों ने सांस्कृतिक परिघटनाओं के अन्तर्विषयगत अध्ययनों का एकीकरण करने तथा मानविकी और प्रकृति-विज्ञान के क्षेत्रों में गति के नियमों और विश्लेषण-पद्धतियों के बीच की समरूपता को उजागर करने में अहम भूमिका निभाई, लेकिन संरचनात्मक विधियों के व्यापक प्रयोग ने इसे दार्शनिक प्रणाली के स्तर तक ऊपर उठाने की कोशिशों को जन्म दिया, जो सर्वथा ग़लत थीं। कारण कि एक वैज्ञानिक विधि के रूप में संरचनावाद की संज्ञानात्मक सीमाएँ स्पष्ट हैं। संरचना की अवधारणा के प्रति इसका दृष्टिकोण इतिहास-विरोधी है। साथ ही, वस्तुओं या विचारों की संरचनाओं के विकास तथा परिवर्तन के स्रोत के रूप में संरचनावाद आन्तरिक व्याघातों का या आन्तरिक द्वन्द्वात्मक गति का निषेध करता है।

संरचनावादी भाषा-विज्ञान भी इन्हीं दार्शनिक असंगतियों और संज्ञानात्मक सीमाओं से ग्रस्त था, लेकिन संरचनात्मक विधियाँ जिस हद तक विज्ञान-सम्मत थीं, उसके चलते भाषा-विज्ञान में भी इनके इस्तेमाल के सकारात्मक परिणाम निकले। इनके चलते लिपि रहित भाषाओं के वर्णन तथा अज्ञात भाषाओं की लिपियों की 'डिकोडिंग' जैसे काम सम्भव हो सके। संरचनावादी भाषा-विज्ञान के मुख्य सिद्धान्तों को इस रूप में सूत्रबद्ध किया जा सकता है :

(i) मूल और मुख्य यथार्थ किसी भाषा-विशेष का अलग-थलग तथ्य नहीं होता, बल्कि एक प्रणाली (system) के रूप में भाषा का अंग होता है। किसी भाषा का प्रत्येक तत्त्व उक्त प्रणाली के अन्य तत्त्वों के साथ अन्तर्सम्बन्धित रूप में ही मौजूद होता है। प्रणाली अपने तत्त्वों का कुल योग नहीं होती, बल्कि इसके विपरीत, उन्हें परिभाषित करती है।

(ii) उक्त प्रणाली का संरचनागत 'फ़्रेमवर्क' कालेतर सम्बन्धों (extratemporal relationships) से निर्धारित होता है तथा व्यवस्था के भीतर के सम्बन्ध व्यवस्था के तत्त्वों को परिचालित करते हैं।

(iii) इसलिए, तत्त्वों की अलग-अलग विशिष्टता या उनकी भौतिकता के बजाय सम्बन्धों के आधार पर भाषा-प्रणाली का कालेतर "बीजगणितीय" अध्ययन सम्भव है और भाषा-विज्ञान में परिशुद्ध गणितीय पद्धतियाँ भी प्रयुक्त हो सकती हैं।

(iv) भाषा एक विशिष्ट प्रकार की प्रणाली अथवा व्यवस्था या तंत्र (system) होती है—एक संकेत-प्रणाली (sign system) होती है जो एक ओर, वस्तुगत तौर पर, मानव-मनोजगत के बाहर, अन्तर्वैयक्तिक अन्तर्सम्बन्धों में, मौजूद रहती है, और दूसरी ओर, मानव-मनोजगत के भीतर मौजूद रहती है।

(v) मानव-समाजों में काम करनेवाली, लोकगीत, रीति-रिवाज़-आचार, अनुष्ठान-कर्मकाण्ड और सगोत्रीय सम्बन्ध आदि अन्य प्रणालियाँ (व्यवस्थाएँ) भी भाषा के ही सदृश संगठित हुई हैं। भाषा की ही तरह इन सभी संरचनाओं का भी भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है, ख़ास तौर पर, "बीजगणितीय ढंग से" या अन्य साधनों से उन्हें औपचारिक रूप दिया जा सकता है। संकेत-विज्ञान (semiotics) की विधा ख़ास तौर पर संकेतों और संकेत-प्रणालियों का, संकेत-चिह्नित सम्बन्धों की अभिलाक्षणिक विशिष्टताओं का अध्ययन करती है।

संरचनावादी भाषा-विज्ञान का विधिवत प्रारम्भ स्विस भाषा-वैज्ञानिक **फर्दिनान्द द सॉस्युर** की पुस्तक

'कोर्स इन जनरल लिंग्विस्टिक्स' (1916, मरणोपरान्त प्रकाशित) से माना जाता है। सॉस्युर के साथ ही कजान स्कूल के रूसी भाषाविदों—विशेषकर **क्रुशेव्स्की** और **बोदिन द कर्टने** ने भाषा-विज्ञान में संरचनागत की ज़मीन तैयार करने में अहम भूमिका निभाई।

भाषा सहित सभी संकेत-प्रणालियों के अध्ययन के लिए बीसवीं शताब्दी में एक विशेष विज्ञान—संकेत-विज्ञान (semiotics या semiology) का जन्म हुआ जिसमें सॉस्युर की अहम भूमिका मानी जाती है। सूचनाओं के प्रेषण या अर्थ की अभिव्यक्ति के साथ ही संसर्ग, यानी सम्प्रेषित सूचना का श्रोता/पाठक द्वारा बोध सुनिश्चित करना और संक्रिया की उत्प्रेरणा तथा भावनात्मक प्रभाव किसी भी संकेत-प्रणाली के मुख्य प्रकार्य होते हैं। इन प्रकार्यों की पूर्ति संकेत-प्रणाली के एक सुनिश्चित आन्तरिक संगठन की, यानी भिन्न-भिन्न संकेतों तथा उनके संयोजन के नियमों की उपस्थिति की पूर्वकल्पना करती है। नानाविध प्रकार के प्रकार्यों को निष्पादित करनेवाली संकेत-प्रणालियों की आन्तरिक संरचना के अध्ययन की प्रशाखा **संकेत-सम्बन्ध विज्ञान** (syntactics) के रूप में विकसित हुई। **अर्थ-विज्ञान** (semantics) अर्थ व्यक्त करने के साधन के रूप में संकेत-प्रणालियों का अध्ययन करता है। **संकेत-प्रयोग विज्ञान** (pragmatics) संकेत-प्रणालियों के उनके साथ सम्बन्ध का अध्ययन करता है, जो उनका प्रयोग करते हैं।

संरचनावादी भाषा-विज्ञान की, अलग-अलग देशों में अलग-अलग चिन्तन-सरणियाँ विकसित हुईं और कुछ समय के लिए भाषा-विज्ञान की एकता खो-सी गई। लेकिन दूसरी ओर, अपनी सैद्धान्तिक कमज़ोरियों के बावजूद संरचनावादी भाषा-चिन्तन की विविध सरणियाँ काफ़ी हद तक एक-दूसरे के पूरक की भूमिका भी निभाती रहीं।

स्विस स्कूल और फ़्रांसीसी समाजशास्त्रीय स्कूल ने, सॉस्युर के संकेत-सिद्धान्त को तथा एक हद तक, संरचनावाद की बीजगणितीय दिशा को भी आगे विकसित किया। संरचनावाद की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का श्रेय सॉस्युर के शिष्य **आंत्वाँ मेये, सी. बैली, कार्त्सेवस्की** तथा स्विस विद्वान **गोदेल** और फ़्रांसीसी विद्वान **बेन्वेनिस्ते** को दिया जा सकता है। इन भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषाई संकेतों की प्रकृति का विशद अध्ययन किया, इस अध्ययन के आधार पर फ़्रांसीसी, जर्मन और रूसी भाषाओं के अर्थ-विज्ञान और संकेत-प्रयोग विज्ञान के अन्तर्भूत नियमों को उद्‌घाटित किया, इण्डो-यूरोपियन भाषाओं के व्याकरण और निघण्टु (lexicon) या शब्दकोश के व्यापक संस्तर को व्यवस्थित और पुनर्गठित किया; तथा इन भाषाओं के व्युत्पत्तीय (etymological) शब्दकोशों के लिए आधार तैयार किया।

आगे चलकर संरचनावादी भाषा-विज्ञान के तीन स्कूल विकसित हुए : अमेरिकी संरचनावादी भाषा-विज्ञान या चित्रणवाद (descriptivism), प्राग भाषा-वैज्ञानिक स्कूल या पूर्वी यूरोपीय संरचनावाद, और कोपेनहेगन स्कूल।

अमेरिका में 1920 के दशक में **फ्रांत्स बोआज़** और **एडवर्ड सपेर** आदि ने अलिखित अमेरिकी इण्डियन भाषाओं का अध्ययन करते हुए उनके ध्वनिग्रामों (phoneme), रूपग्रामों (morpheme) और बुनियादी संकेत-प्रयोग संरचनाओं या विन्यासगत ढाँचों को समझकर व्यवस्थित करते हुए, उनके आधार पर किसी भाषा के अधिकतम सम्भव वस्तुपरक प्रारम्भिक निरूपण के लिए पद्धतियाँ विकसित कीं। अमेरिकी इण्डियन भाषाओं के अध्ययन से वितरण की अवधारणा पर आधारित एक विशेष पद्धति विकसित करने में भी मदद मिली जिसका इस्तेमाल **ब्लूमफील्ड, हैरिस, पाइक** और **ट्रेगर** अदि भाषा-वैज्ञानिकों ने अपने शोधों में किया। लेकिन 1960 के दशक तक यह स्पष्ट हो चुका था कि यह सिद्धान्त व्याख्यापरक क्षमता की दृष्टि से कमज़ोर है और अर्थ-विज्ञान तथा संकेत-प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में प्रयोग की दृष्टि से अपर्याप्त है। इन कमियों को दूर करने की कोशिशों ने एक नई धारा—प्रजनक भाषा-विज्ञान (generative linguistics) को जन्म दिया।

प्राग भाषा-वैज्ञानिक स्कूल भी 1920 के दशक में ही अस्तित्व में आया। इसका केन्द्र प्राग भाषा-विज्ञान सर्किल था जो दूसरे विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक मौजूद रहा। इस सर्किल में कई रूसी और चेक भाषा-वैज्ञानिक शामिल थे जिनमें **त्रुबेत्स्कोई, मैथेसियस, जेकबसन, ट्रिन्का, हैव्रानेक, मकारोव्स्की, वाचेक, स्कालिका**

आदि प्रमुख थे। पोलिश विद्वान कुरिलोविज़ के कार्य प्राग स्कूल और कोपेनहेगन स्कूल—दोनों से सम्बद्ध माने जाते हैं। प्राग स्कूल के विचारों को आगे विकसित करने में श्चेर्बा, बोगातिरेव और पोलिवानोव जैसे सोवियत विद्वानों की भी अहम भूमिका रही।

चित्रणवादियों से अलग, प्राग स्कूल ने यूरोपीय भाषाशास्त्र (philology) की परम्परा का अनुसरण करते हुए समृद्ध सांस्कृतिक इतिहासवाली यूरोपीय भाषाओं का अध्ययन किया और उस आधार पर उन्होंने "प्रणालियों की प्रणाली" (system of systems) के रूप में भाषा की अवधारणा विकसित की, ऐसी प्रणालियों के विकास की गतिकी को परिभाषित किया, तथा वाक्य के प्रकार्यात्मक (functional) विभाजन सहित उद्गार की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन किया। सैद्धान्तिक स्वर-विज्ञान की रचना प्राग स्कूल का मुख्य अवदान था जिसका केन्द्रीय उपादान था—वैपरीत्य की अवधारणा। इस अवधारणा ने भाषा के अन्य क्षेत्रों के निरूपणों को सूत्रबद्ध करने में उदाहरण का काम किया। प्राग स्कूल की अहम कमज़ोरी यह थी कि इसने सिद्धान्त और पद्धति के तर्कशास्त्रीय पहलुओं पर यथोचित ध्यान नहीं दिया।

1930 के दशक के मध्य में कोपेनहेगन स्कूल संरचनावाद के केन्द्र के रूप में उभरा। वहाँ एक सार्वभौमिक व्याकरण की समस्या को हल करने के लिए **ह्येल्मस्लेव, ब्रोण्डल** और **उल्दाल** ने भाषा-विज्ञान की पद्धतियों में आमूल सुधार की आवश्यकता महसूस की और एक नई प्रशाखा 'ग्लॉसमैटिक्स' (glossematics) का विकास किया। उन्होंने भाषा के नये सिद्धान्त और भाषा के वर्णन-चित्रण की पद्धति को तत्त्वों के ऊपर सम्बन्धों की निरपेक्ष प्राथमिकता के आधार पर विकसित किया। भाषा की व्याख्या उन्होंने "शुद्ध सम्बन्धों की प्रणाली" के रूप में की। कोपेनहेगन भाषा-वैज्ञानिक सिद्धान्त ने, अन्तर्वस्तु और रूप में विविध अन्तरविरोधों से ग्रस्त होने के बावजूद भाषा के अमूर्त सिद्धान्त को गणित के साथ जोड़ने का मार्ग प्रशस्त किया।

1960 के दशक के मध्य में भाषा-विज्ञान में एक नई प्रवृत्ति निर्मितिवाद (constructivism) के रूप में सामने आई जो सैद्धान्तिक वस्तुओं की निर्मितिशीलता की आवश्यकता के सिद्धान्त पर आधारित थी। शुरू-शुरू में इस सिद्धान्त का सूत्रीकरण गणितीय तर्कशास्त्र के फ्रेमवर्क के भीतर हुआ, जिसे बाद में भाषा-विज्ञान के प्रदेश में विस्तारित किया गया। इस सिद्धान्त के दो मुख्य भाग हैं : पहला, किसी वस्तु को सिद्धान्त की वस्तु तभी माना जा सकता है जबकि उसकी निर्मिति सम्भव हो; और दूसरा, वस्तुओं के अस्तित्व या उनके संज्ञान की सम्भावना की बात तभी की जा सकती है जबकि उनकी सैद्धान्तिक निर्मिति या अनुरूपण (simulation) सम्भव हो। निर्मितिवादी पद्धति की एक बुनियादी अवधारणा कलन-गणित (algorithm) पर आधारित है जिस पर सबसे पहले अफलातून और पाणिनी तथा आगे चलकर अरस्तू, स्पिनोजा और पोतेब्निया आदि दार्शनिक विचार कर चुके थे। कलन-गणित से निगमित अवधारणाओं ने निर्मितिवाद की एक विशेष क़िस्म को जन्म दिया जो प्रजनक व्याकरणों और गणितीय भाषा-विज्ञान के सिद्धान्त का आधार बना। प्रजनक व्याकरणों ने अमेरिकी संरचनावादी भाषा-विज्ञान की कई कमियों को दूर करने का दावा किया, लेकिन विशिष्ट भाषा-वैज्ञानिक आँकड़ों पर लागू करने के बाद पाया गया कि ये सिद्धान्त अति सीमित दायरे में ही प्रभावी और उपयोगी हैं। प्रजनक व्याकरण के सिद्धान्त और गणितीय तर्कशास्त्र की एक शाखा के रूप में औपचारिक भाषा के सिद्धान्त की आधारशिला **नोम चोम्स्की** ने रखी थी। चोम्स्की का एक विवादास्पद विचार यह था कि किसी प्राकृतिक भाषा के वाक्य-विन्यास तथा अर्थ-विज्ञान के विविध पहलुओं के निरूपण के लिए प्रजनक व्याकरण का औपचारिक उपकरण पर्याप्त है। इस विश्वास के आधार पर कि दुनिया की सभी भाषाओं की बुनियादी, अन्तर्भूत संरचनाएँ समान होती हैं, चोम्स्की ने मस्तिष्क के अध्ययन के एक साधन के रूप में भाषा-विज्ञान के इस्तेमाल की सम्भावनाओं की ओर भी इंगित किया। कुछ सीमित तकनीकी इस्तेमाल के बावजूद चोम्स्की के भाषा-वैज्ञानिक सिद्धान्तों की नवप्रत्यक्षवादी और औपचारिक तर्कवादी प्रवृत्ति की सीमाएँ आज स्पष्ट हो चुकी हैं।

संरचनावाद और नव व्याकरणवाद की विविधरूपा आलोचनाओं ने भाषा-वैज्ञानिक भूगोल, नवभाषा-विज्ञान और क्षेत्रीय भाषा-विज्ञान जैसी कई नई प्रवृत्तियों को जन्म दिया, लेकिन ये आम भाषा-वैज्ञानिक सैद्धान्तिक

'फ्रेमवर्क' के रूप में किसी पूर्ववर्ती व्यापक सिद्धान्त को प्रतिस्थापित करने योग्य कदापि नहीं थीं। इनका दायरा संकुचित था, प्रयोग सीमित थे और दार्शनिक आधार कमज़ोर था।

भाषा-विज्ञान के इतिहास का एक संक्षिप्त (और काफ़ी हद तक असन्तोषजनक भी), परिचयात्मक सिंहावलोकन प्रस्तुत करते हुए अब हम उस मुक़ाम पर आ गए हैं कि मार्क्सवाद के भाषा-दर्शन की या मार्क्सवादी भाषा-विज्ञान की संघटन-प्रक्रिया की चर्चा कर सकें।

भाषा प्रश्न : सामान्य, आधारभूत मार्क्सवादी प्रस्थापनाएँ

मार्क्सवाद और समकालीन भाषा-विज्ञान के सम्बन्धों के मद्देनज़र, यह सवाल किया जा सकता है कि क्या 'मार्क्सवादी भाषा-विज्ञान' जैसी कोई चीज़ मौजूद है। और इसका उत्तर देने में कोई हिचक या कठिनाई नहीं महसूस होती क्योंकि मार्क्सवाद मानव-सभ्यता के भौतिक-आत्मिक विकास का इतिहास प्रस्तुत करते हुए मानव-भाषाओं की व्याख्या के प्रति एक सुनिश्चित 'अप्रोच' प्रस्तुत करता है और एक सुनिश्चित पद्धति लागू करते हुए कुछ सुनिश्चित स्थापनाएँ प्रस्तुत करता है।

भाषा-दर्शन के मार्क्सवादी सिद्धान्त की आधारशिला यह स्थापना है कि भाषा का चरित्र सामाजिक है, और यह आदि मानव की सामाजिक श्रम-प्रक्रियाओं और समाजीकरण की प्रक्रियाओं के सतत विकास के क्रम में उन्नत से उन्नततर अवस्थाओं में विकसित होती गई है (**फ्रेडरिक एंगेल्स**)। भाषा संज्ञान का प्रत्यक्ष यथार्थ है, जो सामाजिक संसर्ग के दौरान अस्तित्वमान हुई है (**मार्क्स-एंगेल्स**)। वस्तुगत यथार्थ का परावर्तन मानव चेतना के साथ ही, भाषा-रूपों की अन्तर्वस्तु के धरातल पर भी होता है (**लेनिन** का परावर्तन-सिद्धान्त)। भाषा के सामाजिक मूल, सामाजिक प्रकृति तथा सामाजिक संसर्ग और सम्प्रेषण में इसकी भूमिका की मार्क्सवादी अवधारणा इसके (यानी भाषा के) संरचनात्मक पक्ष के व्याख्या-विश्लेषण तक सफलतापूर्वक विस्तारित होती है। मार्क्सवादी भाषा-दर्शन संरचनावादियों की इस एक बुनियादी स्थापना को स्वीकार करता है कि भाषा संकेतों की एक निश्चित प्रणाली, अपने आन्तरिक संगठन समेत एक 'संरचना" होती है, जिसके बाहर भाषा के संकेत और अर्थ को नहीं समझा जा सकता। लेकिन तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान और संरचनावादी भाषा-विज्ञान के पूरे काल के दौरान, प्रत्यक्षवाद, रूपवाद और नवप्रत्यक्षवाद द्वारा विभिन्न रूपों में भाषा के संकेत-वैज्ञानिक और अर्थ-वैज्ञानिक अध्ययनों का जो निरपेक्षीकरण किया जाता रहा और दार्शनिक अध्ययन या ज्ञान-मीमांसा की सारी समस्याओं को भाषा के तार्किक विश्लेषण तक सीमित कर देने के जो प्रयास होते रहे, मार्क्सवाद ने उनका विरोध किया। नवप्रत्यक्षवाद ने दर्शन की समस्याओं को मिथ्या समस्याएँ घोषित करते हुए समकालीन ज्ञान और व्यवहार के दार्शनिक विश्लेषण के आधार पर "चिन्तन के बाह्य रूपों"—यानी भाषा और विचार व्यक्त करने की अन्य सभी संकेत-प्रणालियों के भाषाई-अर्थवैज्ञानिक विश्लेषण को प्रतिष्ठापित करने की कोशिश की। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में, विशेषकर सोवियत संघ के मार्क्सवादी भाषा-वैज्ञानिकों ने विज्ञान के रूप में दर्शन को सारतः विघटित कर देने की इन कोशिशों का तर्कपूर्ण विरोध प्रस्तुत किया।

मार्क्सवाद के अनुसार चिन्तन के अस्तित्व और अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होने के साथ ही भाषा चेतना के गठन में अहम भूमिका निभाती है। भाषा का संकेत अपनी वास्तविक प्रकृति के अनुसार, उसके प्रसंग में, जिसके अर्थ का वह द्योतक है, सोपानिक होते हुए भी अन्ततः यथार्थ के संज्ञान की प्रक्रिया से अनुकूलित होता है। भाषा अमूर्त चिन्तन के अस्तित्व और विकास को सम्भव बनाती है और चिन्तन के सामान्यीकरण का आवश्यक साधन होती है, लेकिन भाषा और चिन्तन को एक ही चीज़ नहीं कहा जा सकता। एक बार उत्पन्न हो चुकने के बाद भाषा सापेक्षतः स्वतंत्र होती है और अपने ही विशिष्ट नियमों का पालन करती है, जो चिन्तन के नियमों से भिन्न होते हैं। इसलिए, संकल्पना तथा शब्द, निर्णय तथा वाक्य आदि के बीच पूर्ण तादात्म्य का अभाव होता है।

भाषा के उद्‌भव, समाज में इसके स्थान और चिन्तन और यथार्थ की सामान्य मार्क्सवादी प्रस्थापनाओं की सामान्य चर्चा के बाद यह उल्लेख कर देना ज़रूरी है कि मार्क्सवादी भाषा-विज्ञान के उद्‌भव और विकास की पूरी यात्रा के दौरान एक ओर इसे रूपवाद, आत्मगत प्रत्ययवाद और नवप्रत्यक्षवाद से संघर्ष करना पड़ा, तो दूसरी ओर इसके सीमान्तों के भीतर भी प्रकृतवादी, विभिन्न कोटि के वर्ग-अपचयनवादी (class-reductionist), नवकाण्टवादी और नवहेगेलवादी विचलन पैदा होते रहे। भाषा-विज्ञान के विस्तार और सूक्ष्मता के कई ऐसे प्रश्न आज भी खड़े हैं जिनसे मार्क्सवाद जूझ रहा है और भौतिक-आत्मिक जीवन का विकास ऐसे बहुतेरे नये-नये प्रश्न भी उपस्थित करता जा रहा है, जिनका उत्तर ढूँढ़ते हुए मार्क्सवादी भाषा-विज्ञान को आगे विकसित होना है। आधुनिक सैद्धान्तिक भाषा-विज्ञान व्याकरणिक संरचनाओं के निरूपण के जिस प्रश्न से जूझ रहा है, वह मार्क्सवाद के सामने भी मौजूद है। इससे सम्बन्धित किसी सिद्धान्त का चरित्र मार्क्सवादी है या नहीं, यह फ़ैसला मात्र व्याकरणिक वर्णन-निरूपण के धरातल पर नहीं हो सकता। इस धरातल पर हम केवल पद्धति की द्वन्द्वात्मकता की जाँच-पड़ताल कर सकते हैं। व्याकरणिक संरचनाओं, जैसे किसी सूक्ष्म, तकनीकी प्रश्न पर प्रस्तुत किसी सिद्धान्त के मार्क्सवादी चरित्र का फ़ैसला समग्रता में इस बात से ही हो सकता है कि उस संस्तर पर मौजूद हमारा ज्ञान, हमारे व्यापक, सामान्यीकृत ज्ञान के अनुरूप है या नहीं, अथवा यूँ कहें कि हमारे ज्ञान की सम्पूर्णता के साथ समाकलित है अथवा नहीं।

भाषा–प्रश्न पर मार्क्स–एंगेल्स का चिन्तन

मार्क्स और एंगेल्स ने भाषा-विज्ञान पर कोई स्वतंत्र-सांगोपांग थीसिस नहीं लिखी। भौतिक जीवन और चिन्तन के अन्तर्सम्बन्धों, सामाजिक जीवन और चेतना के अन्तर्सम्बन्धों तथा सामाजिक वर्गों और विचारधारा के बारे में सोचते हुए उन्होंने भाषा-वैज्ञानिक प्रश्नों को यहाँ-वहाँ अपने एजेण्डे पर उठाया। लेकिन भाषा के प्रश्न पर उनकी दृष्टि सुसंगत और चिन्तन व्यवस्थित था—इसके स्पष्ट साक्ष्य हमें अवश्य देखने को मिल जाते हैं।

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में ऐतिहासिक भौतिकवाद को लागू करने का पहला स्पष्ट उदाहरण शायद फ़्रेडरिक एंगेल्स का लेख *'फ़्रैंकिश डायलेक्ट'* (*Frankish Dialect*) है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

भाषा-विज्ञान विषयक मार्क्स की कुछ स्थापनाएँ हमें उनकी एक प्रारम्भिक कृति *जर्मन विचारधारा* में ही देखने को मिलती हैं जहाँ अपना सामाजिक सिद्धान्त निरूपित करते हुए वे भाषा की सारवस्तु और प्रकृति के बारे में कुछ पर्यवेक्षण रखते हैं तथा भौतिक-सामाजिक क्रिया-कलाप और भाषा की एकता का विचार प्रस्तुत करते हैं। साथ ही, वे स्पष्ट करते हैं कि सम्प्रेषण भाषा का एकमात्र प्रकार्य नहीं है, बल्कि तर्कशः और तथ्यतः, लोगों के बीच पारस्परिक सम्पर्क-संसर्ग और अन्तर्क्रिया के लिए भी भाषा का अस्तित्व अनिवार्य है। या यूँ कहें कि भाषा इसी प्रक्रिया में विकसित होती है और फिर इसमें सहायक होती है। "भाषा, चेतना की ही भाँति, केवल अन्य लोगों से संसर्ग की आवश्यकता और अनिवार्यता से ही उत्पन्न होती है" *(जर्मन विचारधारा)* चेतना और भाषा के चरित्र के सामाजिक निर्धारण का यह विचार मार्क्सवाद को उन सहजातवादी (innatism) विचारों से एकदम अलग कर देता है जो मानते हैं कि भाषा मनुष्य की एक सहजात नैसर्गिक जैविक योग्यता है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नोम चोम्स्की के भाषा-सिद्धान्त ने जब इसी स्थापना को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया तो मार्क्सवादी भाषा-वैज्ञानिकों ने भाषा के सामाजिक उद्‌गम और सामाजिक प्रकृति-विषयक मार्क्स के बुनियादी तर्कों को आधार बनाकर ही उसकी आलोचना की। एक सामाजिक परिघटना के रूप में भाषा की अवधारणा, ज़ाहिरा तौर पर व्यक्तिगत भाषा की तार्किक सम्भावना सम्बन्धी अटकलों का भी विरोध करती है। आगे चलकर, इसी आधार पर एक नवमार्क्सवादी भाषा-वैज्ञानिक **फेरूसियो रोस्सीलान्दी** ने **विटगेंस्टाइन** के भाषाई दर्शन के 'मार्क्सवादी उपयोग' के बारे में

अपने विवादास्पद विचार प्रस्तुत किए (Per un uso Marxiano de Wittgenstein, 1968)। लेकिन रोस्सीलान्दी भी भाषा से, चेतना से स्वतंत्र रूप में विद्यमान वस्तुगत यथार्थ-विषयक विचार को अस्वीकार करते हुए अहंमात्रवाद (solipsism) के आत्मगत प्रत्ययवादी भटकाव के शिकार हो जाते हैं जिसका ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त यह है कि संवेदन संज्ञान का निरपेक्ष स्रोत है।

भाषा की सामाजिक प्रकृति-विषयक थीसिस को एंगेल्स ने ऐतिहासिक प्रेक्षण पर आधारित इस आनुभविक परिकल्पना से बल प्रदान किया कि भाषा की उत्पत्ति श्रम से या कार्य (work) से हुई है। तब से लेकर आजतक मार्क्सवादी भाषा-विज्ञान की लगभग सभी विचार-सरणियाँ किसी न किसी रूप में भाषा का उद्गम श्रम में, सामाजिक उत्पादन-प्रक्रिया में या सामाजिक श्रम-प्रक्रिया में देखती रही हैं।

आगे चलकर **जार्ज लूकाच** ने एंगेल्स की इस उत्पत्तिमूलक परिकल्पना को व्याख्यायित-विस्तारित करते हुए यह स्थापना दी कि श्रम या कार्य भाषा के जन्म के साथ ही इसके संरचनागत गुणों की भी व्याख्या करता है। लूकाच के विचार से श्रम या कार्य सभी मानवीय क्रिया-कलापों का आधारभूत प्रकल्प (basic model) है और इनमें भाषाई क्रिया-कलाप भी शामिल हैं।

भाषा, चिन्तन और यथार्थ के अन्तर्सम्बन्धों के प्रश्न पर मार्क्स की स्थापना यह थी कि भाषा विचारों के अस्तित्वमान होने की विधि या सत्व-प्रणाली (mode of being) होती है और प्रकार्यात्मकता या क्रियाशीलता के सन्दर्भ में भाषा और चिन्तन-रूप (thought form) की एकता अपृथक्करणीय होती है। उल्लेखनीय है कि मार्क्स की यह अवधारणा काण्ट के बाद के समय के जर्मन भाषा-दर्शन तथा जर्मन भाषाशास्त्र (philology), और ख़ासकर **हेर्डर, श्लेगेल, बॉप, ग्रिम** और **विल्हेल्म फ़ॉन हम्बोल्ट** आदि की तुलनात्मक-ऐतिहासिक पद्धति की परम्परा की निरन्तरता में नज़र आती है। चिन्तन और भाषा की एकता के बारे में मार्क्स और एंगेल्स की इसी थीसिस का एक अतिवादी छोर तक विस्तार हमें बीसवीं शताब्दी में **एडवर्ड सपेर** और **बेंजामिन ली व्होर्फ** जैसे भाषा-वैज्ञानिकों की परिकल्पना (Sapir-Whorf hypothesis) में तथा नवहम्बोल्टवादियों के भाषाई सापेक्षवाद (linguistic relativism) में दिखाई पड़ता है जिनका यह मानना है कि भाषाई संरचनाएँ सोचने के तरीक़ों और विश्व-दृष्टिकोणों का निर्धारण करती हैं।

मार्क्सवादी भाषा-विज्ञान, मुख्यतः परावर्तन के सिद्धान्त (theory of reflection) के आधार पर, भाषाई सापेक्षवाद को अस्वीकार करता है। परावर्तन के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धान्त पर आधारित मार्क्सवादी ज्ञान-मीमांसा के अनुसार, विचार और भाषा सहित संज्ञान के परिणाम अपने मूल स्रोत के सापेक्षतः अनुरूप होते हैं। वस्तुगत जगत और उसमें जारी प्रक्रियाओं का चिन्तन या भाषा के धरातल पर निर्जीव "छाया-चित्रण" नहीं होता, अपितु यह परावर्तन, संवेदी तथा बौद्धिक-संज्ञान, मानसिक तथा व्यावहारिक क्रिया-कलाप की संजटिल तथा व्याघातपूर्ण क्रिया होता है, जिसमें मनुष्य अपने को निष्क्रिय ढंग से बाह्य जगत के अनुकूल नहीं ढालता, बल्कि उस पर अपना प्रभाव डालता है, उसे बदलता है और उसे अपने उद्देश्यों के अधीन करता है। अधिकांश मार्क्सवादी भाषा-वैज्ञानिकों ने इस परावर्तन सिद्धान्त को भाषा और चिन्तन के अन्तर्सम्बन्धों पर भी लागू किया। उनके अनुसार, भाषा और चिन्तन दोनों ही सामाजिक श्रम-प्रक्रिया के दौरान अन्य लोगों से संसर्ग की आवश्यकता से तथा लगातार उन्नततर धरातल पर श्रम-प्रक्रिया के पुनर्गठन की आवश्यकता से उत्पन्न हुए। भाषा चिन्तन के अस्तित्वमान होने की विधि है जो मूलतः और व्यापकतः चिन्तन के सत्व से अनुकूलित होती है और अन्योन्यक्रिया के तौर पर, अपनी पारी में उसे प्रभावित भी करती है। भाषा में चिन्तन का निर्जीव-निष्क्रिय प्रतिबिम्बन नहीं, बल्कि सजीव-सक्रिय परावर्तन होता है। इस द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध का मुख्य पहलू, सामान्य और व्यापक सन्दर्भों में, चिन्तन द्वारा भाषा का अनुकूलन होता है, न कि भाषा द्वारा चिन्तन का अनुकूलन।

मार्क्सवाद मानव-चिन्तन के रूपों की सार्वभौमिकता पर ज़ोर देता है। इस सार्वभौमिकता की एक अभिव्यक्ति भाषा की 'टाइपोलॉजी' (typology) द्वारा निरूपित सार्वभौमिक भाषाई संरचनाओं में देखी जा

सकती है।

मार्क्स के भाषा-वैज्ञानिक चिन्तन का जो एक और दायरा है वह सामाजिक वर्गों और विचारधाराओं के सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है। मार्क्स ने *जर्मन विचारधारा* में "बुर्जुआ भाषा" शब्द का इस्तेमाल किया है। अपने एक अन्य लेख *सन्त मैक्स* में भी वे बताते हैं कि बुर्जुआ वर्ग की "अपनी भाषा" होती है। *ग्रुंड्रिशे* में वे कहते हैं कि "विचार भाषा से अलग मौजूद नहीं होते" (पेंग्विन क्लासिक्स संस्करण, पृ. 163) और *जर्मन विचारधारा* में वे बताते हैं कि "हर युग में सत्ताधारी वर्ग के विचार ही सत्ताधारी विचार होते हैं।" मार्क्स की इन उक्तियों को सन्दर्भ से काटकर यांत्रिक ढंग से देखने से बीसवीं शताब्दी में एक वर्ग-अपचयनवादी भाषा-सिद्धान्त भी विकसित हुआ जो मानता था कि भाषा का एक वर्ग-चरित्र होता है। इस सोच के एक मुख्य प्रवर्तक सोवियत मार्क्सवादी भाषा-वैज्ञानिक एन.वाई. मार्र थे। मार्र के विचारों और वोलोशिनोव तथा स्तालिन द्वारा प्रस्तुत उनकी आलोचना का उल्लेख हम आगे करेंगे।

मार्क्स के विचारों को व्यापकता और समग्रता में देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भाषाई व्यवहार पर वर्ग-सम्बन्धों और विचारधाराओं की छाप और प्रभाव-छायाओं की बात करते हैं, न कि वर्ग-भाषा की। वे सिर्फ़ यह उल्लेख करते हैं कि शासक वर्ग की सत्ता भाषा के प्रयोग के दायरे तक विस्तारित-प्रभावी होती है। विचारधारा से भाषा की अवियोज्यता का यह अर्थ वे कदापि नहीं लेते कि दोनों समानार्थक हैं और कहीं भी वे विचारधारा की तरह भाषा को अधिरचना की कोटि में नहीं रखते। मार्क्स का तात्पर्य बुर्जुआ समाज में एक राष्ट्रीय भाषा के दायरे के भीतर बुर्जुआ वर्ग की अपनी वर्ग-उपभाषा (class-dialect) या जमाती भाषा (huckster's lingo) या कामकाजी वर्ग-बोली (huckster's jargon) से था। फ़्रेडरिक एंगेल्स भी अपनी पुस्तक *इंग्लैण्ड में मज़दूर वर्ग की दशा* में ब्रिटिश बुर्जुआ समाज में मज़दूर वर्ग द्वारा अपनी भिन्न वर्ग-उपभाषा बोले जाने की चर्चा करते हैं। इस प्रश्न पर मार्क्स के समस्त चिन्तन और विमर्श के सारतत्त्व को आत्मसात करते हुए कहा जा सकता है कि भाषा सामान्यतः पूरे समाज की और समस्त मानवीय क्रिया-व्यापार की सामूहिक प्रकृति की अपरिहार्य आवश्यकता होती है, जबकि ठोस सामाजिक-विचारधारात्मक संरचनाओं के साथ इसके अन्तर्सम्बन्ध भाषाई व्यवहार या बरताव (linguistic usage) की विशिष्ट अनुसंकेत-पद्धतियों (subcodes) के धरातल पर अभिव्यक्त होते हैं। इस अन्तर्सम्बन्ध के आनुभविक पहलुओं का अध्ययन आज सामाजिक भाषा-विज्ञान के दायरे में किया जा रहा है।

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक के सोवियत मार्क्सवादी भाषा-वैज्ञानिक एन.वाई. मार्र के विपरीत, (मार्र ने ऐतिहासिक-तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को प्रत्ययवादी बताते हुए खारिज कर दिया था और बाद में स्तालिन ने उनकी स्थापना का खण्डन किया था) मार्क्स और एंगेल्स ने ऐतिहासिक-तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के प्रेक्षणों-निष्कर्षों को काफ़ी महत्ता दी तथा बॉप, ग्रिम और दिएज़ की स्थापनाओं का, प्रायः वैज्ञानिक मानकों के तौर पर उल्लेख किया। एंगेल्स ने स्वयं भी तुलनात्मक भाषा-वैज्ञानिक इतिहास के क्षेत्र में कुछ काम किया। प्राचीन जर्मेनिक भाषाओं—विशेषकर फ्रैंकों और फ्रैंकिश भाषा के युग के इतिहास से सम्बन्धित अपनी दो पाण्डुलिपियों में (जिनमें The Frankish Dialect प्रमुख है) एंगेल्स ने अपनी स्थापनाओं को सूत्रवत प्रस्तुत किया है। उदाहरण के तौर पर, कबीलाई उपभाषाओं (dialects) के श्लिष्टयोगात्मक रूपों और ध्वन्यात्मक अभिलाक्षणिकताओं के अध्ययन के बाद उन्होंने तथाकथित *द्वितीय जर्मन स्वरान्तन्रण* (second German vowel shift) के आधार पर जर्मन उपभाषाओं के वर्गीकरण की आलोचना की और प्रत्येक उपभाषा को उच्च या निम्न जर्मन के रूप में मान्यता देने का विचार प्रस्तुत किया। एंगेल्स की इन पाण्डुलिपियों में भाषा-विशेष बोलनेवाले समुदाय के इतिहास के अनुसार भाषाई विकास पर विचार किया गया है तथा तर्कशास्त्रीय और ऐतिहासिक पद्धतियों को परस्पर सम्बद्ध किया गया है। इस दृष्टि से इन्हें मार्क्सवादी भाषा-विज्ञान की आधारशिला मानना अत्युक्ति नहीं होगी।

बीसवीं शताब्दी : भाषा–वैज्ञानिक विमर्श में मार्क्सवादी हस्तक्षेप और वोलोशिनोव

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मार्क्सवादी भाषा-विज्ञान की दो प्रवृत्तियाँ विकसित होती हुई दिखाई देती हैं। पहली प्रवृत्ति का सम्बन्ध भाषा और विचारधारा के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में मार्क्स की प्रारम्भिक स्थापनाओं से जाकर जुड़ता है। दूसरी प्रवृत्ति पाव्लोव के प्रतिवर्तों के सिद्धान्त (theory of reflexes) से जुड़ी है जो शरीरक्रिया-विज्ञान की दृष्टि से विचार करते हुए भाषा को द्वितीय संकेत-प्रणाली (secondary signalling system) मानती है।

1920 और 1930 के दशक मार्क्सवादी भाषा-विज्ञान के विकास की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण थे। जार्ज लूकाच की व्याख्या के अनुसार, मार्क्स का भाषा-चिन्तन, भाषा के ऊपर 'रीइफ़िकेशन' (reification) के प्रभावों को उजागर करता है। इस आधार पर अपनी पुस्तक *इतिहास और वर्ग चेतना* (1923) में, लूकाच ने ऐतिहासिक भौतिकवादी अवस्थिति से भाषाशास्त्रीय (philological) अध्ययन की सम्भावनाओं की ओर इंगित किया। आगे चलकर, 1960 के दशक में मार्क्सवादी संकेत-विज्ञान ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण काम किये। इसने 'भाषाई परकीयकरण' (linguistic alienation) जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर काम किया और भाषा-वैज्ञानिक सिद्धान्त 'भाषाई कार्य', 'भाषाई उपकरण' और 'भाषाई पूँजी' आदि नये प्रवर्गों से समृद्ध हुआ (विशेष तौर पर देखी जा सकती है, रोस्सीलान्दी की पुस्तक : (Linguistics and Economics, 1975)।

एक सामाजिक और विचारधारात्मक परिघटना के रूप में, भाषा की प्रकृति और प्रकार्यों पर मार्क्सवादी चिन्तन को 1920 और 1930 के दशक में सोवियत भाषा-वैज्ञानिकों ने बहुपक्षीय रूप में आगे बढ़ाया। 19वीं शताब्दी के रूसी भाषा-विज्ञान और विशेषकर कजान स्कूल के प्रारम्भिक संरचनावादियों के चिन्तन में मौजूद भौतिकवादी प्रवृत्तियों को भी उन्होंने अपना सैद्धान्तिक आधार तैयार करते हुए अपनाया और आगे विकसित किया। इस दौरान सोवियत संघ में **आर.ओ. शोर, ई.डी. पोलिवानोव, एल.पी. याकुबिंस्की** और **वी.एम. झिरमुंस्की** आदि ने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में जो काम किया, वह मुख्यतः भाषा और समाज के अन्तर्सम्बन्धों से जुड़ा हुआ था। **एन.वाई. मार्र** और **वोलोशिनोव** के परस्पर-विरोधी भाषा-चिन्तन भी मुख्यतः इसी दायरे से जुड़े हुए थे पर उन्होंने एक हद तक भाषा और चिन्तन के अन्तर्सम्बन्धों पर भी अपनी प्रस्थापनाएँ रखीं। भाषा और चिन्तन के प्रश्न पर मुख्यतः **मेश्चानिकोव** और **विगोत्स्की** ने महत्त्वपूर्ण काम किया।

1929 में प्रकाशित **वी.एन. वोलोशिनोव** की पुस्तक *मार्क्सवाद और भाषा का दर्शन* पहली ऐसी पुस्तक थी जिसमें भाषा-विज्ञान के कुछ प्रमुख आधारभूत प्रश्नों पर मार्क्सवादी विश्व-दृष्टिकोण और पद्धति से विचार करने का प्रयास दिखाई देता है। आगे चलकर, 1930 और '40 के दशक में सोवियत भाषा-विज्ञान में हावी एन.वाई.मार्र की वर्ग-अपचयनवादी अवस्थिति के कारण वोलोशिनोव की यह पुस्तक ही नहीं, बल्कि वोलोशिनोव भी भुला-से दिए गये। पश्चिमी दुनिया के बुद्धिजीवी वोलोशिनोव की गुमनामी के लिए प्रायः स्तालिन के "सर्वसत्तावादी शासन" को ज़िम्मेदार ठहराते हैं, लेकिन ऐसा मानने का कोई भी तथ्यगत आधार नहीं है। इसके विपरीत, यह तथ्य उल्लेखनीय है कि एन.वाई. मार्र और उनके शिष्यों द्वारा मार्क्सवाद के सरलीकरण और विकृतिकरण का विरोध करनेवाले भाषा-वैज्ञानिकों के उपेक्षा-उत्पीड़न का हवाला स्वयं स्तालिन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तिका *मार्क्सवाद और भाषा-विज्ञान की समस्याएँ* में दिया है। अलबत्ता, यह सवाल ज़रूर उठाया जा सकता है कि *प्रावदा* में भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में हावी मार्र के वर्ग-अपचयनवादी विचार के विरुद्ध चली बहस और 1950 में स्तालिन द्वारा उसके समाहार के बाद भी वोलोशिनोव का भाषा-विषयक चिन्तन चर्चा और विमर्श के केन्द्र में क्यों नहीं आ सका! इसका कारण सम्भवतः यह रहा हो कि साहित्यिक-सांस्कृतिक हल्कों में, **ज़्दानोव** (सांस्कृतिक मामलों के पार्टी-प्रभारी) के कार्यकाल में, **लुनाचार्स्की** और **गोर्की** के समय के विपरीत, यांत्रिक भौतिकवादी और जड़सूत्रवादी विचलन मौजूद थे तथा विरोधी वैचारिक अवस्थितियों के साथ बहस का उतना खुला माहौल नहीं था। वोलोशिनोव चूँकि मार्बुर्ग पन्थ के

नवकाण्टवादियों से प्रभावित बख़्तीन स्कूल से जुड़े रहे थे और उनके चिन्तन और लेखन पर **कास्सिरेर** के चिन्तन का विचलनकारी प्रभाव अन्त तक मौजूद रहा, इसलिए ऐसा सम्भव है कि इसी कारण से बाद के दौर में भी उनकी उपेक्षा हुई हो। हालाँकि यह भी सच है कि **विनोग्रादोव** जैसे कुछ अग्रणी सोवियत भाषा-वैज्ञानिकों ने वोलोशिनोव के अवदानों की खुलकर चर्चा की।

वोलोशिनोव (1895-1936) प्रसिद्ध **बख़्तीन सर्किल** के एक सदस्य थे जिसके सैद्धान्तिक नेता **मिखाइल मिखाइलोविच बख़्तीन** माने जाते रहे हैं। **कागान** (1889-1937), **मद्वेदेव** (1891-1938), **पम्पियांस्की** (1891-1940), **सोलेरतिंस्की** (1902-1944) सर्किल के अन्य सदस्य थे। यद्यपि बख़्तीन 1950 के दशक तक रचनात्मक रूप से सक्रिय रहे तथा उपन्यास के सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त तथा वक्तृत्व-शैली और संकेत-सिद्धान्त सहित साहित्यिक-कलात्मक भाषा के सिद्धान्त पर काम करते रहे, लेकिन बख़्तीन सर्किल की सघन सक्रियता का काल 1920 का दशक ही था। बख़्तीन सर्किल समाजशास्त्रीय काव्यशास्त्र और विमर्श-सिद्धान्त (discourse theory) की नई प्रणालियाँ विकसित करने की दिशा में सक्रिय था। आम तौर पर सामाजिक जीवन में, और विशेष तौर पर, कलात्मक सृजन के क्षेत्र में संकेतीकरण से जुड़े हुए प्रश्न इस ग्रुप के विचारकों के कृतित्व के केन्द्र में थे। सामाजिक समुदायों के बीच के टकरावों की भाषा में इन्दराज़ी, और अभिव्यक्ति के रूपों-रास्तों पर बख़्तीन और उनके साथियों ने विशेष तौर पर विचार किया। बख़्तीन सर्किल का केन्द्रीय विचार यह था कि भाषाई उत्पादन सारतः *संवादात्मक* (*dialogic*) होता है जो सामाजिक अन्तर्क्रिया के दौरान अस्तित्व में आता है। यह विभिन्न सामाजिक मूल्यों की अन्तर्क्रिया के रूप में सामने आता है जो दूसरों के वक्तृत्व के पुनर्बलाघात (reaccentuation) के रूप में दर्ज़ होता है। शासक तबका एकल (अथवा इकहरे) विमर्श को निदर्शनात्मक रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश करता है, जबकि 'सबाल्टर्न' वर्गों का झुकाव इस *एकालापी* या *स्वगत* (monologic) समापन को छिन्न-भिन्न करने की दिशा में होता है। साहित्य के क्षेत्र में, कविता और महाकाव्य, संस्कृति के दायरे के अन्तर्गत केन्द्राभिसारी (centripetal) शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जबकि उपन्यास लोकप्रिय *विचारधारात्मक आलोचना* की, संरचनात्मक दृष्टि से जटिल-सुपरिष्कृत अभिव्यक्ति होता है।

बख़्तीन सर्किल पर मार्बुर्ग पन्थ के नवकाण्टवाद का स्पष्ट प्रभाव था जिसका मुख्य माध्यम कागान था जो लीपजिग, बर्लिन और मार्बुर्ग में दर्शन का अध्ययन करते हुए मार्बुर्ग पन्थ के संस्थापक **हरमन कोहेन** का शिष्य रहा था। इसी दौरान उसे **अर्न्स्ट कास्सिरेर** के भाषण सुनने के भी अवसर मिले थे। मार्बुर्ग पन्थ के नवकाण्टवादियों (**कोहेन, कास्सिरेर, नाटोर्प** और **श्टामलेर**) ने काण्ट के विचारों की भौतिकवादी प्रवृत्ति को तिलांजलि देकर सुसंगत आत्मगत प्रत्ययवाद की अवस्थिति अपना ली थी। इनका मानना था कि दर्शन विज्ञानों की विधि और तर्क मात्र ही बना रहता है और वह जगत का ज्ञान नहीं बन सकता। समाज-विकास के वस्तुगत नियमों को अस्वीकार करते हुए मार्बुर्गपन्थी समाजवाद को केवल नैतिक परिघटना या वर्गोपरि "नैतिक आदर्श" मानते थे। मार्क्सवाद की काण्टवाद से "अनुपूर्ति" करने का आह्वान करते हुए उन्होंने वैज्ञानिक समाजवाद की आधारभूत आर्थिक और राजनीतिक अन्तर्वस्तु को ख़त्म कर दिया। कास्सिरेर ने इस बात का प्रतिवाद किया कि विज्ञानसम्मत अमूर्तीकरण यथार्थ का परावर्तन है। उसने भौतिक जगत को विशुद्ध चिन्तन के प्रवर्गों में घुला-मिला दिया, उसके नियमों के स्थान पर प्रत्ययवादी ढंग से परिभाषित प्रकार्यात्मक अधीनता को रखा; और आगे चलकर, वैज्ञानिक संज्ञान को "प्रतीकात्मक" चिन्तन के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। यह तथ्य ग़ौरतलब है कि साहित्यिक-भाषावैज्ञानिक दायरे में बख़्तीन सर्किल को प्रभावित करनेवाले मार्बुर्ग पन्थ के समाजशास्त्रीय विचारों ने रूस के "क़ानूनी मार्क्सवादियों" और दूसरे इण्टरनेशनल के **बर्नस्टीन, काउत्स्की, एडलर** आदि अवसरवादियों को विशेष तौर पर प्रभावित किया था और दक्षिणपन्थी समाजवादी धाराएँ मार्क्सवाद के विरुद्ध इन विचारों को आज भी इस्तेमाल करती हैं। इस तथ्य की रोशनी में एक और तथ्य को समझने की कोशिश की जा सकती है। गत शताब्दी के सातवें-आठवें दशक में न केवल बख़्तीन सर्किल के, और विशेषकर बख़्तीन के विचारों का पश्चिमी साहित्यालोचना और

भाषा-विज्ञान की दुनिया में अचानक महत्त्व बढ़ गया, बल्कि ख्रुश्चेव-ब्रेझनेव के संशोधनवाद के समय में सोवितय संघ में बख़्तीन की ज़ोर-शोर से पुनर्स्थापना हुई। और पश्चिमी अकादमिक नववामपन्थी दायरों के एक आराध्य-पुरुष तो बख़्तीन विगत लगभग तीन दशकों से बने ही हुए हैं।

हम इस बात पर यहाँ विशेष तौर पर ज़ोर देना चाहते हैं कि बख़्तीन सर्किल का विचार-जगत एकाश्मी और सुबद्ध क़तई नहीं रहा है। वैज्ञानिक संज्ञान और प्रतीकात्मक रूपों के बारे में कास्सिरेर के विचारों के गहन प्रभाव के बावजूद वोलोशिनोव के लेखन की, और एक अन्य धरातल पर मद्वेदेव के लेखन की, सर्किल के अन्य पुरोधाओं से कुछ महत्त्वपूर्ण भिन्नताएँ हैं जो उन्हें मार्क्सवादी विचारों के दायरे में ज़्यादा विश्वासपूर्वक रखने का आधार देती हैं। कागान और बख़्तीन की स्थिति उनसे भिन्न थी। बख़्तीन अपनी सर्जनात्मकता के अन्तिम दौर तक नवकाण्टवादी, आत्मगत प्रत्ययवादी प्रभाव-छायाओं से मुक्त नहीं हो सके थे और भाषा, उपन्यास, महाकाव्य, तथा कार्निवाल से लेकर वक्तृत्व-शैली तक की विवेचना करते हुए वे वैचारिक-कलात्मक परिघटनाओं के सामाजिक चरित्र और सामाजिक श्रम-प्रक्रिया तथा वर्गीय संरचना से उनके अन्तर्सम्बन्धों की अनदेखी-सी करते हुए दिखाई देते हैं। वोलोशिनोव और मद्वेदेव की स्थिति बख़्तीन और सर्किल के अन्य सदस्यों से इस मायने में भिन्न है। उनके लेखन का मार्क्सवादी चरित्र अधिक मुखर था। बख़्तीन ने विमर्श (discourse), संवादात्मकता (dialogism), कार्निवाल आदि कई विषयवस्तुओं पर पर्याप्त अमूर्त और अति पाण्डित्यपूर्ण ढंग से अपने विचार प्रतिपादित किए थे जिनका पश्चिम की अकादमिक साहित्यालोचना के हलकों में बाज़ार भाव काफ़ी ऊँचा रहा और समकालीन उत्तरसंरचनावादी- उत्तरआधुनिकतावादी आदि-आदि भी बख़्तीन के विचारों को काफ़ी अहमियत देते हैं। बख़्तीन सर्किल के लेखन में बख़्तीन के अवदानों को लेकर भी काफ़ी विवाद रहे। विशेष तौर पर, 1970 के बाद पश्चिम में इस बात को लगभग पूरी तरह स्थापित करने की कोशिश की गई कि वोलोशिनोव और मद्वेदेव के नाम से प्रकाशित लेखन वस्तुतः बख़्तीन का लेखन है और स्थापित विद्वान भी बिना किसी तथ्यगत-तार्किक आधार के, अपनी पुस्तकों और लेखों में यह लिखते रहे कि बख़्तीन ही वोलोशिनोव के छद्मनाम से लिखते थे। दिलचस्प बात यह है कि बख़्तीन ने अपने जीवनकाल में (1975 तक) न तो इससे सहमति ज़ाहिर की, न ही इसका खण्डन किया। पश्चिमी साहित्यिक दायरों में तो यह भी कहा जाता रहा कि वोलोशिनोव की मार्क्सवादी शब्दावली महज़ एक आवरण है और वस्तुतः उनके विचार बख़्तीन, कागान आदि के ही विचार थे।

बहरहाल, बख़्तीन सर्किल के सभी लोगों की रचनाओं को—उनकी स्थापनाओं, शैलियों और दार्शनिक-वैचारिक अवस्थितियों के फ़र्क़ को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि उपरोक्त बातें महज़ बेपर की उड़ानें हैं और पश्चिम की शीतयुद्धकालीन सांस्कृतिक रणनीति का ही एक हिस्सा हैं। ज़्यादा से ज़्यादा यह माना जा सकता था कि सभी साहित्यिक-समाजशास्त्रीय-मनोवैज्ञानिक-भाषावैज्ञानिक विषयों पर पूरे ग्रुप में जीवन्त बहसें होती थीं और उसके बाद अलग-अलग विषय-वस्तु पर अपने-अपने परिप्रेक्ष्य से अलग-अलग व्यक्ति लेखन करते थे। यह स्पष्ट है कि मार्बुर्गपन्थी नवकाण्टवादी प्रभावों से शुरू करने के बाद, कालान्तर में ग्रुप के अलग-अलग व्यक्तियों की अवस्थितियों में फ़र्क़ आते चले गये। 1928 में बख़्तीन सर्किल के टूटने के बाद यह प्रक्रिया और स्पष्ट हो गई। तथ्यतः और तर्कशः यह मानने का कोई आधार नहीं है कि वोलोशिनोव का लेखन वस्तुतः बख़्तीन का लेखन था और न ही इस कथन का कोई आधार है कि वोलोशिनोव की मार्क्सवादी शब्दावली महज़ दिखावे के लिए थी। बल्कि इसके विपरीत, यह मानने के पर्याप्त आधार मौजूद हैं कि भाषाई धरातल पर सक्रिय अन्तरविरोधों में वर्ग-संघर्ष की अन्तर्वस्तु पर लगातार ज़ोर देने के कारण, वोलोशिनोव के प्रति पश्चिमी साहित्यालोचना के बुर्जुआ और नववामपन्थी दायरों में उतनी ललक या उतना आग्रह नहीं दिखाई देता। वर्ग-अन्तरविरोधों की, भाषा के धरातल पर अभिव्यक्ति और प्रतिफलन पर यह ज़ोर वोलोशिनोव की दोनों ही प्रमुख कृतियों—*फ्रायडवाद : एक मार्क्सवादी आलोचना* (1927, 1976 में अंग्रेज़ी में अनूदित) तथा *मार्क्सवाद और भाषा का दर्शन* (1929, 1973 में अंग्रेज़ी में अनूदित) में स्पष्ट नज़र आता है। भाषा के धरातल पर वर्ग-संघर्ष पर वोलोशिनोव का ज़ोर भोण्डे भौतिकवादी ढंग का, या एन.वाई. मार्र जैसे

वर्ग-अपचयनवादी ढंग का नहीं था। वोलोशिनोव भाषा को स्पष्टतः एक सामाजिक- विचारधारात्मक परिघटना मानते थे, पर भाषाई समुदायों के बीच के भेद को वे वर्ग-विभेद का सम्पाती नहीं मानते थे क्योंकि विभिन्न वर्ग एक ही भाषा इस्तेमाल करते हैं। वोलोशिनोव की मान्यता थी कि स्वयं भाषा के भीतर, वर्ग-संघर्ष जारी रहता है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, **"संकेत वर्ग-संघर्ष का एक क्षेत्र बन जाता है।"**

उपलब्ध तथ्यों के अनुसार, वोलोशिनोव के लेखन की शुरुआत 1918 के आसपास **वितेब्स्क** में हुई, जहाँ बख़्तीन ग्रुप के लोग गृहयुद्ध की कठिनाइयों से बचने के लिए रह रहे थे। उसी समय वहाँ **मालेविच** और **शागाल** जैसे अवाँगार्द कलाकार भी रह रहे थे। वहाँ बख़्तीन सर्किल के सदस्यगण सिर्फ़ अकादिमक दार्शनिक गतिविधियों तक सीमित न रहकर उस दौर की रैडिकल सांस्कृतिक गतिविधियों में भागीदारी भी करते थे। पावेल मद्वेदेव वितेब्स्क सर्वहारा विश्वविद्यालय के रेक्टर पद पर नियुक्त हो गए थे और नगर की सांस्कृतिक पत्रिका '*इस्कुस्त्वो*' ('कला') का सम्पादन भी करते थे। इसी पत्रिका में उनके और युवा वोलोशिनोव के लेख नियमित प्रकाशित हुआ करते थे। 1924 में लेनिनग्राद आने के बाद का समय, बख़्तीन सर्किल के सदस्यों की महत्त्वपूर्ण कृतियों का रचनाकाल था। यह सिलसिला 1928 में सर्किल के बिखरने तक चलता रहा जब 'सेण्ट पीटर्सबर्ग धार्मिक-दार्शनिक समाज' नामक संगठन से सम्बन्ध के कारण बख़्तीन को दस वर्ष के लिए सोलोवेत्स्की द्वीप पर निर्वासित कर दिया गया। बाद में गोर्की और लूनाचार्स्की के हस्तक्षेप के कारण, सज़ा घटाकर उन्हें छह वर्ष के लिए कजाकिस्तान भेज दिया गया। वोलोशिनोव 1934 तक लेनिनग्राद में 'हर्जेन शिक्षाशास्त्रीय संस्थान' में काम करते रहे। 1934 में ही उन्हें तपेदिक हुआ और दो वर्ष बाद एक सेनेटोरियम में उनका देहान्त हो गया। मृत्यु के समय वे अर्न्स्ट कास्सिरेर की तीन खण्डोंवाली पुस्तक *प्रतीकात्मक रूपों का दर्शन* के पहले खण्ड का अनुवाद कर रहे थे, जो अधूरा ही रह गया।

लेनिनग्राद में रहते हुए सॉस्युर और उनके शिष्यों द्वारा प्रवर्तित-विकसित संरचनावादी भाषा-विज्ञान और तत्कालीन रूपवादियों के कृतित्व में उसके निरूपण द्वारा उपस्थित चुनौतियों को वोलोशिनोव ने, और पूरी बख़्तीन सर्किल ने, गहराई के साथ महसूस किया। *मार्क्सवाद और भाषा का दर्शन* पुस्तक के अतिरिक्त, 1926 से 1930 के बीच वोलोशिनोव ने भाषा-विज्ञान विषयक लेखों की एक पूरी शृंखला प्रकाशित की।

1926 में वोलोशिनोव का लेख *जीवन में विमर्श और कविता में विमर्श : समाजशास्त्रीय काव्यशास्त्र के प्रश्न* प्रकाशित हुआ। यह शोध-निबन्ध उन्होंने लेनिनग्राद में 'भौतिक, कलात्मक और वाचिक संस्कृति संस्थान' में स्नातकोत्तर अध्ययन के दौरान तैयार किया था। उनके शोध-सलाहकारों में **याकुबिंस्की** भी एक थे जो संवादात्मक वक्तृत्व के अध्ययन के प्रवर्तक थे। यह निबन्ध न सिर्फ़ संकेत-प्रयोग विज्ञान (pragmatics) का सबसे पहला उदाहरण माना जाता है बल्कि बख़्तीन सर्किल के बीच से आई पहली मार्क्सवादी कृति भी मानी जाती है। इस निबन्ध में वोलोशिनोव ने 'सौन्दर्यपरक' की परिभाषा सामाजिक अन्तर्क्रिया के एक विशिष्ट रूप के तौर पर करने की कोशिश की है। "कलात्मक कृति की सर्जना द्वारा (इसके) समापन और सह-सर्जनात्मक अवबोध (cocreative perception) में इसके सतत पुनर्सृजन" को वोलोशिनोव ने इसकी (यानी 'सौन्दर्यपरक' की) अभिलाक्षणिकता बताया और यह भी कि, "इसे दूसरे किसी वास्तवीकरण (objectification) की आवश्यकता नहीं होती।" वोलोशिनोव ने यह विचार रखा कि किसी भी कलाकृति में अनकहे सामाजिक मूल्यांकन 'संघनित' (condensed) होते हैं जो कला-रूप का निर्धारण करते हैं। किसी विशिष्ट सामाजिक अन्तर्क्रिया की गहनतर संरचनागत अभिलाक्षणिकताएँ एक सफल कलाकृति में अभिव्यक्त होती हैं। वोलोशिनोव के ही शब्दों में, "रूप को अन्तर्वस्तु का स्वीकरणीय मूल्यांकन होना चाहिए।" इस तरह वोलोशिनोव ने प्रारम्भिक बख़्तीनियन परिघटनाशास्त्र को एक विशिष्ट समाजशास्त्रीय 'फ़्रेम ऑफ रेफ़रेन्स' के साथ विमर्शात्मक अन्तर्क्रिया (discursive interaction) के एक नये साँचे में ढालने की शुरुआत की।

वोलोशिनोव की दूसरी परियोजना थी, नई-नई उभर रही मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति तथा मार्क्सवाद और फ्रायडवाद के समागम के समकालीन प्रयासों की एक समालोचना प्रस्तुत करना। 1927 में उनकी पहली

पुस्तक प्रकाशित हुई : *फ्रायडवाद : एक मार्क्सवादी आलोचना।* यह पुस्तक दरअसल 1925 में लिखे गए एक लेख, *सामाजिक से परे* की विषयवस्तु का ही अग्रवर्ती विस्तार थी जिसमें फ्रायड पर मार्क्सवाद की स्पिरिट से सर्वथा विजातीय, जैविक अपचयनवाद और मनोगतवाद का आरोप लगाया गया था। वोलोशिनोव के अनुसार, हर प्रकार के अर्थ (meaning) का उत्पादन, और अर्थों का दमन भी, व्यक्तिगत या जैविक नहीं होता जैसाकि फ्रायड का मानना था, बल्कि सामाजिक-विचारधारात्मक होता है। उत्तरवर्ती लूकाच की ही स्पिरिट में वोलोशिनोव ने भी फ्रायडवाद को 'बुर्जुआ पतनशीलता' के रूप में देखा। साथ ही, इस कृति में वोलोशिनोव नवकाण्टवादी प्रभाव-छायाओं से मुक्त होकर, सांस्कृतिक-दार्शनिक प्रश्नों पर हेगेलवादी पहुँच-पद्धति की ओर संक्रमण करते दीखते हैं।

1920 के दशक के परवर्ती दौर में विमर्श-विषयक वोलोशिनोव के निबन्ध से उनके विचारों में महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय-भाषावैज्ञानिक मोड़ का संकेत मिलता है। वोलोशिनोव यहाँ पहुंचकर, पहली बार भाषा को सामाजिक सम्बन्धों के अभिसूचक (index) और विचारधारात्मक विश्व-दृष्टिकोणों के द्वन्द्व के मूर्त रूप के तौर पर परिभाषित करते हैं। वोलोशिनोव की चिन्तन-प्रक्रिया के इस विकास पर अर्न्स्ट कास्सिरेर की उस विचार-यात्रा का भी काफ़ी प्रभाव था जो उनकी पुस्तक *प्रतीकात्मक रूपों का दर्शन* में अभिव्यक्त हुई थी। कास्सिरेर का मार्बुर्गपन्थी नवकाण्टवाद से, काण्ट के हेगेलियन दोष-निवारण में संक्रमण इस पुस्तक में एकदम स्पष्ट था।

वोलोशिनोव ने विचारधारा और भाषा के प्रति सॉस्युर के संरचनावाद और विटगेंस्टाइन के भाषाई दर्शन से सम्बद्ध परम्पराओं से सर्वथा अलग 'अप्रोच' अपनाया तथा संकेत-विज्ञान और विमर्श-सिद्धान्त की ऐसी प्रणालियाँ प्रस्तावित कीं जो मार्क्सवादी साहित्यिक आलोचना को कई धरातलों पर समृद्ध बनाने की सम्भावना से युक्त थीं। *मार्क्सवाद और भाषा का दर्शन* का पहला संस्करण 1929 में और दूसरा संस्करण 1930 में प्रकाशित हुआ। इसमें वोलोशिनोव ने भाषा और विचारधारा के बीच के सम्बन्धों का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया, वह अपने कई विवादास्पद उपप्रमेयों और उपांगों के बावजूद, भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में मार्क्सवाद को लागू करने का अभूतपूर्व उदाहरण था। न केवल दशकों बाद तक, मार्क्सवादी भाषा-विज्ञान इसे एक सन्दर्भ-बिन्दु के रूप में देखता रहा और इसके द्वारा प्रस्तुत प्रस्थापनाओं तथा उठाए गए अनसुलझे प्रश्नों से जूझता रहा, बल्कि आज भी यह प्रक्रिया जारी है।

पुस्तक में वोलोशिनोव ने अपने समय में स्थापित दो प्रमुख भाषा-वैज्ञानिक चिन्तन-सरणियों को विश्लेषण का विषय बनाया है—पहली, **सॉस्युर** से जुड़ी धारा जिसे वे 'अमूर्त वस्तुपरकतावाद' (abstract objectivism) की संज्ञा देते हैं, और दूसरी, स्वच्छन्दतावादी प्रत्ययवादी (नवहेगेलपन्थी) इतालवी दार्शनिक **बेनेडेट्टो क्रोचे** (1866-1952) और **कार्ल वोस्लर** (1872-1942) द्वारा विल्हेल्म फ़ॉन हम्बोल्ट के कृतित्व से विकसित धारा, जिसे वे 'व्यक्तिवादी आत्मपरकतावाद' (individualistic subjectivism) की संज्ञा देते हैं। वोलोशिनोव की स्थापना है कि ये दोनों धाराएँ क्रमशः तर्कणावाद और स्वच्छन्दतावाद से निकली हैं और इन आन्दोलनों की मजबूतियाँ और कमज़ोरियाँ—दोनों ही इनमें से मौजूद हैं। पहली धारा, सही ढंग से, भाषा के प्रणालीगत और सामाजिक चरित्र को रेखांकित करती है, लेकिन यह 'स्वतः-समरूपी फॉर्मों की प्रणाली' को समाज में भाषाई व्यवहार का स्रोत समझ बैठने की भूल करती है, उपयोग के ठोस ऐतिहासिक सन्दर्भ में पृथक करके भाषा का अमूर्तीकरण कर देती है; सम्पूर्ण की क़ीमत पर अंश की जाँच-पड़ताल करती है; वक्तृत्व की गतिमानता की उपेक्षा करके अलग-अलग भाषाई तत्त्व को स्वतंत्र-स्वायत्त मानते हुए उन्हें 'वस्तु' के रूप में देखती है; अर्थ और बलाघात की बहुलता की उपेक्षा करके शब्दार्थ की एकता की कल्पना करती है; तथा भाषा को एक बनी-बनाई प्रणाली के रूप में देखती है और उसमें होनेवाले परिवर्तनों को मात्र विच्युति मानती है। दूसरी धारा, सर्वथा सही ढंग से भाषा को एक सतत् प्रजननशील प्रक्रिया के रूप में देखती है और इस बात पर बल देती है कि यह प्रक्रिया अर्थयुक्त है, लेकिन यह इसकी रचना के नियमों का व्यक्तिगत मनोविज्ञान के नियमों के रूप में देखने की ग़लती करती है; भाषाई प्रजनन-प्रक्रिया और कलात्मक सृजन के बीच सादृश्यता

स्थापित करने की भूल करती है; तथा संकेतों की प्रणाली को सर्जनात्मक प्रक्रिया के निष्क्रिय भूपृष्ठ (पपड़ी) के रूप में देखती है। इन आंशिक अन्तर्दृष्टिगत पर्यवेक्षणों के बाद, वोलोशिनोव ये आधारभूत तर्क प्रस्तुत करते हैं कि भाषाई संकेतों की स्थायित्वपूर्ण प्रणाली महज़ एक वैज्ञानिक अमूर्तन है; भाषा की प्रजनक प्रक्रिया वक्ताओं की सामाजिक-वाचिक अन्तर्क्रिया में क्रियान्वित होती है; भाषा-प्रजनन के नियम समाजशास्त्रीय नियम होते हैं; तथा, हालाँकि भाषाई और कलात्मक सर्जनात्मकता एक-दूसरे के अनुरूप अथवा परस्पर सम्पाती नहीं हुआ करतीं, लेकिन इस सर्जनात्मकता को भाषा में सम्पूरित विचारधारात्मक अर्थों और मूल्यों से सम्बन्धित-सन्दर्भित करके ही समझा जा सकता है।

वोलोशिनोव का कहना है कि प्रत्येक ठोस उद्‌गार की संरचना एक समाजशास्त्रीय संरचना होती है। ग़ौरतलब है कि हमारे समय के उत्तर-संरचनावादी, संरचनावादी और अन्य पूर्ववर्ती भाषा-वैज्ञानिक विचार-सरणियों की जो आलोचनाएँ प्रस्तुत करते हैं, उनमें से बहुतेरी वोलोशिनोव की विवेचना में पहले से ही मौजूद हैं, लेकिन ऐसा करते हुए वोलोशिनोव न तो उत्तर संरचनावादियों के भाषाई सापेक्षवाद का शिकार होते हैं, न ही देरिदा के '*hors text*' या पाठ से बाहर की शून्यता ही उन्हें व्यापती है। वोलोशिनोव चेतना की संकेतबद्ध प्रकृति और भाषा-प्रणाली की अन्तरणशील प्रकृति (shifting nature) पर विशेष बल देते हैं, लेकिन वे विषय को भिन्नता के यथार्थ द्वारा विखण्डित रूप में नहीं देखते और प्रत्येक उद्‌गार को सामाजिक संघर्ष या घात-प्रतिघात के सूक्ष्म प्रतिरूप (microcosm) के रूप में देखते हैं। यह स्थापना विमर्श की समाजशास्त्रीय संरचना और बहुलता को ऐतिहासिक विकास की एकात्मकता के अनुसार सहसम्बन्धित करने में मदद करती है। इन अर्थ-सन्दर्भों में, वोलोशिनोव की विवेचना और **अन्तोनियो ग्राम्शी** द्वारा 'प्रिज़न नोटबुक्स' में प्रस्तुत वर्चस्व की व्याख्या में साम्य के बहुतेरे सूत्र लक्षित किए जा सकते हैं। वोलोशिनोव की ही तरह, ग्राम्शी ने भी **क्रोचे, वोस्लर** और **मात्तियो बर्तोली** के सॉस्युरियन 'स्थानिक भाषा-विज्ञान' के कृतित्व की विवेचना प्रस्तुत की है और फिर मार्क्सवाद के "हेगेलियन पाठ" के साथ इसे जोड़ने की कोशिश की है। लेकिन, जैसाकि हमने देखा है, वोलोशिनोव कास्सिरेर से काफ़ी प्रभावित थे जो प्रजनक भाषा-विज्ञान के प्रवर्तक विल्हेल्म फ़ॉन हम्बोल्ट के प्रशंसक थे। अतः तर्कणावाद और स्वच्छन्दतावाद की दोनों धाराओं से समान दूरी के दावे के बावजूद वोलोशिनोव का झुकाव दूसरे ध्रुव की ओर कुछ ज़्यादा दीखता है। जैसे कि सामाजिक समूहों को वे सामाजिक-आर्थिक आधारों पर गठित वर्गों या समुदायों के रूप में स्पष्टतः परिभाषित नहीं करते। उनका यह कथन भी उनके इसी विचलन को इंगित करता है कि किसी शब्द का अर्थ "पूरी तरह से" उसके सन्दर्भ से "निर्धारित होता है।" वोलोशिनोव ने एक महत्त्वपूर्ण काम यह किया कि व्यक्तिगत और राष्ट्रीय भाषाई परिवर्तनशीलता की हम्बोल्ट की धारणा के साथ एक समाजशास्त्रीय आयाम जोड़ दिया। उन्होंने हम्बोल्ट के भाषा के 'अन्तस्थ रूप' (inner form) की अवधारणा को विमर्श की सम्बन्धात्मकता (relationality) या संवादात्मकता के साँचे में ढालकर उसे नया रूप दे दिया। वोलोशिनोव ने भाषा के धरातल पर सामाजिक वर्गों के टकरावों को मान्यता देते हुए भी इसे मूलाधार अथवा अधिरचना में से किसी प्रवर्ग से जोड़ने की सोच को सर्वथा ग़लत बताया तथा विविध भाषाई रूपों को एक एकल सारवस्तु की विविध अभिव्यक्तियों के रूप में निरूपित करते हुए कास्सिरेर और हेगेल का अनुसरण किया। उल्लेखनीय है कि ग्राम्शी ने भी सुसंगत अर्थक्रियावादी ज्ञानमीमांसीय पद्धति अपनाकर इसी मार्ग का अनुसरण किया तथा उनके और वोलोशिनोव के सूत्रीकरणों में भी आश्चर्यजनक समानता देखने को मिलती है।

मार्र का भोंड़ा भौतिकवादी भाषा–विज्ञान

वोलोशिनोव की ही तरह सोवियत भाषा-वैज्ञानिक एन.वाई. मार्र ने भी भाषा को एक सामाजिक-विचारधारात्मक परिघटना बताया, लेकिन इस तर्क को नितान्त यांत्रिक भौतिकवादी ढंग से आगे बढ़ाते हुए और घोर वर्ग-अपचयनवादी अवस्थिति अपनाते हुए उन्होंने यह स्थापना दी कि भाषा का एक सुनिश्चित वर्ग-चरित्र होता है और यह अधिरचना का अंग होती है। मार्र के अनुसार, भाषा वर्ग-शासन के एक उपकरण के रूप

में अस्तित्व में आई और विकास के प्रत्येक चरण में, कार्य-कारण सम्बन्धानुसार, इसका निर्धारण वर्ग-संघर्ष के द्वारा ही होता है। भाषा-सृजन की प्रक्रिया (glottogony) की इसी एकता के चलते, सभी ज्ञात भाषाओं के मूल तत्त्व एक समान होते हैं। अपने चार-तत्त्वीय विश्लेषण में मार्र ने यह दावा किया कि मनुष्य की आदिम भाषा का उच्चारण चार मूल ध्वनि-इकाइयों से विकसित हुआ था। भाषाओं के बीच की भिन्नताओं का विश्लेषण मार्र इस तथ्य के आधार पर करते थे कि विकास की प्रक्रिया की अलग-अलग मंज़िलों में वे अस्तित्व में आईं। भाषाओं के वर्ग-चरित्र का निर्धारण करते हुए, मार्र मानते थे कि अलग-अलग भाषाएँ अलग-अलग कबीलाई, नृजातीय या राष्ट्रीय समुदायों की नहीं, बल्कि अलग-अलग वर्गों की उपज हैं।

मार्र और उनके अनुयाइयों का यह वर्ग-अपचयनवादी सिद्धान्त 1930 के दशक में सोवियत भाषा-विज्ञान के परिदृश्य पर पूरी तरह से छाया रहा और स्वस्थ बहस-मुबाहसे के ज़रिए नहीं, बल्कि सांस्कृतिक क्षेत्र की आधिकारिक नौकरशाही के ज़रिए सभी विरोधी विचारों को पूरी तरह से दबा दिया गया। वोलोशिनोव का भाषा-चिन्तन लगभग पूरी तरह से विस्मृति के अँधेरे में खो गया। बख़्तीन सर्किल से जुड़े होने के कारण वोलोशिनोव पर भी नवकाण्टवादी आत्मगत प्रत्ययवाद से ग्रस्त और अध्यात्मवादी होने का आरोप लगाया जाना सुगम था। उनके चिन्तन में मौजूद विचलनों पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया और उनके द्वारा निगमित सही निष्पत्तियों, भाषा-विज्ञान में ऐतिहासिक भौतिकवादी पद्धति को लागू करने के प्रयासों, उनके लेखन में काण्ट, हेगेल, कास्सिरेर की प्रभाव-छायाओं और मार्क्सवादी विश्व दृष्टिकोण के बीच सतत मौजूद एक 'जेनुइन' तनाव तथा उनके द्वारा प्रस्तुत अनसुलझे प्रश्नों और नई सम्भावनाओं की उपेक्षा कर दी गई।

सोवियत संघ से बाहर, **जेकबसन** आदि के **प्राग भाषा-वैज्ञानिक स्कूल** के चिन्तन पर वोलोशिनोव का स्पष्ट प्रभाव दीखता है। इस स्कूल के विचारों के विकास में **श्चेरबा, बोगातिरेव, पोलिवानोव** आदि जिन सोवियत विद्वानों का योगदान था, उन पर भी वोलोशिनोव के भाषा-विज्ञान का पर्याप्त प्रभाव था। आगे चलकर श्चेरबा के स्वर-विज्ञान, व्याकरण और कोश-रचना विषयक प्रसिद्ध सिद्धान्तों पर वोलोशिनोव की संकेत प्रणाली विषयक अवधारणा का विशेष प्रभाव दीखता है। रूसी भाषा, साहित्यिक भाषा, शैली विज्ञान और काव्यशास्त्र से सम्बन्धित **विनोग्रादोव** का सिद्धान्त भी वोलोशिनोव की धारणाओं और तर्क-पद्धति से प्रभावित दीखता है। बाद के समय में, विनोग्रादोव एक ऐसे भाषा-वैज्ञानिक थे जो वोलोशिनोव के अवदानों को मुखर रूप में स्वीकार करते थे।

मार्क्सवादी भाषा–विज्ञान और स्तालिन

1940 के दशक के अन्त में, *प्रावदा* में भाषा-विज्ञान की समस्याओं पर एक खुली बहस चली, जिसका समाहार करते हुए 1950 में **स्तालिन** की प्रसिद्ध पुस्तिका *मार्क्सवाद और भाषा-विज्ञान की समस्याएँ* प्रकाशित हुई। इस पुस्तिका ने न केवल सोवियत भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में मार्रवादी प्रभुत्व का अन्त कर दिया, बल्कि पहली बार इसमें भाषा के प्रश्न पर मार्क्स-एंगेल्स, पाल लफार्ग और लेनिन की छिटफुट स्थापनाओं को समेटते हुए, ऐतिहासिक-तुलनात्मक और संरचनावादी स्कूलों के सकारात्मक अवदानों को समाहित करते हुए तथा भाषा-विषयक स्थापित तथ्यों का ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण-समाहार करते हुए, सांगोपांग, सारगर्भित और सुगम ढंग से मार्क्सवादी भाषा-वैज्ञानिक अवस्थितियों को प्रस्तुत किया गया। ग़ौरतलब है कि द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में जब स्तालिन अतीत के प्रयोगों के अनुभव के आधार पर, समाजवादी संक्रमण की वैचारिक और अर्थशास्त्रीय विच्युतियों को ठीक कर रहे थे तथा पार्टी और राज्य के स्तर पर नौकरशाही की समस्या को हल करने के लिए आवश्यक क़दम उठाने की सोच रहे थे; ठीक उसी समय भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी मार्र के भोंड़े भौतिकवाद और वर्ग-अपचयनवाद के विरुद्ध उन्होंने वैचारिक संघर्ष छेड़ा। फिर भी यह प्रश्न अनसुलझा रह जाता है कि क्यों वोलोशिनोव के सकारात्मक-नकारात्मक पक्षों की विवेचना तो दूर, स्तालिन ने भाषा-विज्ञान सम्बन्धी अपने निबन्ध और साक्षात्कारों में उनकी चर्चा तक

नहीं की है! बहरहाल, इस पर अटकलें लगाने के बजाय इस तथ्य को तथ्य के रूप में स्वीकारते हुए आगे बढ़ना होगा। इस सन्दर्भ में समाजवाद के दौर में सांस्कृतिक क्षेत्र में वैचारिक संघर्ष चलाने के तौर-तरीक़ों और अतीत के (सोवियत संघ और चीन के) अनुभवों पर कुछ चर्चा हो सकती है, लेकिन यहाँ यह प्रसंगातर होगा।

स्तालिन की भाषा-विज्ञान विषयक आधारभूत प्रस्थापनाओं को इस रूप में सूत्रबद्ध किया जा सकता है :

(i) भाषा और अधिरचना को परस्पर उलझाना, और भाषा को आर्थिक मूलाधार पर आधारित अधिरचना मानना एक गम्भीर ग़लती है। मूलाधार—यानी उत्पादन-सम्बन्ध वर्ग-विशेष के हितों के अनुरूप होते हैं और उससे प्रादुर्भूत और उस पर आधारित अधिरचना का एक स्पष्ट वर्ग-चरित्र होता है। लेकिन भाषा समाज के किसी एक मूलाधार का प्रतिफलन नहीं, बल्कि समाज के शताब्दियों के इतिहास और मूलाधारों के इतिहास की उपज होती है। यह किसी एक वर्ग द्वारा नहीं बल्कि पूरे समाज द्वारा, और सैकड़ों पीढ़ियों के प्रयासों से निर्मित हुई है। यह किसी वर्ग-विशेष की आवश्यकताओं की नहीं, बल्कि पूरे समाज के सभी वर्गों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। अतः भाषा के वर्ग-चरित्र की धारणा अवैज्ञानिक है।

(ii) भाषा की, उत्पादन के उपकरणों—यानी मशीनों की प्रकृति से कुछ बुनियादी समानताएँ हैं। मशीनें सभी वर्गों के लिए वैसे ही समान हैं, जैसे कि भाषा। जैसे, पूँजीवादी व्यवस्था की जगह समाजवादी व्यवस्था क़ायम हो जाने पर भाषा और मशीनें पूर्ववत समाज का हितसाधन करती रहती हैं। लेकिन इनके बीच की एक बुनियादी भिन्नता यह है कि उत्पादन के उपकरण भौतिक सम्पदा का उत्पादन करते हैं जबकि भाषा ऐसा नहीं करती। अतः भाषा को मूलाधार, अधिरचना के आम प्रवर्गों और उत्पादन के साधनों से पृथक, एक सर्वथा भिन्न सामाजिक परिघटना के रूप में देखा जाना चाहिए जो चिन्तन, संसर्ग और सम्प्रेषण के प्रकार्य सम्पन्न करती है।

(iii) अधिरचना मनुष्य की उत्पादक कार्रवाई से सीधे नहीं, बल्कि परोक्षतः, आर्थिक मूलाधार के माध्यम से—उत्पादन-सम्बन्ध के माध्यम से जुड़ी होती है। भाषा व्यक्ति की उत्पादक गतिविधियों से सीधे जुड़ी होती है। साथ ही वह व्यक्ति के सभी कार्यक्षेत्रों की गतिविधियों से सीधे जुड़ी होती है। अतः वह उत्पादन में हुए परिवर्तनों को तत्काल और प्रत्यक्षतः परावर्तित करती है, मूलाधार में परिवर्तनों के घटित होने की प्रतीक्षा नहीं करती।

(iv) भाषा का विकास गोत्र भाषाओं, जातीय भाषाओं, राष्ट्रीयताओं की भाषाओं और फिर राष्ट्रीय भाषाओं के अनुवर्ती विकास-क्रम में हुआ है। पूँजीवाद के उदय के साथ और राष्ट्रीय बाज़ारों के निर्माण के साथ राष्ट्रीयताओं का विकास राष्ट्रों में तथा राष्ट्रीयताओं की भाषाओं का विकास राष्ट्रीय भाषाओं में हुआ।

(v) भाषा समाज के सभी वर्गों के प्रति तटस्थ होती है, लेकिन विभिन्न सामाजिक वर्ग भाषा के प्रति तटस्थता का रुख नहीं अपनाते। वे भाषा का अपने हक़ में इस्तेमाल करने के उद्देश्य से उस पर अपनी विशेष शब्दावली और अभिव्यक्तियाँ आरोपित करते हैं। आम लोगों की बोलचाल की शब्दावली व शैली से अलग, शासक वर्ग प्रायः अपनी विशेष 'जमाती भाषा' (lingo), वर्ग-उपभाषा (dialect) और वर्ग-बोली (jargqn) इस्तेमाल करते हैं। पर ये पृथक स्वतंत्र भाषाएँ न होकर, प्रायः एक राष्ट्रीय भाषा के परिक्षेत्र में ही बरती जाती हैं, तथा उसी का अंग होती हैं। इनका अपना अलग से मूल शब्द-भण्डार या व्याकरण-प्रणाली नहीं होती।

(vi) मूल शब्द भण्डार और व्याकरण-प्रणाली—ये किसी भी भाषा की दो बुनियादी अभिलाक्षणिकताएँ होती हैं। मूल शब्द भण्डार, शताब्दियों तक बना रहता है, उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया अत्यन्त मद्धम होती है, वह भाषा को नये शब्दों के निर्माण के लिए आधार प्रदान करता है। शब्दों में परिवर्तन और वाक्यों में उनके संयोजन को नियंत्रित करती हुई व्याकरण-प्रणाली, शब्दों और वाक्यों—दोनों के सन्दर्भ में, विशिष्ट और सुनिश्चित प्रकारों से अपने को अमूर्त या निरपेक्ष बनाते हुए उन चीज़ों को अपनाती है जो शब्दों के परिवर्तन

और वाक्यों की रचना में आधारभूत और सामान्य होती हैं, और उन्हें व्याकरणीय नियमों की शक्ल देती है। व्याकरण मस्तिष्क द्वारा काफ़ी लम्बे समय से जारी अमूर्तीकरण की प्रक्रिया का प्रतिफलन है। यह चिन्तन की व्यापक उपलब्धियों का एक संकेत है। व्याकरण इस सन्दर्भ में कुछ हद तक ज्यामिति जैसा होता है जो अपने नियमों को प्रस्तुत करते हुए स्वयं को ठोस वस्तुओं से अमूर्त कर लेता है और उन वस्तुओं को ठोसपन से रहित पिण्डों की तरह लेती है तथा उनके बीच के सम्बन्धों को ठोस वस्तुओं के निश्चित सम्बन्धों के रूप में परिभाषित करने के बजाय सभी प्रकार के ठोसपन से रहित पिण्डों के सम्बन्धों के रूप में परिभाषित करती है।

(vii) भाषाओं के विकास में आकस्मिक विस्फोटों (गुणात्मक छलाँग) और आकस्मिक भाषाई क्रान्ति के माध्यम से नई भाषा के जन्म की अवधारणा अवैज्ञानिक और अनैतिहासिक है। भाषा-सम्पर्क (linguistic crossing) किसी निर्णायक आघात (blow) का अकेला संघात नहीं, बल्कि सैकड़ों वर्षों तक चलनेवाली एक लम्बी प्रक्रिया है।

(viii) "भाषा विचारों की प्रत्यक्ष वस्तुवत्ता है"(मार्क्स)। सामान्य आदमी के दिमाग़ में विचार केवल भाषा-तत्त्व के आधार पर ही उत्पन्न हो सकते हैं। भाषा तत्त्व से रहित "नग्न" विचारों की मार्र की अवधारणा एकदम ग़लत है।

स्तालिन भाषा-विज्ञान के संकेत-प्रायोगिक, अर्थ-वैज्ञानिक, स्वर-वैज्ञानिक, और शैली-विज्ञान आदि से सम्बन्धित अमली तकनीकी विस्तार में तो नहीं गए, लेकिन इतना तय है कि भाषा-विज्ञान के लगभग सभी दार्शनिक और अवधारणागत पहलुओं को अपनी पुस्तिका में समेटते हुए उन्होंने एक सांगोपांग मार्क्सवादी फ़्रेमवर्क पहली बार प्रस्तुत किया। उनके इस हस्तक्षेप ने मार्र के भोंड़े भौतिकवादी भाषा-विज्ञान को हमेशा के लिए दफ़्न कर दिया।

पाव्लोव, लूकाच, डेला वोल्पे का चिन्तन और नववाम के भाषाई खेल : नया मार्क्सवादी हस्तक्षेप ज़रूरी है!

भाषा और सामाजिक संरचना तथा भाषा और विचारधारा के अन्तर्सम्बन्धों की इस मीमांसा से अलग एक और प्रश्न था जिसका उल्लेख मार्क्स से होकर स्तालिन तक के विमर्श में नहीं आया था। वह प्रश्न कुछ इस रूप में रखा जा सकता है : मनुष्य की अन्य प्राणियों से अलग वह कौन-सी विशिष्टता है, जिसके चलते सामाजिक जीवन में संज्ञानात्मक और संसर्गात्मक प्रकार्यों की पूर्ति के लिए आधारभूत संकेत-प्रणाली के रूप में वह भाषा का विकास कर सका? यह प्रश्न शरीरक्रिया-विज्ञान से जाकर जुड़ता था और इस दृष्टि से **पाव्लोव** ने इस पर विचार किया। पाव्लोव के प्रतिवर्तों (reflexes) के सिद्धान्त के अनुसार, भाषा द्वितीय संकेत प्रणाली (secondary signalling system) है। भाषा-विज्ञान के सामाजिक पहलू से जुड़े होने के बजाय, पाव्लोव का सिद्धान्त भाषा और संज्ञान के अन्तर्सम्बन्धों की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत करता है।

आगे चलकर पाव्लोव के सिद्धान्त को लूकाच ने भी अपनी एक भाषा-वैज्ञानिक अवधारणा के आधार के तौर पर, किंचित संशोधित रूप में लागू करने की कोशिश की। दैनन्दिन जीवन की भाषा सहित, दैनन्दिन जीवन के अपने सिद्धान्त के फ़्रेमवर्क में लूकाच ने तथाकथित 'संकेत-प्रणाली-I' से सम्बन्धित प्राक्कल्पना प्रस्तावित की। लेकिन साथ ही उन्होंने प्रकृतवादी रुझान के लिए पाव्लोव की आलोचना भी की। परवर्ती दौर की अपनी रचनाओं में लूकाच ने मुख्यतः सामाजिक पुनरुत्पादन के एक तत्त्व के रूप में तथा सामाजिक जीवन की निरन्तरता के एक साधन के रूप में भाषा की भूमिका पर विचार किया है।

भाषा-विज्ञान जैसे सापेक्षतः अमूर्त, वैज्ञानिक विषय के साथ प्रायः एक समस्या यह देखने में आती है कि व्यवहार के क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य से कटकर अकादिमक सीमान्तों में घुसते ही आवश्यक अमूर्तन का

स्थान अनावश्यक अमूर्तन ले लेता है, गौण मुद्दों पर सिराविहीन बहसों का अनन्त सिलसिला जारी हो जाता है, चरम अमूर्त प्रस्थापनाओं का अम्बार लग जाता है और मूल लक्ष्य जटिल भाषा के भँवरों में खो जाते है। नववामपन्थ के विभिन्न यूरोपीय दायरों में भी आज यह ख़ूब हो रहा है। एक हद तक, वोलोशिनोव में भी यह अकादमिक अमूर्तन मौजूद है, लेकिन बख़्तीन के लेखन में तो यह अति की सीमा तक जा पहुँचता है और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि न केवल पश्चिम के अकादमिक नववाममार्गी, बल्कि उत्तर-संरचनावादी और उत्तर-आधुनिकतावादी भी बख़्तीन को हाथों हाथ लेते रहे हैं। पश्चिमी नववाम की वर्तमान लहर से पहले, जिन कुछ पश्चिमी वामपन्थी विचारकों ने साहित्यालोचन के विविध प्रश्नों से जूझते हुए भाषा-विज्ञान सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण प्रस्थापनाएँ दीं, उनमें इतालवी मार्क्सवादी दार्शनिक **गाल्वानो डेला वोल्पे** (1895-1968) का प्रमुख स्थान है। डेला वोल्पे ने वोलोशिनोव की ही भाँति भाषा के भौतिकवादी सौन्दर्यशास्त्र से जुड़ी कई एक महत्त्वपूर्ण अनुसलझी समस्याओं की एक पूरी शृंखला प्रस्तुत की है और उन पर विचार करने का एक सुनिश्चित कोण भी। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'क्रिटीक ऑफ टेस्ट'** (Critique of Taste, 1960) में डेला वोल्पे ने प्लेखानोव, ग्राम्शी और लूकाच के साथ विमर्श में उलझते हुए ऐतिहासिक भौतिकवादी सौन्दर्यशास्त्र की अपनी अवधारणा प्रस्तुत की है तथा यथार्थवाद की समाजवादी अवधारणा की हिफ़ाज़त की है। इस दौरान डेला वोल्पे ने एक नई बात यह कही है कि मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र ने साहित्य के भाषागत आयामों पर यथोचित ध्यान नहीं दिया है। संरचनावादी भाषा-विज्ञान के कोपेनहेगन स्कूल के प्रवर्तक **ह्योल्मस्लेव** के 'ग्लॉसमेटिक्स' (glossematics) के सिद्धान्त के आधार पर डेला वोल्पे ने सौन्दर्यशास्त्रीय संकेत-विज्ञान की एक नई प्रशाखा विकसित की। एकार्थक वैज्ञानिक भाषा, अनेकार्थक कविता और सामान्य भाषा के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों का वर्णन करते हुए डेला वोल्पे ने कविता की बहुअर्थी तर्कपरकता के रहस्यीकरण की आलोचना की। इस विश्लेषण ने काव्यालोचना के क्षेत्र में मौजूद प्रत्ययवाद और रूपवाद की आलोचना को एक नया आयाम दिया। डेला वोल्पे के सिद्धान्त के आधार पर इतालवी आलोचक **फ्रांको मोरेत्ती** ने मार्क्सवादी संकेत-विज्ञान में नया और महत्त्वपूर्ण काम किया है (Signs Taken For Wonders, 1983)।

हेबरमास और फ्रैंकफर्ट स्कूल के कुछ अन्य नव मार्क्सवादियों के अनुसार, भाष्यशास्त्र (hermeneutics) का काम यह है कि वह भाषा के विश्लेषण से "शासन तथा सामाजिक सत्ता के साधन" को उजागर करे जो "संगठित ज़ोर-दबाव के सम्बन्धों का औचित्य" ठहराने का काम करता है। यह वस्तुतः एक तरह का नवप्रत्यक्षवादी "भाषा विश्लेषण" है जो अस्तित्ववादी **हाइडेगर** की ही भाँति दर्शन को भाषा की चौहद्दी में क़ैद कर देता है और भाषा के विश्लेषण को राजनीतिक-आर्थिक विश्लेषण का स्थानापन्न बनाने की कोशिश करता है।

आज तमाम "उत्तर" सिद्धान्तों के प्रस्तोताओं-प्रवक्ताओं ने जीवन के यथार्थ और उसकी गतिकी से मुँह मोड़कर भाषा-वैज्ञानिक विमर्श के नाम पर भाषा का जो खेल खेलना शुरू किया है, उसका एक मूल उद्देश्य सामाजिक संघर्ष की उस सार्वभौमिक सच्चाई की अनदेखी करना है, जो भाषा के धरातल पर भी लगातार जारी रहता है। सत्य की सार्वभौमिकता, नियमनिष्ठता और वस्तुगत चरित्र को अस्वीकार करनेवाले ये सभी सिद्धान्त सत्य के पीछे तथ्य के आग्रह और संकेतों में अर्थ की उपस्थिति के आग्रह को खारिज करते हैं तथा सत्य के दावे को मानसिक उपनिवेशन बताते हैं। देरिदा कला-साहित्य में निश्चित अर्थ की अवधारणा को अस्वीकार करते हैं। इतिहास, दर्शन, साहित्य ही नहीं, विचार, विश्वास, व्यवहार, घटनाओं आदि को भी ये पाठ मानते हैं और पाठ का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। यह पाठक और उसकी व्याख्या पर निर्भर करता है। उत्तर-आधुनिकतावादी संकेतक (signifier) और संकेतित (signified) के मान्य सम्बन्ध को अस्वीकार करते हुए उनके बीच एक क़िस्म का 'आर्बिट्रेरी' सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

देखा जाए तो उत्तर-आधुनिकतावादियों के सांस्कृतिक तर्कों की ही भाँति उनके भाषा-वैज्ञानिक तर्क भी पहले के प्रत्ययवादी और रूपवादी तर्कों के ही नये संस्करण मात्र हैं। मार्क्सवादी भाषा-विज्ञान काफ़ी पहले इन प्रश्नों पर तर्कपूर्ण ढंग से विचार कर चुका है। मार्क्सवादी भाषा-चिन्तन की उस परम्परा को आज

पुनर्जीवित करने की और आगे विस्तार देने की ज़रूरत है। साथ ही, भाषा-प्रश्न पर ऐतिहासिक भौतिकवादी चिन्तन के सामने आज भी कई ज़रूरी, अनुसलझे प्रश्न खड़े हैं जिन्हें हल करना साहित्य की मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी के अग्रवर्ती विकास की एक आवश्यक पूर्वशर्त है।

(वी.एन. वोलोशिनोव की पुस्तक 'मार्क्सवाद और भाषा का दर्शन' के राजकमल प्रकाशन से छपे हिन्दी अनुवाद की सम्पादकीय प्रस्तावना के रूप में प्रकाशित)

'मार्क्सवाद और भाषा का दर्शन', वी.एन. वोलोशिनोव
अनुवाद : विश्वनाथ मिश्र,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य : 75 रुपए (पेपरबैक)

यह सच है कि हमारी संस्कृति इस समय अँधियारे के बीच से गुज़र रही है, परन्तु इतिहास-दर्शन के ऊपर यह दायित्व है कि वह इस बात का निर्णय ले कि जो अँधियारा इस समय छाया हुआ है वह हमारी संस्कृति की, और हमारी अन्तिम नियति है, अथवा भले हम तथा हमारी संस्कृति एक लम्बी, अँधेरी सुरंग के बीच से गुज़र रहे हों, अन्ततः हम उससे बाहर आयेंगे और प्रकाश के साथ हमारा साक्षात्कार एक बार फिर होगा। बुर्जुआ सौन्दर्यशास्त्रियों का विचार है कि इस अँधियारे के चंगुल से उबरने का कोई भी रास्ता शेष नहीं बचा, जबकि मार्क्सवादी इतिहास-दर्शन मनुष्यता के विकास की व्यवस्था के क्रम में हमें यह निष्कर्ष देता है कि ऐसा हो ही नहीं सकता कि मनुष्य की यह विकासयात्रा निरुद्देश्यता या निरर्थकता में ही समाप्त हो जाए। वह एक निश्चित, सार्थक गन्तव्य तक अवश्य पहुँचेगी।

—जार्ज लुकाच (स्टडीज़ इन यूरोपियन रियलिज़्म)

पत्रिकाएं स्वतंत्र तभी हो सकती हैं जब व्यावसायिक न हों !

किसी विशिष्ट क्षेत्र की स्वतंत्रता की रक्षा कर सकने, यही नहीं, उसे समझ सकने के लिए मुझे उस क्षेत्र के सारभूत स्वरूप से अग्रसर होना चाहिए, उसके बाह्य सम्बन्धों से नहीं। परन्तु क्या पत्र-पत्रिकाएं अपने स्वरूप के प्रति ईमानदार हैं, क्या वे अपनी उदात्त प्रकृति के अनुसार काम करती हैं, क्या वे पत्र-पत्रिकाएँ स्वतंत्र हैं, जो नीचे गिरकर व्यवसाय के स्तर तक पहुँच जाती हैं? निस्सन्देह लेखक को कमाना चाहिए ताकि वह ज़िन्दा रह सके और लिख सके, परन्तु उसे किसी भी सूरत में इसलिए नहीं ज़िन्दा रहना और लिखना चाहिए कि वह कमा सके।

जब बेरांजे गाता है कि

मैं ज़िन्दा रहता हूँ केवल गीत रचने के लिए,
पर जनाब, मुझे कर दें आप बर्खास्त, तो मैं रचूँगा
गीत ज़िन्दा रहने के लिए—

इस धमकी में यह व्यंग्यपूर्ण स्वीकारोक्ति निहित है कि कवि उस समय कवि का चोला उतार फेंकता है, जब कविता उसके लिए साधन बन जाती है।

लेखक अपनी कृति को कदापि साधन के रूप में नहीं देखता। कृति उसके लिए स्वयं लक्ष्य है; वह उसके तथा दूसरों के लिए साधन इतना कम है कि वह अपने अस्तित्व को ज़रूरत पड़ने पर सृजन के अस्तित्व की बलिवेदी पर चढ़ा देता है। वह—भले ही दूसरे अर्थ में—उस धर्म-प्रचारक की तरह है, जो यह सिद्धान्त अपनाता है : "लोगों से अधिक भगवान की आज्ञा का पालन करो"—उन लोगों समेत, जिनमें वह अपनी मानवीय आवश्यकताओं तथा इच्छाओं के साथ शामिल है। परन्तु तब क्या होगा, जब मुझे वह दर्ज़ी, जिसे मैंने पेरिस शैली का फ्रॉक-कोट बनाने का आर्डर दिया हो, मेरे पास रोमन चोगा इस आधार पर लेकर आये कि यह सौन्दर्य के शाश्वत नियम के अधिक अनुकूल है।

पत्र-पत्रिकाओं की मुख्य स्वतंत्रता व्यवसाय न होने में निहित है। जो लेखक पत्र-पत्रिकाओं को नीचे महज़ भौतिक साधनों की स्थिति में पहुँचा देता है, वह इस आन्तरिक अस्वतंत्रता के लिए दण्ड के रूप में सेंसर की बाह्य अस्वतंत्रता का, सेंसर का पात्र है—या कहना चाहिए, उसका स्वयं अस्तित्व ही उसके लिए दण्ड है।

—कार्ल मार्क्स

('पत्र-पत्रिकाओं की स्वतंत्रता पर विवाद')

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

मेसिंगकौफ़ संवाद

(कुछ अंश)

थिएटर के सैद्धान्तिक प्रश्नों पर 'मेसिंगकौफ़ संवाद' ब्रेष्ट की सबसे महत्त्वपूर्ण रचनाओं में से है, हालाँकि यह अधूरी रही। ब्रेष्ट की डायरी में एक नोट के अनुसार यह 'थिएटर करने के एक नए ढंग के बारे में चार मुख़्तलिफ़ किरदारों के बीच बातचीत' के रूप में है। ये किरदार हैं दार्शनिक, अभिनेता, अभिनेत्री, नाट्यशास्त्री और मज़दूर या इलेक्ट्रीशियन। डायरी के शब्दों में, 'दार्शनिक थिएटर को अपने उद्देश्य के लिए इस्तेमाल करना चाहता है। उसके मुताबिक इसे लोगों के बीच की घटनाओं की सटीक छवि प्रस्तुत करनी चाहिए और दर्शक को अपना रुख तय करने का मौका देना चाहिए। अभिनेता अभिव्यक्ति का अवसर चाहता है। उसके लिए कथानक और चरित्रों की उपयोगिता है। नाट्यशास्त्री दार्शनिक से सहमत है और वादा करता है कि थिएटर को दार्शनिक के thaëter में तब्दील करने में अपने ज्ञान और हुनर का उपयोग करेगा। उसे आशा है कि इससे थिएटर को नया जीवन मिलेगा। इलेक्ट्रीशियन नए दर्शकवर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। वह एक मज़दूर है और दुनिया से असन्तुष्ट है।'—सं०

ख़ुशमिज़ाजी के साथ आलोचना

अभिनेता : पात्रों की भावनाओं से तादात्म्य स्थापित करने और मंच पर उनकी गतिविधियों में आत्मिक रूप से भागीदारी करने में लोगों को आनन्द आए, यह तो समझा जा सकता है। लेकिन इन चीज़ों की आलोचना करने से उन्हें कैसे आनन्द आएगा?

दार्शनिक : आपके विभिन्न नायकों की गतिविधियों में भागीदारी करके मैं प्रायः उदास हो जाता हूँ, और उनकी भावनाओं से तादात्म्य स्थापित करके

आम तौर पर मैं खिन्न हो उठता हूँ। दूसरी ओर, आपके नायकों के साथ खेल करना मुझे अच्छा लगता है; यानी, उनके व्यवहार के अलग-अलग तरीक़ों की कल्पना करने और उनकी क्रियाओं की, अन्य उतनी ही सम्भव क्रियाओं से तुलना करने में मुझे मज़ा आता है।

नाट्यशास्त्री : लेकिन वे जो हैं, और जिस चीज़ के लिए उन्हें गढ़ा गया है, उसे देखते हुए वे भला और कैसे व्यवहार कर सकते हैं? आप उनके व्यवहार का कोई अलग तरीक़ा कैसे सोच सकते हैं?

दार्शनिक : मैं ऐसा कर सकता हूँ। और इतना ही नहीं, मैं उनकी ख़ुद से भी तुलना कर सकता हूँ।

नाट्यशास्त्री : यानी अपनी आलोचनात्मक क्षमता का इस्तेमाल करना महज़ बौद्धिक मामला नहीं है?

दार्शनिक : बिल्कुल नहीं। आप आलोचना को बुद्धि तक सीमित नहीं कर सकते। अनुभूतियाँ भी इस प्रक्रिया में भूमिका निभाती हैं, और यह भी हो सकता है कि आप अनुभूतियों के ज़रिए आलोचना को व्यवस्थित करें। याद रहे कि आलोचना संकट में जन्म लेती है और उसे बल देती है।

नाट्यशास्त्री : मैं मानता हूँ कि छोटे से छोटा दृश्य मंचित करने के लिए भी हमें अधिकतम सम्भव जानकारी होनी चाहिए। फिर इसके बाद?

दार्शनिक : जानकारी के स्तरों में काफ़ी विभिन्नता होती है। आपके स्वप्नों और पूर्वाभासों में, आपकी आशाओं और चिन्ताओं में, पसन्द और सन्देह में भी जानकारी होती है। लेकिन सबसे बढ़कर, ज्ञान बेहतर ढंग से जानने में, यानी अन्तरविरोध में ख़ुद को अभिव्यक्त करता है। यही आपका क्षेत्र है।

(...)

नाट्यशास्त्री : देखिए, थिएटर की कला को विज्ञान जितना ही शिक्षात्मक बनाने के बारे में आपके विचारों का हमने अपनी क्षमता भर अध्ययन किया है। आपने हमें अपने थिएटर में आकर काम करने के लिए आमंत्रित किया जो आपके मुताबिक एक वैज्ञानिक संस्थान था; कला का सृजन हमारा लक्ष्य नहीं था। लेकिन आप जो चाहते थे, उसे हासिल करने के लिए हमें अपनी सारी कला झोंक देनी पड़ी है। साफ़ कहूँ तो, अगर हमें आपकी इच्छा के अनुसार और आपके इच्छित लक्ष्यों को ध्यान में रखकर काम करना है, तो हमें कला का ही सृजन करना होगा।

दार्शनिक : मुझे भी कुछ ऐसा ही लगा है।

नाट्यशास्त्री : आम तौर पर कला के अभ्यास के लिए जो कुछ ज़रूरी माना जाता है, उसमें से इतना कुछ आपने रद्द कर दिया है, फिर भी मुझे लगता है कि आपने जिस एक बिन्दु को बनाए रखा, वही असल बात है।

दार्शनिक : क्या?

नाट्यशास्त्री : जिसे आपने इस काम की सहजता कहा है। यह अहसास कि अभिरुचियों का यह खेल, दर्शकों के लिए चीज़ें रचने का यह काम ख़ुशमिज़ाजी के साथ, ज़िन्दादिली के मूड में ही किया जा सकता है, मज़ा लेने के मूड में ही किया जा सकता है। एक मशीन पर पाँच बटन दबाने वाले व्यक्ति के काम और पाँच गेंदों के साथ करतब दिखाने वाले व्यक्ति के काम में अन्तर की ओर इशारा करते हुए आपने कला की बिल्कुल सटीक व्याख्या की। और आपने इस सहजता को व्यक्ति के सामाजिक कार्य के प्रति उसके रुख की आत्यन्तिक गम्भीरता के साथ जोड़ा।

अभिनेता : शुरू में जिस चीज़ से मैं सबसे ज़्यादा बिदका, वह था पूरी तरह और सिर्फ़ तर्क पर ध्यान देने के ऊपर आपका ज़ोर। सोचना ऐसी शुष्क-सी क्रिया है; यह बुनियादी तौर पर एक अमानवीय चीज़ है। अगर आप यह तर्क देते कि यह मानवीय प्राणी का विशिष्ट गुण है तो भी यह ग़लत होता, क्योंकि मैं कहता कि आप प्राणी वाले भाग को तो छोड़ ही दे रहे हैं।

दार्शनिक : अब तुम्हें कैसा लगता है?

अभिनेता : ओह, अब मैं सोचता हूँ कि सोचना इतनी ठण्डी क्रिया नहीं है। इसका अनुभूति से कोई अन्तरविरोध नहीं है। और मैं दर्शकों में जो चीज़ जगाता हूँ वह महज़ विचार नहीं बल्कि अनुभूतियाँ भी होती हैं। अब

मैं सोचने को बस व्यवहार के एक ढंग और वह भी सामाजिक व्यवहार के एक ढंग के रूप में देखता हूँ। यह एक ऐसी चीज़ है जिसमें पूरा शरीर, अपनी सभी इन्द्रियों के साथ, हिस्सा लेता है।

दार्शनिक : मैंने एक रूसी नाटक देखा था जिसमें मज़दूर एक हिंसक अपराधी को एक बन्दूक देते हैं ताकि उनके काम के दौरान वह हिंसा से उनकी हिफ़ाज़त करे। दर्शक इस पर एक साथ हँसे भी और रोए भी। पुराने ढंग के थिएटर में नायक के विलोम में एक घिसा-पिटा-सा पात्र रखा जाता था। कैरिकेचर एक साधन है जिसके ज़रिए तदनुभूतिपरक चरित्रचित्रण आलोचना को स्वर देता है। अभिनेता जीवन की आलोचना करता है और दर्शक उसकी आलोचना से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। एपिक थिएटर शायद ऐसे कैरिकेचर तभी मंचित कर सकता है जब वह कैरिकेचर करने की प्रक्रिया को दर्शाना चाहता हो। तब कैरिकेचर किसी मुखौटा नृत्य वाले दृश्य में नर्तकों की तरह उपस्थित होते हैं। चरित्रचित्रण की फिसलती, फुदकती, पल-पल बदलती पद्धति की और भी अधिक ज़रूरत होती है क्योंकि पात्र की हर उक्ति को ध्यानाकर्षक बनाना होता है, और इसका अर्थ यह हुआ कि इन सभी उक्तियों के क्रमविन्यास, आपसी सम्बन्ध और विकास को भी ध्यानाकर्षक बनाना होगा। वास्तविक समझ और आलोचना तभी सम्भव है जब अंश और समग्र तथा अंश और समग्र के बदलते सम्बन्धों को पूरी तरह समझा जाए और उनकी आलोचना की जाए। लोगों की उक्तियाँ अन्तरविरोधपूर्ण होती ही हैं, इसलिए हमें पूरे अन्तरविरोध को लेना ही होगा। अभिनेता के लिए पूरे ब्योरों के साथ परिष्कृत चरित्र प्रस्तुत करना ज़रूरी नहीं है। वह ऐसा कर नहीं सकता, और उसे ऐसा करने की ज़रूरत भी नहीं। वह सम्बन्धित विषय की आलोचना ही नहीं प्रस्तुत कर रहा है, बल्कि सर्वप्रथम और सर्वोपरि तौर पर वह स्वयं विषय को ही प्रस्तुत कर रहा है। अपने द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली हर चीज़ के बारे में उसके पास पूरी तरह सोची-विचारी राय होना ज़रूरी नहीं है। वह देखी और अनुभव की गई चीज़ों की एक निधि से मदद लेता है।

अभिनेता : जो भी हो, हमारा थिएटर आपके 'thaëter'* के लिए मुश्किल बाधा है, मेरे दोस्त। हमारी उन योग्यताओं को ही लें जिन्हें थिएटर ने अपने उद्देश्य के लिए विकसित किया है; उनका इस्तेमाल इस तथ्य से प्रभावित होगा कि हमारी कुछ क्षमताओं की आपके लिए कुछ ख़ास उपयोगिता नहीं है। किन्हीं रूपों में वे आपकी आवश्यकताओं से बढ़कर हों यह भी उतनी ही बड़ी बाधा है जितना कि उनका कसौटी पर पूरा न उतरना।

दार्शनिक : वे आवश्यकताओं से बढ़कर कैसे हैं?

अभिनेता : आपने *देखने* वाले और *आलोचनात्मक दृष्टि से देखने* वाले के बीच के अन्तर को बड़ी स्पष्टता से बताया है। आपका कहना है कि पहले वाले की जगह दूसरे को ले लेनी चाहिए। अनुमान मुर्दाबाद, जानना ज़िन्दाबाद! सन्देह मुर्दाबाद, विश्वास ज़िन्दाबाद! अनुभूति मुर्दाबाद, तर्क ज़िन्दाबाद! सपने मुर्दाबाद, योजनाएँ ज़िन्दाबाद! तड़प मुर्दाबाद, दृढ़निश्चय ज़िन्दाबाद!

अभिनेत्री ताली बजाती है।

अभिनेता : क्यों, आपने ताली नहीं बजाई?

दार्शनिक : कला के सामान्य कार्यों के बारे में मेरी धारणा इतनी निश्चयात्मक तो नहीं थी। निश्चित ही, इसके विपरीत दृष्टिकोण के मैं ख़िलाफ़ था : जानना मुर्दाबाद, अनुमान ज़िन्दाबाद, वग़ैरह-वग़ैरह। मैंने कला को बिल्कुल हाशिए पर रखने के विचार का विरोध किया। ऐसे नारे प्रगतिशील वर्गों और उथल-पुथल भरे समयों की कृतियों पर लागू नहीं होते। लेकिन हमारे अपने दौर पर नज़र डालिये। देखिए कि जिस तरह के रुख के मैं ख़िलाफ़ हूँ उन पर आधारित रचनाओं में आपको कितना बेहतर कलात्मक प्रदर्शन मिलता है। अनुमान लगाने को जानने के मुक़ाबले कहीं अधिक कलात्मक ढंग से

---

* ब्रेष्ट परम्परागत थिएटर से एकदम उलट नए ढंग के थिएटर के लिए यह शब्द इस्तेमाल करते थे।

दर्शाया जाता है। यहाँ तक कि जिन रचनाओं में स्पष्ट विचार होते हैं, उनमें भी अस्पष्ट वाले पक्ष में ही कलात्मक तत्त्व देखने को मिलता है। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि हम इसे वहीं ढूँढ़ते हैं, बल्कि वाक़ई यह वहीं मिलता है।

नाट्यशास्त्री : आपके ख़्याल से जानने के लिए कोई कलात्मक रूप नहीं है?

दार्शनिक : मेरे ख़्याल से नहीं। मैं अनुमान, सपने देखने और अनुभूति करने की पूरी दुनिया को भला क्यों ध्वस्त करना चाहूँगा? लोग इन तरीक़ों से भी सामाजिक समस्याओं से जूझते हैं। अनुमान और ज्ञान एक-दूसरे के विलोम नहीं हैं। अनुमान ज्ञान तक ले जा सकता है, और ज्ञान अनुमान तक। सपने योजनाओं को जन्म दे सकते हैं और योजनाएँ सपनों में घुलमिल जा सकती हैं। मुझे किसी चीज़ की तड़प होती है और मैं चल पड़ता हूँ, और आगे बढ़ते हुए मुझे और तड़प महसूस होती है। आप अनुभूतियों को सोचते हैं और आप सोचपूर्ण ढंग से अनुभूति करते हैं। लेकिन शार्ट कट और शार्ट सर्किट भी होते हैं। ऐसी मंज़िलें आती हैं जब सपने योजनाओं में नहीं ढलते, अनुमान ज्ञान में नहीं बदलता, तड़प राह पर आगे नहीं बढ़ाती। ये कला के लिए बुरे दौर होते हैं; बात बिगड़ जाती है। अनुमान और ज्ञान के बीच का तनाव, जिससे कला जन्म लेती है, भंग हो जाता है। जैसे कोई विद्युत क्षेत्र आवेशरहित हो गया हो। इस समय मेरी इस बात में रुचि नहीं है कि रहस्यवाद में डूब जाने वाले कलाकारों का क्या होता है। मेरी ज़्यादा रुचि उनमें है जो अधीर होकर योजनाविहीन सपने देखने से बिदककर स्वप्नविहीन योजना बनाने की ओर मुड़ जाते हैं, और परिणामस्वरूप खोखली योजनाएँ बनाते हैं।

नाट्यशास्त्री : समझा। हम जो अपने समाज की सेवा करने की कोशिश कर रहे हैं, हमें मानवीय गतिविधि के *हर* दायरे के सभी आयामों को अंकित करना होगा।

अभिनेता : यानी हमें बस वही नहीं दिखाना है जो हम जानते हैं?

अभिनेत्री : वह भी जिसका हम अनुमान करते हैं।

दार्शनिक : याद रखो कि कुछ चीज़ें जिन्हें तुम नहीं जानते हो, उन्हें दर्शक पहचान सकते हैं।

(...)

दार्शनिक : मज़दूरों के विरोधी कोई एकाश्मी प्रतिक्रियावादी समूह नहीं हैं। न ही विरोधी वर्गों का हर सदस्य कोई एकाश्मी, तैयारशुदा, गारण्टी युक्त शत-प्रतिशत दुश्मनाना प्राणी है। वर्ग-संघर्ष ने उसकी अन्तरात्मा को भी संक्रमित कर दिया है। उसके अपने हित उसे विपरीत दिशाओं में खींच रहे हैं। समूह के एक हिस्से के रूप में जीते हुए उसके हित समूह के हितों से साझा होंगे ही, चाहे उसका जीवन कितना भी अलग-थलग क्यों न हो। सोवियत फ़िल्म *दि बैटलशिप पोतेमकिन* में कुछ ऐसे भी बुर्जुआ थे जो नाविकों द्वारा उत्पीड़क अफ़सरों को उठाकर पानी में फेंक देने पर ख़ुशी से तालियाँ पीटते मज़दूरों के साथ शामिल हो गये। हालाँकि इस बुर्जुआ वर्ग की उसके अफ़सरों ने सामाजिक क्रान्ति से हिफ़ाज़त की थी पर यह कभी उन्हें आत्मसात नहीं कर सका था। यह ख़ुद अपने अधिकारों के अतिक्रमण से भयभीत था (और इसे महसूस कर रहा था) इसलिए बुर्जुआ और सर्वहारा कभी-कभी मिलकर सामन्तवाद के ख़िलाफ़ वोट देते थे। और इस तरह इन बुर्जुआओं का ऐसे क्षणों में समाज के प्रगतिशील सर्वहारा तत्त्वों से वास्तविक और सुखद सम्पर्क होता था; बड़े पैमाने पर और शक्तिशाली ढंग से सवालों को हल करते हुए वे ख़ुद को पूरी इंसानियत का एक हिस्सा महसूस करते थे। यह दर्शाता है कि कला अपने दर्शकों में एक क़िस्म की एकता पैदा कर सकती है, जो हमारे समय में वर्गों में बँटे हुए हैं।

दार्शनिक : थिएटर कला के लिए मूलभूत मानी जाने वाली चीज़ों में से चाहे जितने की भी हम अपने नये लक्ष्यों के लिए तिलांजलि देना चाहें, एक चीज़ है जिसे हमें, मेरे ख़्याल से, हर क़ीमत पर बचाए रखना चाहिए, और वह है सहजता का इसका गुण। (मूल जर्मन शब्द *leichtigkeit* का अर्थ सहजता और सरलता दोनों है जिसे एक हिन्दी शब्द में व्यक्त नहीं किया जा सकता—अनु.) यह हमारे लिए कोई अड़चन नहीं हो सकता और अगर हम इसे छोड़ दें तो इसका मतलब होगा अपने संसाधनों पर अत्यधिक

बोझ डालना और उन्हें बरबाद करना। थिएटर में एक स्वाभाविक सहजता और सरलता है। इस तरह चेहरे पर मेकअप पोतकर पहले से रिहर्सल की हुई मुद्राएँ बनाना, थोड़ी सी चीज़ों से दुनिया की नक़ल उतारना, जीवन की एक झलक देना, ये चुटीले संवाद और सूक्तियाँ—अगर इस सबको बेवकूफ़ाना नहीं दिखना है तो इसकी स्वाभाविक ज़िन्दादिली को बनाए रखना होगा। ऐसी सहजता के भीतर आप कितनी भी संजीदगी हासिल कर सकते हैं, इसके बिना कुछ भी नहीं। इसलिए अगर हम किसी समस्या को एक ऐसे रूप में रखते हैं जिसे नाटक में उठाया जा सकता हो तो हमें विनोदपूर्ण ढंग से ऐसा करना चाहिए। हम बड़े बारीक़ सन्तुलन पर काम कर रहे हैं, लालित्यपूर्ण, सधे हुए क़दम रख रहे हैं, बिना यह ध्यान दिए कि हमारे क़दमों तले ज़मीन कैसे धसक रही है। लोग ज़रूर इस बात पर उँगली उठाएँगे कि हम रक्तरंजित युद्धों के बीच यहाँ बैठे, पलायनवाद की बात भी दिमाग़ में लाए बिना, थिएटर के उन मामलों पर चर्चा कर रहे हैं जो मनबहलाव की मनुष्य की ज़रूरत के कारण ही अस्तित्व में हैं। क्या पता कल हम सब भस्म हो जाएँ। लेकिन हम थिएटर पर केन्द्रित कर रहे हैं क्योंकि हम थिएटर के ज़रिए भी अपने काम को आगे बढ़ाने का एक साधन तैयार करना चाहते हैं। अपने हालात की अत्यावश्यकता के दबाव में हमें उन साधनों को नष्ट नहीं कर देना चाहिए जिनका हम इस्तेमाल करना चाहते हैं। जितनी हड़बड़ी होगी, रफ़्तार उतनी ही कम होगी। भारी ज़िम्मेदारी का काम करने वाले सर्जन को छोटा-सा नश्तर हल्केपन और सहजता से हाथ में थामने की ज़रूरत होती है। निश्चित रूप से, दुनिया के कल-पुर्ज़े इधर-उधर खिसक गए हैं और सब कुछ फिर से दुरुस्त करने के लिए शक्तिशाली प्रयासों की ज़रूरत पड़ेगी। लेकिन विभिन्न ज़रूरी उपकरणों में से एक ऐसा भी हो सकता है जो नाज़ुक और तनु हो और जिसे सहजता से चलाया जाना ज़रूरी हो।

दार्शनिक : जिस थिएटर में हँसा न जा सकता हो, उस थिएटर पर हँसा जाना चाहिए। परिहासरहित लोग हास्यास्पद होते हैं। कभी-कभी यह आशा की जाती है कि समारोही प्रस्तुतीकरण चीज़ों को वह अर्थ दे देगा जो वैसे उनमें है नहीं। अगर चीज़ों में कोई अर्थ हो तो उस अर्थ को उभारने से ही पर्याप्त समारोह उत्पन्न हो जाएगा। लेनिन की अंत्येष्टि पर उमड़ी भीड़ की तस्वीरों से लगता है कि कोई समारोही घटना हो रही है। पहलेपहल आपको बस यही दिखता है कि लोग अब भी एक ऐसे व्यक्ति के साथ चलने की कोशिश कर रहे हैं जिसे वे जाने नहीं देना चाहते। लेकिन उनकी तादाद बहुत बड़ी है, और इससे भी बढ़कर वे 'मामूली' लोग हैं और इस व्यक्ति के साथ चलकर वे एक छोटी सी जमात के ख़िलाफ़ प्रदर्शन कर रहे हैं जो लम्बे समय से उसे दुनिया से हटाने में लगी थी। इस तरह की चिन्ताएँ आपको समारोह की फ़िक्र करने से मुक्त कर देती हैं।

(...)

राजनीतिविशारद हों दर्शक

दार्शनिक : हम देख चुके हैं कि हमारा thaëter उस प्रसिद्ध, सार्वभौमिक, बार-बार परखी हुई और अपरिहार्य संस्था, थिएटर से एकदम भिन्न होगा। एक महत्त्वपूर्ण अन्तर, जिससे आपको राहत मिलेगी, यह तथ्य है कि इसे हमेशा-हमेशा के लिए नहीं खोल दिया जाना है। यह सिर्फ़ आज के समय के लिए, ठीक-ठीक हमारे आज के समय के लिए है : जो बेशक कोई आनन्ददाई समय नहीं है।

दार्शनिक : इसे सामने आना ही है; अब मैं इसे आपसे और नहीं छुपा सकता। मेरे पास कोई साज़ो-सामान नहीं है, कोई इमारत नहीं, कोई थिएटर नहीं, एक कास्ट्यूम या मेकअप का एक डिब्बा तक नहीं है। मेरे पीछे कोई नहीं है, कुछ नहीं है। आपको अपने अब तक के किसी भी प्रयास से ज़्यादा कठिन प्रयास करने होंगे, लेकिन उनके लिए कोई पैसा नहीं मिलने वाला, और हम आपसे यह भी नहीं कह सकते कि आप यश के लिए काम करें। क्योंकि हम यश भी नहीं दिला सकते। किसी भी अख़बार ने आज तक

कभी हमारे सहयोगियों का यशगान नहीं किया।

(ख़ामोशी)

अभिनेता : तो आप बस काम के लिए काम करने की बात कर रहे हैं।

मज़दूर : यह एक बेहूदा सवाल है। मैं कभी किसी से यह नहीं पूछूंगा; इसे सुन-सुनकर मेरे कान पक गए हैं। 'क्या तुम्हें अपने काम में मज़ा नहीं आता है?' जब मैं अपनी मज़दूरी माँगता हूँ तो वे निराश स्वर में पूछते हैं। 'क्या तुम बस काम के लिए काम नहीं करते?' नहीं, चाहे जो भी हो जाए, हम पैसे देंगे। ज़्यादा नहीं, क्योंकि हमारे पास ज़्यादा कुछ नहीं है, लेकिन यह नहीं हो सकता कि कुछ न दें, क्योंकि काम के बदले भुगतान होना ही चाहिए।

नाट्यशास्त्री : मेरे ख़्याल से मामूली भत्ता देने के बजाय कुछ नहीं देने से आपको ज़्यादा कलाकार मिल सकते हैं। अगर वे बिना कुछ लिये काम कर रहे हैं, तो कम से कम वे कुछ दे रहे हैं।

अभिनेता : आप लोग कुछ भत्ता देंगे, क्यों? ठीक है, मुझे मंज़ूर है। बेशक। यह हमारे रिश्तों में एक अर्थ पैदा करता है, और इसे एक साधारण कामकाजी मामला बना देता है। दान की बछिया के दाँत नहीं गिने जाते, लेकिन यह तो ऐसी कला मानी जाती है जिसके दाँत गिने जा सकते हैं। मैं तो यही समझा हूँ : यह एक ऐसी बछिया है जो वाक़ई चाहती है कि इसके दाँत गिने जाएँ। चलो, वित्तीय पक्ष कमोबेश तय हो गया।

नाट्यशास्त्री : मैं तो कहूँगा कि यह आपकी ख़ुशक़िस्मती है कि कलाकार इतने छिछोर होते हैं। उसके दिमाग़ से यह बात ही उतर गई है कि अब उसे हर शाम ख़ुद को एक राजा में रूपान्तरित कर लेना* छोड़ना होगा।

अभिनेता : इसके बरक्स ऐसा लगता है कि इस नये थिएटर में मैं अपने दर्शकों को राजाओं में तब्दील करने के लिए स्वतंत्र होउँगा। राजाओं जैसे नहीं, बल्कि असली राजाओं में। राजनीतिकविशारदों में, विचारकों में और इंजीनियरों में। क्या दर्शक होंगे मेरे! दुनिया में जो कुछ भी चल रहा है उसे मैं उनके न्याय-सिंहासन के सामने लाउँगा। और अगर मेरा थिएटर मेहनतकश लोगों के इस विराट समूह के लिए एक प्रयोगशाला बन गया तो यह कैसा विशिष्ट, उपयोगी और यशस्वी स्थान होगा। मैं भी उस क्लासिकी सिद्धान्त के अनुसार अभिनय करूँगा : दुनिया को बदलो; इसे इसकी ज़रूरत है।

मज़दूर : इस बात में ज़रा ग़ुरूर झलकता है। लेकिन क्यों न हो? यह एक महान लक्ष्य के लिए है।

---

* यहाँ स्तानिस्लाव्स्की की अभिनय पद्धति के उस प्रसिद्ध कथन का सन्दर्भ है कि अगर कोई अभिनेता किंग लियर का अभिनय कर रहा है तो उसे ख़ुद को विश्वास दिलाना होगा कि वह किंग ही है।—अनु.

अंग्रेज़ी से अनुवाद : **स.**

"थिएटर से गम्भीरता से जुड़ा कोई भी व्यक्ति ब्रेष्ट की अनदेखी नहीं कर सकता। ब्रेष्ट हमारे समय के केन्द्रीय व्यक्तित्व हैं, आज सारा थिएटर वर्क किसी न किसी बिन्दु पर ब्रेष्ट के वक्तव्यों और उपलब्धियों से शुरू होता है, या लौटकर उन तक आता है।"

—पीटर ब्रुक

नाटककार का दर्शक

एक दिन मैं अपने दर्शक से मिला
एक धूलभरी सड़क पर
अपनी मुट्ठियों में वह एक धड़धड़ाती ड्रिल कसकर थामे था।
एक सेकण्ड के लिए उसने नज़र उठाई। मैंने तुरत-फुरत अपना थिएटर जमाया
घरों के बीच की जगह में। उसने
उम्मीद से देखा।

पब में
मैं फिर मिला उससे। वह बार के पास खड़ा था।
पसीने से चीकट, वह पी रहा था। उसकी मुट्ठी में था
एक मोटा-सा सैंडविच। मैंने तुरत-फुरत अपना थिएटर जमाया। उसने
अचरज से देखा।

आज
मैंने फिर कर दिखाया। स्टेशन के बाहर
ब्रास बैण्ड और राइफ़ल के कुन्दों के बीच
मैंने देखा उसे
झुण्ड के झुण्ड जंग में भेजे जाते हुए।
भीड़ के बीचोबीच
मैंने अपना थिएटर जमाया। गर्दन घुमाकर
उसने पीछे देखा
और हामी भरी सिर हिलाकर।

(मेसिंगकौफ़ संवाद' से)

नान्दिकर

ब्रेष्ट और स्तानिस्लाव्स्की—साथ-साथ और आमने-सामने

सत्यव्रत

इस लेख में हमारा उद्देश्य **ब्रेष्ट** के *एपिक थिएटर* और **स्तानिस्लाव्सकी** की *पद्धति* का विस्तृत निरूपण प्रस्तुत करना नहीं है। हम यहाँ सामान्य तौर पर इन दोनों से परिचित पाठकों और रंगकर्मियों से मुखातिब हैं। इस लेख में हमारी आधारभूत स्थापना यह है कि (i) एपिक थिएटर और स्तानिस्लाव्स्की की पद्धति में सांगोपांग तुलना सम्भव नहीं है क्योंकि एक के पीछे सचेतन रूप से एक विश्व-दृष्टि मौजूद है और वह एक समग्र सिस्टम है, जबकि दूसरी एक पद्धति (मेथड) है जो रंगकर्म के सुदीर्घ अनुभवों की देन है, यहाँ भी सर्वहारा अवस्थिति की ओर विकासमान विश्व-दृष्टि मौजूद है, लेकिन वह सचेतन नहीं है; (ii) ब्रेष्ट स्तानिस्लाव्स्की से टकराते हैं और फिर एक हद तक सामंजस्य स्थापित करते हैं, उनका निषेध करते हैं और उन्हें विस्तार भी देते हैं, स्तानिस्लाव्स्की से ब्रेष्ट तक, परिवर्तन के तत्त्व और निरन्तरता के तत्त्व—दोनों का टकराव और संश्लेषण मौजूद है; (iii) स्तानिस्लाव्स्की का थिएटर व्यवस्था-विरोधी रैडिकल थिएटर है, अपने उन्नततम रूप में, जबकि ब्रेष्ट का थिएटर प्रोलेतारियन थिएटर है, अपनी शैशवावस्था में।

यहाँ हम थिएटर के लोगों के बीच की आपसी बातचीत के रूप में कुछ अनन्तिम विचार रख रहे हैं। अभी इन प्रश्नों पर काफ़ी कुछ काम बाक़ी है। ख़ास तौर पर इसलिए भी कि, अपने रंग-सिद्धान्त और व्यवहार पर लगातार आलोचनात्मक चिन्तन करते हुए बेर्टोल्ट ब्रेष्ट, ख़ास तौर पर अपने जीवन के आख़िरी दशक में जो कुछ सोच-विचार रहे थे, वह अभी मुख्यतः अध्ययन और विचार-विमर्श के एजेण्डे पर प्रमुखता के साथ उपस्थित नहीं हो पाया है।

•

दिखाओ कि तुम दिखा रहे हो! उन तमाम विविध अन्दाज़ों में
जिन्हें तुम तब दिखाते हो, जब यह दिखाना होता है
कि लोग कैसे अपनी भूमिकाएँ अदा करते हैं,
दिखाने का अन्दाज़ कभी नहीं भूलना चाहिए
हर अन्दाज़ के पीछे दिखाने का अन्दाज़ मौजूद होना चाहिए
यह इस तरह होगा : यह दिखाने से पहले
कि कैसे कोई आदमी किसी को धोखा देता है या
ईर्ष्या से भर उठता है, या कोई सौदा पक्का करता है,
पहले दर्शकों की तरफ़ देखो, गोया तुम कहना चाहते हो :
'अब ज़रा ग़ौर करें, यह आदमी किसी को धोखा
दे रहा है और इस तरह से दे रहा है,
जब वह ईर्ष्या से भर उठता है तब ऐसा दीखता है,
और जब सौदा तय करता है तो ऐसे करता है'

इस तरह तुम्हारे दिखावे में दिखाने का अन्दाज़ आएगा,
जो भी बनाकर तैयार किया गया है उसे पेश करने का, पूरा करने का
और लगातार आगे बढ़ने का अन्दाज़
सो दिखाओ कि जो तुम दिखाते हो वह ऐसा है जिसे रोज ही दिखाते हो
और पहले भी अक़सर दिखा चुके हो, और तुम्हारा नाटक
किसी बुनकर के बुनाई करने सरीखा, किसी शिल्पकार की कृति सरीखा होगा
और जो चीज़ दिखाने से जुड़ी है, जैसे कि देखने को
ज़्यादा आसान बनाने में तुम्हारी लगातार दिलचस्पी,
हर प्रसंग को हमेशा बेहतरीन ढंग से दिखाने की पूरी कोशिश,
उसे भी तुम्हें प्रकट करना चाहिए, तब यह सब
धोखा देना और सौदा करना और ईर्ष्या से भर उठना
रोज़मर्रा के कार्य-व्यापार का स्वभाव लिये हुए होगा,
मसलन खाना खाने, सुबह नमस्कार करने
और अपना काम करने सरीखा (आख़िर तुम काम ही तो कर रहे हो न?)
और मंच पर
अपनी भूमिकाओं के पीछे तुम्हें ख़ुद भी उन्हें अदा करने वालों
के रूप में दिखते रहना होगा।

(दिखाने को दिखाना ज़रूरी है)
अनु. : मंगलेश डबराल

•

...नक़्क़ाल
कभी भी स्वयं को पूर्णतः विलीन नहीं कर देता उसमें जिसकी वह नक़ल उतारता है
वह पूरी तरह से अपने को उस आदमी में क़तई नहीं बदल लेता
जिसकी वह नक़ल करता है। हमेशा ही

वह बना रहता है निरूपणकर्ता, न कि मूर्त रूप। जिस व्यक्ति को
प्रस्तुत किया जाता है वह
एक नहीं हो जाता उसके साथ—वह, नक़्क़ाल,
नहीं होता उसकी अनुभूतियों का साझीदार,
न ही भावनाओं का। वह जानता है
थोड़ा ही उसके बारे में। उसकी नक़ल में
कोई तीसरी चीज़ नहीं पैदा होती जो उसकी हो, जैसी कि वह होती, और
कोई अन्य और कोई एक और अन्य—एक तीसरा
एक अकेले दिल और
एक अकेले दिमाग़ के साथ।
अपनी सभी अनुभूतियों को अपने साथ रखे हुए,
वह तुम्हारे सामने होता है उस आदमी की नक़ल उतारता हुआ
और उसे प्रस्तुत करता हुआ
जो पराया है उसके लिए।

(रोज़मर्रा का थिएटर)
अनु. : सत्यव्रत

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की एक पूरी कविता और दूसरी कविता के कुछ अंश हमने यहाँ ख़ास तौर पर इसलिए उद्धृत किए हैं कि इनमें उन्होंने अपने एपिक थिएटर की कुछ प्रातिनिधिक विशिष्टताओं को और उसमें अभिनय के उसूलों को अत्यन्त कुशलता के साथ प्रस्तुत किया है।

एपिक थिएटर के ब्रेष्टीय सिद्धान्त की निर्माण-प्रक्रिया ब्रेष्ट के जीवन-दर्शन और विश्व-दृष्टिकोण की निर्माण-प्रक्रिया की सहवर्ती थी। यह समय था जब रूस में अक्टूबर क्रान्ति और गृहयुद्ध के बाद दुनिया का पहला मज़दूर राज्य अपने आधारों को मज़बूत बना रहा था, पूरे यूरोप में मज़दूर आन्दोलन उफ़ान पर था, रंचमंच और संगीत की दुनिया में भी प्रयोग और आन्दोलन का सरगर्म माहौल था, और साथ ही, जर्मनी में मध्यवर्ग के मानस में पैठा (पहले महायुद्ध का) सघन पराजय-बोध पूँजीवाद के सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी रूप—फ़ासीवाद के फलने-फूलने के आधार की भूमिका निभा रहा था। एक ओर सामाजिक-राजनीतिक जीवन के प्रश्नों से टकराते हुए और दूसरी ओर नाटक की सुदीर्घ जर्मन परम्परा और सामान्यतः पूरी यूरोपीय परम्परा का समाहार करते हुए, समकालीन जीवन और विचार के, नाटक में और रंगमंच पर कलात्मक सृजन की समस्याओं से जूझते हुए, तथा नाटक और रंगकर्म की उन्नीसवीं शताब्दी की बुर्जुआ जनवादी यथार्थवादी परम्परा से आमूलगामी विच्छेद की आवश्यकता को शिद्दत के साथ महसूस करते हुए, ब्रेष्ट ने अपना विश्व-दृष्टिकोण और अपनी नाट्य-सैद्धान्तिकी और रंग-सैद्धान्तिकी विकसित की।

एपिक थिएटर की सैद्धान्तिकी तीसरे दशक के उत्तरार्द्ध में अस्तित्व में आ चुकी थी। बाद के दो-ढाई दशकों के दौरान ब्रेष्ट के चिन्तन और प्रयोगों में इसके विकास, विस्तार और परिवर्द्धन का अनवरत क्रम जारी रहा। ब्रेष्ट के जीवन का अन्तिम दशक इस विकास-प्रक्रिया में एक नई मंज़िल बनकर आया। तीसरे दशक में, नई सैद्धान्तिकी का ढाँचा खड़ा करने की पहली मंज़िल पर ब्रेष्ट स्तानिस्लाव्स्की से, कमोबेश सीधे टकराते हैं और उनकी थीसिस की एण्टीथीसिस प्रस्तुत करते हैं। जीवन के अन्तिम दशक में उनकी रंग-सैद्धान्तिकी स्तानिस्लाव्स्की की पद्धति के कई सूत्रीकरणों के साथ तादात्म्य स्थापित करती दीखती है। यहाँ सिन्थेसिस की अवस्था सामने आती है। ब्रेष्ट एपिक थिएटर को अपूर्ण मानकर आगे बढ़ते हैं, एपिक थिएटर को वे ज़रूरी पूर्वाधार बताते हुए अब 'डायलेक्टिकल थिएटर' की बात करते हैं। एपिक थिएटर की पद्धति भी द्वन्द्वात्मक थी, पर ब्रेष्ट उसकी कतिपय एकांगिकताओं को दूर करने की कोशिश करते हैं—पहले रंग-व्यवहार

में और फिर सिद्धान्त में। यहाँ वे फिर स्तानिस्लाव्स्की से संवाद करते हैं, पर इस रूप में कि एक टिप्पणी लिखते हैं : *'कुछ चीज़ें जो स्तानिस्लाव्स्की से सीखी जा सकती हैं।'* यह 1952 की बात है। ब्रेष्ट का यह नया नज़रिया ही है जो उनके *लेख 'शेक्सपियर के 'कोरिओलेनस' नाटक के पहले दृश्य के अध्ययन'* में परिलक्षित होता है और यही उन्हें 'शॉर्ट ऑर्गनम' *का नया परिशिष्ट लिखने के लिए बाध्य करता है। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।*

"समाजवादी यथार्थवाद के आधार पर सृजित कोई कलाकृति मज़दूर वर्ग के दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती है और सभी अच्छे लोगों की ओर निर्देशित होती है।" कला-साहित्य की पक्षधरता की यह लेनिनवादी अवधारणा ब्रेष्ट के रंग-चिन्तन का प्रस्थान-बिन्दु थी। यहीं से आगे बढ़ते हुए ब्रेष्ट अपना यह महत्त्वपूर्ण सूत्र निगमित करते हैं कि यथार्थ को जब हम "हू ब हू" प्रस्तुत करते हैं तो निरपेक्ष ढंग से नहीं बल्कि "मजूदर वर्ग के नज़रिए से हूबहू" प्रस्तुत करते हैं। निरपेक्ष ढंग से प्रस्तुत करने की कोशिश असम्भव को सम्भव बनाने जैसी ही होगी और उसकी परिणति होगी—प्रकृतवाद, सर्वहारा वर्ग-दृष्टि से विचलन और मनोगतवाद। इसी तर्क का विस्तार फिर इस रूप में सामने आता है कि कला-साहित्य को, और एक उन्नत संश्लेषित कला के सर्वाधिक प्रभावी रूप में थिएटर को, सर्वोपरि तौर पर, मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जनता को शिक्षित करने का एक साधन होना चाहिए। इसके लिए सबसे अधिक ज़रूरी यह है कि थिएटर आम लोगों का मनोरंजन इस रूप में न करे कि उन्हें भावनात्मक आवेग में बहा ले जाए, बल्कि इस रूप में करे कि वे चीज़ों को आलोचनात्मक विवेक के साथ देखें और समाज के क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण की समझ विकसित करने की दृष्टि से सारभूत सजीव यथार्थ को आत्मसात करें। इस तरह ब्रेष्ट का यह रंग-चिन्तन एकदम मार्क्सवादी कला-दर्शन की गति-रेखा का अनुसरण करता हुआ, सामाजिक श्रम-विभाजन-प्रसूत इस प्रस्तरीकृत रूढ़िबद्ध धारणा की जड़ों पर चोट कर रहा था कि शिक्षा और मनोरंजन एकदम विलग चीज़ें होती हैं और यह कि यदि मनोरंजन करना हो तो तर्कबुद्धि को घर रखकर आओ, और शिक्षित होना हो, बहस-विचार करना हो तो "मज़ा लेने" की मानसिकता छोड़ गम्भीर हो जाओ। ब्रेष्ट एपिक थिएटर को **"वैज्ञानिक युग का थिएटर"** बताते हुए अपने प्रसिद्ध लेख *"ए शॉर्ट ऑर्गनम फॉर दि थिएटर'* में कहते हैं कि यह एक ऐसा थिएटर है जो *"स्वयं को उन लोगों के साथ जोड़ता है जो महान परिवर्तन लाने के लिए अनिवार्यतः सबसे अधीर हैं।"* उनके अनुसार एपिक थिएटर उन लोगों का सार्थक मनोरंजन करता है *"जो प्राकृतिक विज्ञानों से इतना दूर दिखाई देते हैं, पर वे इनसे दूर केवल इसलिए हैं क्योंकि उन्हें बलपूर्वक दूर रखा जाता है। इन तक पहुँच पाने के पहले उन्हें समाज का एक नया विज्ञान विकसित और लागू करना होगा। ये वैज्ञानिक युग की सच्ची सन्तानें हैं और अगर थिएटर को आगे बढ़ाना है तो केवल ये ही उसे गति दे सकते हैं।"* (शॉर्ट ऑर्गनम, पैरा-23)

एपिक थिएटर के मुक्तिकारी मिशन को स्पष्ट करते हुए ब्रेष्ट लिखते हैं : *"हमारे थिएटर को चीज़ों को समझने में होने वाले रोमाँच को प्रोत्साहित करना चाहिए और लोगों को यथास्थिति को बदलने में आनन्द लेने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। हमारे दर्शकों को केवल यही नहीं सुनना चाहिए कि प्रोमीथियस कैसे मुक्त हुआ, बल्कि उन्हें उसे मुक्त कराने के आनन्द में स्वयं को प्रशिक्षित भी करना चाहिए। उन्हें यह सिखाया जाना चाहिए कि वह हमारे थिएटर में आविष्कारक और अन्वेषक द्वारा अनुभव किए जाने वाले सन्तोष व आनन्द को महसूस करें, मुक्तिदायक के विजय के गौरव को महसूस करें।"*

(अर्न्स्ट फिशर की पुस्तक " दि नेसेसिटी ऑफ आर्ट' में उद्धृत, पृ. 10, पेंग्विन, 1970)

चिन्तन की इसी प्रक्रिया में ब्रेष्ट पारम्परिक नाटकीय थिएटर के सामने एक प्रतिपक्ष के रूप में उपस्थित होते हैं। 1930 में वे पारम्परिक नाटकीय थिएटर और एपिक थिएटर के बीच के अन्तर को इस रूप में दर्शाते हैं :

पारम्परिक नाटकीय थिएटर	एपिक थिएटर
कथावस्तु (प्लॉट)	आख्यान (नैरेटिव)
दर्शक को मंचीय व्यापार में शामिल कर लेता है और उसकी क्रियाशील होने की क्षमता ख़त्म कर देता है	दर्शक को प्रेक्षक बनाता है किन्तु उसकी क्रियाशील होने की क्षमता को जगाता है
उसमें ऐन्द्रिक अनुभूति उत्पन्न करता है	उसे निर्णय लेने को बाध्य करता है
अनुभव	दुनिया की तस्वीर
दर्शक किसी चीज़ में सम्पृक्त हो जाता है	दर्शक किसी चीज़ का सामना करने के लिए तैयार किया जाता है
सुझाव	वितर्क
सहजवृत्तिक अनुभूतियाँ सुरक्षित रखी जाती हैं	पहचान के बिन्दु तक लाया जाता है
दर्शक इसमें धँसा हुआ होता है और अनुभवों में भागीदारी करता है	दर्शक इसके बाहर खड़ा होता है, अध्ययन करता है
मनुष्य को, जैसा है वैसा मानकर चला जाता है	मनुष्य को जाँच-पड़ताल का विषय बनाता है
वह अपरिवर्तनीय है	वह परिवर्तनीय है और परिवर्तन करने में सक्षम है
तैयार चीज़ पर निगाहें होती हैं	प्रक्रिया पर निगाहें होती हैं
एक दृश्य दूसरे का निर्माण करता है	हर दृश्य अपनी हैसियत में होता है
विकास	मोन्ताज
एकरेखीय गति	वक्र रेखा में गति
क्रमविकासवादी नियतत्ववाद	छलाँग
मनुष्य एक स्थिर-बिन्दु के रूप में	मनुष्य एक प्रक्रिया के रूप में
चिन्तन स्वत्व का निर्धारण करता है	सामाजिक स्वत्व चिन्तन का निर्धारण करता है
अनुभूति	तर्कणा

('द मॉर्डन थिएटर इज़ द एपिक थिएटर', 'ब्रेष्ट ऑन थिएटर', लन्दन, 1964, पृ. 37)

इस तरह "वैज्ञानिक युग का" अपना वैचारिक या बौद्धिक थिएटर विकसित करते हुए ब्रेष्ट पारम्परिक थिएटर के दूसरे ध्रुव पर जा खड़े हुए। पारम्परिक थिएटर जो विचार, तर्कणा या चिन्तन की प्रक्रिया को जगाने, जगाए रखने और गति देने के बजाय दर्शकों को भावनात्मक प्रतिक्रियाओं की कड़ी में बाँध लेता था, उसे ब्रेष्ट ने "अरस्तूवादी" बताते हुए खारिज कर दिया। **अरस्तू** का कहना था कि अभिनेता का अभिनय ऐसा होना चाहिए कि दर्शक भावनात्मक रूप से संक्रमित हो जाए, उसका हृदय में वही भाव प्रतिध्वनित हो, उसके हृदय में वही भाव संचरित हो जाए, जिसका अपने अभिनय के द्वारा अभिनेता मूर्त रूप बना हुआ है। स्तानिस्लाव्स्की की प्रणाली अरस्तूवादी परम्परा से ही जुड़ती थी, हालाँकि विश्व-दृष्टिकोण और वर्ग-पक्षधरता के तौर पर उनकी अवस्थिति सर्वथा भिन्न थी। स्तानिस्लाव्स्की तदनुभूति (एम्पैथी) की बात करते थे यानी दर्शक उसी तरह से महसूस करे जैसे कि अभिनेता महसूस करता है। उसका अभिनय इतना प्रामाणिक,

---

"मैं इस उसूल को अपनाना चाहता था कि यह सिर्फ दुनिया की व्याख्या करने का नहीं बल्कि उसको बदलने का मामला है, और इसी चीज को मैं थिएटर में भी लागू करना चाहता था।"

—बेर्टोल्ट ब्रेष्ट (स्तानिस्लाव्स्की से अपनी भिन्नता बतलाते हुए)

ओजस्वी और जीवन्त हो कि उसका भावनात्मक आवेग दर्शक में संक्रमित हो जाए। इस तरह, स्तानिस्लाव्स्की की प्रणाली ऐसी अभिनय कला की, अभिनेता के ऐसे रंग-व्यवहार की वकालत करती थी जिसमें अभिनेता चरित्र के साथ सम्पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर ले। इस तरह, दर्शक की भावनाओं को, उसके भाव-संवेगों को एक सुनिश्चित ढंग से, एक सुनिश्चित मार्ग पर निर्देशित करते हुए थिएटर उसके विचार को निर्देशित करता है, उसकी चिन्तन-प्रणाली को प्रभावित-अनुकूलित करता है, ऐसा स्तानिस्लाव्स्की का मानना था।

कहा जा सकता है कि स्तानिस्लाव्स्की की प्रणाली यदि अरस्तू की रंग-सैद्धान्तिक परम्परा की कड़ी के रूप में सामने आती है तो ब्रेष्ट **दिदेरो** के प्रबोधन-थिएटर की रंग-सैद्धान्तिक परम्परा को आगे विस्तार देते प्रतीत होते हैं। ग्रीक त्रासदियों के युग के बाद नाटकों की दृष्टि से तो पुनर्जागरण-काल एक महान युगान्तरकारी युग था, लेकिन थिएटर के सैद्धान्तिक पहलू के विकास की दृष्टि से प्रबोधनकाल अधिक महत्त्वपूर्ण था जब यथार्थवादी दृष्टि और तर्कणा के सहमेल से युगान्तरकारी रंग-सैद्धान्तिक प्रतिपादन हो रहे थे और किसी को यदि इसका अग्रदूत कहा जा सकता है तो वह निस्सन्देह दिदेरो था जिसकी इस विषय पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति थी : *'पैराडॉक्स ऑफ दि ऐक्टर।'* उसके अनुसार, अभिनेता एक ज़बर्दस्त स्वांग करने वाला व्यक्ति होता है, एक प्रचण्ड छलिया होता है जो अनुभूतियों की सहायता से नहीं बल्कि मस्तिष्क के प्रयास से आँसू बहाता है। उसे नाटककार के विचारों का एक ठण्डा और शान्त वाहक होना चाहिए। चिन्तन हर चीज़ को निर्देशित करता है जिनमें अनुभूतियाँ भी शामिल हैं। ब्रेष्ट इसी विचार-परम्परा को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि एपिक थिएटर दर्शक को निर्णय लेने के लिए तैयार करता है, उसे घटना के ऐन सामने ला खड़ा करता है, उसे अध्ययन करने के लिए उकसाता और तैयार करता है, तथा उसकी तर्कणा को अपील करता है।

एपिक थिएटर की अवधारणा विकसित करने के साथ-साथ ब्रेष्ट उनका प्रयोगात्मक रूप भी अपने नाटकीय आख्यात्मक शैली के नाटकों में विकसित करते चल रहे थे। एपिक थिएटर के सिद्धान्त की निर्माण-प्रक्रिया के दौरान ही वे ऐसी संरचना वाला एक नाटक *'थ्री पेनी ऑपेरा'* (1928) लिख चुके थे। एपिक थिएटर की अवधारणा के सांगोपांग निरूपण के बाद उन्होंने *'दि फ्लाइट ऑफ लिण्डबर्ग्स'* (1929), *'ही हू सेज़ यस ऐण्ड ही हू सेज़ नो'* (1929-30), *'दि मेज़र्स टेकेन'* (1930), *'दि एक्सेप्शन ऐण्ड दि रूल'* (1930) और *'दि होरेशियन्स ऐण्ड दि क्यूरिएशियन्स'* (1934) जैसे नाटक लिखे जो पेशेवर थिएटर कम्पनियों के अतिरिक्त मज़दूरों की शौकिया मण्डलियों द्वारा भी खेले गये। *'सेण्ट जॉन ऑफ दि स्टॉकयार्ड्स'* (1932) और **मक्सिम गोर्की** के उपन्यास पर आधारित *'मदर'* (1933) की संरचना भी पूरी तरह से एपिक थिएटर की अवधारणा पर ही आधारित थी।

अपने इन नाटकों में आख्यानात्मक ढाँचे की निर्मिति में ब्रेष्ट ने कई तकनीकें अपनाईं—कहीं मंच पर कथावाचक की मौजूदगी, कहीं दृश्यों के पूर्व व्याख्यात्मक पद्यांश, तो कहीं दृश्यों की पूर्व सूचना देते हुए बैनर। ऐसा करते हुए ब्रेष्ट नाटक में होने वाले ऐक्शन को पहले ही बताकर सस्पेंस के उस आकर्षण को भंग कर देते थे, जो अरस्तूवादी शैली का एक अभिन्न अंग हुआ करता था। ऐक्शन के साथ दर्शक के पारम्परिक तादात्म्य को तोड़ डालने के लिए ब्रेष्ट ने **अलगाव-प्रभाव (एलियनेशन इफ़ेक्ट)** की विशिष्ट शैली और तकनीक विकसित की जिसका मूल मकसद था मंच पर जारी क्रियाओं-प्रक्रियाओं से दर्शक की एक आलोचनात्मक दूरी बनाए रखना। इसके लिए ऐसे बिम्ब-विधान का उन्होंने प्रयोग किया जो सुपरिचित चीज़ों को भी सहसा दर्शक के लिए नया और विचित्र बना देता है और वह चौंककर उसके महत्त्व को पहचानने लगता है। एलियनेशन इफ़ेक्ट को परिभाषित करते हुए ब्रेष्ट लिखते हैं : *"एक ऐसी प्रस्तुति जो पार्थक्य (अलगाव-प्रभाव) पैदा करती है, वह होती है जिसमें हम उसके विषय को पहचान सकते हैं, लेकिन साथ ही वह हमें अपरिचित सा लगता है।"* (शार्ट ऑर्गनम, पैरा-42)

अलगाव-प्रभाव की तकनीक के प्रयोग के बारे में वे आगे लिखते हैं : *"किसी चीज़ को अपरिचित बनाने का एक सरल तरीक़ा प्रथाओं और नैतिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित है। किसी का आना, किसी शत्रु की*

प्रस्तुति का 'ट्रीटमेण्ट', प्रेमियों की मुलाक़ात, राजनीतिक या व्यापारिक समझौता—इन सबको इस तरह चित्रित किया जा सकता है जैसे वे सामान्य सिद्धान्तों के उदाहरण मात्र हों। इस तरह दिखाए जाने पर वह विशिष्ट और एक ही बार हुई घटना परेशान करने वाली लगने लगती है क्योंकि वह ऐसी दीख पड़ती है मानो कोई आम बात हो, कोई ऐसी बात हो जो सिद्धान्त रूप ले चुकी है। जैसे ही हम यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या वास्तव में इसे ऐसा ही होना चाहिए था, या इसे किस तरह होना चाहिए था, हम उस घटना को अपरिचित के रूप में देख रहे होते हैं।" (शार्ट ऑर्गनम, पैरा-67)

अलगाव-प्रभाव उत्पन्न करने में अभिनेता की भूमिका को रेखांकित करते हुए ब्रेष्ट कहते हैं कि उसे *"वह सब कुछ छोड़ देना पड़ेगा जो उसने अपने द्वारा निभाए जा रहे पात्र के साथ दर्शक का तादात्म्य स्थापित कराने के बारे में सीखा है। दर्शकों को पूरी तरह तन्मय कर देने के प्रयास में उसे ख़ुद ही तन्मय नहीं हो जाना चाहिए।"* आगे वे कहते हैं कि *"यदि वह (अभिनेता) किसी जुनूनी आदमी का किरदार अदा कर रहा है तो उसे ख़ुद ही जुनूनी नहीं लगना चाहिए क्योंकि यदि ऐसा होगा तो दर्शक कैसे समझेगा कि किरदार पर काहे का जुनून सवार है!"* (शॉर्ट ऑर्गनम, पैरा-47)

इसी सिलसिले में ब्रेष्ट आगे **'जेस्टस'** की अवधारणा विकसित करते हैं जिसका तात्पर्य **जॉन विलेट** इन शब्दों में प्रकट करते हैं : "भंगिमा (जेश्चर) और सार (जिस्ट), मुद्रा (एटीट्यूड) और दृष्टिकोण (व्यू प्वाइण्ट) साथ-साथ विकसित करना : दो लोगों के बीच सम्बन्ध के एक पहलू का अलग से अध्ययन करके उसकी बुनियादी चीज़ें तय करना और उसे शारीरिक या मौखिक रूप से अभिव्यक्त करना।" 'जेस्टस' के बारे में ब्रेष्ट विस्तृत विवेचना के बाद यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं : *"ऐसी सामग्री को विखण्डित करके एक के बाद एक 'जेस्टस' में ढालते हुए अभिनेता पहले अपने कथानक में महारत हासिल करने के ज़रिए अपने किरदार में महारत हासिल कर लेता है। पूरे दृश्यबन्ध पर ठीक से काम करने के बाद ही वह मानो एक छलाँग में अपने किरदार को, उसकी सभी विशिष्ट ख़ूबियों के साथ, पकड़ सकता है।* (शार्ट ऑर्गनम, पैरा-64)

ब्रेष्ट पारम्परिक थिएटर के प्लॉट (कथावस्तु) को आख्यान से विस्थापित करते हैं, लेकिन कहानी (स्टोरी) को नाटक के *"प्रदर्शन की धड़कन"* और *"थिएटर की बड़ी कार्रवाई"* मानते हुए इस रूप में उसे परिभाषित करते हैं : *"...घटनाओं की वह पूरी संरचना जो प्रत्येक 'जेस्टस' के साथ, सम्प्रेषणों और संवेदों को समेटते हुए दर्शक का मनोरंजन करती है।"* (शॉर्ट ऑर्गनम, पैरा-65)

एपिक थिएटर की अवधारणा कथानक में उसकी संघटक, अलग-अलग घटनाओं को इस तरह से जोड़ने पर बल देती है कि जोड़ आसानी से नज़र आ जाएँ और प्रसंगों में एक उचित क्रम हो ताकि अलग-अलग घटनाओं के विशिष्ट महत्त्व पर दर्शक का ध्यान जाए तथा उसे निर्णय पर पहुँचने का पूरा मौक़ा मिले। इस ढाँचागत संरचना को लोकप्रियता का पुट देने के लिए ब्रेष्ट ने अख़बारी शैली, लोकगान और दृष्टान्त के मौलिक प्रयोगों से लेकर संगीत के इस्तेमाल तक पर विशेष ज़ोर दिया। उनका कहना था कि परम्परागत थिएटर में संगीत पूरक का काम करता है, पाठ को सशक्त बनाता है और चित्रण करता है जबकि एपिक थिएटर में संगीत की उपस्थिति सशक्त टिप्पणी के रूप में होती है, यह पाठ को खोलता है, तथा एक अवस्थिति अपनाकर विश्लेषण और आलोचना प्रस्तुत करता है।

"ब्रेष्ट के विचार से, स्तानिस्लाव्स्की से हमें केवल यथार्थ का ंत्रिम पुनर्निर्माण ही हासिल हो सकता है, ब्रेष्ट दृढ़प्रतिज्ञ हैं 'चीजों को उसी रूप में दिखाने के लिए जैसी कि वे हैं।' प्रीमियम अभी भी 'सत्य' पर ही है, लेकिन परिभाषाएँ बदल दी गयी हैं : 'यथार्थवादी' का अर्थ अब यह हो जाता है कि जो 'समाज के कारण-कार्य-सम्बन्धात्मक तंत्र को अनावृत्त करे'।"

—शोमित मित्र

1930 में ब्रेष्ट जब पारम्परिक थिएटर से एपिक थिएटर की तुलनात्मक भिन्नताएँ निरूपित कर रहे थे तो इस रूप में **स्तानिस्लाव्स्की** के रंग-सिद्धान्तों से टकरा रहे थे कि उनकी प्रणाली में ही परम्परागत थिएटर का विकास अपने चरम रूप में मूर्त हुआ था।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यूरोप में स्वच्छन्दतावादी थिएटर की धारा प्रधान थी। भावावेगात्मकता, प्रगीतात्मकता और विद्रोह की स्पिरिट इसकी विशिष्टता थी। शताब्दी के मध्य में उपन्यास और नाटकों के साथ-साथ थिएटर में जिस आलोचनात्मक यथार्थवादी शैली का विकास हुआ, वह स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के साथ जैविक रूप से अन्तर्सम्बन्धित थी। यह मुख्यतः **गोगोल, ओस्त्रोव्स्की, चेखव, इब्सन** और **जॉर्ज बर्नार्ड शॉ** के नाटकों पर आधारित थी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में क्रान्तिकारी जनवादी विचारों से समृद्ध होकर, जिस तरह आलोचनात्मक यथार्थवादी गद्य और ख़ासकर उपन्यास रूस में सर्वाधिक प्रखर, ओजस्वी और उन्नत रूप में सामने आए, ठीक वैसा ही नाटकों और थिएटर के साथ भी हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रूसी यथार्थवादी थिएटर अपने शिखर पर था और इसके नेता थे **मास्को आर्ट थिएटर** के संस्थापक **स्तानिस्लाव्स्की** और **नेमिरोविच-दोंचेंको।**

स्तानिस्लाव्स्की कला की दुनिया में एक जुझारू भौतिकवादी थे, लेकिन एक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नहीं। यथास्थिति की उनकी आलोचना आनुभविक थी। वे राजनीतिक सक्रियता से एकदम अलग थिएटर की दुनिया के आदमी थे लेकिन उनका व्यक्तित्व और चिन्तन क्रान्तिकारी जनवादी आन्दोलन के उस माहौल से प्रभावित था जिसने रूस में मार्क्सवादी चिन्तन और उससे प्रभावित सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों के लिए नर्सरी का काम किया था। स्तानिस्लाव्स्की के थिएटर की क्लासिक समतुल्यता या सादृश्यता **चेखव** के नाटकों से निरूपित की जा सकती है। समाजवादी आन्दोलन के प्रति उनका रुख भी वैसा ही था जैसा **चेखव** का। गोर्की ने *'दुश्मन'* और *'रसातल'* जैसे अपने जिन नाटकों में सर्वहारा के जीवन पर बुर्जुआ जीवन के अमानवीकारी प्रभावों को और भविष्य के नये नायकों को प्रस्तुत किया, उनकी अन्तर्वस्तु नई थी, लेकिन शिल्प और संरचना की दृष्टि से ये नाटक चेखव के नाटकों की ही अगली कड़ी थे, न कि उनसे आमूलगामी रूप से भिन्न थे। उल्लेखनीय है कि इन नाटकों का ऐतिहासिक रूप से प्रसिद्ध मंचन स्तानिस्लाव्स्की के मास्को आर्ट थिएटर ने ही किया था। कहा जा सकता है कि गोर्की की प्रारम्भिक समाजवादी यथार्थवादी रचनाओं के जो अन्तरविरोध थे (वे मुख्यतः क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावादी रचनाएँ थीं) और क्रान्तिकारी बुर्जुआ यथार्थवाद और क्रान्तिकारी जनवाद के सीमान्त पर खड़े स्तानिस्लाव्स्की की जनपक्षधर अवस्थिति के जो अन्तरविरोध थे, इत्तफाक से (या यह महज़ एक इत्तफाक नहीं भी था) उनके कुलाबे आपस में भिड़ गये। इस तरह नाटक और मंच-प्रस्तुति के बीच एक बेहतरीन तादात्म्य स्थापित हो गया।

एक अनुभवसिद्ध भौतिकवादी के रूप में स्तानिस्लाव्स्की के विचारों में बहुतेरी विसंगतियाँ और त्रुटियाँ मौजूद थीं, पर मुख्य बात यह थी (और यहीं पर ब्रेष्ट से उनका सामीप्य भी था) कि कला की सामाजिक सोद्देश्यता, सामाजिक प्रकार्यों तथा सौन्दर्य के भौतिक स्रोत के बारे में उनके विचार प्रगतिशील थे। कला में यथार्थवाद-विरोधी धाराओं से लड़ते हुए उन्होंने प्रत्ययवादी सौन्दर्यशास्त्र की इस प्रस्थापना का खण्डन किया कि मनुष्य कलात्मक सृजन के "रहस्यों" का उद्घाटन और सृजनात्मक प्रक्रिया के सार का ज्ञान नहीं कर सकता है। अज्ञेयवाद का विरोध करते हुए, भौतिकवादी संज्ञान सिद्धान्त की बुनियादी अपेक्षाओं के अनुरूप स्तानिस्लाव्स्की की "प्रणाली" यह स्थापना रखती है कि कलाकार के लिए जीवन को जानना ही नहीं, बल्कि उसका मूल्यांकन करना भी आवश्यक है। कलाकारों को जीवन के व्यापकतम अवबोधन की राय देते हुए स्तानिस्लाव्स्की लिखते हैं : *"जो कलाकार परिवेशी जीवन को देखने और उसकी खुशियों तथा तकलीफ़ों को अनुभव करने पर भी उसकी गहराइयों, जड़ों में नहीं जाता और उसके पीछे चरम नाटकीयता तथा शौर्य भावना से ओत-प्रोत महती घटनाओं को नहीं देखता, वह कलाकार सच्चे सृजन के लिए मृत है। ताकि कला के लिए जिया जा सके, कलाकार को परिवेशी जीवन के मर्म में पैठना ही होगा, अपने*

मस्तिष्क पर ज़ोर देना ही होगा, ज्ञान की जो कमी है उसे पूरा करना ही होगा और अपने नज़रिए में परिवर्तन लाना ही होगा। यदि कलाकार अपने सृजन को बेजान नहीं बनाना चाहता, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह जीवन को कूपमण्डूक की भाँति न देखे। कूपमण्डूक कलाकार सच्चे अर्थों में कलाकार नहीं हो सकता।"

यथार्थ के संज्ञान और जीवन-स्थितियों के कच्चे माल से कलात्मक पुनर्सृजन की पद्धति की चर्चा करते हुए स्तानिस्लाव्स्की ने यह सूत्र प्रतिपादित किया : **"बुद्धि—इच्छा—अनुभूति।"** बाद में उन्होंने बुद्धि को दो भाग में विखण्डित कर दिया—कल्पना और विचार, तथा इच्छा और अनुभूति को आपस में मिला दिया। अब उनका संशोधित सूत्र था : **"कल्पना—विचार—इच्छानुभूति।** देखा जाए तो इन दोनों सूत्रों में कोई बुनियादी अन्तर नहीं है।

मंच पर जो प्रस्तुत होता है, वह भी वस्तुगत यथार्थ ही है, फ़र्क़ सिर्फ़ यह है कि यह जीवन के वस्तुगत यथार्थ का कलात्मक पुनर्सृजन है। इस वस्तुगत यथार्थ के संज्ञान के लिए भी, क़ायदन, वही सूत्र लागू होना चाहिए जो जीवन के यथार्थ के संज्ञान के लिए, यानी : "बुद्धि—इच्छा—अनुभूति।" लेकिन यहीं पर स्तानिस्लाव्स्की का अन्तरविरोध सामने आता है। वे तदनुभूति की बात करते हैं, थिएटर में दर्शक की भावनाओं को एक ख़ास ढंग से (जहाँ अभिनेता मंचीय बिम्ब का स्रष्टा होने के साथ ही स्वयं में इस बिम्ब की सामग्री होता है, "मनोशारीरिक तंत्र" होता है, स्वयं में आंगिक बिम्ब होता है) ख़ास दिशा में निर्देशित करते हुए उसके सुनिश्चित विचारों के निर्माण की बात करते हैं। यानी उनकी "प्रणाली" में ऐक्शन अनुभूति को जन्म देता है और अनुभूति विचार को या चिन्तन को उकसाती है। यानी मंच पर मंचित यथार्थ के संज्ञान का सूत्र बना : "अनुभूति—विचार।" अपने संज्ञान सिद्धान्त को यहाँ स्तानिस्लाव्स्की ने स्वयं उलट दिया। इसका प्रतिवाद करते हुए ब्रेष्ट जो सूत्र देते हैं वह है : **"विचार—विचार।"** अनुभूति की जगह उनका पूरा ज़ोर तर्कणा पर है, विचार पर है। ठीक इसी समय एक तीसरा सूत्र हमें **आल्बेयर कामू** के नाटकों और उनके मंचन में दीखता है जो अन्ततोगत्वा अस्तित्ववादी निष्पत्तियों में स्खलित हो जाता है। वह सूत्र है : **"विचार—अनुभूति।"**

यहाँ एक और उल्लेख ज़रूरी है जो कि प्रायः नहीं किया जाता। स्तानिस्लाव्स्की के ही स्कूल से दो शिष्य ऐसे निकले, जिन्होंने मार्क्सवादी अवस्थिति अपनाते हुए, कलात्मक यथार्थ के वैचारिक-सौन्दर्यात्मक संज्ञान के सन्दर्भ में अपने आचार्य से पृथक और काफ़ी हद तक प्रतिवादी अवस्थिति अपनाई। ये थे महान सोवियत नाट्य निर्देशक **मेयरहोल्ड** और **वाख़्तांगोव।** स्तानिस्लाव्स्की की प्रणाली जहाँ अभिनेता और अभिनीत चरित्र के बीच सम्पूर्ण तादात्म्य या एकात्मकता की बात करती थी वहीं मेयरहोल्ड और वाख़्तांगोव ने अभिनेता और उसकी भूमिका के बीच "एलियनेशन" की अवधारणा प्रस्तुत की। उनका कहना था कि अभिनेता और अभिनीत चरित्र के बीच एक दूरी बनी रहनी चाहिए ताकि अभिनेता अपने द्वारा मंच पर प्रस्तुत चरित्र के बारे में अपना रुख प्रकट कर सके। आगे चलकर वाख़्तांगोव ने अपनी कुछ मंच-प्रस्तुतियों में ऐसा अनूठा प्रयोग किया जिसमें अभिनेता पारी-पारी से अभिनीत चरित्र से एकरूप हो जाता था और फिर दूरी ले लेता था। बहरहाल, सूक्ष्म विस्तार में जाने पर, कई भिन्नताओं के बावजूद, समग्रतः और सापेक्षतः, मेयरहोल्ड और वाख़्तांगोव की अवस्थिति ब्रेष्ट की अवस्थिति के निकट थी तथा स्तानिस्लाव्स्की से प्रतिवादी दूरी लिए हुए थी।

"हमें इस क़िस्म के थिएटर की ज़रूरत है, जो मानव-सम्बन्धों के विशिष्ट ऐतिहासिक क्षेत्र के अन्तर्गत सम्भव अनुभूतियों, अन्तर्दृष्टियों और मनोवेगों को उद्घाटित मात्र करने का काम ही न करे, बल्कि उन विचारों एवं अनुभूतियों को भी प्रयोग में लाये और प्रोत्साहित करे जो स्वयं इस क्षेत्र को ही बदल डालने में सहायक हों।"

—बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

अब हम यह देखें कि ब्रेष्ट स्तानिस्लाव्स्की का प्रतिवाद करते हुए कहाँ और कैसे संवाद की स्थिति में आते हैं, यानी एण्टीथीसिस से सिन्थेसिस की मंज़िल तक की उनकी यात्रा कैसे सम्पन्न होती है! वैचारिक-कलात्मक संघर्षों और उनमें समय-समय पर उत्पन्न होने वाले अतिरेक या एकांगिकता के विचलनों को समझने के लिए उन विवादों के देश-काल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित होना बहुत ज़रूरी होता है। यह याद रखना होगा कि ब्रेष्ट जिस समय भावना और अनुभूति के बरक्स विवेक और तर्कबुद्धि को रखते हुए जिरह कर रहे थे, यह वह समय था जब जर्मनी में फ़ासिस्ट लोगों की स्वतःस्फूर्त भावना और अन्ध सहजवृत्ति को जनोत्तेजक ढंग से उभाड़ने का काम कर रहे थे। यह फ़ासिस्ट विचार लोकप्रिय कला-रूपों के साथ ही, पद्धति के रूप में उन्नत कलात्मक सृजन के सीमान्तों में भी पैठा हुआ था। ब्रेष्ट ने इस विचारधारात्मक संघर्ष में फ़ासिस्ट अवस्थिति के विरोध में यह अवस्थिति अपनाई कि कला भावनाओं से सम्बन्ध रखने के बजाय सीधे मनुष्य के विचारों से सम्बोधित होती है और यह कि मनोरंजन का सम्बन्ध भावना से नहीं होता, चीज़ों की वास्तविकता को जानने का अनुभव ही सबसे वास्तविक मनोरंजन है।

अपने विचारों के इस दौर में ब्रेष्ट ने जो नाटक लिखे, उनमें सापेक्षतः, एक सरलीकृत योजनाबद्धता के तहत सुनिश्चित राजनीतिक अवस्थितियों के प्रवक्ता पात्रों के द्वन्द्वात्मक टकराव दर्शक के सामने आते थे। और दूसरी बात यह कि अपने शैक्षिक प्रकार्य को पूरा करते हुए, ये नाटक सुनिश्चित भाव-संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ भी उत्पन्न करते थे। यह परिणति ब्रेष्ट की मान्यता से बहुत मेल नहीं खाती थी। जर्मनी में नात्सी आधिपत्य के बाद, अपने निर्वासन के दिनों में, यानी 1933 से 1947 के बीच, ब्रेष्ट के नाटकों की संरचना और रंग-व्यवहार में (ब्रेष्ट नाट्य-निर्देशन तो नहीं करते थे पर अपनी सभी नाट्य-प्रस्तुतियों और उनकी तैयारी की प्रक्रिया से नज़दीकी से जुड़े रहते थे) महत्त्वपूर्ण बदलाव आते दीखते हैं। द्वन्द्व की सरलीकृत योजनाबद्धता को अब संश्लिष्ट द्वन्द्वात्मकता विस्थापित कर देती है, राजनीतिक-सामाजिक आग्रह प्रत्यक्ष होने के बजाय गहरे, गहन और व्यापक होते दीखते हैं और चरित्रों के आन्तरिक, मनोगत द्वन्द्वों का तनाव भी मंच पर प्रकट होने लगता है। इस प्रायोगिक परिणति के सैद्धान्तिकीकरण का काम तो ब्रेष्ट ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में करना शुरू किया, लेकिन उनकी वैचारिक अवस्थिति में परिवर्तन के संकेत पहले ही मिलने लगे थे। 1930 में पारम्परिक थिएटर से एपिक थिएटर की तुलना करते हुए उन्होंने अनुभूति के बरक्स तर्कणा को रखा था। वही ब्रेष्ट 1949 में अपने सिद्धान्त की ऐसी किसी व्याख्या के प्रति सावधान करते हैं जो भावना या अनुभूति को पूरी तरह खारिज करती हो। वे लिखते हैं : *"हालाँकि कई बार ऐसा कहा जाता है, पर यह सही नहीं है कि एपिक थिएटर (जो क़तई अनाटकीय थिएटर नहीं है, जैसा कि प्रायः कहा जाता है) यह नारा देता है : 'तर्क इस पाले में, भावना (संवेदना) उस पाले में।' यह किसी भी तरह भावना को रद्द नहीं करता। न्यायभावना, आज़ादी की चाह और न्यायसंगत क्रोध आदि को खारिज करने से तो यह इतनी दूर है कि यह न केवल उनकी उपस्थिति को मानकर चलता है बल्कि उन्हें जगाने और मज़बूत करने का काम करता है।"* ('फ़ॉर्मल प्रॉब्लम्स एराइज़िंग फ़्रॉम दि थिएटर्स' न्यू कण्टेण्ट,' 'ब्रेष्ट ऑन थिएटर', लन्दन, 1964, पृ. 227)

ब्रेष्ट अब अनुभूति को खारिज नहीं करते, बल्कि इस रूप में अपनी बात कहते हैं : *"वह समय गुज़र गया है जब हमारे परिवेशी विश्व को रंगमंच के माध्यमों से मात्र अनुभूति के तौर पर चित्रित किया जाता था। चित्रण अनुभूति बने, इसके लिए उसे सत्यपरक होना चाहिए।"* और इस "सत्यपरकता" के लिए वे मंच पर अनुभूतियों को विचार की विशिष्ट शक्ति से मण्डित करने की बात करते हैं। यानी ब्रेष्ट की नई सन्तुलित अवस्थिति यह बनती है कि विचार भावना को जन्म देता है। विचार अनुभूति बन जाता है। यानी ब्रेष्ट अब विचार और अनुभूति के द्वन्द्वात्मक संश्लेषण की बात करते हैं। "विचार—विचार" की जगह अब उनका सूत्र इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है—"विचार और भावना का द्वन्द्व—विचार और भावना का संश्लेषण।" ब्रेष्ट की यह विचार-यात्रा पहले (निर्वासन काल के दौरान ही उनके रंगमंचीय सृजनात्मक

कार्यकलाप के दौरान दीखने लगती है। फिर जर्मनी लौटने के बाद, 1947 से 1956 के बीच वे इसे सूत्रबद्ध करने का काम करते हैं। आगे हम देखेंगे कि ब्रेष्ट जिस समय विचार और अनुभूति के द्वन्द्वात्मक अन्तर्सम्बन्धों की तथा प्रस्तुति और तदनुभूति के बीच के द्वन्द्वात्मक अन्तर्सम्बन्धों की बात कर रहे थे, उसी समय वे इस सवाल से भी जूझ रहे थे कि स्तानिस्लाव्स्की की परम्परा से क्या लेना है और किन तत्त्वों का निषेध करना है। और यही उनके जीवन का वह कालखण्ड है जब वह सोच रहे थे कि एपिक थिएटर की जगह द्वन्द्वात्मक थिएटर का नाम उनके थिएटर के लिए अधिक उपयुक्त रहेगा।

यद्यपि, ब्रेष्ट अनुभूति और तर्कणा के द्वन्द्वात्मक संश्लेषण की बात चौथे दशक के अन्त से सोचने लगे थे, लेकिन, विशेष तौर पर 1950 के बाद के लेखन में इसका उल्लेख विभिन्न रूपों में देखने को मिलता है। शेक्सपियर के नाटक *'कोरिओलेनस'* के अपने द्वारा किए गए रूपान्तरण के साथ दिए गए निर्देश में वे तदनुभूति को खारिज करने के बजाय उससे आगे जाने की बात करते हैं : *"नायक और त्रासदी के तत्त्व का आनन्द लेने के लिए हमें नायक के साथ तदनुभूति की भावना से आगे जाना होगा... हमें कम से कम केवल कोरिओलेनस की ही नहीं बल्कि रोम की और ख़ासकर प्लेबियंस की भी त्रासदी को 'अनुभव' करना होगा।"* (ब्रेष्ट : 'प्लेज़', वाल्यूम 9, 'कोरिओलेनस : टेक्स्ट्स बाइ ब्रेष्ट', पृ. 382-83, अनु. : राल्फ मैनहीम और जॉन विलेट)

पुनः 1953 के अपने एक संक्षिप्त संवाद (*'कन्वर्सेशन अबाउट बीइंग फ़ोर्स्ड इण्टू एम्पैथी',* ब्रेष्ट ऑन थिएटर', पूर्वोद्धृत, पृ. 270-271) में भी ब्रेष्ट मंच पर प्रस्तुत किसी घटना-विशेष के दोहरे पहलुओं की बात करते हैं और कहते हैं कि उन्हें पहचानने और महसूस करने से ही वास्तविक भावना उत्पन्न होती है। वे तदनुभूति में, तथा मंच पर प्रस्तुत भावना से दूरी लेने में—दोनों में ही सक्षम होने की बात करते हैं ओर यह कहते हुए सहसा वे वाख़्तांगोव के निकट खड़े दिखाई देते हैं।

इस दृष्टि से *'शॉर्ट ऑर्गनम'* के उन परिशिष्टों को भी देखना महत्त्वपूर्ण होगा जो ब्रेष्ट की मृत्यु के बाद उनके कागजात में बीस अलग-अलग पन्नों पर दर्ज़ मिले और जिन्हें उन्होंने सम्भवतः अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में लिखा था। यहाँ वे (शॉर्ट ऑर्गनम के पैरा तीन के परिशिष्ट में) सीखने और आनन्द के बीच के अन्तरविरोध को सही ढंग से समझने पर बल देते हैं और कहते हैं कि जब उत्पादकता पूरी तरह से मुक्त हो जाएगी, केवल तभी समझना आनन्द में बदल जाएगा और आनन्द समझने में, यानी इन दोनों के बीच का अन्तरविरोध हल हो जाएगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रेष्ट इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि मार्क्सवाद और थिएटर की समझदारी मात्र के आधार पर किसी नाट्य-प्रस्तुति में इस अन्तरविरोध को हल नहीं किया जा सकता जब तक कि जीवन में उसका वस्तुगत आधार न तैयार हो (यानी समाजवाद की उन्नत अवस्था न आ चुकी हो और उत्पादकता पूर्णतः निर्बन्ध न हो चुकी हो)। पुनः *'शॉर्ट ऑर्गनम'* के पैरा 53 के परिशिष्ट में वे बताते हैं कि प्रस्तुति के दौरान चरित्र के साथ आत्म-तादात्म्य के विरुद्ध वे चेतावनी इसलिए देते हैं कि ऐसा करने की हरचन्द कोशिश के बावजूद यह पूरी तरह सम्भव नहीं हो पाता और जो नतीजा सामने आता है, वह होता है : अनुभव और चित्रण के बीच, तदनुभूति और प्रदर्शन के बीच तथा औचित्य-प्रतिपादन और आलोचना के बीच अन्तरविरोध। ब्रेष्ट के अनुसार, अभिनेता के यदि उपरोक्त निर्देश न दिया जाए तो अभिनय (प्रदर्शन) और अनुभव (तदनुभूति) के बीच के अन्तरविरोध को देखकर वह यह मान बैठता है कि अभिनेता के काम में, इनमें से कोई एक ही अभिव्यक्त हो सकता है। (*'अपेण्डिसेज़ टु दि शॉर्ट ऑर्गनम'*, 'ब्रेष्ट ऑन थिएटर', पूर्वोद्धृत, पृ. 276-277)

ब्रेष्टियन थिएटर के विशेषज्ञ और उनकी रचनाओं के प्रसिद्ध सम्पादक जॉन विलेट इस बात की ताईद करते हैं कि अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में ब्रेष्ट अपने पूरे सिद्धान्त की 'ओवरहॉलिंग' कर रहे थे। एपिक थिएटर की अवधारणा को वे छोड़ या बदल नहीं रहे थे, बल्कि उसे आगे विकसित कर रहे थे। आगे की यात्रा में एपिक थिएटर पूर्वशर्त या आधार-बिन्दु का काम कर रहा था। पारम्परिक बुर्जुआ थिएटर के विरुद्ध संघर्ष में कारगर भूमिका निभाने के बाद एपिक थिएटर की अवधारणा अब ब्रेष्ट को बहुत औपचारिक

(रूपगत पक्षों पर अधिक ज़ोर देने वाली) लगने लगी थी और अब वे नया नाम प्रस्तावित कर रहे थे—**द्वन्द्वात्मक थिएटर**। **मैनफ्रेड वेकवर्थ** ने लिखा है कि जीवन के अन्तिम वर्षों में ब्रेष्ट अपने थिएटर को प्रायः "द्वन्द्वात्मक थिएटर" ही कहा करते थे और कहते थे कि *"मंच पर कोई कहानी बयान करना, ठीक उसी समय, घटनाओं को 'डायलेक्टिसाइज़' करना भी है।"* ब्रेष्ट के चिन्तन के इस नये दौर के बारे में, ऊपर उल्लिखित *'शॉर्ट ऑर्गनम' के परिशिष्ट* वास्तव में एक कामकाजू अन्तरिम रिपोर्ट के समान प्रतीत होते हैं। उल्लेखनीय है कि 1956 में ब्रेष्ट ने अपने सैद्धान्तिक लेखों का जो अन्तिम संकलन तैयार किया था (जो उनकी मृत्योपरान्त प्रकाशित हुआ) उसका नाम उन्होंने रखा था : *'थिएटर में द्वन्द्ववाद।'* इसकी भूमिका के प्रारम्भ में ही उन्होंने स्पष्ट किया है कि जिस तरह का थिएटर उनका लक्ष्य था और जो अंशतः प्रयोग में भी था, उसके लिए "एपिक थिएटर' सम्बोधन बहुत अधिक औपचारिक है। उनके अनुसार, एपिक थिएटर मात्र एक पूर्वाधार है क्योंकि इसमें उस समाज की उत्पादकता और परिवर्तनशीलता अन्तर्निहित नहीं है, जहाँ से उसका थिएटर आनन्द का मुख्य तत्त्व अर्जित करता है। (ब्रेष्ट ऑन थिएटर, पूर्वोद्धृत, पृ. 281-282)

ब्रेष्ट के जीवन का यही दौर था जब वे स्तानिलाव्स्की के प्रति अधिक सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाते हुए, इस बात की नये सिरे से पड़ताल करते हैं कि स्तानिस्लाव्स्की की 'पद्धति' से क्या-क्या सीखा जा सकता है। यद्यपि मूल विचारधारात्मक अवस्थिति और आधारभूत पद्धतिशास्त्रीय प्रश्न पर मतभेद बरकरार रहता है, स्तानिस्लाव्स्की के स्वाभाविकता के आग्रह में निहित प्रकृतवादी विच्युतियों की उनकी आलोचना भी मौजूद रहती है, लेकिन विचार और भावना के संश्लेषण के बारे में सोचते हुए ब्रेष्ट को तदनुभूति-उत्पादन के विशेषज्ञ और अपनी 'अंगज व्यापार विधि' से स्वयं अभिनेता को ही मंच पर आंगिक बिम्ब में रूपान्तरित कर देने वाले स्तानिस्लाव्स्की से कुछ चीज़ें सीखने की ज़रूरत महसूस होती है।

अपने रंग-चिन्तन के प्रारम्भिक वर्षों में, जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, ब्रेष्ट कई बुनियादी प्रश्नों पर स्तानिस्लाव्स्की के एकदम आमने-सामने खड़े होते हैं। चौथे दशक में, जब उनके चिन्तन में नये संक्रमण की शुरुआत होती है तो ब्रेष्ट अपनी छिटफुट टिप्पणियों में, स्तानिस्लाव्स्की के थिएटर को 'अतीत की चीज़' बताते हैं, यानी वे वर्तमान में उसे अप्रासंगिक मानते हुए भी, परम्परा के रूप में उसकी महत्ता को स्वीकार करते हैं। *'मेसिंगकॉफ़ संवाद'* के एक अंश में *नाट्यशास्त्री* कहता है कि मास्को आर्ट थिएटर द्वारा अभी भी प्रस्तुत किए जा रहे स्तानिस्लाव्स्की के प्रोडक्शन्स को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो उनमें बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के वर्ग-सम्बन्धों को इस प्रकार सुरक्षित रख दिया गया है, जैसे कि आप उन्हें किसी संग्रहालय में देख रहे हों। वह कहता है : *"जिस पर वह ध्यान देते हैं, वह है स्वाभाविकता और नतीजतन उनके थिएटर में हर चीज़ इतनी स्वाभाविक लगती है कि विराम लेने और तफ़सील में जाने का मौक़ा ही नहीं मिलता। सामान्यतः आप अपने घर या अपनी ख़ुद की खाने-पीने की आदतों की जाँच-पड़ताल नहीं करते, या करते हैं?"* उसी दौर की एक अन्य टिप्पणी में वे आक्रामक ढंग से लिखते हैं : *"दर्शक की तीक्ष्ण आँख उन्हें भयभीत करती है। वे उसे बन्द कर देते हैं।"* (ब्रेष्ट ऑन थिएटर, पूर्वोद्धृत, पृ. 237)

चौथे दशक की ही एक अन्य टिप्पणी, जिसमें ब्रेष्ट ने स्तानिस्लाव्स्की के साथ मेयरहोल्ड और वाख़्तांगोव के थिएटर की चर्चा की है, और जॉन विलैट ने अपनी पुस्तक *'ब्रेष्ट ऑन थिएटर'* की एक सम्पादकीय टिप्पणी में जिसका हवाला दिया है, हम यहाँ हूबहू दे रहे हैं क्योंकि इससे ब्रेष्ट की चिन्तन-प्रक्रिया को समझने में थोड़ी और मदद मिलती है :

"बुर्जुआ थिएटर अपने सीमान्तों पर पहुँच चुका है।

स्तानिस्लाव्स्की की पद्धति की प्रगतिशीलता। 1. यह तथ्य कि यह एक पद्धति है। 2. मनुष्य की, निजी तत्त्व (प्राइवेट एलिमेण्ट) की निकटतर जानकारी। 3. मनोवैज्ञानिक अन्तरविरोध दर्शाये जा सकते हैं।(नैतिक प्रवर्गों, अच्छे और बुरे का अन्त)। 4. परिवेश के प्रभाव के लिए इजाज़त। 5. विस्तार (या विक्षेप)।

6. निरूपण (या अभिनय) की स्वाभाविकता।

वाख़्तांगोव की पद्धति। 1. थिएटर थिएटर होता है। 2. क्या नहीं, कैसे। 3. अपेक्षाकृत अधिक कम्पोज़ीशन। 4. अपेक्षाकृत अधिक अन्वेषणशीलता और कल्पनाशीलता।

मेयरहोल्ड की पद्धति। 1. निजी तत्त्व के विरुद्ध। 2. कला-मर्मज्ञता पर बल। 3. गति (मूवमेण्ट्स) और उसकी यांत्रिकी। 4. परिवेश का अमूर्तन।

मिलन-बिन्दु = वाख़्तांगोव, जो बाक़ी दोनों को अन्तरविरोधी तत्त्वों के रूप में अपनाते हैं, लेकिन साथ ही, सर्वाधिक मुक्त भी हैं। उनकी तुलना में, मेयरहोल्ड आयासित (या तनावग्रस्त) हैं, स्तानिस्लाव्स्की ढीले (या सुस्त) हैं : दूसरे में वास्तविक जीवन की अनुकृति है जबकि पहले में उसका अमूर्तन है। लेकिन जब वाख़्तांगोव का अभिनेता कहता है, 'मैं हँस नहीं रहा हूँ, मैं हँसी का प्रदर्शन कर रहा हूँ', तो उसके प्रदर्शन से किसी को कुछ भी सीखने को नहीं मिलता। द्वन्द्वात्मक रूप से देखा जाए तो वाख़्तांगोव स्तानिस्लाव्स्की-मेयरहोल्ड समष्टि (स्तानिस्लाव्स्की-मेयरहोल्ड काम्प्लेक्स) हैं लेकिन उनके बीच के विभाजन के **पहले** का, न कि बाद के सामंजस्य का।" (ब्रेष्ट ऑन थिएटर, पूर्वोद्धृत, पृ. 237-238)

ब्रेष्ट की इस टिप्पणी से, ख़ास तौर पर मेयरहोल्ड और वाख़्तांगोव के साथ तुलना करते हुए स्तानिस्लाव्स्की की चर्चा से, यह बात काफ़ी स्पष्ट हो जाती है कि थिएटर में आलोचनात्मक यथार्थवादी या क्रान्तिकारी जनवादी धारा, और समाजवादी यथार्थवादी धारा के बीच की एकता और संघर्ष में, परम्परा की निरन्तरता और परिवर्तन के नवोन्मेष के बीच के द्वन्द्व में, ब्रेष्ट स्तानिस्लाव्स्की को किस प्रकार ऐतिहासिक-वैचारिक परिप्रेक्ष्य में अवस्थित करने की कोशिश कर रहे थे। सर्वहारा की "कविता" अतीत से नहीं बल्कि भविष्य से प्रेरित होती है। लेकिन साथ ही वह अतीत की समस्त क्रान्तिकारी विरासत के सारतत्त्व की—समस्त मानवीय सारतत्त्व की वारिस भी होती है। इसी द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को ब्रेष्ट थिएटर में निरूपित कर रहे थे। सर्वहारा कला की वैचारिक-सौन्दर्यशास्त्रीय-पद्धतिशास्त्रीय आधारभूमि तैयार करते हुए बुर्जुआ कला के क्रान्तिकारी शिखर-बिन्दु के तौर पर उन्हें पहले स्तानिस्लाव्स्की से टकराना था, उनका अतिक्रमण करना था और फिर उनसे परम्परा का दाय सादर ग्रहण करके आगे की यात्रा पर चल पड़ना था। ब्रेष्ट काफ़ी हद तक इसमें सफल रहे और नये प्रश्नों-समस्याओं का जो एजेण्डा उन्होंने अपनी बाद की पीढ़ी को सौंपा, उसी एजेण्डे को लेकर सर्वहारा थिएटर को आगे जाना है।

ब्रेष्ट ने स्तानिस्लाव्स्की पर अपनी जो आख़िरी टिप्पणी 1952 के आसपास लिखी थी, उसे यहाँ पूरा का पूरा उद्धृत करते हुए हम इस चर्चा को समाप्त कर रहे हैं :

कुछ चीज़ें जो स्तानिस्लाव्स्की से सीखी जा सकती हैं

1. *नाटक की कविता की अनुभूति*

स्तानिस्लाव्स्की का थिएटर जब अपने समय की रुचि की तुष्टि के लिए प्रंतवादी नाटक प्रस्तुत करता है तब भी प्रस्तुति उन्हें (यानी नाटकों को) काव्यात्मक अभिलाक्षणिकताओं से सम्पन्न बना देती है; यह कभी भी महज़ रिपोर्ताज के स्तर तक नीचे नहीं उतरता। जबकि यहाँ जर्मनी में क्लासिकल नाटक भी किसी प्रकार की भव्यता नहीं अर्जित कर पाते।

2. *समाज के प्रति दायित्वबोध*

स्तानिस्लाव्स्की ने अभिनेताओं को उनके शिल्प के सामाजिक अर्थ से परिचित कराया। कला उनके लिए अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं थी, लेकिन वे जानते थे कि थिएटर में कला के माध्यम से ही कोई लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

3. *सितारों की समष्टि अभिनय करती हुई*

स्तानिस्लाव्स्की के थिएटर में सिर्फ़ सितारे होते हैं, महान और छोटे। उन्होंने सिद्ध किया कि व्यक्ति

का अभिनय केवल समष्टि के अभिनय के माध्यम से ही सम्पूर्ण प्रभाविता अर्जित कर पाता है।

4. *व्यापक कल्पना और तफ़सीलों की महत्ता*

मास्को आर्ट थिएटर में प्रत्येक नाटक एक सावधानी से सोचा-विचारा गया सुगठित रूप और सूक्ष्मता से प्रतिपादित तफ़सील की समृद्धि अर्जित कर लेता है। इनमें से एक के बिना दूसरा किसी काम का नहीं होता।

5. *सत्यनिष्ठा एक कर्तव्य के रूप में*

स्तानिस्लाव्स्की यह शिक्षा देते थे कि अभिनेता को अपने बारे में और जिन लोगों को उन्हें अभिनय द्वारा प्रस्तुत करना होता है उनके बारे में सही-सटीक जानकारी होनी चाहिए। जो चीज़ अभिनेता के पर्यवेक्षण से अर्जित नहीं होती, या पर्यवेक्षण द्वारा पुष्ट नहीं होती, वह श्रोता द्वारा पर्यवेक्षण के लिए उपयुक्त नहीं होती।

6. *स्वाभाविकता और शैली की एकता*

स्तानिस्लाव्स्की के थिएटर में भव्य स्वाभाविकता और गहन अर्थवत्ता एक-दूसरे की सहवर्ती होती हैं। एक यथार्थवादी के रूप में कुरूपता को प्रस्तुत करने में वे कभी नहीं हिचकते लेकिन इसे वे नितान्त शालीन ढंग से करते हैं।

7. *अन्तरविरोधों से परिपूर्ण रूप में यथार्थ की प्रस्तुति*

स्तानिस्लाव्स्की ने सामाजिक जीवन की विविधता और जटिलता को सम्पूर्णता में समझा था और वे जानते थे कि बिना उसमें उलझे हुए उसे कैसे प्रस्तुत किया जाए। उनकी सभी प्रस्तुतियाँ अर्थगर्भित होती थीं।

8. *मनुष्य का महत्त्व*

स्तानिस्लाव्स्की एक प्रतिबद्ध मानवतावादी थे, और उस हैसियत से उन्होंने अपने थिएटर को समाजवाद के मार्ग पर निर्देशित किया।

9. *कला के और आगे विकास की महत्ता*

मास्को आर्ट थिएटर कभी भी अपनी सफलता से निश्चिन्त नहीं हुआ। स्तानिस्लाव्स्की हर प्रस्तुति के लिए नई कलात्मक पद्धतियाँ ईजाद करते थे। उनके थिएटर से वाख्तांगोव जैसे महत्त्वपूर्ण कलाकार आए जिन्होंने फिर अपने शिक्षक की कला को आगे सम्पूर्ण मुक्ति में विकसित किया।

('ब्रेष्ट ऑन थिएटर', पूर्वोद्धृत, पृ. 236-237)

मृत्यु से उतना मत डरो जितना कि अपर्याप्त जीवन से।

—बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

आह्वान कैम्पस टाइम्स

परिवर्तन की राह पर निडर हो चलने वाले नौजवानों की त्रैमासिक पत्रिका

संपादक : मुकुल/कविता/अभिनव

संपादकीय कार्यालय : कल्याणपुर, गोरखपुर-273001

वार्षिक सदस्यता : 32 रुपए (डाक खर्च सहित)

आइज़ेंस्ताइन का फ़िल्म-सिद्धान्त और रचनात्मक प्रयोग

अनादि चरण

सामाजिक जीवन के यथार्थ के सौन्दर्यात्मक-कलात्मक संज्ञान की समस्याओं पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से चिन्तन तथा परस्पर-विरोधी अवस्थितियों के बीच टकरावों का सिलसिला पिछली पूरी शताब्दी के दौरान लगातार चलता रहा। **मार्क्स** और **एंगेल्स** के दिशा-संकेतक सूत्रों पर काफ़ी कुछ लेखन और विमर्श हुआ है। **प्लेखानोव, लुनाचार्स्की, गोर्की, वोरोव्स्की, वोरोन्स्की, राल्फ फॉक्स, कॉडवेल** आदि की क्लासिकी मार्क्सवादी स्थापनाओं-भाष्यों से लेकर **ब्रेष्ट-लूकाच विवाद,** ब्रेष्ट के द्वन्द्वात्मक थिएटर और **वाल्टर बेंजामिन** के कला-चिन्तन और नववामपन्थी चिन्तन की विभिन्न धाराओं-उपधाराओं तक के बारे में बहुत-कुछ लिखा-पढ़ा जाता रहा है। इस पूरे चिन्तन और विमर्श के परिमाण और गुणवत्ता पर कोई निर्णय देना या सन्तोष प्रकट करना यहाँ हमारा मन्तव्य नहीं है। हम सिर्फ़ यह कहना चाहते हैं कि इन सबकी तुलना में **सेर्गेई मिखाइलोविच आइज़ेंस्ताइन** (1898-1948) के कला-विषयक सैद्धान्तिक चिन्तन पर बहुत ही कम काम हुआ है।

आइज़ेंस्ताइन को महानतम फ़िल्मकारों में से एक तो सिनेमा के सभी अध्येता, सर्जक और आलोचक मानते हैं। उनकी फ़िल्म *'बैटलशिप पोतेमकिन'* की गणना भी निर्विवाद रूप से दुनिया की अब तक की सर्वश्रेष्ठ, कालजयी फ़िल्मों में की जाती है। बुर्जुआ फ़िल्मकार और विशेषज्ञ यदि उनके चिन्तन या प्रयोग-पक्ष की चर्चा करते भी हैं तो ख़ासकर मोन्ताज के मौलिक प्रयोग के सन्दर्भ में ही करते हैं और उसे भी, सैद्धान्तिक पक्षों की अनदेखी करते हुए महज़ शिल्प-चर्चा तक सीमित कर देते हैं। बहुतेरे पश्चिमी सिनेमा-विशेषज्ञ आइज़ेंस्ताइन के प्रयोगों और चिन्तन की या तो अनदेखी

करते हुए, या फिर अनर्थकारी व्याख्या करते हुए उन्हें एक ऐसे त्रासदी-नायक के रूप में प्रस्तुत करते रहे हैं जो जीवनपर्यन्त "कलाकार बनाम मार्क्सवादी" के उत्कट आन्तरिक तनाव का शिकार बना रहा। बुर्जुआ कलाविदों ने उनके सिनेमा के तकनीकी पहलुओं पर ख़ूब लिखा है तथा उनके सिद्धान्तों की एकांगी और मनमानी व्याख्याएँ ख़ूब की हैं। दूसरी ओर, उनके आधारभूत महत्त्व के सैद्धान्तिक अवदानों पर भी, वामपन्थी दायरे में बहुत कम चिन्तन और चर्चा हुई है।

फिर भी, यह तथ्य तो आज स्थापित हो ही चुका है कि आइज़ेंस्ताइन सर्वहारा सिनेमा के एक महानतम सिद्धान्तकार और प्रयोगकर्ता थे। लेकिन सच सिर्फ़ इतना ही नहीं है। सच तो यह है कि कलात्मक सृजन के वैचारिक तथा ज्ञान मीमांसीय तथा सौन्दर्यात्मक पहलुओं पर, सामाजिक यथार्थ के कलात्मक संज्ञान और कलात्मक पुनसृजन के प्रश्न पर, तथा, कला की सामाजिक भूमिका के प्रश्न पर आइज़ेस्ताइन का मौलिक चिन्तन कला की मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी को और सौन्दर्यशास्त्र को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाने वाला है। एक विडम्बना यह भी है कि आइज़ेंस्ताइन का जो लेखन वक्तव्यों, डायरियों, पत्रों, लेखों के संकलनों और पुस्तकाकार प्रबन्धों के रूप में हमारे सामने मौजूद है, वह, बहुत अधिक लगने के बावजूद, उनके सम्पूर्ण कृतित्व का एक बहुत ही छोटा हिस्सा है। मास्को स्थित *'आइज़ेंस्ताइन आर्काइव्स'* की इमारत आइज़ेंस्ताइन की डायरियों, नोट्स, प्राइवेट पेपर्स और अप्रकाशित पाण्डुलिपियों से अँटी पड़ी आज भी खड़ी है। पर आज के रूस में भला किसका ध्यान इस बहुमूल्य सम्पदा की ओर जाएगा। आइज़ेंस्ताइन की विडम्बना यह रही कि सोवियत संघ में, तीस और चालीस के दशक में कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में यांत्रिक भौतिकवादी चिन्तन की प्रभाविता, तथा एक हद तक, सांस्कृतिक क्षेत्र में नौकरशाही की जकड़बन्दी के चलते पथान्वेषी प्रयोगों के लिए दमघोंटू माहौल था। इस माहौल में आइज़ेंस्ताइन को एकाधिक बार रूपवादी भटकाव और इतिहास की दुर्व्याख्या के आरोपों का शिकार होना पड़ा। सिनेमा में द्वन्द्ववादी पद्धति को अमल में लाने से सम्बन्धित उनके प्रयोगों पर न खुलकर विचार-विमर्श हुआ, न ही बहसें चलीं। और फिर ख्रुश्चेव-ब्रेझनेव काल आया। नई संशोधनवादी सत्ता को वर्ग-संघर्ष के उत्कट पक्षधर आइज़ेंस्ताइन के विचार भला कैसे रास आ सकते थे? सो इस दौर में आइज़ेंस्ताइन की देव-प्रतिमाएँ तो ख़ूब गढ़ी गईं, लेकिन उनके सैद्धान्तिक अवदानों की भरपूर अनदेखी की गई। 'आइज़ेंस्ताइन आर्काइव्स' के गेट पर गार्ड पहरा देते रहे और अध्येताओं का वहाँ प्रवेश वर्जित रहा।

पचास वर्ष की छोटी-सी उम्र का आधा से भी अधिक हिस्सा आइज़ेंस्ताइन ने सिनेमा को दिया। उनकी महज़ छह फ़िल्में ही पूरी होकर प्रदर्शित हो सकीं। अधिकांश परियोजनाएँ अधूरी रह गईं। कुछ फ़िल्में तो 80-90 प्रतिशत तक बनने के बाद डिब्बाबन्द हो गईं। फिर भी वे एक फ़िल्मकार के साथ-साथ सिनेमा के एक चिन्तक-लेखक और शिक्षक के रूप में अनथक-अविराम काम करते रहे, तब तक, जब तक कि उनके दिल ने हमेशा के लिए धड़कना बन्द नहीं कर दिया। **आइज़ेंस्ताइन का कृतित्व उस सांस्कृतिक नवजागरण के सर्जनात्मक ज्वार का शीर्ष-बिन्दु था जो बोल्शेविक क्रान्ति के बाद ऊपर उठा था, और विशेष तौर पर, तीसरे दशक के अन्त तक आलोड़ित होता रहा था।** आइज़ेंस्ताइन के वैचारिक अवदानों की—आम तौर पर सर्वहारा कला, और ख़ास तौर पर सिनेमा विषयक सभी मूलभूत प्रस्थापनाओं की एक लेख में चर्चा सम्भव ही नहीं है। हम इस लेख में मुख्यतः इसी चर्चा तक सीमित रहेंगे कि चिन्तन और प्रयोग के क्षेत्र में आइज़ेंस्ताइन की मुख्य चिन्ताएँ और मुख्य सरोकार क्या थे, जीवनपर्यन्त जारी उनकी कलात्मक अन्वेषण-यात्रा के लक्ष्य क्या थे और दिशादर्शी सूत्र क्या थे तथा, उनकी वे कौन सी मूलभूत और मौलिक स्थापनाएँ हैं जो सर्वहारा कला की सैद्धान्तिकी को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाती हैं और जिन पर सोचना हमारे लिए आगे जाने में विशेष तौर पर मददगार साबित हो सकता है?

सिनेमा की शक्ति और सम्भावनाओं की पड़ताल करती एक वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि

सेर्गेई आइज़ेंस्ताइन एक अकुण्ठ भौतिकवादी थे। उनका सिनेमा वर्ग-संघर्ष का सिनेमा था। अपनी भौतिकवादी विश्व-दृष्टि पर अविचल रहते हुए वे जिस प्रश्न से जीवनपर्यन्त जूझते-टकराते रहे, वह था—वस्तुगत यथार्थ के कलात्मक-सौन्दर्यात्मक संज्ञान और कलात्मक पुनर्सृजन में द्वन्द्ववादी पद्धति का प्रयोग। एक सच्चे दार्शनिक कलाकार की भाँति, **हेगेल** तथा **कार्ल मार्क्स** और **लेनिन** के निष्ठावान शिष्य की भाँति, आइज़ेंस्ताइन ने पद्धति के प्रश्न को हल करने को सर्वोच्च प्राथमिकता दी।

सर्वहारा क्रान्ति के सन्देश को अधिकतम सम्भव प्रभावी ढंग से जन-जन तक पहुँचाने में और एक नई, श्रम-संस्कृति के निर्माण में सिनेमा की सर्वाधिक प्रभावी भूमिका को सुसंगत वैज्ञानिक आधार पर समझने की कोशिश 2करने वालों में आइज़ेंस्ताइन की भूमिका सर्वोपरि थी। ऐसे समवेत प्रयासों में उनके शिक्षक और वरिष्ठ साथी **लेव कुलेशोव** के साथ ही **पुदोवकिन, दोवझेंको** और **वेर्तोव** की भूमिका भी, निस्सन्देह, महत्त्वपूर्ण थी।

बीसवीं शताब्दी की राजनीतिक हस्तियों में लेनिन वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने एक प्रभावी सांस्कृतिक माध्यम के रूप से सिनेमा की महत्ता को पहचाना और बताया कि *"सभी कलाओं में सिनेमा हमारे लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।" (मार्टिन मेलर : 'सक्सेस ऐण्ड फेल्योर ऑफ दि सोवियत सिनेमा', 'मार्क्सिस्ट',* वॉल्यूम-6, नं.-1, 1967, पृ. 4)। आइज़ेंस्ताइन ने इस महत्ता को पहले व्यावहारिक धरातल पर समझा और फिर सैद्धान्तिक धरातल पर। बोल्शेविक क्रान्ति ने उनके लिए तथा पुदोवकिन, दोवझेंको, तिस्से, वेर्तोव जैसे सोवियत सिनेमा की दर्जनों भावी हस्तियों के लिए पहली व्यावहारिक पाठशाला का काम किया। ये सभी उस समय सत्रह-अठारह साल के युवा थे जो लाल सेना के आन्दोलनात्मक प्रचार के मोर्चे पर काम कर रहे थे। मोर्चों पर न्यूज़रील की शूटिंग करते हुए और फिर इतिहास-चर्चित *"एजिट-ट्रेनों'* और *"एजिट-स्टीमरों'* में सोवियत संघ के सुदूर प्रान्तीय क्षेत्रों तक यात्रा करके थिएटर और न्यूज़रीलों के प्रदर्शन के द्वारा किसानों-मज़दूरों-सैनिकों में प्रचार करते हुए आइज़ेंस्ताइन और उनके युवा साथियों ने सिनेमा की शक्ति और प्रभाव को प्रत्यक्षतः महसूस किया।

आगे चलकर, सिनेमा की कलात्मक शक्ति के ऐतिहासिक-सामाजिक उत्सों की सैद्धान्तिक व्याख्या करते हुए आइज़ेंस्ताइन ने यह स्पष्ट किया कि वर्ग समाज के इतिहास की सर्वोन्नत मंज़िल के तौर पर, पूँजीवादी समाज में उत्पादक शक्तियों का जो अभूतपूर्व (वैज्ञानिक-तकनीकी और सांस्कृतिक-आत्मिक—दोनों ही रूपों में) विकास हुआ, उसी की एक तार्किक परिणति के रूप में सिनेमा का जन्म हुआ। ऑप्टिक्स, केमिस्ट्री, इलेक्ट्रो-टेक्नीक, फोटो-टेक्नीक आदि के क्षेत्र में, और दृष्टि की फ़िज़ियोलॉजी सम्बन्धी (जैसे एक सेकेण्ड के दसवें हिस्से तक चाक्षुष प्रभावों को संरक्षित रखने की रेटिना की क्षमता की जानकारी) नई खोजों के बग़ैर सिनेमा का विकास सम्भव नहीं था। साथ ही, पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली में सामूहिक उत्पादकता और सामूहिक सर्जनात्मकता की जो अनिवार्य बुनियादी भूमिका थी, उसने भी सिनेमा के उद्‌भव में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई क्योंकि सिनेमा हर हाल में सामूहिक सर्जनात्मक उपक्रमों और श्रम का ही फल होता है। यह एक ऐसी कला है जिसकी उत्पादन-प्रक्रिया, उद्योगों की उत्पादन-प्रक्रिया जैसी होती है। पूँजीवादी समाज की सामाजिक आवश्यकताओं, जनान्दोलनों की व्यापक सम्भावनाओं, जीवन की गति में आई तेज़ी, विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं के बीच तथा उनके भागीदारों के बीच अन्तर्निर्भरता के व्यापक विस्तार और इतिहास-निर्माण में विशाल आम आबादी की सचेतन भूमिका ने सिनेमा के उद्‌भव के बुनियादी कारक उपादान की भूमिका निभाई। जिस प्रकार 'असेम्बली-लाइन उत्पादन' ने सर्वहारा वर्ग को संगठित होने की चेतना देने में भौतिक आधार का काम किया, उसी प्रकार सिनेमा की सामूहिक निर्माण-प्रक्रिया ने इसे वह अभिलाक्षणिक विशिष्टता प्रदान की कि यह सभी पूर्ववर्ती कलाओं का संश्लेषण करके सर्वहारा-संस्कृति का सर्वाधिक प्रभावी माध्यम

बन सके। साथ ही, आइज़ेंस्ताइन ने यह भी स्पष्ट किया कि सिनेमा एक ओर यदि सभी पूर्ववर्ती कलाओं को संगठित-समेकित कर लेता है, तो दूसरी ओर, एक उच्चतर धरातल पर यह उनका निषेध भी है।

इसी आधार पर आइज़ेंस्ताइन का मानना था कि **सर्वहारा कला का सर्वाधिक शक्तिशाली और सर्वोन्नत माध्यम सिनेमा है। पूँजीवाद अपने हित में इसका प्रभावी इस्तेमाल करता है, लेकिन पूँजीवादी सिनेमा अपने अनिवार्य अन्तरविरोधों से मुक्त नहीं हो सकता। व्यापक ऐतिहासिक अर्थ-सन्दर्भों में सिनेमा सर्वहारा वर्ग की कला है। सर्वहारा वर्ग ही इसकी समस्त सर्जनात्मक सम्भावनाओं को उजागर कर सकता है और उनको पूरे समाज के हित में निर्देशित कर सकता है। जीवन और चिन्तन के द्वन्द्वों को कलात्मक अभिव्यक्ति देने में सिनेमा सर्वाधिक सक्षम माध्यम है और उन्हें सचेतन तौर पर हल करने में, एक सांस्कृतिक उपकरण के तौर पर इसकी भूमिका सर्वाधिक प्रभावी होगी।**

सामाजिक-आर्थिक विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया से जोड़ते हुए सिनेमा के महत्त्व-प्रतिपादन के बाद, आइज़ेंस्ताइन ने एक बहुमूल्य और महत्त्वपूर्ण स्थापना यह दी कि सामाजिक श्रम-विभाजन की एक लम्बी प्रक्रिया की परिणति के तौर पर वैचारिक अमूर्त चिन्तन के गुरुत्व, और भावनाओं की आवेगात्मकता के बीच जो अलगाव विकसित हुआ है, उसे समाजवादी सामाजिक-आर्थिक संरचना के भौतिक आधार पर होने वाला, सर्वहारा कला का विकास ही दूर कर सकेगा और एकमात्र फ़िल्म-विधा ही सर्वोन्नत कला-माध्यम के रूप में, इस महासंश्लेषण में सक्षम है। आगे हम विस्तार में जाते हुए, इस महत्त्वपूर्ण स्थापना को समझने की कोशिश करेंगे। लेकिन इसके पहले ज़रूरी है कि हम मोन्ताज की उस द्वन्द्वात्मक अवधारणा पर विचार कर लें जो आइज़ेंस्ताइन का सर्वाधिक चर्चित अवदान माना जाता है और जिसे उन्होंने सफलतापूर्वक प्रयोग में भी लागू किया।

मोन्ताज की उद्‌भावनापरक (ideational) द्वन्द्वात्मक अवधारणा

आइज़ेंस्ताइन ने मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद और अवबोधन (Perception) के मनोविज्ञान के आधार पर मोन्ताज का आधुनिक सिद्धान्त विकसित किया। इसकी चर्चा से पहले यह जान लेना ज़रूरी है कि मोन्ताज होता क्या है। मोन्ताज फ़्रांसीसी शब्द *'मोन्तेर' (Monter)* से बना है, जिसका अर्थ है जोड़ना या 'असेम्बल' करना। सामान्यतः मोन्ताज का मतलब होता है—सम्पादन या अलग-अलग शॉट्स को काटकर और जोड़कर एक सुनिश्चित प्रभाव उत्पन्न करने वाला, या विचारों के अन्तर्सम्बन्धों को उद्‌घाटित करने वाला, या कथाक्रम को आगे बढ़ाने वाला फ़िल्म-सीक्वेंस तैयार करना। मोन्ताज की तकनीक का प्रारम्भिक विकास हमें अमेरिकी निर्देशकों **एडविन पोर्टर** (1870-1941) और **डी.डब्ल्यू. ग्रिफिथ** (1875-1948) की फ़िल्मों में देखने को मिलता है। लेकिन इसका विधिवत विकास आगे चलकर, सोवियत संघ में कुलेशोव, आइज़ेंस्ताइन और पुदोवकिन ने किया और फिर इस तकनीक को इनसे पूरी दुनिया के फ़िल्मकारों ने अलग-अलग ढंग से अपनाया और इस्तेमाल किया।

कुलेशोव पहली पीढ़ी के सुप्रसिद्ध फ़िल्म निर्देशक तो थे ही, लेकिन सबसे पहले, वे फ़िल्म-कला के एक महान शिक्षक थे। *'कुलेशोव वर्कशाप'* में वे अपने छात्रों को ग्रिफिथ की फ़िल्म *'इन्टोलरेन्स'* इतनी बार दिखलाते थे कि उसके शॉट स्ट्रक्चर्स उन्हें याद हो जाते थे और फिर कुलेशोव बहुसंस्तरीय एडीटिंग सीक्वेंसेज़ को छात्रों से सैकड़ों अलग-अलग संयोजनों में पुनर्व्यवस्थित करने को कहते थे। कुलेशोव का अगला प्रयोग और अधिक दिलचस्प था। उन्होंने एक प्रसिद्ध अभिनेता के अभिव्यक्तिहीन चेहरे के शॉट को तीन अलग-अलग, अत्यधिक अभिव्यक्तिपूर्ण शॉट्स के साथ काटकर चस्पां कर दिया—एक गर्म, भाप छोड़ते शोरबे के कटोरे के साथ, फिर ताबूत में पड़े एक स्त्री के शव के साथ, और फिर गुड़िया से खेलती एक बच्ची के साथ। दर्शकों को तीनों 'सीक्वेंसेज़' में अभिनेता के चेहरे पर तीन भाव दीखे—शोरबे के लिए भूख का भाव, मृत स्त्री के लिए दुख का भाव और छोटी बच्ची के लिए पितृत्वपूर्ण प्यार का भाव। इस परिघटना की, जिसे आज

"कुलेशोव इफ़ेक्ट" नाम से जाना जाता है, कुलेशोव ने व्याख्या करते हुए बताया कि फ़िल्म में हर शॉट के दो मूल्य होते हैं : **एक** यह कि वह अपने आप में यथार्थ का फोटोग्राफ़िक बिम्ब होता है, और **दूसरा** मूल्य वह शॉट किसी अन्य शॉट के सानिध्य में रखे जाने पर ग्रहण कर लेता है। कुलेशोव का कहना था कि सिनेमाई महत्ता की दृष्टि से दूसरा मूल्य पहले की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है और इसलिए, सिनेमा में दिक् और काल को सम्पादन की प्रक्रिया या मोन्ताज के मातहत होना चाहिए। इस तरह पहली बार कुलेशोव ने मोन्ताज की प्रक्रिया की एक सैद्धान्तिकी प्रस्तुत करते हुए बताया कि **यह एक ऐसी अभिव्यंजक प्रक्रिया होती है जहाँ असमरूपी बिम्ब परस्पर जुड़कर अनभिधात्मक या प्रतीकात्मक अर्थ उत्पन्न कर देते हैं।** कुलेशोव की इस अवधारणा ने उनके दो सबसे मेधावी शिष्यों को सर्वाधिक प्रभावित किया। वे थे, आइज़ेंस्ताइन और पुदोवकिन। मोन्ताज के बारे में दोनों का अवधारणात्मक चिन्तन दो दिशाओं में विकसित हुआ और कालान्तर में दोनों परस्पर-विरोधी अवस्थितियों पर जा खड़े हुए।

मोन्ताज को सामान्यतः तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है : ग्राफ़िक, वर्णनात्मक (narrative) और उद्‌भावनापरक (ideational)। वर्णनात्मक मोन्ताज में, एक अकेले विषय से जुड़े हुए, अलग-अलग स्थितिबिन्दु वाले नानाविध दृश्य और बिम्ब संयोजित किए जाते हैं। जैसे, कथाचित्रों में, किसी चरित्र या लोकेशन को कई कोणों से एक्सप्लोर किया जाता है ताकि दर्शक स्थिति-विशेष का सांगोपांग बिम्ब निर्मित कर ले। ग्राफ़िक मोन्ताज में शॉट्स को उनकी विषय-वस्तु के अनुसार नहीं बल्कि उनके वास्तविक स्वरूप अथवा प्राकृतिक प्रकटन के चलते जक्स्टापोज़ किया जाता है, एक-दूसरे के साथ रखा जाता है। कुछ अवाँगार्द सिने-कृतियों में प्रायः केन्द्रीय प्रश्न यह बन जाता है कि लोगों, वस्तुओं और विविध आकृतियों आदि के विविध बिम्बों के बीच के ग्राफ़िक सम्बन्धों को दर्शक जोड़ पाते हैं अथवा नहीं। ग्राफ़िक मोन्ताज में, स्थिर स्थिति के बजाय प्रायः गति के शॉट्स के दौरान कटिंग की जाती है। इससे एक बिम्ब द्वारा दूसरे का विस्थापन सुगम हो जाता है। उद्‌भावनापरक मोन्ताज में दो अलग-अलग बिम्ब जुड़कर एक तीसरी चीज़ तक पहुँच जाते हैं, एक विचार तक, जिसके प्रादुर्भाव में वे सहायता करते हैं और जिसके द्वारा वे नियंत्रित-निर्देशित होते हैं।

मोन्ताज की ये तीनों श्रेणियाँ अपने शुद्ध रूप में कम ही आती हैं। जैसे, उद्‌भावनापरक मोन्ताज अपने संघटकों की ग्राफ़िक समरूपता के आधार से प्रस्थान करता है। इसी तरह वर्णनात्मक मोन्ताज अपने मूवमेण्ट का विवरण प्रस्तुत करने के लिए ग्राफ़िक कटिंग पर निर्भर रहता है। ठीक इसी तरह, विभिन्न चीज़ों का ग्राफ़िक सहमेल एक सुनिश्चित घटना (परिणति) की दिशा में गति के विचार का निर्माण करता है। साउण्डट्रैक के आगमन ने मोन्ताज की सम्भावनाओं-प्रभावों को कई गुना बढ़ा दिया। आइज़ेंस्ताइन और पुदोवकिन ने शॉट-दर-शॉट कथा या विचार के खुलते जाने की "क्षैतिज" (horizontal) प्रक्रिया के बरक्स "उदग्र' (vertical) मोन्ताज की सम्भावनाओं का भी हवाला दिया है। इसका आधार यह था कि ध्वनि, हर क्षण जो सुना और देखा जा रहा है, उनके बीच सम्बन्ध-स्थापन सम्भव बना देती है। सिनेमा में ध्वनि के प्रवेश के बाद फ़िल्म-बिम्ब को स्वतःस्फूर्त स्वायत्त इकाई नहीं माना जा सकता था, यह अपनी अनुवर्ती ध्वनि के साथ अन्तर्क्रिया करती थी। संवाद, संगीत, परिवेशी शोर और श्रव्य-प्रभावों के रूप में ध्वनि-सम्बन्ध इमेज-ट्रैक के सतत सहसम्बन्ध में निर्मित किए जा सकते हैं, या ये एक समान्तर संघटन और अभिकल्प (design) की रचना कर सकते हैं जो दिखाए जा रहे दृश्य को कक्षान्तरित करने का काम करे। कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि मोन्ताज एक ऐसे असाधारण उपादान के रूप में सामने आया जो अन्य कलाओं से चलचित्र को सर्वाधिक मूलभूत और गुणात्मक रूप से पृथक्कृत करता था। या यूँ कहें कि इसकी भूमिका सिने-माध्यम के आधार की बन गई। हालाँकि यह भी सच है कि कुछ फ़िल्मकारों ने अपने कथ्य को उसकी पूरी शक्ति और सौन्दर्य के साथ सम्प्रेषित करने में मोन्ताज के बजाय सिनेमा की अन्य अभिलाक्षणिकताओं का—जैसे कि इसकी प्रदीप्तता का, गतिमानता का और यथार्थ-प्रस्तुति की क्षमता का सहारा लिया। इनमें **मिज़ोगुची केंजी** (जापान) **रॉबर्तो रोस्सेलिनी** (इटली) और **मिकलोस जांक्सो** (हंगरी) जैसे फ़िल्मकार अग्रणी थे।

बहरहाल, हम अपनी मूल चर्चा पर वापस लौटें।

मोन्ताज की उपरोक्त सारी सम्भावनाओं-क्षमताओं को समझने और उजागर करने में आइज़ेंस्ताइन की भूमिका इतनी अधिक थी कि आज बहुधा उन्हें इसके जनक के रूप में याद किया जाता है। दूसरे नम्बर पर यदि किसी का नाम लिया जा सकता है तो वह बेशक पुदोवकिन ही थे। लेकिन आइज़ेंस्ताइन और पुदोवकिन के बीच मोन्ताज को लेकर कई मूलभूत कोटि के अवधारणात्मक-सैद्धान्तिक मतभेद थे।

सबसे बुनियादी फ़र्क़ यह था कि **आइज़ेंस्ताइन का मोन्ताज का सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक संघात या टकराव** (conflict or collision) **पर आधारित था, जबकि पुदोवकिन का सिद्धान्त संज्ञानात्मक सहयोजन या सहलग्नता** (cognitive linkages) **पर आधारित था।** आइज़ेंस्ताइन की द्वन्द्वात्मक दृष्टि न तो यथार्थ को और न ही उसके कलात्मक पुनर्सृजन को एकाश्मी रूप में देखती थी, इसलिए वह मोन्ताज को कला में विरुद्धों की एकता और संघर्ष (unityand conflict of opposites) के रूप में देखते थे। मोन्ताज उनके लिए प्रतीति को भेदकर यथार्थ के सार तक पहुँचने की एक पद्धति थी, न कि महज़ एक फॉर्म या तकनीक। मोन्ताज के नये इस्तेमाल के द्वारा आइज़ेंस्ताइन ने फ़िल्म 'कंस्ट्रक्ट' करने की उस परम्परागत पद्धति पर हमला बोल दिया, जिसके द्वारा सीक्वेंसेज़ को शान्त-निर्विघ्न ढंग से सहसम्बन्धित किया जाता था। इस मायने में पुदोवकिन की पद्धति पुरानी पद्धति का विकसित रूप थी जहाँ भौतिकवादी दृष्टि तो थी लेकिन पद्धति द्वन्द्ववादी नहीं थी। अधिभूतवादी विचलन पुदोवकिन के यथार्थवाद को प्रत्यक्षवादी विचलन तक लेकर चला जाता था और आलोचनात्मक यथार्थवाद की विवरणात्मक पद्धति से निर्णायक विच्छेद न होने के चलते, समाजवादी समाज के यथार्थ के चित्रण में वह "नवनिर्मित नायक" द्वारा पुराने नायक को विस्थापित करने तक चला जाता था और समाजवाद के अन्तरविरोधों की अनदेखी की प्रवृत्ति भी उसमें लगातार दिखाई देती थी। चौथे-पाँचवें दशक में जब सोवियत संघ में कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में भी यांत्रिक भौतिकवादी प्रवृत्ति का बोलबाला था तो पुदोवकिन को विशेष तरजीह मिली (हालाँकि एक बार उन पर भी रूपवाद का आरोप लगा था), जबकि आइज़ेंस्ताइन को **शुम्यात्स्की** से लेकर **ज़्दानोव** तक की कठोर आलोचनाओं का सामना करना पड़ा।

पुदोवकिन के साथ अपने विकट मतभेदों की आइज़ेंस्ताइन ने एक जगह बड़े ही दिलचस्प ढंग से चर्चा की है। उन्होंने लिखा है :

"मेरे सामने एक मुड़ा-तुड़ा पीला काग़ज़ का टुकड़ा पड़ा हुआ है, उस पर एक रहस्यपूर्ण टिप्पणी अंकित है : "लिंकेज-पी" और "कॉलिज़न—ई"

यह मोन्ताज के विषय पर पी (पुदोवकिन) और ई (मैं स्वयं) के बीच सरगर्म ज़ोर-आज़माइश का पर्याप्त संकेत है।" (आइज़ेंस्ताइन : 'फ़िल्म फॉर्म', मेरिडियन बुक्स, 1957, पृ. 37)

पुदोवकिन भी दर्शक के दिमाग़ में "कैरी-ओवर" की महत्ता पर बल देते थे, लेकिन उनका कहना था कि वस्तु-विशेष को किसी संश्लेषण के अंग के रूप में प्रस्तुत करने पर ही वह *"फ़िल्मी जीवन से समृद्ध हो पाती है"* या यूँ कहें कि उसका सिने-कलात्मक पुनर्सृजन हो पाता है। पुदोवकिन का कहना था कि *"फ़िल्म को शूट नहीं किया जाता बल्कि सेल्युलायड की अलग-अलग पट्टियों से इसका निर्माण किया जाता है, वे (पट्टियाँ) इसका कच्चा माल होती हैं।"* पुदोवकिन ने मोन्ताज का प्रतीकात्मक इस्तेमाल करने की जगह ग्रिफिथ की ही भाँति मोन्ताज का वर्णनात्मक प्रयोग किया। पुदोवकिन की फ़िल्मों में आइज़ेंस्ताइन की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक पक्ष, अन्तर्जगत का पक्ष अधिक प्रबल है। सामाजिक संघर्षों के घटना-प्रवाह का जो "एपिक ड्रामा' आइज़ेंस्ताइन की फ़िल्मों का फ़ोकस है, वह पुदोवकिन की फ़िल्मों में मानवीय भावनाओं की अन्योन्यक्रिया के लिए महज़ पृष्ठभूमि का काम करता है।

हम यूँ कह सकते हैं कि मोन्ताज की इन दो परस्पर-विरोधी अवधारणाओं में आइज़ेंस्ताइन का ज़ोर 'थीसिस-एण्टीथीसिस' पर था जबकि पुदोवकिन का ज़ोर 'सिन्थेसिस' पर था। आइज़ेंस्ताइन का ज़ोर विरुद्धों के संघर्ष पर था जबकि पुदोवकिन का ज़ोर उनकी एकता पर। गहराई से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है

कि ये द्वन्द्ववाद के प्रश्न पर दो परस्पर-विरोधी अवस्थितियाँ हैं, जिनका टकराव राजनीति और दर्शन के क्षेत्र में पहले भी सामने आया है।

हेगेल की द्वन्द्ववादी पद्धति की चर्चा करते हुए और द्वन्द्ववाद भौतिकवाद की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए सबसे पहले **लेनिन** ने इस बात को स्पष्ट किया था कि किसी भी चीज़ के भीतर विपरीत तत्त्वों के बीच का संघर्ष एक चिरस्थायी परिघटना होती है जबकि उनकी एकता एक अस्थायी परिघटना। किसी भी चीज़ को जानने का मतलब होता है उसके आन्तरिक अन्तरविरोध को जानना, यानी उसके भीतर के विपरीत तत्त्वों के संघर्ष का अध्ययन करना। यानी हम 'थीसिस-एण्टीथीसिस' को जानने के ज़रिए ही 'सिन्थेसिस' को समझ सकते हैं। किसी भी चीज़ को संश्लेषित, एकाश्मी रूप में देखते हुए और फिर उसके अलग-अलग अंशों को उसी सम्पूर्ण के एक अंग के रूप में देखते हुए हम उस चीज़ के वास्तविक संज्ञान तक नहीं पहुँच सकते। चीन में **महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** (1966-76) के दौरान जब यह दार्शनिक बहस उठी थी तो **माओ** ने एक बार फिर इसे अपनी विशिष्ट शैली में स्पष्ट करते हुए बताया था कि मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद का नियम है, *"एक दो में बँट जाता है,* न कि यह कि, *दो मिलकर एक हो जाते हैं।'* अन्यत्र इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए माओ त्से-तुङ ने लिखा है :

"मार्क्सवादी दर्शन का मत है कि विपरीत तत्त्वों की एकता का नियम विश्व का बुनियादी नियम है। यह नियम समूचे विश्व में लागू होता है, चाहे प्राकृतिक जगत हो, चाहे मानव समाज हो अथवा मनुष्य की विचारधारा। किसी अन्तरविरोध में विपरीत तत्त्वों के बीच एकता भी क़ायम होती है और संघर्ष भी होता है तथा इसी से प्रेरित होकर वस्तुएँ गतिमान होती हैं और उनमें परिवर्तन होता है। अन्तरविरोध हर जगह मौजूद रहते हैं, लेकिन वे अलग-अलग वस्तुओं की अलग-अलग प्रकृति के अनुरूप अलग-अलग स्वरूप वाले होते हैं। किसी घटना-विशेष तथा वस्तु-विशेष में विपरीत तत्त्वों की एकता परिस्थितियों से बँधी, अस्थायी व संक्रमणशील होती है और इसलिए सापेक्ष होती है जबकि विपरीत तत्त्वों का संघर्ष एक निरपेक्ष चीज़ होता है।" (माओ त्से-तुङ : 'जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में', 27 फरवरी, 1957, पहला अंग्रेज़ी पॉकेट संस्करण, पृ. 18)

समाहार के तौर पर कहा जा सकता है कि **उन्नत मार्क्सवादी समझ के बावजूद, घटना-प्रवाह के या विचार-अनुभूति-प्रवाह के एकरेखीय विवरणात्मक ब्योरे पर बल देते हुए तथा आन्तरिक द्वन्द्व के ऊपर संश्लेषण पर बल देते हुए भौतिकवादी पुदोवकिन द्वन्द्ववादी पद्धति से विचलित होते हैं, जबकि आइज़ेंस्ताइन द्वन्द्वात्मक टकराव को ही कुंजीभूत कड़ी बनाकर यथार्थ के संज्ञान पर अविचल रूप से बल देते हैं।**

आइज़ेंस्ताइन ने कलात्मक संज्ञान और यथार्थ के कलात्मक पुनर्सृजन के प्रश्न पर अनुभववादी पद्धति को छोड़कर दार्शनिक ढंग से सोचने की शुरुआत दरअसल तभी कर दी थी जब उन्होंने गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद महान और विवादास्पद नाट्य-निर्देशक **व्सेवेलोद मेयरहोल्ड** के साथ थिएटर में डिज़ाइनर और फिर निर्देशक के रूप में काम करना शुरू किया था। यहीं उन्होंने थिएटर की अपेक्षा सिनेमा की शक्ति को पहचाना और यथार्थ की हूबहू प्रस्तुति की प्रकृतवादी सोच से निर्णायक विच्छेद करके यथार्थवाद की उस अवधारणा की दिशा में यात्रा की शुरुआत की जो जीवन के सारभूत आन्तरिक द्वन्द्वों की शिनाख़्त और पड़ताल पर तथा उनके समाधान की जनपक्षीय दिशा की समझ पर बल देती थी। यथार्थवाद की यह नई समझ अनुभूतिजन्य भावावेग के बजाय दर्शकों में एक आलोचनात्मक विवेक पैदा करने पर बल देती थी। आगे हम इस बात की अलग से चर्चा करेंगे कि आइज़ेंस्ताइन, बरास्ता मेयरहोल्ड, किस प्रकार **ब्रेष्ट** के रंग-चिन्तन से जुड़ते हैं और उसे सिनेमा में गुणात्मक छलाँग के ज़रिए आगे ले जाते हैं जबकि पुदोवकिन स्तानिस्लाव्स्की के रंग-चिन्तन को सिनेमा की दुनिया में क्रियान्वित-विस्तारित करते प्रतीत होते हैं।

आइज़ेंस्ताइन ने 1922-23 में, थिएटर से सिनेमा की दुनिया के संक्रमण की तैयारी करते हुए, कुलेशोव के मातहत अध्ययन की शुरुआत की। मोन्ताज विषयक अपनी अवधारणाओं को उन्होंने पहली बार *'आकर्षणों का मोन्ताज'* नामक लेख में सूत्रबद्ध किया जो कवि **मयाकोव्स्की** द्वारा सम्पादित पत्रिका *'लेफ'* में प्रकाशित

हुआ। यह लेख एक तरह से, आइज़ेंस्ताइन की नई कलात्मक मुहिम का सैद्धान्तिक घोषणापत्र था। इसमें उन्होंने इस बात की वकालत की थी कि एजिटेशन के उद्देश्य से, दर्शकों पर सुविचारित भावनात्मक झटकों द्वारा चोट की जानी चाहिए। मोन्ताज विषयक अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि शॉट 'अ' और शॉट 'ब' को इस प्रकार अन्तर्सम्बन्धित होना चाहिए कि उनका योग 'स' हो जाए, लेकिन 'स' भी स्वयं में एक शॉट हो। यह 'थीसिस-एण्टीथीसिस-सिन्थेसिस' का सिनेमाई समतुल्य था। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए उन्होंने जापानी लिपि से एक दिलचस्प सादृश्य-निरूपण प्रस्तुत किया। जापानी लेखन में कैरेक्टर्स का संयोजन इस प्रकार किया जाता है कि 'कुत्ता' के लिए प्रयुक्त कैरेक्टर को जब 'मुँह' के लिए प्रयुक्त कैरेक्टर से जोड़ा जाता है तो उसका नतीजा मात्र 'कुत्ते का मुँह' नहीं होता, बल्कि 'भौंकने' की नई अवधारणा अभिव्यक्त होती है। आइज़ेंस्ताइन ने मोन्ताज की तुलना एक आन्तरिक दहन इंजन के भीतर के उन विस्फोटों से की जिनके चलते कार आगे की ओर गतिमान होती है। मोन्ताज विषयक अपनी इस अवधारणा को आइज़ेंस्ताइन ने सबसे सटीक और प्रातिनिधिक ढंग से अपनी फ़िल्म *'बैटलशिप पोतेमकिन'* में प्रस्तुत किया। लेकिन मोन्ताज की द्वन्द्वात्मक अवधारणा को व्यवहृत करने वाले इस महान ऐतिहासिक प्रयोग से पहले आइज़ेंस्ताइन अपनी पहली फ़िल्म *'स्ट्राइक'* में इसका पूर्वरंग प्रस्तुत कर चुके थे।

प्रयोगों के दौरान अन्तरविरोधों से जूझकर आगे बढ़ती एक महान विचार–यात्रा

1924 में, प्रोलेतकुल्त थिएटर ने, जिससे जुड़कर कई नाटकों के लिए डिज़ाइनिंग और निर्देशन का काम आइज़ेंस्ताइन ने किया था, उन्हें *'सर्वहारा अधिनायकत्व की ओर'* फ़िल्म-शृंखला के आठ प्रसंगों/कड़ियों में से एक के निर्देशन की ज़िम्मेदारी सौंपी। इसी का नतीजा *'स्ट्राइक'* फ़िल्म के रूप में सामने आया जिसने सोवियत सिनेमा की दिशा बदल दी। यह फ़िल्म ज़ारकालीन रूस में मज़दूरों की एक हड़ताल की पूरी प्रक्रिया और फिर उसके क्रूर दमन को दर्शाती थी। मजुदर वर्ग की ऊर्जा और प्रचण्ड शक्ति के साथ ही शासक वर्गों के जासूसों, उकसावेबाज़ों और सशस्त्र दस्तों की भूमिका को फ़िल्म में प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया गया था। फ़िल्म का अन्त उन दो दृश्यों के इतिहास-प्रसिद्ध अध्यारोपण से किया गया था जिनमें से एक में मज़दूरों का नरसंहार और दूसरे में एक साँड़ को जिबह किए जाते दिखाया गया था। इस फ़िल्म में पहली बार आइज़ेंस्ताइन ने मोन्ताज की अवधारणा को व्यवहार में लागू किया। अपने रंगकर्म दिनों में लिखित *'आकर्षणों का मोन्ताज '* में उन्होंने दर्शकों के ऊपर दहलाने वाले, चमत्कारिक दृश्यों की बौछार की जो बात की थी, उससे भी दो क़दम आगे जाते हुए इस फ़िल्म में डाक्युमेण्टरी पद्धति को पूरी तरह से खरिज कर दिया गया था। फ़िल्म घटनाक्रम का सुव्यवस्थित ब्योरा प्रस्तुत करने की जगह इतिहास के प्रातिनिधिक तथ्यों के व्यवस्थित चयन से निगमित तर्क को दर्शक तक पहुँचाने की कोशिश करती है और वैयक्तिक नायक के चलन को तोड़ती हुई, पहली बार मज़दूर वर्ग को सामूहिक नायक के रूप में उपस्थित करती है। *'स्ट्राइक'* के निर्माण और प्रदर्शन के दौर में आइज़ेंस्ताइन फ़िल्म-निर्माण के कलात्मक-तकनीकी पक्षों से भी अधिक सिनेमा को लेकर गहन दार्शनिक प्रश्नों से टकरा रहे थे और पुदोवकिन जैसे साथी सहकर्मियों से घनघोर बहस जारी थी। उस दौर को याद करते हुए बाद में उन्होंने लिखा था कि उस माहौल में मेरे पढ़ने की मेज़ पर भौतिकवादी द्वन्द्ववादियों की कृतियों ने सौन्दर्यशास्त्र की पुस्तकों को विस्थापित कर दिया था।

1925 में 'बैटलशिप पोतेमकिन' फ़िल्म बनी और रिलीज़ हुई। 1905 की रूसी क्रान्ति की वर्षगाँठ के उपलक्ष में सरकार ने कुछ फ़िल्मों के निर्माण का फ़ैसला लिया था जिनमें से एक की ज़िम्मेदारी आइज़ेंस्ताइन को दी गई। सिनेमा में चित्रित युद्धपोत पोतेमकिन के नौसैनिकों का विद्रोह मूलतः 1905 के क्रान्तिकारी घटना-परिदृश्य को दिखलाने वाले तमाम सीक्वेंसेज़ में से एक था। लेकिन जब पटकथा पर काम आगे बढ़ा तो आइज़ेंस्ताइन को लगा कि नौसैनिकों के विद्रोह, ओदेस्सा के मज़दूरों की उत्साहजनक प्रतिक्रिया और

कज़्ज़ाकों द्वारा बर्बर दमन का पूरा घटनाक्रम अपने आप में 1905 के क्रान्ति की स्पिरिट और सारतत्त्व को प्रातिनिधिक ढंग से अभिव्यक्त करता है। दूसरे, वे इतिहास का डॉक्युमेंटरी जैसा विवरणात्मक ब्योरा प्रस्तुत करने के बजाय करना भी यही चाहते थे क्योंकि उनके लेखे कलाकृति का प्रयोजन भी यही होता है। नतीजतन, पूरी फ़िल्म पोतेमकिन पर विद्रोह और ओदेस्सा की घटनाओं पर ही केन्द्रित कर दी गई।

'बैटलशिप पोतेमकिन' न केवल आइज़ेंस्ताइन की मोन्ताज-विषयक अवधारणाओं को मूर्त रूप देने वाली सर्वाधिक प्रातिनिधिक फ़िल्म थी, बल्कि यह उनके जीनियस की घनीभूततम और सफलतम अभिव्यक्ति भी थी। कई बार इसे दुनिया की महानतम फ़िल्म का दर्ज़ा मिला और आज भी जब कभी दुनिया के सिनेमाविद् और सिने-आलोचकगण सार्वकालिक महान फ़िल्मों की कोई सूची बनाते हैं तो उसमें *'पोतेमकिन'* अवश्य ही शामिल होती है। फ़िल्म के प्रभाव का यह आलम था कि इण्डोनेशिया में डच युद्धपोत पर विद्रोह करने वाले नौसैनिकों ने अपने मुक़दमे के दौरान यह स्वीकार किया था कि विद्रोह की प्रेरणा उन्हें *'बैटलशिप पोतेमकिन'* फ़िल्म से मिली थी। पूरे चौथे दशक के दौरान यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन में इस फ़िल्म की प्रचण्ड लोकप्रियता बनी रही। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद, इस फ़िल्म के कारण जापान में एक राजनीतिक संघर्ष उठ खड़ा हुआ था और इस फ़िल्म को ज़्यादा से ज़्यादा मज़दूरों को दिखाने के लिए एक नागरिक कमेटी का भी गठन किया गया था।

यह फ़िल्म न केवल जनसमुदाय की समष्टिगत शक्ति, इतिहास-निर्मात्री शक्ति और अजेयता की स्पिरिट तथा सत्तातंत्र की बर्बरता के यथार्थ को सेल्युलॉयड पर पकड़ने और प्रस्तुत करने का एक सचेत और वैज्ञानिक ढंग से सुविचारित प्रयास थी, बल्कि यह दर्शकों को एक आलोचनात्मक दृष्टि देने के साथ ही उनमें शक्तिशाली भावोद्रेक पैदा करने का भी काम कर रही थी। परम्परागत थिएटर-प्रस्तुतियों में भावनात्मक आवेग का जो वर्चस्व होता था और एपिक थिएटर-प्रस्तुतियों में वस्तुपरक तर्कणा का जो वर्चस्व होता था, उन दोनों का द्वन्द्वात्मक संश्लेषण पहली बार आइज़ेंस्ताइन ने व्यावहारिक धरातल पर *'पोतेमकिन'* में प्रस्तुत किया और फिर इसके सिद्धान्तीकरण की दिशा में आगे क़दम बढ़ाया, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

'बैटलशिप पोतेमकिन' में वस्तुगत और मनोगत उपादानों के कुशल द्वन्द्वात्मक सन्तुलन के पीछे सर्वोपरि कारण यह है कि फ़िल्म में, प्रारम्भिक अन्तर्बोध के बाद आइज़ेंस्ताइन ने हर तफ़सील को अत्यन्त सावधानी से नियोजित किया और पहली बार वे अपनी इस स्थापना को व्यवहारतः सिद्ध करने में सफल रहे कि मोन्ताज महज़ एक सम्पादन-तकनीक ही नहीं है। पूरी फ़िल्म में हमें शॉट्स के भीतर काउण्टरप्वाइण्ट, सभी सीक्वेंसेज़ के बीच काउण्टरप्वाइण्ट, मूड, टेम्पो, टोन, टेक्स्चर, चेहरों और जनसंकुलों का 'काउण्टरप्वाइण्ट' देखने को मिलते हैं। प्रत्येक टकराव एक ही बुनियादी टकराव को अभिव्यक्त करता है : ओदेस्सा में और समूचे रूस में 1905 की क्रान्ति के दौरान वर्गों का टकराव। ओदेस्सा बन्दरगाह की सीढ़ियों वाला सीक्वेंस शायद फ़िल्म का सर्वाधिक प्रसिद्ध और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सीक्वेंस है जिसमें कज़्ज़ाकों को उन नागरिकों का क़त्लेआम करते दिखलाया गया है जो पोतेमकिन के विद्रोहियों का स्वागत करने के लिए बन्दरगाह की ओर उतरती सीढ़ियों पर एकत्र हैं। आइज़ेंस्ताइन ने प्रस्फोटों की एक शृंखला के रूप में मोन्ताज की जो अवधारणा प्रस्तुत की थी, उसको पूरी तरह, हर पहलू से इस सीक्वेंस ने मूर्त रूप दे दिया है। भीड़ का उमड़ना, मार्च करते सफ़ेद बूटों के शॉट्स, तलवारों का चमकना, क्षणांश के लिए स्क्रीन पर चेहरों के क्लोज़-अप्स का भर जाना, एक ओर कज़्ज़ाकों के दबाव से भीड़ का ऊपर सीढ़ियों की ओर वापस जाना और दूसरी ओर ठीक उसी समय एक बच्चागाड़ी का लम्बी सीढ़ियों पर नीचे की ओर ढुलकते जाना। परस्पर-विरोधी शॉट्स की टक्कर से सिनेमा में नई अर्थोत्पत्ति के जिस द्वन्द्ववादी मोन्ताज-सिद्धान्त का विस्तृत निरूपण आगे चलकर आइज़ेंस्ताइन ने *'फ़िल्म सेंस'* (1942 में प्रकाशित) और *'फ़िल्म फ़ॉर्म'* (1949 में प्रकाशित) पुस्तकों में संकलित लेखों में किया, उसका सर्वाधिक प्रतिनिधि उदाहरण वे पहले ही "ओदेस्सा की सीढ़ियों" के सीक्वेंस में प्रस्तुत कर चुके थे। इस सीक्वेंस की शक्ति तब उभरकर सामने आती है जब दर्शक का दिमाग़ अलग-अलग, स्वतंत्र शॉट्स को मिलाकर एक नया, भिन्न, अवधारणात्मक प्रभाव निर्मित

कर लेता है जो उन शॉट्स के विवरणात्मक पहलू को एकदम पीछे धकेल देता है। सिनेमाई दिक् और काल के त्वरित परिचालन और उलट-पुलट से, सीढ़ियों पर क़त्लेआम तथा नीचे कज्जाक और ऊपर ज़ार की मिलिशिया के बीच सैकड़ों नागरिकों के फँसे होने का दृश्य एक शक्तिशाली प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण कर लेता है।

आइज़ेंस्ताइन का अगला प्रोजेक्ट *'अक्टूबर'* फ़िल्म का निर्माण था जो 1928 में प्रदर्शित हुई। अक्टूबर-क्रान्ति की दसवीं वर्षगाँठ के आयोजन के निमित्त बनने वाली फ़िल्मों में से यह भी एक थी। क्रान्ति के इतिहास-सम्बन्धी दस्तावेज़ों की गहन छानबीन के बाद आइज़ेंस्ताइन ने जो फ़िल्म तैयार की, वह कथा-फ़िल्म के रहे-सहे ताने-बाने को भी छिन्न-भिन्न करती हुई शायद फ़िल्म-निबन्ध जैसी कोई चीज़ थी। *'पोतेमकिन'* यदि प्रकृति से पूरी तरह एक एजिटेशनल फ़िल्म थी, तो *'अक्टूबर'* एक सैद्धान्तिक विमर्श प्रस्तुत करती प्रोपेगैण्डा फ़िल्म थी। आइज़ेंस्ताइन ने *'स्ट्राइक'* और *'पोतेमकिन'* के बाद अपनी सिने-सैद्धान्तिकी को और आगे विकसित करते हुए, जानबूझकर 'अक्टूबर' को "बौद्धिक" या "विचारधारात्मक" मोन्ताज की एक प्रयोगशाला के रूप में इस्तेमाल किया। इसमें उनकी सम्पादन-प्रक्रिया और अधिक अमूर्त हो गई। शॉट्स के बीच का सम्बन्ध-स्थापन इसमें चाक्षुष या भावनात्मक न होकर अवधारणात्मक हो गया। इस फ़िल्म की न केवल आलोचकों ने काफ़ी आलोचना की, बल्कि दर्शकों ने भी इसके काफ़ी हद तक अबूझ होने की शिकायत की। सोवियत संघ के कला-विशेषज्ञों ने और कम्युनिस्ट पार्टी के सांस्कृतिक मामलों से सम्बद्ध लोगों ने भी आइज़ेंस्ताइन पर रूपवादी अतिरेक, कुलीनतावाद और सौन्दर्यवाद का आरोप लगाया। इन आलोचनाओं का आइज़ेंस्ताइन ने कोई प्रतिकार नहीं किया। उनकी केन्द्रीय चिन्ता और चिन्तन का विषय यह था कि द्वन्द्ववादी ट्रीटमेण्ट में वे विफल कहाँ रहे? क्या सिनेमा जैसा सर्वोन्नत कला-माध्यम भी विचार-सम्प्रेषण या विचारधारा-निरूपण का सापेक्षतः अधिक प्रत्यक्ष और अधिक प्रभावी साधन नहीं बन सकता? इस ऊहापोह के बीच ही आइज़ेंस्ताइन ने अपनी नई फ़िल्म *'ओल्ड ऐण्ड न्यू'* (1929) पर काम शुरू किया। यह फ़िल्म सोवियत संघ के देहातों में कृषि के सामूहिकीकरण और मशीनीकरण की मुहिम पर केन्द्रित थी। *'पोतेमकिन'* की उग्रता, आवेगात्मकता और चुस्ती के विपरीत यह फ़िल्म शान्त और फैली हुई थी। इसकी संरचना कुछ-कुछ, एक प्रगीतात्मक कविता जैसी थी। इस फ़िल्म में पहली बार आइज़ेंस्ताइन ने अमूर्त रंग का प्रयोग किया और मूक फ़िल्म में ध्वनि के इस्तेमाल की भी कोशिश की। इस फ़िल्म को भी रूपवादी भटकाव के उन्हीं आरोपों का सामना करना पड़ा जो *'अक्टूबर'* पर लग चुके थे। आज पुनरावलोकन करते हुए कहा जा सकता है कि फ़िल्म उत्पादन-सम्बन्धों और सामाजिक सम्बन्धों के समाजवादी रूपान्तरण, भौतिक प्रगति और जीवन-मूल्यों और जीवन-शैली के स्तर पर जारी नये-पुराने के टकराव को तो दिखलाती है, लेकिन समाजवादी संक्रमण के पूरे दौर में जारी वर्ग-संघर्ष के विविध सूक्ष्म और व्यापक रूपों पर रोशनी नहीं डालती। लेकिन इसके लिए आइज़ेंस्ताइन की विचार-दृष्टि दोषी नहीं थी। समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष की निरन्तरता के बारे में स्पष्ट समझ बनने की शुरुआत ही सोवियत संघ में पाँचवें दशक के अन्त में हुई और इस प्रक्रिया को परिणति तक पहुँचाने का काम *चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति* (1966-67) ने किया। *'ओल्ड ऐण्ड न्यू'* के निर्माण के समय सामान्य सोच यही हुआ करती थी कि स्वामित्व के रूप सहित उत्पादन के सम्बन्धों में बदलाव और फिर उसके बाद उत्पादक शक्तियों का विकास—समाजवादी रूपान्तरण का यही मुख्य कार्यभार है।

बहरहाल, एक बार फिर हम आइज़ेंस्ताइन की केन्द्रीय चिन्ता की ओर वापस लौटें। कला की सामाजिक भूमिका के प्रश्न पर सोचते हुए आइज़ेंस्ताइन एक सर्वोन्नत कला के रूप में फ़िल्म-विधा से अधिकतम सम्भव की उम्मीद कर रहे थे और यह भी अपेक्षा कर रहे थे कि परम्परागत वर्णनात्मकता, प्रत्यक्षता और परम्परागत प्रतीकवाद से ऊपर उठकर फ़िल्म विधा अमूर्तन तथा बिम्बात्मकता की नई ऊँचाइयों को पा लेगी और फिर सामाजिक चेतना यथार्थ के इस अति उन्नत-अति अमूर्त कलात्मक पुनर्सृजन के अवबोध के ज़रिए वास्तविक जगत का अवधारणात्मक ज्ञान प्राप्त करेगी तो वह अत्यन्त उन्नत, व्यापक और सूक्ष्म स्तर का होगा।

चिन्तन–प्रक्रिया को उद्घाटित करने वाली रहस्यमय डायरी और `पूँजी' पर फ़िल्म बनाने की योजना

आइज़ेंस्ताइन की मृत्यु के बरसों बाद उनके निवास स्थान से एक डायरी मिली जिसमें स्फुट टिप्पणियों की भरमार थी। ये नोट्स, काम करते हुए, शूटिंग के बीच, सम्पादन-कक्ष में, यहाँ-वहाँ लिये गए थे। ज़्यादातर नोट्स उन वर्षों के दौरान लिये गए हैं जब आइज़ेंस्ताइन *'अक्टूबर'* पूरी करने के बाद *'ओल्ड ऐण्ड न्यू'* बना रहे थे, और उन पर चारों तरफ़ से आक्रमणों की बौछार हो रही थी, यानी 1927 से 1930 के बीच।

इन नोट्स से पता चलता है कि *'अक्टूबर'* की कथित विफलता और अपने ऊपर लगे रूपवादी भटकाव के आरोप की पड़ताल करते हुए आइज़ेंस्ताइन इस प्रश्न से जूझ रहे थे कि **आख़िरकार यथार्थवाद है क्या? क्या यह यथार्थ की तफ़सीलों का ग्राफ़िक विस्तार के साथ वर्णनात्मक चित्रण मात्र है? क्या यह वस्तुगत यथार्थ को अधिक सघन और प्रातिनिधिक बनाने के लिए कलात्मक नाटकीयता के समावेशन तथा प्रतिनिधि व्यक्तिगत नायकों का सृजन करके उनके मनोजगत की गहराइयों में उतरने की प्रविधि मात्र है? यदि अमूर्तन तथा प्रतीक-रूपक-बिम्ब आदि, कला के अपरिहार्य संघटक अवयव होते हैं तो सभी कलाओं के संश्लेषण से गठित सर्वोन्नत कला—सिनेमा में परम्परागत कथात्मकता और चाक्षुष वर्णनात्मकता के रूप के सीमान्तों का अतिक्रमण करके, क्या उन्नत धरातल के अमूर्तन में छलाँग लगाना सिनेमा के यथार्थवाद का बुनियादी कार्यभार नहीं होना चाहिए?**

आइज़ेंस्ताइन ने अपनी डायरी की टिप्पणियों में लगातार, समाजवादी यथार्थवाद की इस यांत्रिक भौतिकवादी समझ का विरोध किया है कि चीज़ों का सीधा-सादा, सरल-सुगम, सम्प्रेषणीय, "शब्दशः प्रस्तुत" ब्योरा ही यथार्थवाद है और हर तरह का अमूर्तन रूपवाद के गड्ढे की ओर विपथगमन से अधिक कुछ नहीं है। सामाजिक जीवन की भौतिक अवस्थाओं के उन्नत होने तथा उन्नततर कला-विधाओं के प्रादुर्भाव के साथ ही आइज़ेंस्ताइन कलात्मक अमूर्तन की उन्नततर मंज़िलों की ओर छलाँग को जनता के सांस्कृतिक स्तरोन्नयन और कला की प्रगति के लिए अनिवार्य मानते थे। कला में *"साधारण जीवन से अमूर्त और सामान्यीकृत बिम्बावली में छलाँग"* को वे अनिवार्य मानते थे। अपनी प्रारम्भिक तीन फ़िल्मों में स्व-आविष्कृत, उद्भावनापरक मोन्ताज का ज़्यादा से ज़्यादा रचनात्मक प्रयोग करते हुए वे क़दम-ब-क़दम आगे बढ़े। *'स्ट्राइक'* समाज में वर्ग-संघर्ष के उद्भव-विकास और उसके रूपों पर बनी एक सुव्यवस्थित शैक्षिक फ़िल्म थी। *'पोतेमकिन'* एक एजिटेशनल फ़िल्म थी जिसमें क्रान्ति-कथा का विवरण या उसके किसी चरित्र को व्यक्तिगत प्रतिनिधि चरित्र बनाकर उसके मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वों का चित्रण प्रस्तुत करने के बजाय पूरी क्रान्ति की एक घटना के द्वन्द्वों को द्वन्द्वात्मक मोन्ताज-शैली के प्रयोग से इस तरह प्रस्तुत किया गया था कि निर्मित बिम्ब-शृंखला ने उस घटना को पूरी क्रान्ति का रूपक बना दिया और बुनियादी सामाजिक अन्तरविरोधों को अनावृत्त करते हुए वर्ग-संघर्ष की ऐतिहासिक शिक्षा को एक आवेगमय आह्वान में रूपान्तरित कर दिया। कथा-फ़िल्मों के वर्णनात्मक और अभिलेखन मूलक पारम्परिक व्यवहार से टकराते हुए *'अक्टूबर'* फ़िल्म में निस्सन्देह आइज़ेंस्ताइन एक दूसरे छोर पर जा खड़े प्रतीत होते हैं। दैनन्दिन जीवन के सिलसिलेवार चित्र प्रस्तुत करने और सामाजिक लक्ष्य को प्रतिनिधि चरित्रों/नायकों के जीवनलक्ष्य में रूपान्तरित करके उनके अन्तर्जगत के मनोवैज्ञानिक चित्रण की पद्धति के बरक्स आइज़ेंस्ताइन पूरी जनता के सामूहिक नायकत्व को और इतिहास के बुनियादी तर्क को पर्दे पर प्रक्षेपित कर देना चाहते थे तथा इस प्रक्रिया में फ़िल्म-विधा को अमूर्त, सामान्यीकृत बिम्बात्मकता की ऊँचाइयों तक ले जाना चाहते थे। इसकी तार्किक परिणति, ज़ाहिरा तौर पर इसी रूप में सामने आनी थी कि वे अमूर्त विचार के सुस्पष्ट तर्क का पक्ष लेकर कथा-सूत्र की अनिवार्यता को सिरे से खारिज कर दें। इसी का परिणाम था— *'अक्टूबर'* का निर्माण, वह पहला महान, मौलिक सिने-प्रयोग जिसमें आइज़ेंस्ताइन ने मूर्त तथ्यपरकता और कथात्मकता से पूरी तरह विच्छेद कर लिया। कहा जा सकता है कि यह एक चिन्तन-फ़िल्म थी जिसमें अक्टूबर क्रान्ति की घटनाओं को, घटनाओं के रूप में नहीं, बल्कि प्रमेयों

की एक पूरी शृंखला के निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया था। स्वयं आइज़ेंस्ताइन के शब्दों में, *"नाटक, कविता और बैले के बाद 'अक्टूबर' एक नया रूप प्रस्तुत करता है : विषय-वस्तुओं की शृंखला पर आधारित निबन्धों का संग्रह।"*

अधिकांश पहले, महान, मौलिक प्रयोगों की ही तरह 'अक्टूबर' में भी बहुतेरी अनगढ़ताएँ थीं, प्रयोगों की कई नवीनताएँ अबूझ थीं, अमूर्तन कई जगह पूरी तर्क-प्रक्रिया से विलग हो गया था जो दर्शकों में विभ्रम भी पैदा करता था। लेकिन आइजेंस्ताइन के लेखन और सिनेमा में आद्यन्त जो अविचल भौतिकवादी जीवन-दृष्टि और द्वन्द्वात्मक पद्धति के प्रति जो हठीला आग्रह मौजूद है, वह हमें विवश करता है कि एक प्रयोग की आंशिक विफलता पर, यदि हम उसमें रूपवादी और हेगेलियन प्रत्ययवादी द्वन्द्ववादी विचलन दीखते हों, तो भी फ़ैसले सुनाने के बजाय आइज़ेंस्ताइन के चिन्तन के आगे और पीछे के सूत्रों को जोड़ते हुए यह जानने की कोशिश करें कि आख़िरकार सिनेमा का यह महान सिद्धान्तकार क्या कहना और करना चाहता था?

'अक्टूबर' की कतिपय विफलताओं को प्रायोगिक विफलताओं के रूप में स्वीकार करते हुए भी आइज़ेंस्ताइन चिन्तन की अपनी मूल दिशा पर अविचल रहे। उनकी जिस डायरी की हमने ऊपर चर्चा की है, उसके नोट्स यह मानने का पर्याप्त आधार मुहैया कराते हैं कि आरोपों-अविश्वास और ग़लतफ़हमियों से जूझ रहे आइज़ेंस्ताइन अपने तर्कों को और धारदार बना रहे थे। *'स्ट्राइक', 'पोतेमकिन'* और *'अक्टूबर'* का नये सिरे से, बार-बार, सरल, वस्तुनिष्ठ, स्पष्टवक्तृता के साथ विश्लेषण करते हुए वे अपनी चूकों की शिनाख़्त कर रहे थे, इस बात की पड़ताल कर रहे थे कि ये फ़िल्में द्वन्द्वात्मक चिन्तन की शिक्षा देने में क्या भूमिका निभा सकीं और नये सिरे से इस यक्ष-प्रश्न के रूबरू खड़े हो रहे थे कि चिन्तन की प्रक्रिया का फ़िल्म में ऐसा अनुवाद आख़िरकार कैसे किया जाए कि जैसे चलते-फिरते चित्र अमूर्त विचारों को प्रकट कर रहे हों। यह सोचते हुए उनके दिमाग़ में अपनी अवधारणा को मूर्त रूप देने वाला एक अनूठा विचार आया और वह था **'पूँजी'** का फ़िल्मांकन। डायरी के प्रारम्भ में ही यह निश्चयात्मक घोषणा है : *"तो यह तय हो चुका है : हम पूँजी पर फ़िल्म बना रहे हैं : आलेख कार्ल मार्क्स का होगा। यही एकमात्र तार्किक समाधान है।"* यह डायरी मिलने तक **'पूँजी'** पर फ़िल्म बनाने की आइज़ेंस्ताइन की घोषणा को कमोबेश एक लन्तरानी, एक आधा गम्भीर आधा मज़ाकिया शिगूफा ही माना जाता था।

एक तरह के सिनेमाई निबन्ध, सिनेमा के ज़रिए वैचारिक हस्तक्षेप या सिनेमाई शोध-प्रबन्ध की रचना की महत्त्वाकांक्षा ने आइज़ेंस्ताइन को *'पूँजी'* के फ़िल्मांकन के विचार तक पहुँचाया। इस सोच की अगली कड़ी यह थी कि परम्परागत सिनेमा की सामान्य वाचिक संरचना और कथा को क्रमशः आगे बढ़ाते हुए दृश्यबन्ध से मुक्त होने के बाद, हम अपने परिवेश की एकदम साधारण चीज़ों का नये सिरे से अन्वेषण करें, परस्पर-विरोधी सामान्य घटनाओं-क्रियाओं को इस प्रकार 'जक्स्टापोज़' करें कि वे एक नये अर्थसन्धान की परिणति तक जा पहुँचें और वह भी किसी घटना के माध्यम से ही चाक्षुष बिम्ब में ढलकर स्वयं को प्रकट करे। 'पूँजी' पर फ़िल्म बनाने की अपनी महत्त्वाकांक्षी योजना के लिए कच्चा माल आइज़ेंस्ताइन ने प्रायः दैनिक पत्रों से जुटाया और साथ ही ऐसे कुछ सामान्य दृश्यों की एक सूची तैयार की, जिनके परस्पर विरोधी युग्मों का संयोजन किसी संश्लेषण की स्थिति में पहुँचकर एक सुनिश्चित अर्थ या विचार तक जा पहुँचता हो : पेरिस में युद्ध से लौटे अपाहिज सैनिक की आत्महत्या, सनकी भगवान जैसे आग़ाख़ान की उसके अनुयाइयों द्वारा भक्ति, शंघाई में भूखे मरते लोगों द्वारा विरोध स्वरूप स्वयं को कारों के आगे डाल देना आदि घटनाएँ और चर्च, स्टॉक एक्सचेंज आदि के परिचित दृश्य। इन्हीं साधारण-सी चीज़ों के सूक्ष्म ब्योरों के उद्‌भावनापरक मोन्ताज से अमूर्त विचारों को व्याख्या का मूर्त रूप देना, अमूर्तन के ढाँचे पर अति साधारणता को मांस-मज्जा की तरह मढ़ना और किसी एक वस्तु या दृश्य के सूत्र को पकड़कर सर्वाधिक दूरवर्ती साहचर्य के विस्फोट के ज़रिए यथार्थ के अवबोधन तथा अवधारणात्मक ज्ञान के नये-नये, उन्नत संस्तरों तक जा पहुँचना—आइज़ेंस्ताइन का यह उद्देश्य था। कथा-सूत्र को ज़्यादा से ज़्यादा, सामान्यीकरणों और अमूर्तनों की

बुनियादी संरचना को सहारा देने वाले एक स्तम्भ जितना ही होना चाहिए। उसे पूरे ताने-बाने का एक सूत्र मात्र होना चाहिए और ध्यानाकर्षण का केन्द्र तो कदापि नहीं बनना चाहिए। आइज़ेंस्ताइन का विचार था कि **कथात्मक-नाटकीय सामग्री का भार जितना कम होगा, फ़िल्म उतना ही अधिक वैचारिक सामग्री का भार उठा सकेगी और उसकी बौद्धिक क्षमता भी उतनी ही अधिक होगी।**

सर्वहारा सिनेमा में बौद्धिकता/तर्कणा के गुरुत्व और भावना/अनुभूति के संवेग के बीच द्वन्द्वात्मक संश्लेषण की अवधारणा

आइज़ेंस्ताइन जब आख्यानात्मक-नाटकीय सामग्री या कथा-सूत्र की वर्णनात्मकता को सिनेमा के केन्द्रीय संघटक उपादान के स्थान से विस्थापित करके महज़ एक बैसाखी या सहारा देने वाले स्तम्भ का दर्जा देते हैं, तो इसका मतलब यह कदापि नहीं कि वे राजनीतिक उपदेशवाद और दर्शकों पर अपनी बौद्धिक योजना थोपने की प्रवृत्ति के शिकार होकर कला के भाव-संवेगात्मक पक्ष को और सौन्दर्यात्मक अपेक्षाओं की पूर्ति के पक्ष को सिरे से खारिज कर रहे होते हैं। इसके विपरीत, आइज़ेंस्ताइन की चोट इस जड़ीभूत प्रस्तरीकृत मान्यता पर होती है कि भाव-संवेगात्मक तत्त्व किसी कलाकृति में तभी मौजूद हो सकते हैं और वह दर्शकों की सौन्दर्यात्मक अपेक्षाओं की पूर्ति तभी कर सकती है, जब उसमें तथ्यों का आख्यानपरक पुनर्सृजन या किस्सागोई मौजूद हो। इसके विपरीत, विषय-वस्तुओं की शृंखला द्वारा प्रक्षेपित विचारों का अपना भी एक सौन्दर्यात्मक पक्ष होता है।

आइज़ेंस्ताइन बौद्धिक सिनेमा की बात करते हुए कोरे सिद्धान्तों या तर्कणा या राजनीतिक सन्देश-सम्प्रेषण की बात नहीं करते, बल्कि चाक्षुष बिम्ब-विधान की मोन्ताज पद्धति के द्वारा वस्तुओं-प्रक्रियाओं-संरचनाओं के आन्तरिक द्वन्द्वों को उद्घाटित करने की बात करते हुए और "द्वन्द्वात्मक पद्धति की चाक्षुष तकनीक" को सूत्रबद्ध करने के अपने मूल लक्ष्य को रेखांकित करते हुए, किसी भी चीज़ से ज़्यादा, आइज़ेंस्ताइन को जिस चीज़ की तलाश थी, **वह थी बौद्धिकता और भावनात्मकता की, अथवा, तर्कणा और अनुभूति के द्वन्द्वात्मक संश्लेषण की।** यदि ये दो चीज़ें थीसिस और एण्टी-थीसिस के रूप में कला में आती हैं तो इनकी तार्किक निष्पत्ति सिन्थेसिस के रूप में सामने आनी ही चाहिए। आइज़ेंस्ताइन लिखते हैं : *"मैं सोचता हूँ कि बौद्धिक आकर्षण भावनात्मक आवेग को कभी अलग नहीं करता।"* और आगे बढ़ते हुए वे तर्क के भावनात्मक आवेग की और भावनात्मक आवेग के तर्क की बात करते हैं। साथ ही, एक सच्चे भौतिकवादी द्वन्द्ववादी के समान, भावनात्मक और तार्किक तत्त्वों की एकता की बात करते हुए आइज़ेंस्ताइन उनमें स्पष्ट अन्तर की आवश्यकता पर भी पूरा बल देते हैं। वे कहते हैं कि मोन्ताज संरचना के प्रभावशाली होने की शर्त है कि वह भावनात्मक उद्गार के रहस्यमय नियम खोज निकाले। एक ओर वे 'भावावेगों के तर्क' की बात करते हैं और दूसरी ओर उनका मानना है कि चिन्तन ठोस-मूर्त तथ्यों के वस्तुपरक नियमों से प्रत्यक्षतः संचालित नहीं होता, बल्कि कर्ता उन तथ्यों के गहन आन्तरिक अर्थों को गहराई से महसूस करता है। यानी हर तार्किक धारणा एक सघन भावनात्मक जुड़ाव के साथ ही अस्तित्वमान होती है।

अपने विरोधियों की आलोचना करते हुए आइज़ेंस्ताइन लिखते हैं : *"वे संश्लेषण (या संवाद) की एकांगी माँगों के पाप में गिर गए हैं। वे वैचारिक विश्लेषण और भावावेगात्मक संश्लेषण के बीच अन्तर्निर्भरता को भी नहीं समझते। वे वैचारिक मुक्ति देने वाले और मस्तिष्क को समृद्ध करने वाले पद्धति-शास्त्र के बजाय मार्ग-निर्देशन की उम्मीद रखते हैं।"*

चिन्तन की इसी दिशा में आगे बढ़ते हुए, आइज़ेंस्ताइन ने विचारों के गुरुत्व और भावनाओं के आवेग के पृथक्करण और फिर सम्भाविक एकता की शानदार ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की। उनका मानना था कि प्राक्वर्गीय समाज में और कमोबेश वर्ग-समाज की प्रारम्भिक अवस्थाओं तक ज्ञान का चरित्र भावावेगात्मक या अनुभूतिमूलक भी था और सामूहिक विवेक या तर्कणा के रूप में भी। जैसे-जैसे श्रम-विभाजन

और समष्टि के विघटन की प्रक्रिया आगे बढ़ी, वैसे-वैसे ये दोनों ज़्यादा से ज़्यादा विलग होते गये। एक ओर शुद्ध अमूर्तन, सैद्धान्तिक दर्शन या तर्कणा और दूसरी ओर, शुद्ध भावनात्मक आवेग या अनुभूति। वर्ग-विहीनता की दिशा में गतिमान समाजवादी समाज में सर्वहारा कला का विकास कालान्तर में इस विलगाव को दूर करेगा और सर्वोन्नत कला-माध्यम के रूप में अकेली फ़िल्म-विधा ही इस महासंश्लेषण में समर्थ है।

आइज़ेंस्ताइन 1927 के बाद के जिन वर्षों में अपनी डायरी में ये टिप्पणियाँ दर्ज़ कर रहे थे, उसके ठीक बाद, 1929 के अन्त में वे पेरिस गये। वहाँ, 1930 में, अपने बहुचर्चित सॉरबोन भाषण में उन्होंने उपरोक्त प्रसंग में जो बातें कहीं, वे डायरी की सन्दर्भित टिप्पणियों की ही एक सुव्यवस्थित प्रस्तुति थीं :

"प्राचीनतम काल, जादू और धर्म के काल में ज्ञान भावनात्मक आवेग और सामूहिक विवेक दोनों था। फिर द्वैतवाद के प्रभाव में वस्तुएँ अलग-अलग हुईं। एक ओर निरा सैद्धान्तिक दर्शन, शुद्ध अमूर्तन था और दूसरी ओर शुद्ध भावना या आवेग। हमें अवश्य ही लौटना होगा लेकिन आदिम (धार्मिक पड़ाव की) स्थिति की ओर नहीं, बल्कि भावनात्मक और बौद्धिक तत्त्वों के सहधर्मी संश्लेषण की स्थिति में। मैं सोचता हूँ कि अकेली फ़िल्म-विधा ही इस महासंश्लेषण में सक्षम है। वही सक्षम है कि बुद्धि को उसके सक्रिय और ठोस भावनात्मक स्रोतों तक लौटा सके। वही हमारा रास्ता है और निर्दिष्ट कर्म है, जिसे हमने चुना है। वही मेरी नई फ़िल्म का प्रस्थान-बिन्दु होगा। वह फ़िल्म जो कामगारों और किसानों को द्वन्द्वात्मक चिन्तन के लिए दिशा-निर्देश करेगी। वह फ़िल्म होगी मार्क्स की 'पूँजी'।"

स्तानिस्लाव्स्की–पुदोवकिन बनाम मेयरहोल्ड–ब्रेष्ट–आइज़ेंस्ताइन— थिएटर से सिनेमा तक दो धाराओं का टकराव और आगे का रास्ता

अब हम थिएटर और सिनेमा के क्षेत्रों के सुधीजनों के सामने सोचने के लिए कुछ विचारोत्तेजक प्रश्न उपस्थित करना चाहेंगे। यह कोई तर्कातीत अटकल या महज़ पूर्वानुमान नहीं है, बल्कि यह मानने के पर्याप्त आधार मौजूद हैं कि मोन्ताज-विषयक अवधारणात्मक वाद-विवाद में आइज़ेंस्ताइन और पुदोवकिन की जो अवस्थितियाँ थीं वे क्रमशः ब्रेष्ट की एपिक थिएटर विषयक अवस्थिति और स्तानिस्लाव्स्की की ड्रामेटिक थिएटर विषयक अविस्थिति के निकट थीं।

स्तानिस्लाव्स्की का थिएटर भी नाटक के कथात्मक ताने-बाने पर विशेष ज़ोर देता था और सामाजिक जीवन के घटना-प्रवाह को पृष्ठभूमि के रूप में इस्तेमाल करते हुए प्रतिनिधि चरित्रों के मनोजगत के द्वन्द्वों को उभारने का प्रयास करता था। इसके लिए, स्तानिस्लाव्स्की का कहना था कि अभिनेता को अभिनीत चरित्र के साथ स्वयं को सम्पूर्णतः आइडेण्टिफाई करना चाहिए। स्तानिस्लाव्स्की की *'अंगज व्यापार विधि'* के अनुसार, क्रिया (अभिनय) अनुभूति को और फिर अनुभूति चिन्तन को जन्म देती है। अभिनेता द्वारा अनुभूत अनुभूति तीव्र-सजीव होनी चाहिए। तब फिर वह दर्शकों को भी भावावेगात्मक रूप से संक्रमित कर देगी, उनके हृदय में प्रतिध्वनि उत्पन्न करेगी। दर्शक अभिनेता के साथ तदनुभूति से जुड़ जाएगा। इस तरह दर्शक की भावनाओं को एक सुनिश्चित दिशा में निर्देशित करके थिएटर उसके चिन्तन को निर्देशित करेगा।

ब्रेष्ट स्तानिस्लाव्स्की के रंग-सिद्धान्त पर एकरेखीयता का, क्रमिक विकास के सिद्धान्त का आरोप लगाते हैं। ग़ौरतलब है कि वे स्तानिस्लाव्स्की के परम्परागत नाटकीय रंगमंच से जब एपिक रंगमंच की तुलना करते हैं तो एकरेखीय विकास के बरक्स मोड़ों-घुमावों से होकर विकास की बात करते हैं, कथा के क्रमिक विकास की जगह मोन्ताज की (ग़ौर करें, मोन्ताज की) बात करते हैं, अनुभूति के बरक्स विश्व-दृष्टिकोण को रखते हैं, भावना के सामने तर्कबुद्धि को रखते हैं, क्रमिक विकास के नियतत्ववाद की जगह उछालों की बात करते हैं तथा दर्शक को मंचीय व्यापार में शामिल करके उसकी सक्रियता समाप्त करने के बजाय उसे प्रेक्षक बनाए रखकर उसकी सक्रियता जगाने पर बल देते हैं। ('दि मॉडर्न थिएटर इज़ दि एपिक थिएटर', ब्रेष्ट ऑन

थिएटर, 1974, लन्दन, पृ. 37) ब्रेष्ट मनुष्य की स्वतःस्फूर्त भावना और अन्धसहजवृत्ति को उभाड़कर जनोत्तेजक ढंग से उसे किसी पक्ष में खड़ा करने को सर्वहारा जनवादी चेतना के प्रतिकूल मानते थे, वे भावना के बजाय मनुष्य के आलोचनात्मक विवेक को जगाने पर बल देते थे। इसके लिए, उनका मानना था कि अभिनेता और बिम्ब के बीच एक निश्चित दूरी बनी रहनी चाहिए और अभिनेता को अपने द्वारा सृजित बिम्ब का "तटस्थ रहकर" अवलोकन करना चाहिए।

एलियनेशन के इस सिद्धान्त को ब्रेष्ट के "एपिक थिएटर' के दायरे के बाहर, अपने-अपने ढंग से जो लोग लागू कर रहे थे, वे थे सोवियत नाट्य निर्देशक **मेयरहोल्ड** और **वाख़्तांगोव**। सच तो यह है कि ब्रेष्ट से भी कुछ पहले ही मेयरहोल्ड ने एलियनेशन की अवधारणा को रखना और प्रयोग में लाना शुरू कर दिया था। मेयरहोल्ड स्तानिस्लाव्स्की के शिष्य थे, लेकिन आचार्य से दूरी लेते हुए उन्होंने यह विचार प्रतिपादित किया कि अभिनेता को चरित्र में विलीन नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि दोनों के बीच एक दूरी होनी चाहिए ताकि अभिनेता अभिनीत चरित्र के प्रति अपने रुख को भी अभिव्यक्त कर सके।

दो धाराओं की इस पूरी बहस को समझने के बाद, पुदोवकिन के 'संज्ञानात्मक सहयोजन (cognitive linkage) का सिद्धान्त' और आइज़ेंस्ताइन के 'विरुद्धों के संघर्ष का सिद्धान्त' के बीच के संघर्ष को, विवरणात्मक मोन्ताज बनाम उद्‌भावनापरक मोन्ताज पर बहस को एक बार फिर पूरे परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भावना और अन्तर्जगत के चित्रण पर बल देने वाले पुदोवकिन सिनेमा में स्तानिस्लाव्स्की की रंग-सैद्धान्तिक धारा की अगली कड़ी हैं, जबकि बौद्धिकता पर बल देते हुए कथा-सूत्र के रैखीय क्रमिक विकास का निषेध करने वाले आइज़ेंस्ताइन सिनेमा में ब्रेष्टीय रंग-सैद्धान्तिकी को विस्तार देते हुए प्रतीत होते हैं।

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि पुदोवकिन वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अभिनय की 'स्तानिस्लास्की-प्रणाली' को, जिसे 'अंगज व्यापार-विधि' भी कहा जाता है, सिनेमा में लागू किया। दूसरी ओर, यह भी ग़ौरतलब है कि सिनेमा में प्रवेश करने के पहले आइज़ेंस्ताइन ने प्रोलेतकुल्त थिएटर में मेयरहोल्ड के साथ काम करते हुए उनकी नाट्य-शैली से काफ़ी कुछ सीखा। मेयरहोल्ड की रंग-सैद्धान्तिकी और 'कुलेशोव-प्रभाव' के अत्यन्त सर्जनात्मक संश्लेषण ने ही आइज़ेंस्ताइन के फ़िल्म-सिद्धान्त की आधारशिला तैयार की।

ऊपर चर्चित जिस लेख (*'दि मॉडर्न थिएटर इज़ दि एपिक थिएटर'*) में ब्रेष्ट ने परम्परागत थिएटर से एपिक थिएटर की तुलना की है, वह लेख उन्होंने 1930 में लिखा था। उसमें वे परम्परागत थिएटर की 'विकास' की अवधारणा के बरक्स 'मोन्ताज' की अवधारणा की बात करते हैं। उल्लेखनीय है कि इसके ठीक पहले 1929 में बर्लिन में ब्रेष्ट और आइज़ेंस्ताइन की मुलाक़ात हुई थी। यह समय था जब आइज़ेंस्ताइन अपनी डायरी लिखते हुए सिनेमा के ऊपर चर्चित सैद्धान्तिक प्रश्नों से टकरा रहे थे और दूसरी ओर ब्रेष्ट लगातार "एपिक थिएटर' की सैद्धान्तिकी पर काम कर रहे थे। यह जानना सिनेमा और रंगकर्म के अध्येताओं के लिए बहुत दिलचस्प होता कि अपने-अपने क्षेत्र के इन दो महान आचार्यों के बीच, जो दृष्टिकोण और अवस्थिति में एक-दूसरे के इतने निकट थे, क्या बात हुई और दोनों ने एक-दूसरे के चिन्तन की दशा-दिशा को कितना प्रभावित किया।

बहरहाल, ब्रेष्ट के थिएटर और आइज़ेंस्ताइन के सिनेमा के बीच अवधारणात्मक धरातल पर जो एक फ़र्क़ था, वह यह कि एपिक थिएटर भावना और अनुभूति की जगह तर्कबुद्धि और विश्व-दृष्टिकोण पर बल देता था जबकि आइज़ेंस्ताइन का उद्‌भावनापरक मोन्ताज-शैली पर केन्द्रित सिनेमा भावना और तर्कबुद्धि के द्वन्द्वात्मक संश्लेषण को सर्वहारा कला के यक्ष-प्रश्न के कुंजीभूत समाधान के रूप में देख रहा था। कहा जा सकता है कि आइज़ेंस्ताइन की सोच ब्रेष्ट की अपेक्षा द्वन्द्वात्मक रूप से अधिक सन्तुलित और उन्नत प्रतीत होती है। पर इसका कारण इन दो आचार्यों की प्रतिभा के बीच का फ़र्क़ नहीं था बल्कि यह था कि आइज़ेंस्ताइन ब्रेष्ट के मुक़ाबले अधिक उन्नत कला-विधा के क्षेत्र में काम कर रहे थे और इस नाते, अधिक उन्नत और सूक्ष्म धरातल की सैद्धान्तिक समस्याएँ उनके सामने ज़्यादा जल्दी मूर्त रूप में आकर खड़ी होनी

ही थीं। दूसरे, यह तथ्य भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि हमउम्र होते हुए भी आइज़ेंस्ताइन रूस की स्थितियों में मार्क्सवादी पहले बने और सामाजिक वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा कला की पाठशालाओं में उन्हें जो घनीभूत प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर मिला वह ब्रेष्ट को नहीं मिला। लेकिन मुख्य बात यह है कि आइज़ेंस्ताइन बौद्धिकता और भावनात्मकता के द्वन्द्वात्मक संश्लेषण के नतीजे तक इसलिए जल्दी पहुँच सके कि अन्य सभी पूर्ववर्ती कलाओं को समाविष्ट कर लेने वाली तथा कला और विज्ञान के उन्नत संश्लेषण से निर्मित फ़िल्म विधा सर्वोन्नत कला-विधा है जो सर्वहारा संस्कृति और विचार के लिए सर्वाधिक अनुकूल है और इसी नाते, जैसाकि आइज़ेंस्ताइन ने स्वयं अपने सॉरबोन भाषण में कहा था : *"...अकेली फ़िल्म-विधा ही इस महासंश्लेषण में सक्षम है। वही सक्षम है कि बुद्धि को उसके सक्रिय और ठोस भावनात्मक स्रोतों तक लौटा सके।"*

दूसरा तथ्य जो ग़ौरतलब है, वह यह कि ब्रेष्ट चौथे दशक के उत्तरार्द्ध तक, भावना और तर्कबुद्धि के संश्लेषण के बारे में सोचने लगे थे और इस तरह की बातें करने लगे थे कि तर्कणा ही अनुभूति बन जाती है। "एपिक थिएटर' की अवधारणा आगे चलकर उन्हें अधूरी लगने लगी थी और वे "द्वन्द्वात्मक थिएटर' की बात करने लगे थे। यह समय था जब वे *'कुछ चीज़ें जो स्तानिस्लाव्स्की से सीखी जा सकती हैं'* जैसे लेख लिख रहे थे। बहरहाल, यह चर्चा प्रसंगान्तर होगी। इसलिए इसे हम यहीं विराम देते हैं।

चौथा–पाँचवाँ दशक : आइज़ेंस्ताइन की अवधारणाओं में कुछ परिवर्तन, कुछ संशोधन और कुछ प्रगति के वर्ष

पॉलिमिक्स में प्रायः ऐसा होता है कि प्रतिपक्ष से टकराते हुए एक सही अवस्थिति भी अक़सर दूसरे छोर पर जा खड़ी होती है। यह विचलन, इतिहास-पुरुषों के खण्डन-मण्डनात्मक लेखन तक में पाया जाता है।

कथा-फ़िल्मों की परम्परागत, विकासवादी विवरणात्मकता का विरोध करते हुए आइज़ेंस्ताइन ने जब अपनी मोन्ताज-शैली को विकसित किया तो एक तरह से **प्रकृतवाद का विरोध करते हुए वे आलोचनात्मक यथार्थवादी परम्परा का निषेध करने के छोर तक जा पहुँचे।**

दूसरी बात, आइजेंस्ताइन का यह सोचना सही था कि सर्वहारा सिनेमा में वह क्षमता और सम्भावना है कि वह कथा-सूत्र के पारम्परिक रूपबन्ध से मुक्त होकर जीवन के अन्तरतम लक्ष्य को अमूर्त सामान्य बिम्बावली में प्रकट कर सके। लेकिन महज़ सर्वहारा सिनेमा की इस क्षमता से यह तय नहीं हो जाता कि, समाजवादी समाज में भी, सभी सिने कृतियों से यह अपेक्षा पाली जाए। केवल समाजवादी समाज की उन्नत अवस्था में, जब मानसिक श्रम-शारीरिक श्रम के बीच का अन्तर तक मिट जाए, ऐसा हो पाएगा कि 'दर्शन रहस्य नहीं रह जाएगा', सिर्फ़ तभी कथात्मक सूत्र से विच्छेद कर चुका विचार-सिनेमा भी लोगों की कलात्मक-सौन्दर्यात्मक माँगों को भी पूरा कर सकेगा और सीधे अमूर्त विचार भी उन तक सम्प्रेषित कर सकेगा। समाजवाद की प्रारम्भिक अवस्थाओं की भौतिक स्थिति और जनता की चेतना के हिसाब से *'अक्टूबर'* जैसी फ़िल्म फिर भी लम्बे समय तक उन्नत चेतना वाले दर्शकों को सम्बोधित बौद्धिक सिनेमा की श्रेणी में ही रहेगी। बेशक, *'पोतेमकिन'* जैसी एजिटेशनल फ़िल्में आम जनता में ज़बर्दस्त रूप से लोकप्रिय होंगी लेकिन वे 'लोकप्रिय सिनेमा' का एकमात्र रूप नहीं हो सकतीं। स्वयं आइज़ेंस्ताइन के प्रमेय के आधार पर भी कहा जा सकता है कि ऐसी लोकप्रिय फ़िल्मों का भौतिक आधार और अनिवार्य आवश्यकता समाजवादी समाज में भी लम्बे समय तक बनी रहेगी जिनमें कथात्मक-नाटकीय सामग्री का भार अधिक हो और वैचारिक सामग्री या शिक्षामूलक सन्देश का भार कम हो।

तीसरी बात, बौद्धिकता और भावनात्मकता के द्वन्द्वात्मक संश्लेषण को लेकर। कोई भी द्वन्द्वात्मक संश्लेषण ऐसी स्थैतिक और निरपेक्ष प्रकृति का नहीं हो सकता जिसे हम सामान्य समीकरण के रूप में सभी कृतियों पर लागू कर दें। अनिवार्यतः कुछ कृतियों में बौद्धिकता का पहलू प्रधान होगा तो कुछ में भावनात्मकता

का पहलू। उन्नत सामाजिक भौतिक आधार और उन्नत चेतना की बुनियादी पूर्वशर्त की मौजूदगी में ही, हम सामान्य सिने-कृति से भी यह अपेक्षा कर सकते हैं कि वहाँ बौद्धिकता का भावनात्मक आवेग हो और भावना का बौद्धिक गुरुत्व, जहाँ तर्कणा एक अनुभूति हो और हर अनुभूति तर्कबुद्धिसंगत हो।

चौथी बात, जन समुदाय को नायक के रूप में प्रस्तुत करने का यह मतलब एकांगी है कि कलाकृतियों में व्यापक समूहों की गतिविधियों-क्रियाकलापों को ही प्रस्तुत किया जाए और प्रतिनिधि चरित्रों-नायकों को केन्द्र में रखकर उनके मनोजगत में चल रहे विचारों-भावनाओं के द्वन्द्व को उभारने तथा सामाजिक परिवर्तन की घटनाओं को मनोजगत के उक्त चित्रण के पृष्ठपट के रूप में प्रस्तुत करने की पद्धति का हर हाल में विरोध किया जाए। 'इतिहास का निर्माण जनता करती है'—इस सूत्र को हृदयंगम करने के साथ ही वर्ग-समाज में नायक या नेतृत्व की भूमिका की अपरिहार्यता को भी समझना होता है। कलाकृति में जब कोई वास्तविक चरित्र या गढ़ा गया प्रतिनिधि चरित्र केन्द्रीय या महत्त्वपूर्ण पात्र के रूप में उपस्थित किया जाता है तो उसके माध्यम से भी आम दर्शक समाज-विकास की दिशा और अपने कार्यभारों के बारे में शिक्षित होता है क्योंकि उसका दिलो-दिमाग़ इस समाज में नायकों-प्रतिनिधियों से निर्देशित होने के लिए, प्रतीक-चिह्नों से उत्प्रेरित होने के लिए अनुकूलित होता है। जब तक समाजवाद की उच्चतर अवस्थाओं के उन्नत भौतिक आधार पर उसकी समष्टिगत चेतना अत्यधिक उन्नत नहीं होगी, तब तक यह स्थिति बनी रहेगी। इतिहास में व्यक्ति और जनता, व्यष्टि और समष्टि के द्वन्द्वात्मक अन्तर्सम्बन्धों की सही समझ के आधार पर इस बात को आसानी से समझा जा सकता है। इसी लाइन पर सोचते हुए इस बात को भी समझा जा सकता है कि प्रतिनिधि चरित्रों के अन्तर्जगत के मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वों के चित्रण के माध्यम से भी हम सामाजिक जीवन के द्वन्द्वों को समझ सकते हैं क्योंकि अलग-अलग पात्रों के अन्तर्जगत के द्वन्द्व (उनकी वर्ग अवस्थिति के हिसाब से) भौतिक जगत के द्वन्द्वों के ही परावर्तित रूप होते हैं। यह कलात्मक-वैचारिक संज्ञान के मार्क्सवादी परावर्तन सिद्धान्त के सर्वथा अनुरूप है।

चौथे दशक में, यूरोप और अमेरिका की यात्रा से लौटने के बाद, आइज़ेंस्ताइन अपनी पूर्व मान्यताओं को ज़्यादा से ज़्यादा ठोस बनाने के साथ ही उनके अतिरेकी छोरों के बारे में भी गम्भीरता से सोच रहे थे। उस समय तक पुदोवकिन, दोवझेंको आदि दर्जनों निर्देशकों की सोवियत क्रान्ति और समाजवादी निर्माण के दौर पर बनी कथानक-प्रधान फ़िल्मों की जो व्यापक लोकप्रियता थी तथा ये फ़िल्में आम जनता की शिक्षा और नई समाजवादी संस्कृति के निर्माण में जो भूमिका निभा रही थीं, उन वास्तविकताओं पर आइज़ेंस्ताइन ने ग़ौर किया। 'प्लॉट' और कथानक की परम्पराओं को पूरी तरह खारिज करने पर तथा व्यक्तिगत नायक की जगह समूह की प्रस्तुति पर उनका जो अतिरेकपूर्ण बल था, उसे उन्होंने सुधारने की कोशिश की। 1934 में उन्होंने पुनर्विचार की अपनी प्रक्रिया को इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी :

"साहित्य की नई क़िस्म की ओर अपना हाथ बढ़ाते हुए—विषय का नाट्यशास्त्र—सिनेमा अपने प्रारम्भिक दौरों के ज़बर्दस्त अनुभवों को कभी भुला नहीं सकता। लेकिन रास्ता अब पीछे उनकी ओर नहीं जाएगा, बल्कि आगे, हमारे मूक सिनेमेटोग्राफ़ी के दौर में जो कुछ भी सर्वोत्कृष्ट हुआ, उसके संश्लेषण की ओर, आज के तकाज़ों के साथ उसके संश्लेषण की ओर जाएगा, यह कथावस्तु और मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारात्मक विश्लेषण की लाइनों पर आगे बढ़ेगा। यह समाजवाद के युग की जनता के बिम्बों के स्मारकीय संश्लेषण का दौर है—समाजवादी यथार्थवाद का दौर है।" (आइज़ेंस्ताइन : 'फ़िल्म फॉर्म, मेरिडियन बुक्स, 1957, पृ. 17)

पुनः 1935 में, आइज़ेंस्ताइन ने अपनी पूर्व-धारणाओं में संशोधन को इस रूप में प्रस्तुत किया :

"आन्दोलन और जनसमुदाय के अनुभव के पूर्ववर्ती सर्वसमावेशी जनसमष्टिगत बिम्ब-विधान के बाद, अब इस दौर में व्यक्तिगत वीरोचित चरित्रों को उपस्थित करने की शुरुआत करनी होगी। उनके उपस्थित होने से उन कृतियों में भी संरचनागत परिवर्तन आया है जिनमें वे प्रस्तुत हुए हैं। पूर्ववर्ती "एपिकल' गुण और उनके अभिलाक्षणिक विराट पैमाने का भी ऐसी संरचनाओं में संकुचन होने लगा है, जो शब्द के

संकीर्ण-अर्थ में, वस्तुतः अधिक परम्परागत क़िस्म की नाट्य-विधा के निकटतर हैं...

यह इत्तफाक नहीं है कि ख़ास तौर पर इस अवधि के दौरान, पहली बार हमारी सिनेमेटोग्राफ़ी में व्यक्तित्वों के, और न सिर्फ़ व्यक्तित्वों के, बल्कि नेतृत्वकारी व्यक्तित्वों के : कम्युनिस्ट और बोल्शेविक नेतृत्व के अग्रणी चरित्रों के, परिष्कृत बिम्ब उपस्थित हो रहे हैं..." (उपरोक्त, पृ. 123-124)

आइज़ेंस्ताइन की इन स्फुट उक्तियों से यह भी लगता है कि कथात्मक सूत्रों, व्यक्तिगत नायकों और उनके मनोवैज्ञानिक-भावनात्मक द्वन्द्वों के चित्रण वाली, परम्परागत रूपबन्ध वाली फ़िल्मों की आवश्यकता को वे काफ़ी हद तक समाजवाद के तत्कालीन विशेष दौर की उपज अैर आवश्यकता मान रहे थे। लेकिन इतना तय है कि अपनी पूर्वस्थापना के मूल सूत्रों पर क़ायम रहते हुए, सहायक निष्कर्षों और उपप्रमेयों पर पुनर्विचार की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी।

यह इतिहास का एक तथ्य है, और आइज़ेंस्ताइन के कला-चिन्तन के खुले-अधूरे सिरों पर ग़ौर करते हुए किसी नतीजे तक पहुँचने की प्रक्रिया में इसकी अनदेखी नहीं की जानी चाहिए कि तत्कालीन सोवियत मार्क्सवादी हलकों में व्याप्त यांत्रिक भौतिकवादी विचलन के प्रभाव में, कला-साहित्य के क्षेत्र में समाजवादी यथार्थवादी का जो अति सरल-सपाट संस्करण हावी था और मुख्य धारा पर प्रकृतवाद और प्रत्यक्षवाद की जो विच्युतियाँ हावी थीं, उनके चलते कई प्रयोगधर्मा और अन्वेषी प्रकृति के कलाकारों-लेखकों को भी समाजवाद-विरोधियों की कतारों में खड़ा कर दिया गया था या उन पर रूपवादी भटकाव की तोहमत लगा दी गई थी। यह अलग से एक गम्भीर सवाल है। इसमें सांस्कृतिक क्षेत्र में हावी नौकरशाही की भी एक भूमिका थी। तीसरे दशक में भी, **मक्सिम गोर्की** और **अन्तोन मकारेंको** तक को इस नौकरशाही का कोप झेलना पड़ा था, लेकिन तब इसके विरोध का प्रबल स्वर भी मौजूद था। **स्तालिन** की युगनिर्मात्री भूमिका और उस दौर की महान उपलब्धियों को स्वीकारते हुए भी हम **माओ त्से-तुङ** और चीन की पार्टी द्वारा प्रस्तुत आलोचना से अर्जित दृष्टि से यह मूल्यांकन प्रस्तुत कर रहे हैं। कला-साहित्य के बुनियादी मसलों पर खुली लम्बी बहसों के बाद (जैसी परम्परा सोवियत संघ में तीसरे दशक तक और फिर माओकालीन चीन में रही) विरोधी धाराओं की आलोचना और "एक्सपोज़र' के बजाय, शासकीय निर्देशों के हिसाब से सृजन, और शीर्ष नेतृत्व द्वारा आलोचना से एकबारगी सबकुछ तय कर दिए जाने की पद्धति ने भी सोवियत कला के शानदार विकास के रास्ते में कुछ अड़चनें पैदा कीं और इससे बुर्जुआओं और त्रात्स्कीपन्थियों को उल्टे-सीधे प्रचार का मौक़ा भी ख़ूब मिला। हम समझते हैं कि **चीन की सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति** की आम कार्यदिशा के आलोक में अतीत के इस दौर का समाहार ज़रूरी है ताकि आइज़ेंस्ताइन जैसे विचारक सर्जकों के चिन्तन को सही परिप्रेक्ष्य में देखा-समझा जा सके।

चौथे दशक में आइज़ेंस्ताइन पर जब "रूपवादी" भटकाव के आरोप लग रहे थे तो *'अक्टूबर'* के साथ *'पोतेमकिन'* को भी इस लपेट में ले लिया गया था। छह दिनों तक चली 'ऑल यूनियन कान्फ्रेन्स ऑफ सिनेमेटोग्राफ़िक वर्कर्स' में जब लगातार, एक स्वर से आइज़ेंस्ताइन की आलोचना हो रही थी, तो एकमात्र लेव कुलेशोव थे जिन्होंने खुलकर उनका बचाव किया।

1935 के मध्य में आइज़ेंस्ताइन ने *'बेझिन मीडो'* फ़िल्म पर काम शुरू किया। फ़िल्म जब पूरी होने को थी, तभी उसे रोक दिया गया। *'प्रावदा'* में लेख लिखकर सोवियत फ़िल्म प्रोडक्शन के नये अध्यक्ष शुम्यात्स्की ने (जो कुछ ही महीनों बाद, गम्भीर आलोचना के बाद हटा दिए गए) आइज़ेंस्ताइन पर यह आरोप लगाया कि वे यथार्थ के रंगों और शौर्य से कट गए हैं और सशक्त, सरल, प्रत्यक्ष चित्रण वाली फ़िल्म बनाने के बजाय रूपवादी प्रयोगों में उलझे हुए हैं। वह अधूरी फ़िल्म कभी सामने आई ही नहीं, इसलिए अन्तिम निर्णय के तौर पर तो कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन आइज़ेंस्ताइन की अन्य फ़िल्मों की आलोचनाओं की सतही यांत्रिकता के आधार पर, इस आलोचना को भी शंका की दृष्टि से अवश्य देखा जा सकता है।

रचना–कर्म का आख़िरी पड़ाव : `अलेक्सान्द्र नेव्स्की' और `इवान दि टेरिबल'

एक फ़िल्मकार के रूप में आइज़ेंस्ताइन के छोटे से जीवन का आधे से भी अधिक हिस्सा अधूरी, स्थगित और खण्डित परियोजनाओं की त्रासद गाथा मात्र था। उनकी अधूरी फ़िल्मों के बचे-खुचे प्रिण्ट्स का यदि कभी अध्ययन हुआ तो सर्वहारा सिनेमा के अग्रवर्ती विकास की दृष्टि से, निश्चित ही, काफ़ी कुछ सीखने को मिलेगा। बीच-बीच में आइज़ेंस्ताइन मायूस भी होते रहे और फ़िल्म-निर्माण से विरत होकर अध्ययन-अध्यापन-लेखन में ज़्यादातर समय लगाते रहे। इस त्रासद स्थिति का सकारात्मक पक्ष यह है कि उनका लिखा हुआ काफ़ी कुछ प्रकाशित रूप में आज हमारे सामने मौजूद है और अब भी अप्रकाशित सामग्री का विपुल भण्डार 'आइज़ेंस्ताइन अभिलेखागार' में पड़ा हुआ है, जिसे विश्वव्यापी सर्वहारा सांस्कृतिक पुनर्जागरण-प्रबोधन के नये दौर में सामने लाया जाना है और जिसका नये सिरे से, गहन आलोचनात्मक विवेक के साथ अध्ययन किया जाना है।

पचास साल की अल्पायु में मृत्यु से पहले आइज़ेंस्ताइन ने ऐतिहासिक विषय-वस्तु पर दो भव्य फ़िल्में बनाई— *'अलेक्सान्द्र नेव्स्की'* और *'इवान दि टेरिबल'* (दो खण्डों में)।

1937 में सोवियत संघ पर जर्मन फ़ासिस्ट आक्रमण का ख़तरा आसन्न था। यह भी तय ही था कि पश्चिमी साम्राज्यवादी फ़ासिस्टों के हाथों समाजवाद को नेस्तनाबूद कर दिए जाने की हार्दिक आकांक्षा रखते थे और उनसे किसी तरह के सहयोग की अपेक्षा तब तक नहीं की जा सकती थी जब तक कि स्वयं उन्हीं का अस्तित्व ख़तरे में न पड़ जाए। ऐसी स्थिति में सोवियत संघ की जनता की देशभक्ति की भावना जागृत करके प्रतिरोध संगठित करने के लक्ष्य को कला-साहित्य के मोर्चे पर भी केन्द्रीय कार्यभार बना दिया गया था। आइज़ेंस्ताइन की यह नई फ़िल्म तेरहवीं शताब्दी के प्रिंस अलेक्सान्द्र नेव्स्की की शौर्यपूर्ण गाथा पर केन्द्रित थी जिसने बर्बर ट्यूटोनिक आक्रान्ताओं का मुक़ाबला करने के लिए रूसी किसानों की एक सेना खड़ी की थी। कला की दृष्टि से यह फ़िल्म अत्यन्त भव्य और प्रभावशाली थी। फ़िल्म के क्लाइमेक्स में जमी हुई झील की सतह पर युद्ध का वह ऐतिहासिक दृश्य था जिसमें बर्फ़ की सतह के टूटने और अपने ही शस्त्रास्त्रों के बोझ से दुश्मन के सैनिकों के डूबते जाने का वह प्रसिद्ध लाक्षणिक दृश्य फ़िल्माया गया था जो जनता के प्रतिरोध के अथाह जल में हथियारों के जखीरों सहित तमाम हमलावरों के डूबते जाने का रूपक प्रस्तुत करता था।

लेकिन इस महाकाव्यात्मक गाथा को फ़िल्माते हुए आइज़ेंस्ताइन "संघात" या "टकराव" (Collision) की अपनी पूर्ववर्ती अवस्थिति को छोड़कर लगभग पूरी तरह सहलग्नता (Linkage) की पुदोवकिन वाली अवस्थिति पर जा खड़े हुए थे और उद्भावनामूलक मोन्ताज को यहाँ कथा-सूत्र की विवरणात्मकता ने पूरी तरह से विस्थापित कर दिया था। पर देशभक्ति की सामान्य अन्तर्वस्तु के इस सिनेमाई भव्यता वाले रूपाकार में भी आइज़ेंस्ताइन ने द्वन्द्वात्मक पद्धति विषयक कुछ नये-नये प्रयोग करने का रास्ता निकाल ही लिया। यहाँ, मोन्ताज की पूर्ववर्ती सोच से अलग हटकर आइज़ेंस्ताइन ने विरुद्धों की एकता और संघर्ष के ज़रिए कथा को आगे बढ़ाने और सन्देश को सम्प्रेषित करने की तकनीक को लेकर कुछ नये प्रयोग किए। इस फ़िल्म में प्रायः ध्वनि और चित्र को एक-दूसरे के सामने विरोधी रूप में प्रस्तुत करते हुए विचार सम्प्रेषित किया गया है। प्रत्येक फ़्रेम और सीक्वेंस की संरचना को विखण्डित करके उनके आन्तरिक अन्तरविरोध की पड़ताल की गई है।

लेकिन इन पद्धतिगत प्रयोगों की नवीनता के बावजूद इस फ़िल्म की विचारधारात्मक-राजनीतिक अवस्थिति कई प्रश्नचिह्न खड़े करती है। फ़ासिस्टों के प्रतिरोध के आसन्न दबाव के तहत रूसी जनता की देशभक्ति की जिस भावना पर बल दिया गया है, वह सर्वहारा राज्य, समाज और संस्कृति के लिए कितना उपयुक्त है, यह सोचने की बात है। दरअसल यह सवाल आइज़ेंस्ताइन की सोच का नहीं बल्कि सोवियत संघ की

कम्युनिस्ट पार्टी की तद्विषयक कार्यदिशा का है। ध्यान दें कि नवजात सोवियत संघ पर अठारह साम्राज्यवादी-पूँजीवादी देशों के हमले, घेरेबन्दी और तोड़फोड़ के प्रतिरोध के लिए जनता को गोलबन्द करते समय लेनिन का ज़ोर हमेशा ही "रूसी पितृभूमि" या "समाजवादी पितृभूमि" के बजाय "विश्व सर्वहारा के एक आधार" की हिफ़ाज़त पर होता था और साम्राज्यवादी आक्रमण को भी जनता के सामने वर्ग-संघर्ष के एक रूप के तौर पर ही प्रस्तुत किया जाता था। स्तालिन काल में फ़ासिस्टों के प्रतिरोध के लिए हर तरह से रूसी जनता की देशभक्ति पर, और अतीत के ऐतिहासिक उदाहरणों से प्रेरणा पर, विशेष ज़ोर दिया गया। "वर्गों" की जगह यहाँ "रूसी जनता" पर पूरा ज़ोर था। जनता की देशभक्ति की पुरानी भावना का कार्यनीतिक इस्तेमाल हो सकता है, लेकिन इस पर मुख्य ज़ोर सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद से एक वैचारिक विचलन था। *'अलेक्सान्द्र नेव्स्की'* एक भव्य, जनपक्षधर फ़िल्म होते हुए भी इस विचलन की गवाही देने वाला एक चाक्षुष दस्तावेज़ है, हालाँकि इसके लिए आइज़ेंस्ताइन की मुख्य ज़िम्मेदारी नहीं मानी जा सकती है।

कमोबेश यही बात आइज़ेंस्ताइन की अन्तिम फ़िल्म *'इवान दि टेरिबल'* के बारे में भी कही जा सकती है। एक महान राष्ट ्रीय नायक के बारे में यह एक भव्य, महाकाव्यात्मक फ़िल्म, लेकिन "राष्ट्रवाद" की फ़िल्म थी। इस फ़िल्म के पहले भाग में इवान को एक त्रासद चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो एक ओर अपनी मानवीय संवेदना और दूसरी ओर उन निर्मम कामों, जिनको उसे अंजाम देना पड़ता है, के तनाव के बीच लगातार खिंचा रहता है। इस तरह आइज़ेंस्ताइन ने इस फ़िल्म में भी, मूल कथ्य के साथ-साथ एक ऐसा शाश्वत मानवीय प्रश्न उपस्थित करने की कोशिश की, जो इसे क्लासिकी कृतियों का कालजयी महत्त्व प्रदान करता है। सोचा जाए तो क्या यही प्रश्न एक उन्नत धरातल पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के समक्ष उपस्थित नहीं रहते, जिन्हें उदात्त मानवीय लक्ष्यों की ख़ातिर, वर्ग-संघर्ष के दौरान कई बार बेहद निर्मम फ़ैसले भी लेने पड़ते हैं?

इस फ़िल्म का पहला भाग जब रिलीज़ हुआ तो विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था। दूसरा भाग 1946 में पूरा हुआ। अब किसी विदेशी आक्रान्ता के विरुद्ध देशभक्ति की भावनाएँ के उभाड़ने की वैसी फ़ौरी ज़रूरत नहीं थी, हालाँकि यह भी सच है कि शीतयुद्ध का दौर शुरू हो चुका था। इन स्थितियों में आइज़ेंस्ताइन ने इतिहास का कलात्मक पुनसृजन करते हुए, राजनीतिक संघर्ष की वर्गीय संरचनाजन्य जटिलताओं-समस्याओं को प्रस्तुत करने की एक कोशिश थी। उन्होंने, ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर, इवान के चरित्र में महत्त्वपूर्ण बदलाव लाते हुए यह दिखाने की कोशिश की कि बोयारों के विरुद्ध संघर्ष में इवान द्वारा उठाए गए क़दम आगे चलकर उसके नियंत्रण से बाहर हो गए, वह मतिभ्रम का शिकार हो गया और 'ओप्रिच्निकी' नाम से प्रसिद्ध जिन युवा सैनिकों के दस्तों ने बोयारों को निर्ममता से कुचलने का काम किया, अब वे स्वयं समस्या बन चुके थे। देखा जाए तो प्रगतिशील से प्रगतिशील शासक की वेतनभोगी सेना की यह नियति-परिणति नितान्त स्वाभाविक है। लेकिन आइज़ेंस्ताइन की इस बात के लिए पार्टी द्वारा कठोर आलोचना हुई कि उन्होंने इतिहास को ग़लत ढंग से प्रस्तुत किया तथा प्रगतिशील भूमिका निभाने वाले इवान और उसके सैनिकों को नकारात्मक रूप में प्रस्तुत किया। इस आलोचना में भी "राष्ट्रवादी देशभक्ति" का राजनीतिक विचलन मौजूद है। पर इसकी विस्तृत चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है।

आइज़ेंस्ताइन के रचनात्मक प्रयोगों की जो आलोचनाएँ हुईं और उन पर जो बहसें हुईं, वह तो स्वाभाविक थीं। इनके बिना कोई रचनात्मक प्रयोग हो ही नहीं सकता। लेकिन यह प्रश्न ज़रूर है कि समाजवादी समाज में कला-साहित्य के क्षेत्र में आलोचना-प्रतिबन्ध आदि का एकतरफ़ा अधिकार तंत्र के पास होना चाहिए या पार्टी के विचारधारात्मक मार्गदर्शन में लम्बी और खुली बहस के बाद किसी नतीजे तक पहुँचा जाना चाहिए और फिर अच्छी चीज़ों को आगे बढ़ाना चाहिए और बुरी चीज़ों का भण्डाफोड़ करके जनता के सचेत हिस्से को साथ लेकर प्रतिबन्ध आदि जैसे क़दम उठाए जाने चाहिए? यह कला के क्षेत्र में सर्वहारा जनवाद की आम नीति का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसलिए हमने आइज़ेंस्ताइन के सिद्धान्त और प्रयोगों की चर्चा करते हुए इस प्रश्न पर भी थोड़ी चर्चा कर ली है। इस सन्दर्भ में चीन की पार्टी की *"सौ फूलों को खिलने दो और*

हजारों चिन्तन-धाराओं को परस्पर टकराने दो" की नीति का और **सांस्कृतिक क्रान्ति** के प्रयोगों और शिक्षाओं का अध्ययन भी उपयोगी होगा।

फ़िल्म-निर्माण की ठोस और विशिष्ट समस्याओं के अतिरिक्त सामान्य सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं और कलात्मक सृजन की आधारभूत समस्याओं से जुड़ी हुई एक अति समृद्ध सैद्धान्तिक विरासत सेर्गेई आइज़ेंस्ताइन अपने बाद की पीढ़ियों के लिए छोड़ गए हैं। यहाँ हमने ख़ास तौर पर फ़िल्म-विषयक चिन्तन के उन अंशों पर चर्चा की है जो अब तक सामने आ चुके हैं। अभी इस विषय पर भी काफ़ी कुछ ऐसा है जो सामने ही नहीं आया है। इसके अतिरिक्त साहित्य, कला, दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र के प्रश्नों पर भी उन्होंने विपुल मात्रा में मौलिक लेखन किया है जिसे सामने लाया जाना है। उम्मीद की जानी चाहिए कि नई सर्वहारा संस्कृति के सर्जक इतिहास के पुनरान्वेषण-सम्बन्धी अपने कामों में इस काम को भी ज़रूरी समझकर शामिल करेंगे।

"हमसे मार्क्सवाद के अध्ययन का अनुरोध करना द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सृजन-शैली की ग़लती को फिर से दोहराने के समान होगा, और इससे हमारे सृजनात्मक मूड को हानि पहुंचेगी।" मार्क्सवाद का अध्ययन करने का मतलब यह है कि हम दुनिया को, समाज को और कला-साहित्य को द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी और ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से देखें, इसका मतलब यह नहीं कि हम अपनी साहित्यिक रचनाओं और कलांतियों में दर्शनशास्त्र के लेक्चर झाड़ते फिरें। साहित्यिक व कलात्मक सृजन के कार्य में मार्क्सवाद यथार्थवाद को हटाकर उसकी जगह नहीं ले सकता बल्कि उसे अपने अन्दर समाविष्ट करता है, ठीक उसी तरह जैसे वह भौतिक विज्ञान में परमाणु और विद्युत-अणु सम्बन्धी सिद्धान्तों को हटाकर उनकी जगह नहीं ले सकता बल्कि उन्हें अपने अन्दर समाविष्ट करता है। कोरे, नीरस कठमुल्लावादी फ़ार्मूले सृजनात्मक मूड को नष्ट कर देते हैं; यही नहीं वे सबसे पहले मार्क्सवाद को ही नष्ट कर देते हैं। कठमुल्लावादी "मार्क्सवाद" मार्क्सवाद नहीं होता, वह मार्क्सवाद-विरोधी होता है। तो क्या मार्क्सवाद सृजनात्मक मूड को नष्ट नहीं कर देता? हां, कर देता है। वह निश्चित रूप से हर ऐसे सृजनात्मक मूड को जो सामन्ती, पूँजीवादी, निम्न-पूँजीवादी, उदारतावादी, व्यक्तिवादी, शून्यवादी, "कला कला के लिए" के सिद्धान्त को मानने वाला, अभिजातवर्गीय, पतनशील अथवा निराशावादी होता है, और हर ऐसे सृजनात्मक मूड को जो विशाल जनसमुदाय और सर्वहारा वर्ग का नहीं है, नष्ट कर देता है। जहां तक सर्वहारा वर्ग के लेखकों और कलाकारों का सम्बन्ध है, क्या उन्हें इस प्रकार के सृजनात्मक मूडों को नष्ट नहीं कर देना चाहिए? मैं समझता हूं कि उन्हें जरूर ऐसा करना चाहिए, इन सबको पूरी तरह नष्ट कर देना चाहिए, और इन्हें नष्ट करने के साथ ही नई चीज़ों की रचना की जा सकती है।

— माओ त्से-तुङ (येनान की कला-साहित्य गोष्ठी में भाषण)

हान्स आइस्लर

मज़दूर, मज़दूर आन्दोलन और संगीत

(अन्तरराष्ट्रीय महिला कपड़ा-मज़दूर यूनियन की गायक मण्डली के बीच भाषण, 25 जून, 1938)

हान्स आइस्लर महान जर्मन संगीतकार और संगीत चिन्तक थे। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के सर्वाधिक प्रतिभावान युवा संगीतकारों में उन्हें गिना जाता था। लेकिन आइस्लर ने बुर्जुआ विचारधारा और कला-धाराओं को खारिज किया और अपनी सृजनात्मक क्षमताएँ हिटलर-पूर्व जर्मनी में क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को समर्पित कर दीं। इसी दौरान उन्होंने बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के साथ मिलकर काम शुरू किया और यह भागीदारी इन दोनों महान कलाकारों के जीवन-पर्यन्त चलती रही।—सं०

मैं मज़दूर या मज़दूर आन्दोलन या संगीत के बारे में एक ख़ास ज़िम्मेदारी समझकर आपसे बात कर रहा हूँ क्योंकि मैं सिर्फ़ विचार व्यक्त करना नहीं चाहता, यह भी बताना चाहता हूँ कि वे व्यावहारिक और प्रगतिशील हैं। अगर हम संगीत के बारे में बात करने जा रहे हैं तो यह ज़रूरी है कि पहले उससे सम्बन्धित आज के जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों का एक खाका खींच लें। ऐसा करते हुए अमूर्त दार्शनिक सिद्धान्तों की जगह ठोस वास्तविकताओं पर ध्यान देना बेहतर होगा।

कल्पना करिए कि हम विभिन्न प्रकार के संगीतकारों और संगीतप्रेमियों के साथ भेंटवार्ता कर रहे हैं। शायद उनके उत्तर बहुत सारी बातों पर प्रकाश डाल सकेंगे।

आइए, किसी प्रसिद्ध संगीतकार से (मैं उनमें से कई को जानता हूँ) ये सवाल करते हैं : "आपके विचार में संगीत का क्या लक्ष्य है? और एक संगीतकार के तौर पर इस सवाल का आप क्या जवाब देंगे कि आप किसके लिए संगीत पेश करते हैं?" आमतौर पर जवाब यही मिलेगा, "संगीत का कोई ख़ास लक्ष्य नहीं होता। संगीत का लक्ष्य उसी में निहित है। मेरा काम लोगों को सुन्दर अनुभूति प्रदान करना है और अधिक से अधिक प्रदान करना तथा इसके लिए कोशिश करनी है।

यह सब सुनने में अच्छा लगता है, पर क्या यही सच्चाई है? क्या वह सचमुच आम लोगों के लिए संगीत पेश करता है या वह विशिष्ट संगीत रचनाकार

सम्पन्न उच्च वर्ग के छोटे से समूह के लिए अपना संगीत पेश करता है? और, जब एक संगीतकार रेडियो पर गम्भीर शास्त्रीय या आधुनिक संगीत प्रस्तुत करता है तो क्या लोग—मज़दूर वर्ग तथा निम्न मध्यवर्ग के लोग उसे समझ सकते हैं? क्या संगीतरचना हमेशा बिना किसी उद्देश्य के होती है? इन सब प्रश्नों का उत्तर है, नहीं।

पहली बात तो यह है कि संगीत के लिए संगीत या कला के लिए कला का नारा बहुत नया है, इसे सौ साल भी नहीं हुए हैं। इतिहास गवाह है कि महान संगीतकारों ने कभी ऐसे नारों का इस्तेमाल नहीं किया है। उदाहरण के लिए, जोहान सेबेस्टियन बाख ने अपने बारे में कहा था, "मेरा कर्तव्य अपने संगीत से प्रभु और चर्च की सेवा करना है।"[1] उनकी भावना एक कलाकार की उतनी नहीं थी जितनी एक शिल्पकार या उपदेशक की। बीथोवन अपने समय से, महान फ़्रांसीसी क्रान्ति के युग से अत्यन्त प्रभावित था। अगर आप वैगनर[2] की 1848 से लिखी गई सैद्धान्तिक रचनाओं को देखें तो पाएँगे कि वे "कला कला के लिए" जैसे नारों के बिल्कुल ख़िलाफ़ हैं।

इन महान कलाकारों की सोच और उनकी परम्परा के प्रति वर्तमान उपेक्षा का कारण क्या है? इसका जवाब हमें संगीतकार के उत्तर के दूसरे हिस्से से मिल जाएगा कि वह लोगों की सेवा करना चाहता है। हमें पता है कि आजकल बहुत कम लोग गम्भीर शास्त्रीय या आधुनिक संगीत को वाक़ई समझते हैं और उसका आनन्द उठा पाते हैं।

जी हाँ, मुझे पता है कि कुछ महान रचनाओं को एक हद तक लोकप्रियता हासिल है, पर आम तौर पर बड़े शहरों के बुद्धिजीवी तबकों तक ही। न्यूयार्क, शिकागो, सान फ़्रांसिस्को, लॉस एँज़िलस और बोस्टन ही पूरा अमेरिका नहीं है। जब ब्राडकास्टिंग कम्पनियाँ अपने श्रोताओं से उनकी पसन्द के बारे में जानकारियाँ एकत्र करती हैं तो 99 प्रतिशत श्रोताओं का उत्तर यही होता है, "हमें मनोरंजक संगीत अधिक चाहिए, सिम्फ़नियाँ कम।" अगर शास्त्रीय संगीत के श्रोता इतने कम हैं तो गम्भीर आधुनिक संगीत के तो और भी कम होंगे।

यह महत्त्वपूर्ण बात है क्योंकि संगीत के अच्छे वातावरण के लिए ज़रूरी है कि नई-नई संगीत रचनाओं की आमद निरन्तर बनी रहे। आइए अब हम एक आधुनिक संगीतकार से प्रश्न करें, आर्नल्ड शोनबर्ग जैसे किसी प्रसिद्ध संगीतकार से। निश्चित ही उसका जवाब यही होगा, "मैं बिल्कुल अकेला पड़ गया हूँ। बहुत कम लोग मेरा संगीत समझते हैं, शायद सौ-दो सौ लोग।" अगर उससे पूछिये कि ऐसी असामान्य स्थिति में भी वह संगीत रचना क्यों करता है तो वह कहेगा, "मुझे स्वयं को अभिव्यक्त करना है और शायद सौ-दो सौ साल बाद लोग मेरे संगीत को समझेंगे।" यह स्थिति शोनबर्ग जैसे विश्वविख्यात संगीतकारों की ही नहीं है बल्कि आधुनिक शैली के नये संगीतकारों की भी है और हर युवा रचनाकार संकट में है।

क्या हमेशा से ऐसा ही रहा है? नहीं, बिल्कुल नहीं। बीथोवन और वैगनर कुछ वर्षों के लिए अकेले पड़ गए थे पर यह दुविधा उनके जीवनकाल में ही ख़त्म हो गई। और संगीत के इतिहास में ऐसा कोई समय नहीं रहा जब समस्त संगीत सूचनाएँ इसी तरह संकटग्रस्त रही हों जैसे वह आज हैं। गड़बड़ी कहाँ है? क्या आज के रचनाकार सक्षम नहीं हैं? या लोग ही उतने समझदार नहीं हैं? फिर से जवाब है, नहीं ऐसी बात नहीं। आर्नल्ड शोनबर्ग एक उत्कृष्ट संगीतकार हैं और हर देश में समझदार लोग रहते हैं। पर कोई न कोई गड़बड़ी है। गड़बड़ी तब पैदा होती है जब आप संगीत को मनोरंजक और गम्भीर, इन दो श्रेणियों में बाँट देते हैं। न्यूयार्क के एक प्रसिद्ध उदारवादी अख़बार के संगीत समीक्षक से पूछिये। सम्भवतः वह यही कहेगा, "मित्र, यह विभाजन हमेशा से रहा है। इसके बारे में चिन्ता मत करो, हमेशा से ऐसा ही रहा है कि कुछ लोग दूसरे की अपेक्षा कला को अधिक समझते हैं। बुरा न मानिए, आइस्लर साहब, क्या आप वाक़ई सोचते हैं कि बीथोवन को उसके ज़माने में सभी लोग समझते थे? या मोत्सार्ट को? क़तई नहीं।"

इसके जवाब में हम अपने संगीत समीक्षक मित्र से कह सकते हैं, "पर यह मत भूलिये कि आज संगीत को सुनने और समझने के अधिक और बेहतर अवसर हैं। रेडियो को ही लीजिए। लेकिन क्या रेडियो से कोई बड़ा परिवर्तन हुआ है?" फिर से मेरा जवाब है, नहीं।

संगीत संचालक, रचनाकार और समीक्षक की बातों का निष्कर्ष निकालते हुए हम कह सकते हैं कि संगीत आज संकट में है। और हम जैसे वर्ग-सचेत राजनीति और कला के अवाँ-गार्द लोगों को मानना ही होगा कि यह संकट विश्वव्यापी गहरे आर्थिक और राजनीतिक संकट की ही एक अभिव्यक्ति है।

संगीत के क्षेत्र में इस संकट की एक पहचान मनोरंजक और गम्भीर संगीत का विभाजन है। क्या यह विचित्र विभाजन नहीं है? क्या यह ज़रूरी है कि हमारा मनोरंजन सिर्फ़ सस्ते और कूड़ा संगीत से हो और गम्भीर शास्त्रीय संगीत को सुनते हुए हम किसी दिखावेबाज़ की तरह गम्भीर बने रहें? एक बार फिर इतिहास से सबक ले सकते हैं। संगीत के इतिहास में हमें शायद ही ऐसी कोई स्थिति दिखे जब संगीत बिना किसी बाधा और कठिनाई के आम लोगों की, आम लोगों के लिए सहज अभिव्यक्ति रही है। सिर्फ़ आदिम समाज में, उदाहरण के लिए अमेरिकी इण्डियन और प्राचीन पूर्वी संस्कृति, अथवा प्राचीन जर्मन, रोमन और केल्टिक समाजों में हमें धार्मिक और 'सेक्युलर' संगीत में अटूट एकता मिलती है। पर मध्ययुग में हमें चर्च के संगीत और आम लोकप्रिय संगीत के बीच एक ख़ास फ़र्क़ दिखाई देता है। लेकिन यह विभाजन गम्भीर और मनोरंजक संगीत के आज के विभाजन जैसा नहीं था। पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी में चर्च का संगीत अत्यन्त समृद्ध था, और फ्रांस, इटली तथा हालैण्ड के नये व्यापारिक नगरों में व्यापारी वर्ग तथा राजदरबार के लिए भी अत्यन्त परिष्कृत संगीत का चलन था। कलात्मक संगीत के इन अधिक विशिष्ट रूपों के बरक्स हम ख़ास तरह का "उपयोगी" संगीत भी पाते हैं जो मुख्यतः आम लोगों के नृत्यसंगीत और लोकगीतों के रूप में था।

हमें यह याद रखना होगा कि बाख़ की तरह का संगीतकार चर्च और राजशाही दोनों की सेवा करता था। वैसे कलात्मक संगीत और लोक संगीत के बीच निश्चित रूप से निरन्तर सम्बन्ध बना रहा। चर्च संगीत में लोक संगीत का काफ़ी उपयोग होता था और लोक संगीत में चर्च के संगीत का : आम लोग भी अक़सर चर्च के गीत गाया करते थे। उस समय लोक संगीत का वास्तव में सांस्कृतिक आधार था और उसकी एक परम्परा थी। आदिम काल से ही शारीरिक श्रम और शिल्प का संगीत से जुड़ाव रहा है। इस संगीत का उद्देश्य सामूहिक श्रम को सुसंगठित स्वरूप देना था, जैसे नाव चलाने, मछली मारने, खेती और अन्य पेशों में। उत्सवों और धार्मिक अवसरों पर गाए जाने वाले गीतों के शब्दों से पता चलता है कि वे आदिम श्रम से किस तरह जुड़े हुए थे। और हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सत्रहवीं सदी तक चर्च हर किसी के लिए खुला था और सांस्कृतिक सांगीतिक जीवन में उसका निर्णायक महत्त्व था।

मैं इतिहास के ब्योरों का और अधिक उल्लेख नहीं करूँगा। लेकिन एक परिचित गीत के उदाहरण में आपकी दिलचस्पी हो सकती है। मुझे विश्वास है कि आप सब 'वोल्गा के नाविक के गीत'[3] से परिचित होंगे। आप इसे किसी भी श्वेत रूसी चायघर या कैबरे में सुन सकते हैं। इसे सुनते हुए भूतपूर्व तथाकथित सम्भ्रान्त लोग बड़ी शिद्दत से पुराने समय को याद करते हैं जब वे किसी भी किसान को मज़े से लात मार सकते थे। पर क्या यह गीत हमेशा ही इन गन्दे सम्भ्रान्त डाकुओं की भावनाओं की अभिव्यक्ति था? नहीं, यह एक पुराना और सम्मानित गीत है इसे वोल्गा नदी के नाविक गाया करते थे, सिर्फ़ अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए नहीं बल्कि धारा के विपरीत अपनी नावों को खींच कर ले जाने के अपने काम को संगठित करने के लिए भी। ज़ाहिर है कि जब इतने सारे लोगों को एक भारी नाव खींचनी हो तो उन्हें अपनी ताक़त का इस्तेमाल एक ही साथ, यानी इस गीत के निश्चित लय पर करना पड़ता था। अन्यथा वे नाव बढ़ा नहीं पाते या अपनी श्रम शक्ति का बेहतर इस्तेमाल नहीं कर पाते। बाद में यह गीत एक असल लोकगीत बन गया और अनेक प्रकार के शारीरिक श्रम में इसका उपयोग होने लगा। अब आगे चलते हैं। मान लीजिए एक चतुर व्यापारी नाविकों को यह गीत गाते हुए सुनता है और उसे यह अच्छा लगता है। वह सोचता है कि इस गीत से कमाई की जा सकती है। वह कुछ बढ़इयों को भाड़े पर लगाकर नदी तट पर बेंचें बनवा देता है और शहर के अमीर व्यापारियों की बीवियों को टिकट बेचता है कि वे आकर पहली बार वोल्गा के असली नाविकों को असली 'वोल्गा के नाविक का गीत' गाते हुए सुनें। और सजी-धजी महिलाएँ गीत को सुनकर बहुत पसन्द करती हैं।

जैसाकि आप जानते हैं, आमतौर पर, कला और संगीत पर आज धनी महिलाओं का विशेषाधिकार है। वे बार-बार इस गीत को सुनने आती हैं और 'वोल्गा के नाविक का गीत' हिट हो जाता है। पर कुछ दिन बाद महिलाएँ कहती हैं, "आज का प्रदर्शन बहुत अच्छा नहीं रहा, बल्कि यह काफ़ी लचर था। लेकिन पिछले सोमवार को तो गाना पहले दर्ज़े का था। हे भगवान! क्या हो गया?" वे नाविकों से पूछती हैं और उन्हें दिलचस्प उत्तर मिलता है। नाविक कहते हैं, "आज नाव ज़रा हल्की थी, इस पर माल नहीं लदा था। लेकिन पिछले सोमवार को हमें भारी पत्थर ढोने पड़े थे। हमें बहुत मेहनत करनी पड़ी थी और इसलिए हम अपनी पूरी ताक़त से गा रहे थे।"

यह कोई मज़ाक नहीं है। आप आज के संगीत और पुराने लोकसंगीत के बीच के फ़र्क़ को साफ़-साफ़ देख सकते हैं जब लोग ख़ुद अपने लिए गाते थे, सुनने वालों के लिए नहीं। वास्तविक पुराने लोक संगीत में मनोरंजक और गम्भीर संगीत का कोई फ़र्क़ नहीं था। पुराने कलात्मक संगीत में, जैसे मोत्सार्ट के संगीत में भी कोई फ़र्क़ नहीं था। '*दि मैजिक फ़्ल्यूट*' और '*दि सेराग्लियो*' जैसे उनके ऑपेरा में संगीत गम्भीर भी है और मनोरंजक भी।

इनमें फ़र्क़ करने की प्रवृत्ति 19वीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति से शुरू हुई। औद्योगिक क्रान्ति का आम तौर पर समाज के लिए क्या अर्थ था? इसका मतलब था इसके साथ ही एक नये वर्ग—औद्योगिक मज़दूर का जन्म। औद्योगिक मज़दूर ने अपनी सरल ग्रामीण संस्कृति खो दी, उसका पुराना रहन-सहन, आदतें उससे दूर हो गईं और उसका शिल्प और उसकी छोटी सी सम्पत्ति भी उससे छिन गई। यह सब उससे बलपूर्वक छीन लिया गया ताकि उसे सर्वहारा बना दिया जाए जिसके पास बेचने के लिए अपनी श्रम शक्ति के अलावा और कुछ न रहे। यह सब ऐसे समय हुआ जब श्रम विभाजन की तकनीक भी विकसित हो रही थी। अगर आप 1840, 1850 और 1860 के दशकों में फ़ैक्टरी इंस्पेक्टरों की रिपोर्टों का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि मज़दूर वर्ग पर औद्योगिक क्रान्ति का कैसा अमानवीय, पतनोन्मुख और अपमानजनक प्रभाव पड़ा। इन रिपोर्टों में बाल श्रम, महिला श्रम, जानलेवा शोषण, मालिकों के असीमित अधिकार और कर्मचारियों की असहायता का भयानक विवरण है। उस समय पूँजीपति वर्ग की ताक़त बढ़ रही थी और बीथोवन, गेटे, बायरन, शेली और बाल्ज़ाक जैसी महान प्रतिभाओं को उसने जन्म दिया। पर मज़दूर को इन्सान के तौर पर नहीं देखा जाता था। एक ओर तो समृद्ध बुर्जुआ संस्कृति थी और दूसरी ओर असंस्कृत जनता थी जिसका मानो कोई चेहरा ही नहीं था। पर इस असहाय जनता में से ही हिरावल दस्ते, औद्योगिक मज़दूरों ने सभी क्षेत्रों के प्रगतिशील लोगों के साथ मिलकर अपनी दुरवस्था से निकलने का रास्ता ढूँढ़ निकाला। वे *वर्ग-सचेत* हो गये। उन्होंने इन तमाम परिवर्तनों के पीछे के आर्थिक कारणों और संचालक शक्तियों का पता लगा लिया; और फिर काल्पनिक समाजवादी विचारों से मार्क्स और एंगेल्स की वैज्ञानिक पद्धति तक पहुँचने और राजनीतिक संगठन शुरू होने में अधिक वक़्त नहीं लगा।

मैं इन सबके बारे में बहुत कुछ कहता चला जा सकता हूँ पर यह मज़दूर वर्ग के इतिहास पर एक भाषण हो जाएगा। लेकिन हमारे लिए इसमें एक दिलचस्प प्रश्न यह है कि औद्योगिक क्रान्ति ने संगीत की संस्कृति के साथ क्या किया? इसने अधिकांश पुराने लोक संगीत को नष्ट कर दिया। कैसे किया यह बताना बहुत आसान है। कारख़ाने के मज़दूर वोल्गा के नाविकों की तरह, और उसी उद्देश्य से नहीं गा सकते। उनके काम की गति और लय अब मशीनों से तय होती है, ख़ुद मज़दूरों से नहीं। स्वतःस्फूर्त संगीत की संस्कृति ऐसी परिस्थितियों में मर जाती है। औद्योगिक क्रान्ति के बाद दो पीढ़ियाँ बीतते न बीतते आबादी का अधिकांश संगीत की किसी भी संस्कृति से वंचित हो गया। और इस तरह गम्भीर और मनोरंजक संगीत का फ़र्क़ शुरू हुआ।

गम्भीर संगीत को समझने के लिए विकसित संस्कृति और उच्च स्तरीय जीवन की ज़रूरत होती है। कहने का मतलब कि आपके पास समय, पैसा और कम से कम इतनी शिक्षा होनी चाहिए कि आप एक वाद्य बजाना सीख सकें; आपको थोड़ी-बहुत सैद्धान्तिक जानकारी और ललित कला, साहित्य आदि का एक हद

तक ज्ञान होना चाहिए। आपके पास इतना अवसर तो अवश्य होना चाहिए कि संगीत रचनाओं को बार-बार सुन सकें, और आपको ख़ुद भी उनमें से कुछ न कुछ सीखना चाहिए। यही सब आपको वास्तव में संगीत का रसिया और शौकिया संगीतकार बना सकता है। स्पष्ट है कि यह सब मध्यवर्ग या उच्च वर्ग को ही उपलब्ध हो सकता है। ऐसी सामाजिक पृष्ठभूमि और सामाजिक स्थिति के बिना आप कमोबेश असहाय ही रहेंगे।

यह भी सच है कि 19वीं सदी के संगीतकार, रोमाण्टिक संगीतकार समाज के इसी तबके के लिए संगीत रचना करते थे और इसी की भावनाओं को व्यक्त करते थे। शुमान, शॉपेन, लिज़्ट, ब्राहम्स[4] और अन्य उच्च मध्यवर्ग की बैठकों में राज करते थे। हजारों प्रेमगीत और पियानो की रचनाएँ औद्योगिक क्रान्ति की उपज इन्हीं परिवारों की नौजवान बेटियाँ गाती-बजाती थीं।

इसके अलावा, 19वीं सदी आते-आते कलात्मक संगीत महज़ राजा-महाराजा और दरबारियों की बैठक की चीज़ नहीं रह गया, बल्कि पहली बार यह बिक्री की चीज़ और एक व्यापार बन गया। औद्योगिक क्रान्ति से सौ साल पहले बाख़ एक ही साथ चर्च और दरबार का सेवक, पियानो, वायलिन और ऑर्गन वादक तथा लैटिन, फ्रेंच और संगीत का शिक्षक था। उसने अपनी कुछ रचनाओं को ख़ुद छपवाया भी, और वह चर्च का लाइब्रेरियन तथा नक़लनवीस भी था। वह लिज़्ट की तरह का कोई रूमानी व्यक्ति नहीं बल्कि एक सामान्य, अच्छा नागरिक था जिसकी बारह सन्तानें थीं।[5] औद्योगिक क्रान्ति ने एक घुमन्तू सेल्समैन की तरह के संगीत कलाकार की सृष्टि की। संगीत का रचनाकार एक विशेषज्ञ बन गया। वह बीथोवन की तरह सिर्फ़ एक रचनाकार था। संगीत का शिक्षक भी एक विशेषज्ञ बन गया गया। अलब्रेख्त बर्गर की तरह संगीत का ख़ास सिद्धान्तकार। वह सिर्फ़ सिद्धान्त पढ़ाता था। पर वह संगीत में पटु नहीं था और न ही रचनाकार था। संगीत छापने वाला भी पैदा हो गया और कंसर्ट हाल का मालिक भी। पहले संगीत का आयोजन अमीरों के महलों में होता था। फिर संगीत सम्मेलनों का प्रबन्धक आया। अक़सर वही जो संगीत का जानकार होता। बाद में वह स्वतंत्र हो गया। 'व्यावसायिक' संगीत का ख़रीदार और विक्रेता, संगीत के क्षेत्र का व्यापारी। संगीत का इतिहासकार भी पैदा हुआ, नया और जिज्ञासु क़िस्म का। इस तरह हम देखते हैं कि गम्भीर और मनोरंजक संगीत के बीच की खाई पाटने वाले ख़ास तरह के लोग पैदा हुए। ये संगीत को किसी वस्तु की तरह ख़रीदने, बेचने और वितरण-व्यापार की पूरी प्रक्रिया के मालिक बन बैठे।

इन नकारात्मक स्थितियों के बावजूद 19वीं सदी में जो विकास हुआ वह प्रगतिशील था। एक ओर हम कई प्रतिभासम्पन्न रचनाकारों और जानकारों को देखते हैं। दूसरी ओर नये और अत्यन्त विकसित क़िस्म के श्रोताओं और संगीत से सम्बद्ध अव्यवसायी लोगों को। हालाँकि इस दौर की सामाजिक स्थिति कुल मिलाकर भयानक थी। इंग्लैण्ड, जहाँ सबसे पहले और तीव्र औद्योगिक क्रान्ति सम्पन्न हुई, की नब्बे प्रतिशत आबादी उपेक्षा और सांस्कृतिक अन्धकार की स्थिति में जी रही थी। इससे हम कह सकते हैं कि उस समय की सामाजिक स्थिति सांस्कृतिक विकास के लिए वास्तव में ख़तरा बन गई थी। उन नब्बे असंस्कृति लोगों के लिए किस तरह का संगीत उपलब्ध था और उनकी ज़रूरत क्या थी। वह इस तरह का संगीत था जिसका बीयर या जिन की तरह जल्दी और सस्ते दामों पर उत्पादन और उपभोग किया जा सके, और इतना ख़राब और इतना चमकदार जैसे मिल में बने नये कपड़े। लेकिन जिस तरह जिन बहुत स्वास्थ्यवर्द्धक पेय नहीं है और जैसे सस्ता कपड़ा सुन्दर और टिकाऊ नहीं होता उसी तरह नया "मनोरंजक" संगीत भी था। वह सस्ता मिल-निर्मित और सांस्कृतिक मूल्यों से रहित संगीत था। यह उन्हीं के लिए सुपाच्य था जिनकी संगीत में रुचि नहीं थी। सिर्फ़ एक शर्त ज़रूरी थी, वह यह कि वे बहरे नहीं हों। ज़ाहिर है कि इस संगीत की रचना महान प्रतिभाओं ने नहीं की थी और न ही आम लोगों ने। वह किसी भी तरह से पुराने लोक संगीत की तरह नहीं था। इसे लोगों के लिए संगीत के व्यापारियों ने तैयार किया था। चौथी-पाँचवी श्रेणी के संगीतकारों को ये व्यापारी ऐसे नक़ली "लोकप्रिय" संगीत की रचना के लिए पैसे देते थे और प्रकाशन संस्थान इसकी स्वरलिपियों को छापते थे—सस्ते काग़ज़ पर सस्ता संगीत, सस्ते गीत छापकर बाज़ार में अख़बारों या लेमनचूस की तरह

बेचा जाता था। यांत्रिक संगीत वाद्यों की खोज होने पर ऐसे संगीत का उत्पादन और बढ़ा। जैसे-जैसे इस तरह के मनोरंजक संगीत का चलन बढ़ा, गम्भीर संगीत का चलन घटता गया।

आज मनोरंजक संगीत का रेडियो और फ़िल्मों में इतना महत्त्व हो गया है कि इसे दिन-रात कभी भी सुना जा सकता है। अगर आप रेडियो खोलें या आप किसी रेस्तराँ में जाएँ तो आपको यही सुनने को मिलेगा।

इस तरह के संगीत में लोगों को क्या मिलता है? मैं आपसे इस सवाल का जवाब माँगता हूँ। व्हिस्की के एक बड़े गिलास से आपको क्या मिलता है? थोड़े समय के आनन्द के बाद बस सिरदर्द। अगर आप ज़्यादा पियें तो अस्पताल पहुँच जाएँगे। इसी तरह अगर नौजवान लोग इस संगीत को बहुत ज़्यादा सुनेंगे तो दिमाग़ी तौर पर सुस्त पड़ जाएँगे और मज़दूर वर्ग की वास्तविक ज़रूरतों और उसकी क्षमता से गाफ़िल हो जाएँगे।

अब हम आज के समय को देखें जो संगीत के लिए अभूतपूर्व संकट का समय है। हालाँकि 19वीं सदी इस संगीत की जनक है। पर हम बीसवीं सदी को भी इस दृष्टि से कम नहीं मान सकते। विश्व युद्ध के बाद के आर्थिक महासंकट ने दुनिया भर में बड़े पैमाने पर मध्यवर्ग और पेशेवर तबकों को प्रभावित किया। नई पीढ़ी नई परिस्थितियों से प्रभावित होकर नई आदतों और नये मानकों के अनुसार संगीत समारोहों की जगह खेलों और फ़िल्मों को महत्त्व देने लगी। ख़ास तौर पर इस देश में गम्भीर संगीत को प्रोत्साहन और उसका आयोजन सिर्फ़ धनी महिलाएँ ही करती हैं। मध्यवर्ग के युवा, छात्र और बुद्धिजीवी भी संगीत समारोहों में मिल जाते हैं, लेकिन इससे सामान्य स्थिति में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। अगर कोई ऐसा भूकम्प आए जिसकी शिकार सिर्फ़ धनी महिलाएँ हो जाएँ तो अगले ही दिन संगीत निर्देशक, गायक, पियानोवादक और संगीत रचनाकार सभी को रोटियों के लाले पड़ जाएँगे। हालाँकि धनी लोग ही आज गम्भीर संगीत को प्रायोजित करते हैं लेकिन अच्छे संगीत को समझने पर अब उनका एकाधिकार नहीं है जैसा कि 18वीं और 19वीं सदी में मध्यवर्ग और कुलीनों के साथ था। आज संगीत समारोहों में जाने का अर्थ वस्त्राभूषण का प्रदर्शन और घमण्ड दिखाने से अधिक कुछ नहीं है। फ़ैशनपरस्त और 'सुदर्शन स्टोकोवस्की[6]' संगीतकारों को उनकी रचनाओं से अधिक सराहा जाता है। संगीतकारों, संचालकों, गायकों और शिक्षकों को धनी औरतों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क बनाए रखना पड़ता है जिनका प्रायोजन भी अक़सर पर्याप्त नहीं होता। यह देखकर अक़सर बड़ा ख़राब लगता है कि कुछ कलाकार अपनी प्रतिभा को जनता के प्रति ज़िम्मेदार बनाने के बजाय कैसे परजीवी बन जाते हैं। इस तरह के संरक्षण में संगीत का स्तर कैसे बनाया रखा जा सकता है? मैं कुछ तथ्य पेश करता हूँ। मेट्रोपोलिटन ऑपेरा अपनी तरह का दुनिया में सबसे धनी ऑपेरा है। लगभग पचास वर्ष से कई धनी परिवार बड़ी-बड़ी रकमें दान में देकर इसकी मदद करते रहे हैं। आप में से कितने लोग हैं जो कभी मेट्रोपोलिटन ऑपेरा के किसी कार्यक्रम में गए हैं? मुझे लगता है कि पाँच-सात लोग या शायद कोई भी नहीं। क्या आप मोत्सार्ट, बीथोवन, हान्देल या वैगनर के ऑपेरा के बारे में जानते हैं? आप कह सकते हैं कि मेट्रोपोलिटन ऑपेरा वैसे तो आम लोगों की सीधी सेवा नहीं करता पर वह ऑपेरा की एक ख़ूबसूरत परम्परा का निर्माण कर रहा है जो कभी देश के काम आएगी। पर, मेरा कहना है नहीं। यह सही है कि इस ऑपेरा का तकनीकी स्तर बहुत ऊँचा है और उसके पास कुछ श्रेष्ठ गायक हैं। पर संचालक उत्तम श्रेणी के नहीं हैं, वे सिर्फ़ अच्छे रुटीनी और अनुभवी संगीतकार हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से इसका सम्पूर्ण स्तर नीचा है। इसे आधुनिक स्वरूप देने की कोई कोशिश नहीं होती। प्रदर्शन आम तौर पर उच्च श्रेणी के नहीं होते। रुटीन तरीक़े से पुराने ऑपेरा को बार-बार दिखाया जाता है। यह कोई सांस्कृतिक संस्था नहीं है, यह पैसे का घमण्ड दिखाने वालों का लग्ज़री क्लब बन गया है। इसके अलावा सवाल यह भी है कि संगीत संचालकों का चयन कौन करता है? धनी औरतें संचालकों को चुनती हैं। संगीत की योग्यता का महत्त्व गौण होता है। कार्यक्रम कौन तय करता है? वही धनी औरतें कार्यक्रम भी तय करती हैं जो प्रायः ख़राब होते हैं। वे आम तौर पर

बीथोवन से सिबेलियस तक परिक्रमा रेलयात्रा की तरह होते हैं। क्या आधुनिक अमेरिकी संगीतकारों पर ध्यान दिया जाता है? नहीं। इसके लिए कौन ज़िम्मेदार है। धनी महिला प्रायोजक! ये महिलाएँ किस वर्ग की प्रतिनिधि हैं? बैंकरों, कारख़ानेदारों, व्यापारियों और दुकानदारों की। क्या ये कार्यक्रम हम लोगों के जीवन संगीत की प्रेरक शक्ति बन सकते हैं? नहीं। लोगों की कौन सहायता कर सकता है? लोग ही कर सकते हैं।

लोगों के लिए कुछ ही अच्छे-संगीत कार्यक्रम उपलब्ध हैं। कुछ लोकप्रिय संगीत कार्यक्रमों के अलावा उन्हें सिर्फ़ ब्राडवे या हालीवुड का सस्ता संगीत ही सुनने को मिलता है। मैं जाज़ और स्विंग को पूरी तरह ख़राब नहीं मानता। ड्यूक एलिंग्टन और बेनी गुडमैन वास्तव में प्रतिभासम्पन्न संगीतकार हैं। पर ड्यूक एलिंग्टन अपनी जीविका नाइट क्लबों में कमाते हैं और इस तरह कलाकार के तौर पर उसका विकास बाधित होता है। बेनी गुडमैन एक बहुत अच्छे क्लेरियन वादक हैं, पर हालीवुड में बीमार और उबाऊ फ़िल्म बनाते हैं और अपनी कला को नष्ट कर रहे हैं। संगीत मेलों में लोगों को क्या मिलता है? बेई मीर बिष्ट श्योन और टि-'पि-टिन जैसे गाने। और मैं ब्राडवे और हालीवुड के हजारों उत्तेजक प्रेमगीतों के बारे में सोचना भी नहीं चाहता। आपमें से कुछ कहेंगे कि यह नुकसानदेह नहीं, सिर्फ़ मनोरंजन है, चिन्ता मत कीजिए। पर एक संगीतकार के तौर पर मैं चिन्ता करता हूँ। क्योंकि मैं जानता हूँ कि यह ज़हर है। लोगों के लिए अफ़ीम। पर उपाय क्या है? क्या मज़दूर लोग लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ बढ़ाकर सिर्फ़ गम्भीर संगीत के कार्यक्रमों में भाग लें? यह हास्यास्पद और असम्भव है।

आगे कुछ कहने से पहले मुझे अमेरिका के पक्ष में कुछ कहने की इजाज़त दीजिए। मुझे यह कहते हुए ख़ुशी हो रही है कि संस्कृति के क्षेत्र में भी इस देश का प्रशासन और राष्ट्रपति रूज़वेल्ट प्रगतिशील हैं। मैं समझता हूँ कि थिएटर और संगीत के क्षेत्र में डब्ल्यू पीए[7] की स्थापना सराहनीय है। पर क्या सरकार समस्या का हल निकाल सकती है? असम्भव। एक प्रगतिशील सरकार लोगों की सहायता कर सकती है। पर यह अस्थायी सहायता ही हो सकती है, परिवर्तनकारी नहीं। मैं फिर कहता हूँ जनता की ताक़त जनता से ही मिलती है।

यह जनता कौन है? आप ही जनता हैं। अब मैं आप मज़दूरों के संगीत कार्यक्रम की सम्भावना के बारे में कुछ कहना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है कि चूँकि आपकी यूनियन ने थिएटर के क्षेत्र में सफलतापूर्वक काम किया है, आप अपने क्षेत्र में भी कुछ महत्त्वपूर्ण करना चाहेंगे। एक बात यह है कि आपके संगठन का मुझे व्यक्तिगत अनुभव नहीं है। मैंने आपके किसी कार्यक्रम के बारे में नहीं सुना है। मैं आपके संगीत संचालक या गायक मण्डली को नहीं जानता और यह भी नहीं जानता कि आप क्या गाते हैं। पर, अपने अन्तरराष्ट्रीय अनुभवों से जो कुछ मैंने सीखा है उनके बारे में मैं आपको बता सकता हूँ। स्वभाविक रूप से अमेरिका में और फ़्रांस, इंग्लैण्ड, जर्मनी, स्विट्ज़रलैण्ड, शुशनिग और हिटलर के पहले के आस्ट्रिया, हिटलर के पहले के जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया (कहने की ज़रूरत नहीं कि हिटलर के पहले के), डेनमार्क, युगोस्लाविया और अन्ततः सोवियत संघ में फ़र्क़ है।

मैं इन सभी देशों में रहा हूँ और संगीतकार के रूप में काम किया है। शायद मेरे कुछ अनुभव आपके काम आ सकें। मैंने अत्यन्त सफल गायक मण्डलियों को देखा है जैसे फ़्रांस में जनमोर्चा गायक मण्डली जिमें 250 गायक थे; और एलन बुश के नेतृत्व में लन्दन में एक ऐसी ही गायक मण्डली थी। मैंने मास्को में मई दिवस पर लाखों लोगों को अपना गीत गाते हुए सुना है। मैंने मज़दूरों की अन्य मण्डलियों को भी सुना है पर सच कहता हूँ, कई बार मैं समझ ही नहीं पाया कि वे जीवित हैं या मृत। इसका कारण क्या है?

मज़दूरों की कमज़ोर गायक मण्डली की कोई ख़ास विचार-दृष्टि नहीं होती। उसका कोई निश्चित चरित्र नहीं होता। वे न इधर के होते हैं न उधर के। न वे पूँजीवादी होते हैं और न ही सर्वहारा। वे लोकप्रिय गीतात्मक समूह गान गाते हैं। उदाहरण के लिए जर्मनी में वे मेंडलसन का भावकुतापूर्ण लोकप्रिय गीत 'वेरबत दिस डू गोनर वाल्ड' गाया करते थे या फिर कुछ अच्छे संगीतकारों के लोकप्रिय गीत। पर अधिकतर

वे चतुर्थ या पंचम श्रेणी के संगीतकारों के सस्ते गीत गाया करते। ऐसे गीत न सिर्फ़ गाने में उबाऊ होते हैं बल्कि उन्हें सुनना भी असहनीय होता है। इनके अधिकतर गीत 19वीं सदी के अन्त के और युद्ध से पहले के लिखे हुए थे। वे न तो महान कला के उदाहरण हैं और न ही आज की ज़िन्दगी की वास्तविकता को अभिव्यक्त करते हैं। ग़रीब गायक मण्डलियाँ कुछ लोकगीत भी गाती हैं। आम तौर पर बहुत ख़राब ढंग से, चार हिस्सों वाले। अन्ततः वे उन समूह गीतों को भी गाते हैं जिन्हें हम जर्मन भाषा में टेन्डेन्ज कहते हैं। ये सचेत रूप से सामाजिक महत्त्व के समूह गीत होते हैं। जर्मनी, हालैण्ड और इंग्लैण्ड में टेण्डेंज समूह गीत 1890 और 1920 के बीच लिखे गए थे। इसमें से कुछ सचमुच बहुत अच्छे हैं पर उनमें से अधिकतर पात्र पुराने फ़ैशन के लगते हैं। मुझे विश्वास है कि आपको इनके बारे में पता है। आम तौर पर इनमें शब्द बड़े मासूम और कोमल हैं जैसे, "आज हम रात के अँधेरे में संघर्ष कर रहे हैं, पर उम्मीद है कल रौशनी होगी" या फिर "एक दिन हम आज़ाद हो जाएँगे।"

इनका संगीत भी पुराने ढंग का है और गायक मण्डली का व्यवहार और प्रदर्शन भी उसी तरह का होता है। ये भले लोग छह महीने तक ऐसे कार्यक्रम के लिए रियाज करते हैं। वे हाल किराए पर लेते हैं। और किसी रविवार को कार्यक्रम पेश करते हैं। मंच पर खड़े होते हैं तो बड़ा गरिमापूर्ण और पवित्र लगता है, संचालक के संकेतों का बहुत ध्यान से अनुसरण करते हैं। और अपने तईं अच्छा से अच्छा प्रदर्शन करते हैं। श्रोताओं में आमतौर पर गायकों के सम्बन्धी, मज़दूर संगठन के सदस्य और अन्य मित्र होते हैं। लेकिन पूरा वातावरण जैसे शवयात्रा का होता है। इसलिए सवाल यही उठता है, "कौन मर गया है?" शायद प्रगतिशील संगीत। कार्यक्रम शुरू होता है। शुरू में कुछ लोकगीत गाए जाते हैं या फिर कुछ लोकगीत के आसपास की चीज़"। मैं मज़दूर यूनियनों के कुछ ग्रुपों के गीत सुनकर डर जाता हूँ जो कई वर्ग संघर्षों में गाते-गाते थक गए होते हैं"। ला, ला, ला,ला,ला, ला, ला" "जब मैं तुम्हें याद करता हूँ बहुत अकेला महसूस करता हूँ।"

इन विचित्र गीतों के बाद बारी आती है शास्त्रीय गीतों की, कुछ बेहतर संगीतकारों की दो या तीन रचनाओं की। अगर प्रदर्शन अच्छा नहीं हो तब भी चलता है। श्रोता रेडियो पर बेहतर प्रदर्शन सुन चुके हैं। अन्त में सामाजिक महत्त्व के समूह गीत गाए जाते हैं। कर्कश और एकरस आवाज़ में। आप यह उद्घोषणा सुनते हैं कि "फिर से सूरज उगेगा" या "आज़ादी, हमें तुमसे प्यार है।"

अक़सर संचालक की कोई दोस्त या पत्नी पियानो बजाती है या एकल गीत गाती है : और इस तरह एकल गायिका कार्यक्रम में शामिल होती है। एकतारा की चढ़ती-उतरती धुन पर लिस्ज़ के 'प्रेम स्वप्न' जैसे गीत, या वायलिन पर 'स्वीट क्रासिलिरियाना' या फिर उससे आप ग्रेग का "मुझे तुमसे प्यार है" सुनेंगे और अन्त में "हँसो पगलियासी" सुनेंगें।

श्रोता बड़े नम्र होते हैं और कार्यक्रम संगीत संचालक को आयोजकों की ओर से फूलों का एक गुलदस्ता भेंट करने के साथ शान्तिपूर्वक समाप्त हो जाता है। यह सब छह महीने के कठिन परिश्रम के बाद सम्भव हो पाता है। मैं अक़सर अपने आपसे पूछता हूँ कि ये गायक रियाज के समय क्या करते हैं ख़ास तौर से पुरुषों के लिए मुख्य सप्तक और मन्द्र में? अ...ला,ला...।

मन्द्र का आधार ही बुरा होता है, परन्तु सम्भवतः वह अपने को दिलासा देते हैं कि कुल मिला कर कार्यक्रम उतना ख़राब नहीं होगा। मुझे विश्वास है कि ऐसे कार्यक्रम के बाद कार्यकारिणी की बैठक होती है और कोई न कोई पूछता है कि श्रोता कम क्यों थे। अध्यक्ष कहता है "प्रचार कम हुआ और टिकट ज़्यादा नहीं बिके।"

मैं ऐसा नहीं समझता, अगर आप ज़बर्दस्ती टिकट बेचें तब भी। मैं समझता हूँ कि अध्यक्ष यह जानना चाहेगा कि इतने कम लोग अभ्यास के समय क्यों आते हैं"? मैं गायक मण्डली की स्थिति समझता हूँ, ख़ास तौर पर मन्द्र स्वर में गाने वाले अपने दोस्तों की। आम तौर पर ऐसी गायक मण्डली में चालीस से कम की उम्र के लोग नहीं होते। इसका कारण स्पष्ट है।

हमने संगीत में संकट की बात की, मनोरंजन और गम्भीर संगीत में फ़र्क़ की। इस तरह के कार्यक्रम का

संगीत के संकट से कुछ लेना-देना नहीं है। ज़ाहिर है कि ऐसा कार्यक्रम न तो मनोरंजक होता है न गम्भीर संगीत का होता है। यह सिर्फ़ उबाऊ, निरर्थक, कलाहीन और नीरस होता है। हालाँकि पचास साल पहले, इस तरह का कार्यक्रम मज़दूर वर्ग के लिए वास्तव में प्रगति का संकेत होता, पर आज इसका कोई अर्थ नहीं है।

ख़ास तौर पर युवा पीढ़ी के लिए जो सिनेमा, रेडियो और खेलकूद को अधिक पसन्द करती है, और अगर वे राजनीतिक विचार के हुए तो सभाओं और वामपन्थी नाटक मण्डलियों में जाते हैं। लेकिन अगर कोई सांस्कृतिक संगठन युवाओं को आकर्षित नहीं करता तो वह अपनी भूमिका अदा नहीं करता है और अपनी सक्रियता खो देता है।

ऐसे संगठन इन परिस्थिति में क्या कर सकते हैं? अगर हर सदस्य यह महसूस करे कि ये कठिनाइयाँ मज़दूर वर्ग के सामान्य संकट और उसकी विशिष्ट सामाजिक परिस्थिति से जुड़ी हुई हैं, तो इनका हल निकालना आसान होगा। इस सिलसिले में मेरे कुछ सुझाव हैं—

1. मुख्य प्रश्न गायक मण्डली का है। इसका चुनाव इस तरह से होना चाहिए कि यह श्रोताओं और गायकों दोनों के लिए उत्साहवर्द्धक हो (ख़ास तौर पर दूसरे सप्तक के गायक) और मण्डली के सभी सदस्य छह महीने तक अभ्यास करें। संगीत और गीत मनमोहक होना चाहिए।

इस तरह की गायक मण्डली का गठन कैसे हो सकता है। एकमात्र उपाय यह है कि आधुनिक और प्रगतिशील संगीतकारों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हो। मैंने आपको आधुनिक संगीतकारों की भयानक स्थिति के बारे में भी बताया है, जो या तो अलग-थलग पड़ गए हैं या भुखमरी की स्थिति में हैं या परजीवी बन गए हैं। पर आप उन्हें एक नया अवसर दे सकते हैं। प्रगतिशील मज़दूर वर्ग और प्रगतिशील संगीतकारों के बीच यह सहयोग दोनों के लिए फायदेमन्द होगा। एक प्रगतिशील गायक मण्डली के लिए यह सचमुच महत्त्वपूर्ण होगा। संगीतकारों के लिए ऐसी गायक मण्डली का साथ सम्पर्क ताज़ा हवा के झोंके की तरह होगा। उन्हें नये विचार, छपने का अवसर और संक्षेप में एक नई ज़िन्दगी मिलेगी।

गायक मण्डली के गठन में शास्त्रीय संगीत और आधुनिक संगीत में सही सन्तुलन बनाए रखना ज़रूरी है। एक महत्त्वपूर्ण सवाल पुरानेपन और रूढ़िबद्धता को भूल जाने का है। एक आधुनिक संगीत संचालक आपके लिए न सिर्फ़ शास्त्रीय संगीत की अच्छी रचना खोज सकता है बल्कि विभिन्न देशों के आधुनिक संगीतकारों की दिलचस्प नई रचनाएँ भी तलाश सकता है। पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी में लोकगीत भी हैं और अरलैण्डो डी लास्सो, मरन्जियो जैसे उच्च स्तर के अनेक संगीतकारों की रचनाएँ भी।

सोवियत संघ समेत अनेक देशों में वर्ग चेतना से सम्पन्न आधुनिक संगीत का अगाध भण्डार भी उपलब्ध है। आप इन आधुनिक संगीतकारों से अपने लिए नई रचनाओं की भी माँग कर सकते हैं। पर, दुर्भाग्यवश, छोटी-छोटी रचनाओं से युक्त ऐसा कार्यक्रम शाम को और उबाऊ बना देता है। इसलिए मेरा दूसरा सुझाव यह है कि

2. कार्यक्रम आयोजित करने का बेहतर तरीक़ा अपनाएँ। संगीत कार्यक्रमों में पुराने और बेकार पड़ चुके तौर-तरीक़ों को छोड़ दें। हमें बहुत कुछ करना है। एक अच्छा उद्‌घोषक चुनें। उसे उन रचनाओं के बारे में बताने को कहें जो गाए जाने हैं, शुष्क अकादमिक तरीक़े से नहीं, बल्कि नए और मज़दूर वर्ग के अनुरूप जीवन्त और मनोरंजक तरीक़े से। यह एक क़दम आगे बढ़ना है।

लेकिन फिर भी बात बनती नहीं है। प्रभावी तरीक़े से कार्यक्रम आयोजित करने के लिए और बहुत कुछ करना होगा। आपको मज़दूर वर्ग की अन्य कला मण्डलियों के साथ सहयोग करना होगा, जैसे अभिनेताओं, नर्तकों, बैंडवादकों आदि के साथ। आपके संगीतकारों और कवियों को बड़ी-बड़ी रचनाएँ तैयार करनी होंगी जैसे गतिमय संगीत नाटक जिसमें गायक मण्डली की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो। इस नये कार्यक्रम में सम्पूर्ण राजनीतिक और सामाजिक सन्दर्भ की ज़िम्मेदारी आपके कन्धे पर होगी। अभ्यास सत्रों में आपको चीज़ों को नियंत्रित करने और विचार-विमर्श करने का पर्याप्त मौक़ा मिलेगा।

3. हास्य, व्यंग्य और तीखापन आपके सभी कार्यक्रमों का महत्त्वपूर्ण हिस्सा होना चाहिए। जाज और स्विंग के कलाकारों का उपयोग आपके कार्यक्रमों में हो सकता है पर हालीवुड और ब्राडवे के विकृत रूपों में नहीं। अच्छे आधुनिक संगीत में हास्य भी होता है, लय भी और जीवन्तता भी होती है, आपको इन सबका उपयोग करना चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण चीज़ क्या है?

एक अच्छा आधुनिक संचालक और आपके आधुनिक संगीतकार के साथ उसका अच्छा सम्बन्ध (और उनके लिए कुछ पैसे), और आपको सिर्फ़ सर्वोत्तम प्रतिभाएँ चाहिए। आपके पास सर्वाधिक प्रतिभासम्पन्न युवा कवि होने चाहिए। यह सब सम्भव है। कोशिश करिए। याद रखिए कला की मृत्यु, सस्ती संवेदनशीलता, खोखले शोरगुल और लोकगीतों की भद्दी नक़ल में निहित है। सामाजिकता का अभाव भी किसी रचना को नीरस बना देता है, ख़ास तौर पर आज के कठिन समय में। हमारी कला में मनोरंजन, अधिकतम विकसित तकनीक, चेतना, हास्य, अच्छे प्रचार और सामाजिक भावना का सुन्दरतम समन्वय होना चाहिए। मज़दूरों की कला के लिए सस्ता और उबाऊ होना सबसे ख़तरनाक है। मैं एक व्यावहारिक प्रस्ताव रखता हूँ। आपकी यूनियन मज़बूत है। आपकी सम्भावनाएँ और आपके अनुभव विशिष्ट हैं। इस बात की कोशिश करिए—कुछ अभिनेताओं, एक अच्छे उद्‌घोषक और एक युवा निर्देशक, कुछ युवा आधुनिक कवियों और एक संगीतकार को साथ लेकर आप एक अच्छा गीति नाट्‌य पेश कर सकते हैं। मैं आपको एक सुझाव देता हूँ। उस गीति-नाट्‌य का नाम "हमारी कहानी" रखिए। आपकी यूनियन में इतिहास पर आधारित नाटक। मैं इसका इतिहास जानता हूँ और यह अद्‌भुत है, कला की दृष्टि से भी। उदाहरण के लिए आप्रवासी यहूदी के लिए एक गीत हो सकता है जो एलीस द्वीप पर अपने बक्सों के ऊपर बैठा। खाड़ी और न्यूयार्क शहर को देख रहा है। एक अन्य दृश्य में यूनियन के शुरुआती दौर के उन क्रियाकलापों को दिखाया जा सकता है जो कुछ अवैध से हैं। जैसे अपराधी गिरोहों के साथ संघर्ष, एक संघर्षशील साथी की मृत्यु, गायक मण्डली इसकी व्याख्या कर सकती है। ऐसे कई दृश्य दिखाए जा सकते हैं और हर दृश्य के साथ पर्दे पर घटना की तिथि और ऐतिहासिक परिस्थिति के बारे में कुछ पंक्तियाँ प्रोजेक्ट की जा सकती हैं। गायक मण्डली को अभिनय नहीं करना चाहिए। आम तौर पर यह मुश्किल होगा और अच्छा तो क़तई नहीं होगा। उन्हें अपने गाने के लिए खड़ा रहना चाहिए या बैठे रहना चाहये। आप कुछ अभिनेता बुला सकते हैं और एक या दो एकल गायक। इतनी ही शक्ति लगाकर, मैंने जैसा कहा उस तरह आप एक अच्छा कार्यक्रम तैयार कर सकते हैं, जो आपके लिए और आपके श्रोताओं के लिए महत्त्वपूर्ण होगा। इसका अभ्यास भी उत्साहपूर्ण रहेगा और संगठन की भी सक्रियता बनी रहेगी।

क्या यह सब कठिन है? हाँ और नहीं भी। कुछ करना आसान नहीं होगा, पर आपको इस तरह सोचना चाहिए जैसे एक प्रगतिशील गायक मण्डली को सोचना चाहिए। आज की सांस्कृतिक क्रूरता और राजनीतिक संकट के दौर में हम एक दिलचस्प स्थिति देखते हैं। पूँजीवादी संस्कृति विनाश की दिशा में जा रही है। अब संस्कृति की रक्षा और पुनर्रचना की आपकी बारी है, उन धनी औरतों के बावजूद।

एक व्यक्तिगत बात कह कर मैं अपना भाषण समाप्त करना चाहता हूँ। मैं श्री शेफर और श्री लीबमन के प्रति आभार व्यक्त करना चाहता हूँ जिन्होंने आपके सामने बोलने का मौक़ा दिया। मुझे उम्मीद है कि जो कुछ मैंने कहा उसमें से कुछ उपयोगी हो सकता है और मुझे उम्मीद है कि मैं आपके पहले कार्यक्रम पर आपको बधाई दे सकूँगा।

सन्दर्भ

1. यह उद्धरण देते हुए आइस्लर न तो चर्च को एक संस्था के रूप में मान्यता देते हैं और न ही समाज से मुँह मोड़ने का बहाना बनाते हैं।

2. रिचर्ड वैगनर 1848-49 में जर्मनी में हुई पूँजीवादी जनतांत्रिक क्रान्ति में शामिल थे और उस समय उन्होंने "मैन ऍंड एक्सिटिंग सोसायटी", आर्ट ऍंड रिवोल्यूशन", और आर्ट ऑफ़ फ्यूचर" जैसे लेख लिखे।

3. “वोल्गा के नाविक का गीत” एक पुराना रूसी गीत है। पश्चिम यूरोप और अमेरिका में यह प्रसिद्ध है। ख़ास तौर पर फियोदोर चैलियापिन की बीच-बीच में की गई व्याख्या के साथ।

4. शुमैन, शोपेन, लिस्ज़ और ब्राह्म, इन सबने अपने संगीत के ज़रिए निम्न वर्ग तक पहुँचने की कोशिश की पर सर्वहारा वर्ग अपने गठन की प्रक्रिया में था और निम्न वर्ग की मानसिकता से बाहर था। इसके विपरीत वह मध्य और उच्चवर्गीय पूँजीपतियों से लाभ उठाता था।

5. बाख़ की 20 सन्तानें थीं। सात सन्तानें पहली शादी से जिनमें से चार बचे और 13 दूसरी शादी से जिनमें से सात बचे।

6. ‘स्टोकोवस्की’ से आइस्लर का मतलब अमेरिका में लियोपाल्ड स्टोकोवस्की जैसे स्टार संगीत संचालकों से है।

7. डब्ल्यू.पी.ए. ‘वर्क्स प्रोग्रेस एडमिनिस्ट्रेशन’ का संक्षिप्त रूप है।

अंग्रेज़ी से अनुवाद : **रामकृष्ण पाण्डेय**

दुनिया में कोई भी शाश्वत और अपरिवर्तनीय नैतिक नियम या धार्मिक सत्य नहीं है। ये दोनों तो इसी ठोस समाज की रचनाएं हैं। धर्म की राजनीति करने वाली कुटिल ताकतों को विवश होकर अपने पांव समेटने ही होंगे।

साम्प्रदायिक जुनून का मुकाबला करते हुए शहीद होने वाले महान क्रान्तिकारी पत्रकार
गणेश शंकर विद्यार्थी

सर्वहारा संगीत-रचना की समस्याएँ

गंगा प्रसाद भट्ट

सर्वहारा संगीत से यहाँ हमारा तात्पर्य उससे नहीं है जो सर्वहारा वर्ग के लोग गाते-बजाते हैं। हमारा तात्पर्य यहाँ सर्वहारा वर्ग के पक्ष में सचेत तौर पर और वैज्ञानिक दृष्टि के साथ खड़ी संगीत-कला से है, ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्व-दृष्टि से लैस संगीत से है। हर कला की तरह वर्ग-समाज में संगीत-कला का भी वर्ग-चरित्र होता है, वर्गीय पक्षधरता होती है। उसकी प्रतिगामी और प्रगतिशील धाराएँ होती हैं।

भारत में प्रगतिशील, जनवादी, वामपन्थी सांस्कृतिक आन्दोलन में संगीत के वैचारिक पहलुओं पर लगभग नहीं के बराबर काम हुआ है। ज़्यादा से ज़्यादा, कुछ व्यावहारिक पहलुओं पर विचार-विमर्श दीखते हैं। चिन्तन की दृष्टि से प्रतिक्रियावादी संगीत की धारा काफ़ी समृद्ध दीखती है और उसकी एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है। जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन के पुनर्निर्माण के लिए इस बात की सख़्त ज़रूरत है कि सर्वहारा संगीत के वैचारिक और संरचनात्मक पक्षों पर सोचने-विचारने और बहस की शुरुआत की जाए। यह एक व्यापक प्रश्न है। लेकिन, हम समझते हैं कि छिटफुट विचार-बिन्दुओं से, कुछ प्रश्न खड़े करने से और मौजूद स्थितियों की आलोचनात्मक पड़ताल से भी शुरुआत की जा सकती है। शुरुआत बचकानी भी हो तो शुरुआत न होने से बेहतर होती है। और फिर यह भी तो सच है कि महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण चीज़ों की शुरुआतें भी प्रायः बचकानी हुआ करती हैं। तो हम विचारों की एक सुगठित प्रबन्ध-योजना के बजाय बिखरी-बिखरी बातों से एक शुरुआत कर रहे हैं।

•

(1) पहली बात यह कि संगीत के वर्ग-चरित्र के प्रश्न को कैसे समझा जाए? भावों-विचारों की अभिव्यक्ति के एक माध्यम के रूप में संगीत की भी अपनी एक "भाषा" या सम्प्रेषण की संकेत-प्रणाली (sign system) होती है। इसे हम भाषा के समतुल्य रख सकते हैं। ध्वनि के सांगीतिक स्वरूप (timbre) में ढलने से उपजे स्वर, उनके आघात-संघात, आरोह-अवरोह, लय-ताल-तान-नाद-मान, गति, संगति और विन्यास आदि को हम "संगीत-भाषा" के संघटक अवयव के अन्तर्गत रख सकते हैं। जिस प्रकार भाषा का अपना कोई वर्ग-चरित्र नहीं होता, उसी प्रकार संगीत की इस "भाषा" का भी कोई वर्ग-चरित्र नहीं होता। लेकिन जिस प्रकार भाषा में व्यक्त होने वाले हर विचार का, हर भाव का, सामाजिक चरित्र होने के नाते और श्रम-प्रक्रिया में मूल होने के चलते, वर्ग-चरित्र होता है, उसी प्रकार संगीत की "भाषा" में सम्प्रेषित होने वाले हर भाव-संवेग का, हर अनुभूति का और हर विचार का वर्ग-चरित्र होता है। हर साहित्यिक रचना की तरह हर सांगीतिक कम्पोज़ीशन का, रागों का या सोनाटा, कैण्टाटा, सिम्फ़नी आदि का अनिवार्यतः एक वर्ग-चरित्र होता है।

(2) यह भी एक भ्रान्त धारणा है कि संगीत एक ऐसी कला है जो केवल भावावेगों और अनुभूतियों को प्रकट करती है और इसलिए इस कला के सृजन और आस्वाद का सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष की चेतना के धरातल से है, न कि उसके वर्ग मूल से है। भावावेग और अनुभूतियाँ मूल्य मुक्त या विचारेतर नहीं होतीं। संगीतकार श्रोता में कैसा भाव-संचार करना चाहता है, उसका यह उद्देश्य सुनिश्चित वर्ग-हित से निर्मित-संचालित होता है, यानी उसके पीछे एक विचार होता है, एक विचारधारा होती है—सचेतन या अचेतन। और यही नहीं, अमूर्त से अमूर्त, "निरपेक्ष", शास्त्रीय संगीत में भी भावावेगों-अनुभूतियों के साथ कुछ विचार संश्लेषित होते हैं जो श्रोता के तर्क-तंत्र को, उसकी विचार-प्रणाली को, उसके अनजाने-अनचाहे भी, प्रभावित करते हैं, उसकी मानसिकता को अनुकूलित करते हैं।

(3) कुछ वर्ष पहले किसी साहित्यिक पत्रिका में जनवादी गीतों पर विचार करते हुए एक संस्कृतिकर्मी द्वारा प्रस्तुत ये विचार पढ़े थे कि शासक वर्ग का, सामन्तों-पूँजीपतियों का संगीत ही स्वराश्रित हो सकता है और केवल शब्दाश्रित संगीत ही जनता का क्रान्तिकारी संगीत हो सकता है। यह सोच नितान्त भोंड़ी है जो (i) जनता की चेतना को स्थैतिक मानती है, (ii) जो सर्वहारा संगीत को सुनिश्चित सन्देश-निर्देश-विचार के सम्प्रेषण का माध्यम-मात्र मानती है और इस तरह भोंड़े प्रयोजनवाद का शिकार होती है, (iii) जो हर प्रकार के अमूर्तन को एक प्रतिक्रियावादी चीज़ मानती है।

(4) अमूर्तन हमेशा प्रतिक्रियावादी ही नहीं होता। कला का जन्म ही जीवन के अमूर्तन से हुआ है। सभ्यता के विकास की प्रारम्भिक मंज़िलों में सभी कलाएँ एक साथ मिली हुई थीं। श्रम-प्रक्रिया का विकास हुआ और सामाजिक विभेदीकरण की उन्नत अवस्थाओं की ओर संक्रमण के साथ ही संगीत, वाचिक साहित्य, नृत्य और अभिनय पृथक्कृत होकर अलग-अलग कला-विधाओं के रूप में विकसित होते गये। इनके अन्तर्सम्बन्ध बने रहे, पर वे भी उन्नत और संश्लिष्ट होते गये। संगीत अपने विकास की एक उच्च अवस्था में गीत के शब्दों से भी मुक्त हो गया, चाक्षुष बिम्ब भी ओझल हो गए और यह विधा महज़ ध्वनि-बिम्बों के ज़रिए विचारों-भावनाओं के सम्प्रेषण में सक्षम हो गई। नाटक और सिनेमा जैसी दृश्य-श्रव्य कला-विधाओं में और गीतों की प्रस्तुति में ज़रूरी सहायक के रूप में और एकदम संश्लेषित रूप में इसकी उपस्थिति बनी रही, पर साथ ही इसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी विकसित हुआ—जहाँ महज़ ध्वनियों के सुनिश्चित 'पैटर्न' थे, महज़ ध्वनि-बिम्ब थे।

(5) बुर्जुआ वर्ग का विश्वव्यापी, दैत्याकार मनोरंजन-उद्योग यदि अलग-अलग देशों में वहाँ की जनता की सांस्कृतिक चेतना और कलात्मक बोध को ध्यान में रखकर लोकप्रिय संगीत का माल उत्पादित करता है, तो साथ ही एक ख़ास तबके के बाज़ार को देखते हुए वह शास्त्रीय संगीत का भी उत्पादन करता है। सर्वहारा

वर्ग भी, बाज़ार की दृष्टि से नहीं बल्कि अपने एक ही उद्देश्य के अलग-अलग पक्षों को ध्यान में रखते हुए कई तरह के संगीत का सृजन करेगा (और अतीत में ऐसा हुआ भी है)। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट की जा सकती है। बीथोवन की सिम्फ़नियों में अन्तर्वस्तु और संरचना की दृष्टि से फ्रांस की महान बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की जीवन्तता, प्रचण्डता और आदर्शों की ज़बर्दस्त अभिव्यक्ति सामने आई। सिम्फ़नी तो शास्त्रीय वाद्य-संगीत का रूप है, जहाँ कण्ठ-स्वर की ध्वनि भी अनुपस्थित रहती है। सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी कला-चिन्तक **जॉर्ज थॉमसन** तो यहाँ तक कहते हैं कि *"उसका* (यानी बीथोवन का—गं.प्र.भ.) *द्वन्द्ववाद कलात्मक रूप में 'व्यावहारिक मानवीय कार्रवाई' की अनन्त सम्भावनाएँ व्यक्त करता है। इस सन्दर्भ में हीगेल की तरह वह भी मार्क्स का पूर्वगामी था।"*

(6) अब एक और स्पष्ट तथा ठोस उदाहरण लें। यूरोप के इतिहास से। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, जब वर्ग-संघर्ष के रंगमंच पर सर्वहारा वर्ग की तूफ़ानी उपस्थिति शासक वर्गों को चिन्तातुर कर रही थी, उस समय, पहली बार 1860-70 के आसपास जर्मनी में मज़दूरों की पहली वृन्दगान-मण्डलियाँ अस्तित्व में आईं। इनके सामने एक तात्कालिक कार्यभार का दबाव था। समाजवाद-विरोधी क़ानूनों के चलते, ग़ैरक़ानूनी राजनीतिक गतिविधियों के लिए ये आवरण का काम कर रही थीं। नतीजतन इन पर पुलिस का दबाव बढ़ गया और संगठन की हिफ़ाज़त के लिए इन्होंने जुझारू रुख अपनाया। इनके गीत सांस्कृतिक-राजनीतिक "एजिटेशन' और 'प्रोपेगैण्डा' का साधन बन गये। धीरे-धीरे, तात्कालिक दबाव की परिणति के बजाय ये सर्वहारा गीत-संगीत की सामान्य प्रवृत्ति बनते चले गये। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में सर्वहारा संगीत वह कला थी जिसे वर्ग-सचेत मज़दूर आम मज़दूर आबादी के सामने प्रस्तुत करता था, उसकी मूल वर्ग-भावना को झकझोरता था और उन्हें वर्ग-संघर्ष में भागीदारी के लिए जागृत करता था। लेकिन अभी यह सर्वहारा वर्ग की प्रगतिशील इतिहास-दृष्टि और विचारों से लैस नहीं था। यह नियोजित प्रचार-कार्रवाई से पहले का क़दम था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में यूरोपीय बुर्जुआ संगीत के संकट के जो लक्षण सतह पर दिखे थे, वे शताब्दी के अन्त तक स्पष्ट पतनशीलता के लक्षण बन चुके थे। बुर्जुआ संगीत की दुनिया के कुछ औपचारिक शिक्षा-प्राप्त लोगों की चेतना भी 'रैडिकलाइज़' होकर व्यवस्था-विरोधी बन रही थी और वे आम मेहनतकश आबादी से जुड़ रहे थे। ऐसे में एक सुधारवादी सोच भी आम लोगों की कला के स्तरोनयन के नाम पर पैदा हुई—वह थी सामन्तवाद और बुर्जुआ वर्ग के संगीत पर मज़दूरों द्वारा अधिकार कर लेने की सोच। इस बीच रूस में अक्टूबर क्रान्ति हुई, पूरे यूरोप के मज़दूर आन्दोलन पर इसका ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा और 1930 के दशक में घहराई महामन्दी के कहर ने पश्चिम को जड़ों तक झकझोर दिया। गत शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक में वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा से लैस सर्वहारा संगीत का बहुआयामी, बहुरूपी विकास अतिक्षिप्र गति से हुआ—सोवियत संघ में भी तथा यूरोप और अमेरिका में भी। यह वह दौर था जब समूह-गानों, मार्चिंग गीतों, तथा जागृतिमूलक, शिक्षामूलक और प्रचारमूलक गीतों के साथ ही सर्वहारा वर्ग के संगीतकारों ने गण संगीत, बहुसुरीय कोरस रचनाएँ, आर्केस्ट्रा संगीत, ऑपेरा संगीत और नाट्य संगीत रचा। लोकप्रिय के साथ ही सर्वहारा वर्ग का अमूर्त, शास्त्रीय संगीत भी विकसित हुआ। हजारों-हज़ार की तादाद में आम मज़दूर आबादी उन्नत स्तर की बहुसुरीय कोरस रचनाओं और अमूर्त आर्केस्ट्रा संगीत को भी सुनती और सराहती थी। यही नहीं, सोवियत संघ में तो, बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों के दौर का जो क्रान्तिकारी बुर्जुआ संगीत था, उन क्लासिकी कृतियों का भी एक व्यापक श्रोता वर्ग एकदम आम मेहनतकश आबादी के बीच से सामने आया। तीसरे-चौथे दशक के सर्वहारा संगीत के प्रतिनिधियों में से कुछ आधुनिक बुर्जुआ संगीत के दायरे से आए थे तो कुछ खाँटी मज़दूर पृष्ठभूमि से। कुछ वृन्दगान टोलियाँ और वाद्यवृन्द टोलियाँ मज़दूरों की थीं तो कुछ उन क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों की जिनकी प्रतिबद्धता मार्क्सवाद और मज़दूर क्रान्ति के प्रति थी। महान सर्वहारा संगीत-सर्जक और सिद्धान्तकार के रूप में **हान्स आइस्लर** और सर्वहारा वर्ग के शास्त्रीय संगीत के महान पुरोधा **शास्ताकोविच** के नाम तो काफ़ी प्रसिद्ध हैं। इसके अलावा अन्य भी थे। **जैकब शेफर, कॉपलैण्ड, रिएगर, सीगर, स्विव्ट, कॉवेल** (अमेरिका), **एलन बुश** (इंग्लैण्ड), **दारियस मिल्हौद,**

होनेगर (फ़्रांस) **एलोइस हाबा, एर्विन शुल्हॉफ़** (चेकोस्लोवाकिया), **फेरेंक साबो** (हंगरी) और **मार्टेनसन** (डेनमार्क) आदि के नाम ख़ास तौर पर स्मरणीय हैं।

(7) पुनः वहीं वापस लौटें, जहाँ से हम इस प्रसंग तक आ निकले थे। बात शब्दाश्रित और स्वराश्रित की नहीं है। यह सोच बचकानी होगी कि सर्वहारा संगीत केवल सुगम, लोकप्रिय ('पॉपुलर' के अर्थों में) संगीत होगा, उसकी कोई धारा-उपधारा अमूर्तन की दिशा में आगे विकसित ही नहीं होगी, सर्वहारा वर्ग का अपना शास्त्रीय संगीत होगा ही नहीं। सिद्धान्ततः तो यह धारणा ग़लत है ही, इतिहास भी पहले ही इसे खण्डित कर चुका है। आशा ही नहीं, विश्वास किया जाना चाहिए कि भविष्य में सर्वहारा का अपना "निरपेक्ष" संगीत, अमूर्त संगीत या शास्त्रीय संगीत भी विकसित होगा, बल्कि यह कहना ठीक रहेगा कि एक बार फिर विकसित होगा। भारत में नहीं हुआ है अभी तक। लेकिन यहाँ भी होगा। करना होगा।

●

(8) हमारे देश में जनवादी गीतों के गायन के लिए लोकगीतों से प्रायः धुनें उधार ले ली जाती हैं। जनता का क्रान्तिकारी संगीत या गण संगीत लोक संगीत से बिना किसी आलोचनात्मक विवेक के, काफ़ी कुछ ज्यों का त्यों ले लेता है। इसके पीछे यह सोच काम करती है कि चूँकि लोकगीतों की रचयिता जनता है, वे जनजीवन से उपजे हैं, सदियों से वे जनमानस में रचे-बसे हैं और मेहनतकश लोग आज भी उन्हें ख़ूब सुनते और गाते हैं, इसलिए उन्हीं के रूप को लेकर उनमें नई क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु भर देने से हमारा काम चल जाएगा। यह सोच अवैज्ञानिक है और अनैतिहासिक है। हान्स आइस्लर ने इस विषय पर बहुत सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला है। लोकगीतों का जन्म आदिम आर्थिक-सामाजिक स्थितियों में और फिर प्राक्पूँजीवादी कृषि अर्थव्यवस्था वाले समाजों में हुआ था। जैसे जो आदिवासियों के गीत हैं, उनमें आदिम समाज की वर्ग विहीनता की गति और शक्ति है, समष्टिगत सर्जना की ताक़त है। वर्ग-समाज के उत्पीड़न और अलगाव के बरक्स वे हमें सामूहिक जीवन की शक्ति से साक्षात्कार कराते हैं, एक हद तक विद्रोह के लिए उकसाते हैं और राहत देते हैं। पर उनमें आदिम युगीन जादुई विश्व-दृष्टि और कर्मकाण्ड के भी तत्त्व हैं। इसीतरह किसानों के लोकगीत हैं, जो कई तरह के हैं। किसानी जीवन के सहज चित्रों वाले गीत हैं, निर्गुण भक्ति आन्दोलन के और सूफ़ियों के वे गीत हैं जिनकी अन्तर्वस्तु और धुनों में यदि कहीं सामन्ती परम्पराओं-मूल्यों के प्रति विद्रोह के स्वर हैं तो कहीं पराजय के अवसाद से उपजी निराशा, आत्मलीनता, इहलोक-पलायन और रहस्यवाद के तत्त्व भी हैं। इनमें 'फ़ॉर्म' और 'कण्टेण्ट' की सापेक्षिक एकरूपता होती है। इसी तरह से नाविकों के, पालकी ढोने वालों के, प्राकृतिक अर्थव्यवस्था से जुड़े विभिन्न पेशे वालों के और शिल्पकारों के गीत हैं। स्त्रियों की जीवन-स्थितियों का सजीव चित्र उपस्थित करने वाले गीत हैं। यही नहीं, किसान-संघर्षों के दौरों के शानदार गीत हैं (ऐसे कुछ गीत 1857 के महान जन-विद्रोह तक के हैं) जो अपने समय के वास्तविक क्रान्तिकारी लोक संगीत के संवाहक हैं। लेकिन हमें इस बात को समझना होगा कि जो चीज़ अपने समय में क्रान्तिकारी थी, वह सदा-सर्वदा के लिए क्रान्तिकारी नहीं हो सकती। पुराने ज़माने के क्रान्तिकारी 'फ़ॉर्म' में यदि नये ज़माने की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु प्रस्तुत की जाएगी तो उसका प्रभाव अवश्य ही मरेगा। जनता उस 'फ़ॉर्म' पर ग़ौर करेगी जो सदियों से उसके संस्कारों में रचा-बसा है और नई क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु की जगह स्मृतियों के सहारे उसी अन्तर्वस्तु को याद करेगी जिसे उस 'फॉर्म' में सुनती आई है। ऐसे गीत उसे सहज स्वीकार्य और पसन्द होंगे, पर अपनी अन्तर्वस्तु के चलते नहीं बल्कि रूप के चलते। हमें यह समझना होगा कि पूँजीवादी समाज लोकगीतों के पैदा होने की ज़मीन नहीं है। जिस तरह दस्तकारी, काश्तकारी, ग्रामीण सामुदायिकता, प्राकृतिक अर्थव्यवस्था आधारित समाजों की रागात्मकता आदि गुज़रे ज़माने की चीज़ें हो चुकी हैं और मरती जा रही हैं, उसी तरह लोक संगीत भी मर रहा है। उसके स्थान पर जन गीतों को होना है, गण-संगीत को होना है।

(9) हम यह नहीं कहते कि लोकगीतों और लोकसंगीत से कुछ लिया ही नहीं जा सकता। सबसे पहले

तो उन नक़ली लोकगीतों को सिरे से खारिज करना होगा जो वास्तविक लोकगीतों से मुहावरे और शैली उधार लेते हैं और उनका विकृतिकरण करके प्रस्तुत करते हैं। ये नक़ली लोकगीत बुर्जुआ मनोरंजन उद्योग के उत्पाद हैं और तथाकथित 'मास कल्चर' या 'पॉपुलर कल्चर' के अंग हैं। जहाँ तक वास्तविक लोकगीतों का सवाल है, उनमें भी कुछ अच्छे हैं, कुछ बुरे। अतीत के विद्रोही लोकगीतों से, संघर्ष और प्यार के गीतों से, काम के दौरान गाए जाने वाले श्रम गीतों से काफ़ी कुछ लिया जा सकता है, लेकिन सघन-सान्द्र आलोचनात्मक विवेक के इस्तेमाल के बाद ही। हमारे समय और हमारे संघर्ष की अन्तर्वस्तु जब संगीत में ढलेगी तो उसका अपना 'फ़ॉर्म' होगा। स्मृतियों से लेना होता है पर स्मृतियाँ स्वप्न का विकल्प नहीं होतीं। सर्वहारा "भविष्य की कविता" का द्रष्टा-स्रष्टा है, "अतीत की कविता" का नहीं। संगीत के क्षेत्र में भी इस सूत्र को लागू किया जाना चाहिए। महाकाव्य का भी अनुकरण या नक़ल की जाए तो प्रहसन ही जन्म लेगा। बच्चे के उदात्त, नैसर्गिक भोलेपन की नक़ल की जाए तो वह बचकानापन ही होगा। क्रान्तिकारी लोकगीतों की धुनों से छाँट-बीन-अलगाकर कुछ संघटक तत्त्वों को लिया जा सकता है, पर उनका हू-ब-हू इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। लेकिन दुर्भाग्यवश हमारे देश में पुराने लोकगीतों की 'पैरोडी' या नक़ल प्रगतिशील सांस्कृतिक आन्दोलन में ख़ूब की जाती रही है। आप पंजाब के क्रान्तिकारी गीतों को सुनें। प्रायः उनकी धुनें प्राक्‌पूँजीवादी या मध्ययुगीन समाज के किसानी जीवन से उपजी धुनें हैं। उनसे जनता परिचित है, इसलिए पसन्द करती है और भ्रमवश संस्कृतिकर्मी उसे अपने 'मैसेज' की ग्राह्यता समझते हैं। **गोरख पाण्डेय** के भोजपुरी गीतों में निर्गुण, सोहर, पचरा आदि की धुनों को नितान्त अनालोचनात्मक ढंग से अपनाया गया है और उन्हें उसी रूप में गाया जाता है और जनता जब उन्हें मगन होकर सुनती है तो ख़ूब प्रसन्न हुआ जाता है। आन्ध्र प्रदेश में **ग़दर** की टोली के गीतों का आवेग और जुझारूपन श्रोता-समुदाय को एकदम बाँध लेता है, भावावेग से भर देता है। लेकिन इन गीतों के आकर्षण में अतीत की पुकार है। इन गीतों की धुनों का उत्स प्रायः आदिम जनजातियों के वर्गविहीन सामुदायिक समाज की धुनें हैं, प्रायः उन्हें हू-ब-हू ले लिया गया है। या फिर मध्ययुगीन किसानी अर्थव्यवस्था पर आधारित जीवन और उसके संघर्ष की धुनें हैं। जनता इन्हें ख़ूब पसन्द करती है, पर अपनी आदत और संस्कार के चलते। ये गीत वस्तुतः खोए हुए अतीत की पुनर्प्राप्ति के लिए संघर्ष का आह्वान बन जाते हैं, न कि नया भविष्य रचने का। 'कण्टेण्ट' यदि नया और सही भी हो तो पुराने, जादुई, सम्मोहक 'फ़ॉर्म' के वशीभूत हो जाता है। इस तरह, अनजाने ही, प्रगतिशीलता एक क़िस्म के पुनरुत्थानवाद में, एक क़िस्म की अतीतोन्मुखता में बदल जाती है और क्रान्तिकारी संगीत लक्ष्यच्युत हो जाता है।

●

(10) अब आएँ इस सवाल पर कि सर्वहारा संगीत के सर्जकों का शास्त्रीय संगीत के प्रति क्या रुख हो? सर्वहारा वर्ग अब तक के सभी शासक वर्गों के शास्त्रीय संगीत से क्या कुछ ले सकता है और कुछ ले भी सकता है या नहीं? इस सन्दर्भ में शुरुआत मौजूदा और सम्भावित विचलनों-विच्युतियों से भी की जा सकती है। बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस करके अपनी राज्यसत्ता को गठित और स्थापित करना—इस सर्वहारा क्रान्तिकारी सोच के बरक्स सामाजिक जनवादी/सुधारवादी/संशोधनवादी राजनीतिक सोच यह रही है—बुर्जुआ वर्ग की राज्यसत्ता पर काबिज हो जाना। ठीक इसी तरह सर्वहारा संगीत की दुनिया में भी एक सुधारवादी सोच यह रही है—सामन्तवाद और पूँजीवाद के संगीत पर मज़दूर वर्ग द्वारा अधिकार कर लेना। 1880 से 1914 के बीच यूरोप के मज़दूर-वर्गीय संगीत आन्दोलन में इस सोच का काफ़ी प्रभाव था। इस सोच का एक सिरा बुर्जुआ वर्ग की पिछड़ी संगीत-शैली को अपनाने तक जाता है। दूसरा सिरा यहाँ तक जाता है कि वर्ग-सचेत सर्वहारा और उसके हरावल दस्तों को उन्नत सांस्कृतिक चेतना और सौन्दर्यबोध से लैस करने के लिए शास्त्रीय संगीत की शिक्षा दी जाए, उसमें पारंगत बनाया जाए, उसका आस्वाद लेना और फिर वैसी संगीत रचना प्रस्तुत करना सिखाया जाए (एक कामरेड ने पटना के एक क्रान्तिकारी ग्रुप के नेता के बारे में यह

किस्सा सुनाया था कि वे अपने कार्यकर्ताओं की सांस्कृतिक चेतना के स्तरोन्नयन के लिए प्रतिदिन उन्हें बैठाकर घण्टों सुर साधा करते थे और *"जल बिच मीन पियासी"* गाया करते थे)। यह सुधारवादी, वर्ग-समन्वयवादी नज़रिया एक क़िस्म का निम्नपूँजीवादी शेखचिल्लीपन भी है, जो सर्वहारा संगीत आन्दोलन के लिए नुकसानदेह हो सकता है।

(11) भारत के ठोस सन्दर्भों की चर्चा से पहले, आम तौर पर शास्त्रीय संगीत के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या हो, इसे स्पष्ट करने के लिए हम **हान्स आइस्लर** के प्रसिद्ध लेख **"एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता'** का एक अंश उद्धृत करना बेहतर समझते हैं :

"उन्हें (यानी मज़दूरों को—गं.प्र.भ.) *कला के उस भोंड़े निम्नपूँजीवादी दृष्टिकोण से भी ख़तरा है जो बुर्जुआ वर्ग के तबकों से मज़दूरों के बीच घुसपैठ करता है। हमें याद रखना चाहिए कि आपरेटा, हिट सांग, छद्‌म और असली लोकगीत समाज के सभी तबकों की बड़ी आबादी द्वारा सुने जाते हैं और यहाँ मज़दूरों के सामने उतना ही बड़ा ख़तरा है जितना कि संगीत में मौजूद वर्ग-दम्भ से है। शास्त्रीय संगीत की समझ और उसमें रुचि पैदा करना उचित है बशर्ते इसका इस्तेमाल हल्के मनोरंजन संगीत को ख़त्म करने के लिए किया जाए। मनोरंजन संगीत के मुक़ाबले शास्त्रीय संगीत के लाभ स्पष्ट हैं क्योंकि यह मेहनतकश वर्ग के श्रोताओं से सजग होकर सुनने की माँग करता है जबकि मनोरंजन संगीत ऐसी कोई माँग नहीं करता बल्कि आलसीपन और दिमाग़ को ढीला छोड़ देने का भाव पैदा करता है। बुर्जुआ संगीत की महान कृतियों की प्रस्तुति के द्वारा मज़दूर वर्ग के श्रोताओं पर इस ख़तरे को दूर करना ज़रूरी है। लेकिन अगर इसके परिणामस्वरूप मज़दूरों में* **टेंडेंज़मुजिक** *(सर्वहारा संगीत) के प्रति नकारात्मक रवैया पैदा हो गया तो यह लाभ बेहद गम्भीर नुकसान में भी तब्दील हो सकता है।*

"मज़दूरों के संगीत आन्दोलन को राजनीतिक संघर्षों में सोच के स्तर तक उठाने के लिए यह ज़रूरी है कि बुर्जुआ संगीत गतिविधियों के रूपों की आलोचना की जाए और उनका अब ग़ैरआलोचनात्मक ढंग से क़तई इस्तेमाल न किया जाए। साथ ही, मज़दूरों की नई सामाजिक स्थिति का भी विश्लेषण किया जाना चाहिए।"

(12) लेकिन भारत में हान्स आइस्लर के इस कथन मात्र के आधार पर शास्त्रीय संगीत के प्रति सर्वहारा की संगीत-संस्कृति के निर्माता अपना आम रुख नहीं निर्धारित कर सकते। भारतीय इतिहास की विशिष्टता ने यहाँ हमारे काम को जटिल बना दिया है। आइस्लर जब उपरोक्त विचार प्रकट कर रहे थे तो उनके पीछे बुर्जुआ शास्त्रीय संगीत की एक समृद्ध विरासत थी। उनके पीछे सिम्फ़नी संगीत के महान निर्माता **हाइडन** (1732-1809), **मोत्सार्ट** (1756-91) और **बीथोवन** (1770-1827) की महान विरासत थी जिसमें प्रबोधनकाल (Age of Enlightenment) और फ़्रांस की महान बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की आत्मा मौजूद थी। ग़ौरतलब है कि हाइडन एक बँधुआ मज़दूर था, साल्ज़बर्ग के आर्कबिशप से सम्बन्ध तोड़ लेने के बाद मोत्सार्ट ने पूरा जीवन घोर दरिद्रता में बिताया और बीथोवन सच्चे मायने में एक बुर्जुआ बुद्धिजीवी था जो कभी किसी सामन्त का नौकर नहीं रहा। बीथोवन एक उत्कट द्वन्द्ववादी था, संगीत में उसका द्वन्द्ववाद वहाँ तक जाता था जहाँ तक दर्शन में हीगेल का द्वन्द्ववाद भी नहीं पहुँच सका। उसकी संगीत रचनाओं में त्रयी की जो संरचना 'थीसिस-एण्टीथीसिस-सिन्थेसिस' के रूप में पाई जाती है, वह स्वतंत्रता-समानता-बन्धुत्व, प्रकृति-बुद्धि-प्रज्ञा जैसी त्रयियों की ही संगीत में अभिव्यक्ति है। प्रबोधन काल और फ़्रांसीसी क्रान्ति के आदर्श बुर्जुआ राज्यसत्ता की स्थापना के बाद भले ही भ्रम साबित हुए हों, लेकिन यूरोपीय सामन्तवाद की जड़ें हिलाकर उस महान क्रान्ति ने उन शक्तियों को मुक्त किया था जिन्होंने 1848 की क्रान्तियों और फिर 1917 की सर्वहारा क्रान्ति की ज़मीन तैयार की। **लेनिन** के अनुसार यह एक ऐसी क्रान्ति थी जो आज भी इतनी भारी नफ़रत उभारकर मानवता पर पड़ने वाले अपने प्रभाव की जीवन्तता और शक्ति को साबित करती है। बीथोवन के संगीत की जीवन्तता और शक्ति का यही स्रोत था। मध्य यूरोप में नेपोलियन के सामरिक अभियानों के दौरान जब क्रान्ति के रक्षक और राष्ट्रीय मुक्ति-युद्ध के नेता के रूप में सर्वत्र उसका स्वागत हो रहा था तो बीथोवन

ने अपनी तीसरी सिम्फ़नी **'इरोइका'** उसके नाम समर्पित की थी, लेकिन नेपोलियन के सम्राट बन जाने की ख़बर सुनते ही उसने अपना यह समर्पण रद्द कर दिया था। वियना कांग्रेस के बाद के प्रतिक्रियावादी विपर्यय के दौर में जब इटली के सुगम ऑपेरा का बोलबाला था, तब बीथोवन शान्त था। लेकिन नौ साल बाद **'कोरल सिम्फ़नी'** नाम से प्रसिद्ध अपनी अन्तिम और महानतम रचना में अद्भुत क्रान्तिकारी भविष्यद्रष्टा के रूप में वह सामने आया। यह महान रचना विश्व-बन्धुत्व में विश्वास का पुनरोद्घोष करते हुए मुक्ति के प्रति प्रतिबद्ध लोगों की चिन्ता को स्वर देती है और अन्तिम भाग में फ़्रांसीसी क्रान्तिकारी अभियान की याद दिलाती हुई यह विश्वास प्रकट करती है कि जन-मुक्ति-अभियान भविष्य में एक बार फिर आगे चल पड़ेगा। यह अनायास नहीं कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सर्वहारा संगीत के यूरोपीय पुरोधाओं ने और सोवियत संगीतकारों ने बीथोवन का बहुत ऊँचा मूल्यांकन किया और उससे काफ़ी कुछ लिया। बीथोवन का और अन्य महान सिम्फ़नी-निर्माताओं का सच्चा उत्तराधिकारी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी का पतनशील बुर्जुआ संगीत नहीं था, बल्कि सर्वहारा संगीत की धारा थी। बुर्जुआ संगीत ने मुक्ति के लाल झण्डे को जब धूल में फेंक दिया तो सर्वहारा संगीत ने उसे आगे बढ़कर उठा लिया था।

(13) हमारे देश में स्थिति थोड़ी भिन्न रही। हमें विरासत में क्रान्तिकारी बुर्जुआ शास्त्रीय संगीत की थाती नहीं मिली। मध्ययुग के परवर्ती दौर में शास्त्रीय संगीत का वर्ग-चरित्र पूरी तरह सामन्ती था। यह मन्दिरों और दरबारों की चौहद्दियों में क़ैद था। इतिहास के लम्बे दौर में इसने कला का उच्च स्तर हासिल किया था, पर यह सामन्ती शासकों की कला थी—सामन्तों को मनोरंजन और आनन्द देना इसका काम था, जनता को अदृश्य अलौकिक सत्ता के आगे दीन-हीन बनाना और अनुशासित और राजनीतिक-वैचारिक रूप से निष्क्रिय बनाना इसका काम था। भारत की मध्ययुगीन सामाजिक-आर्थिक संरचना के भीतर भ्रूण रूप में मौजूद, जनवाद का परचम उठाने वाली सामाजिक शक्तियाँ विकसित और संगठित होतीं, इसके पहले ही देश का औपनिवेशीकरण हो गया। किसान-संघर्ष और धर्म-सुधार आन्दोलन की जो प्रक्रिया गति पकड़ रही थी, वह शायद आगे चलकर अपनी देशी विशिष्टताओं सहित 'पुनर्जागरण-प्रबोधन-जनवादी क्रान्ति' की प्रक्रिया में ढल सकती थी, लेकिन इसी बीच देश गुलाम हो गया। समाज की नैसर्गिक गति को तबाह करके इसके ऊपर एक नई औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना थोप दी गई। 1857 की पराजय ने इस प्रक्रिया को मुकम्मल कर दिया। औपनिवेशिक काल के दौरान सामन्ती भूस्वामी वर्ग के जो विभिन्न संस्तर और रूप अर्द्धसामन्ती भूमि-व्यवस्था के शीर्ष पर आसीन थे, उन्हीं में से, रियासतों-जागीरों के कुछ राजाओं-नवाबों-जागीरदारों के संरक्षण में मध्ययुगीन सामन्ती शास्त्रीय संगीत की पतनशील प्रवृत्तियाँ क़ायम रहीं। सामन्ती पृष्ठभूमि से आने वाले कुलीन बुद्धिजीवियों के एक हिस्से ने भी इसे अपनाया और प्रोत्साहन दिया। स्वातंत्र्योत्तर काल में बुर्जुआ वर्ग और "सुसंस्कृत" कहलाने की ग्रन्थि से ग्रस्त नवकुलीनों ने सामन्ती शास्त्रीय संगीत की इसी धारा को अपनाया और प्रोत्साहन दिया और नई बुर्जुआ सत्ता के सांस्कृतिक संस्थानों ने भी इसमें अहम भूमिका निभाई। भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने पुराने सामन्ती सांस्कृतिक मूल्यों को अपनाकर उनमें प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ अन्तर्वस्तु का समावेशन किया क्योंकि यह बुर्जुआ वर्ग दस्तकारों-बर्गरों का वंशज नहीं था और पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति की प्रक्रिया से गुज़रकर इसने अपना सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक वर्चस्व नहीं स्थापित किया था। यह औपनिवेशिक सामाजिक संरचना की कोख से जन्मा था, साम्राज्यवाद के दौर में सयाना हुआ था, और राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में भी इसकी भूमिका दोहरी थी। बुर्जुआ जनवाद के सकारात्मक मूल्यों से रिक्त यह वर्ग बुर्जुआ शास्त्रीय संगीत की क्रान्तिकारी धारा का प्रवर्तक हो ही नहीं सकता था। और फिर इतिहास का वह दौर भी पीछे छूट गया था।

(14) फिर भी, ऐसा नहीं है कि सर्वहारा संगीत के सर्जक भारतीय शास्त्रीय संगीत से कुछ ले ही नहीं सकते। शास्त्रीय संगीत का प्रारम्भिक रूप जो प्राचीन भारत की गतिमानता और ऊर्जस्विता के दौर की उपज था, उसके तत्त्वों को शास्त्रीय संगीत के पतनशील सामन्ती रूप से अलगाना होगा। सर्वहारा वर्ग के संगीत के नये क्लासिक रूपों के विकास में उनसे कुछ मदद मिल सकती है। इसके लिए हमें भारतीय शास्त्रीय

संगीत को समग्रता में जानना-समझना तो होगा ही। हमारी एक अटकल यह है कि सर्वहारा का संगीत-सर्जक जब मात्र स्वरों की भाषा में विचारों के सम्प्रेषण की कलात्मक पद्धति विकसित करेगा तो एक ओर अन्तरराष्ट्रीयतावादी रुख अपनाते हुए बीथोवन और मोत्सार्ट से लेकर हान्स आइस्लर और शास्ताकोविच से काफ़ी कुछ सीखेगा और दूसरी ओर अपनी जड़ों की तलाश करता हुआ ध्रुपद संगीत से भी कुछ चीज़ें हासिल करेगा। ख़याल-गायकी से उसे शायद बहुत मदद न मिले। इस अटकल का एक आधार है। ध्रुपद का उद्‌भव प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के प्राक् सामन्ती दौर में हुआ था जब विभेदीकरण (वर्गों और वर्गीय कला, दोनों ही धरातलों पर) अभी उतना अधिक नहीं हुआ था। लोक-मूल्यों से सापेक्षिक नैकट्य अधिक था और प्रकृति और जीवन के नैकट्य से ध्रुपद में नैसर्गिकता और परिशुद्धता अधिक थी, विकृति और विरूपण कम थे।

(15) भारत में पिछले तीन-चार दशकों के दौरान पूँजीवादी विकास के दौर में जो शिक्षित मध्यवर्ग विकसित हुआ है, उसकी सांस्कृतिक कुलीनीकरण की ललक ने महानगरीय परिवेश में और सांस्थानिक धरातल पर शास्त्रीय संगीत को फैलने और जीवित रहने का एक नया आधार मुहैया किया है। विपर्यय, पुनरुत्थान और तर्कणा-निषेध के वर्तमान विश्व-ऐतिहासिक दौर की भी इसमें एक अहम भूमिका रही है। पर इस पूरी प्रक्रिया में निहित अन्तरविरोधी गति से (शासक वर्गों की इच्छा से स्वतंत्र) कुछ ऐसी नई प्रवृत्तियाँ सामने आई हैं जिन पर सर्वहारा की नई संगीत-संस्कृति के निर्माताओं को ग़ौर करना होगा। शास्त्रीय संगीत को अधिक बड़े दायरे में ग्राह्य बनाने के लिए (शासकवर्गीय दृष्टिकोण से ही सही) वर्तमान समय और जीवन के द्वन्द्वों को अभिव्यक्त करने के लिए कुछ शास्त्रीय संगीतकारों ने नये प्रयोग किए हैं और बहुत छोटे स्तर पर निम्न बुर्जुआ वर्ग का एक रैडिकल स्वर भी वर्तमान युगबोध की द्वन्द्वात्मकता को प्रकट करता हुआ मुखर हुआ है। पुराने घरानों की गायकी में या तो श्रम-प्रक्रिया से पूरी तरह विच्छिन्न, लगान वसूलकर विलासिता करने वाले सामन्त वर्ग के आनन्द का एकमेव लक्ष्य था, या फिर ईश्वरीय सत्ता के सामने पूर्ण समर्पण की द्वन्द्वमुक्त तल्लीनता। यही उस संगीत का भावपक्ष था और यही विचार-पक्ष। वहाँ जीवन के द्वन्द्व नहीं थे, भाव और विचारों का द्वन्द्व नहीं था, विचारों के बीच के द्वन्द्व नहीं थे। लेकिन इधर कुछ ऐसे रागों का भी चलन देखने में आया है जिनकी शैली और तकनीक में द्वन्द्वात्मकता है जो अन्तर्वस्तु के भीतर के द्वन्द्वात्मक तनाव का द्योतक है। पुराने रागों में सामान्यतः उत्तरांग और पूर्वांग में समरूपता या समतुल्यता पाई जाती है। इधर कुछ नये रागों में उत्तरांग और पूर्वांग एकदम अलग-अलग जाते दीखते हैं। समभाव नहीं होता। इससे एक विषम स्थिति का बोध होता है। दक्षिण में ऐसे बहुतेरे राग हैं। **पण्डित बाला साहब पूछवाले** का ऐसा कुछ गायन है। वाद्य संगीत में **रविशंकर** ने ऐसा ख़ूब किया है और ऐसा करते हुए उन्होंने कहीं-कहीं पश्चिमी शास्त्रीय संगीत-परम्परा से भी काफ़ी कुछ अपनाया है। ऐसा संगीत साम्य या समरसता के बजाय विषमता-बोध पैदा करता है। हमारी वर्ग-अवस्थिति इन संगीतकारों से भिन्न है, लेकिन स्वरों के माध्यम से भाव-संवेगों और विचारों के द्वन्द्वात्मक तनाव और संघात को प्रस्तुत करने में इनकी टेकनीक या शिल्प से शायद कुछ लिया जा सकता हो। फिर नये प्रयोगकर्ताओं में **कुमार गन्धर्व** का गायन है। उसमें भी कौंध है, विषमता-बोध है, 'ब्रेक्स' हैं, 'जम्प्स' हैं, सहसा आघात के झटके हैं जो तर्क-सहित सुनने को प्रेरित करते हैं, कभी-कभी विद्रोह को उकसाते हैं, ब्रेष्टीय अर्थों में अलगाव-प्रभाव (Alienation effect) पैदा करते हैं। हमें लगता है कि कुमार गन्धर्व की आवाज़ हमारे देश-काल का एक 'पेटी बुर्जुआ रैडिकलिज़्म' का स्वर है, परम्पराओं के प्रति आग्रही होते हुए भी जिसमें एक सीमा तक आलोचनात्मक विवेक है और लोक-सम्पृक्तता है। कहीं-कहीं निर्गुण भक्ति-आन्दोलन के विद्रोही स्वर वाले पहलू का विस्तार भी हमें उसमें दीखता है। वह वास्तविक अर्थों में जनता का संगीत भले न कहला सकता हो, पर उसमें 'जन-संग ऊष्मा' के तत्त्व हैं और उससे सर्वहारा संगीत के सर्जकों को कुछ मिलेगा।

●

(16) औपनिवेशिक सामाजिक संरचना में उद्‌भूत भारतीय सामाजिक वर्गों की जो भी आत्मिक-भौतिक

कमज़ोरियाँ रही हों, लेकिन उस समाज की स्वतःस्फूर्त आन्तरिक गति से घनीभूत होते अन्तरविरोधों के परिणामस्वरूप जब राष्ट्रीय आन्दोलन ने गति पकड़ी तो समाज में एक नई गति और ऊष्मा का संचार हुआ जिसके सांस्कृतिक प्रतिफलन भी सामने आए। लोकगीतों और लोक संगीत में किसानों और आदिवासियों के प्रतिरोध-संघर्षो के दौर की एक समृद्ध विरासत थी जिसकी निरन्तरता राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान बनी रही और नई अन्तर्वस्तु ने एक हद तक शैली-शिल्प के धरातल पर भी कुछ परिवर्तन उत्पन्न किए। इसके अतिरिक्त जो मध्यवर्ग विकसित हुआ, उसका भी एक तरह का लोकप्रिय, सुगम गीत-संगीत विकसित हुआ। इस गीत-संगीत ने प्रायः लोक-शैलियों को ही अपनाकर उनका विकास किया। शास्त्रीय संगीत और लोकसंगीत से आधार लेकर गत शताब्दी के चौथे-पाँचवें दशक में सिनेमा-संगीत ने राष्ट्रीय स्वर के साथ ही आधुनिकता-बोध को भी अभिव्यक्त करना शुरू कर दिया था। कालान्तर में इस लोकप्रिय संगीत के अपने सांगीतिक बिम्ब विकसित हुए। सातवें दशक से इसमें रुग्ण बुर्जुआ पतनशीलता और अलगाव के स्वर प्रधान होते गए, लेकिन इस तथ्य को भुलाया नहीं जा सकता कि **महबूब, शान्ताराम, विमल राय, राजकपूर** और **गुरुदत्त** आदि की फ़िल्मों में राष्ट्रीय जनवाद के साथ ही 'रैडिकल' सुधारवाद और निम्न पूँजीवादी समाजवादी "यूटोपिया' के जो स्वर मुखरित हुए थे, वही स्वर इस धारा के सिनेमा के संगीत में भी था। सर्वहारा का लोकप्रिय संगीत उनका अनुकरण तो नहीं कर सकता, लेकिन इन्हें जनपक्षधर परम्परा का अंग मानकर इनसे कुछ सीख ज़रूर सकता है और आलोचनात्मक विवेक के साथ इनसे कुछ चीज़ें ले भी सकता है। लेकिन ऐसा करते समय हमें अत्यधिक सजगता की दरकार होगी क्योंकि पाँचवें-छठे-सातवें दशक के सिनेमा-संगीत में नक़ली, विकृत लोक संगीत और पुनरुत्थानवादी सामन्ती संगीत का दक्ष संश्लेषण भी मौजूद है और यही उसकी प्रभावी प्रवृत्ति है।

(17) भारत में, ख़ासकर पाँचवें-छठे दशक में, 'इप्टा' और प्रगतिशील लेखक संघ के आन्दोलन के स्वर्णिम दिनों में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की भावना और दिशा से अभिप्रेरित जन गीतों और गण संगीत की धारा काफ़ी मज़बूत होकर उभरी थी। इस दौर में, ख़ास तौर पर बंगाल में संगीत के क्षेत्र में काफ़ी काम हुआ। **सलिल चौधरी** आदि ने पश्चिमी क्लासिकी संगीत की क्रान्तिकारी परम्परा से भी काफ़ी कुछ लिया, कई बार बीथोवन की सिम्फ़नियों के आधार पर भी धुनें तैयार कीं और माझी गीत, बाउल संगीत आदि के साथ पश्चिमी जनवादी संगीत का संश्लेषण भी किया। **भूपेन हज़ारिका** ने लोक संगीत का पुनःसंस्कार करके एक नई धारा विकसित की। अश्वेतों के प्रतिरोध संगीत (ख़ास तौर पर **पॉल रोबसन** के गीतों से) से भी काफ़ी कुछ ग्रहण किया गया। समूह गायन टोलियों ने तब जनगीतों और गणसंगीत के क्षेत्र में काफ़ी प्रयोग किए। पर यह प्रयोग-परम्परा बहुत जल्दी ही संतृप्ति-बिन्दु तक जा पहुँची, गतिरुद्ध हो गई, इनमें सुधारवादी, सामाजिक-जनवादी प्रवृत्ति प्रबल हो गई और यहाँ तक कि लोकरंजक बुर्जुआ पतनशीलता इस हद तक बढ़ती चली गई कि इस संगीत आन्दोलन के कई पुरोधा बुर्जुआ सिनेमा संगीत की सम्मान्य हस्ती के रूप में स्थापित हो गये। इस पराभव के बुनियादी कारण कम्युनिस्ट आन्दोलन की वैचारिक कमज़ोरी, विफलताओं के सिलसिले और तेलंगाना किसान-संघर्ष के बाद के संशोधनवादी विपथगमन में निहित थे। इसी विचारधारात्मक कमज़ोरी के चलते सांस्कृतिक आन्दोलन में सर्वहारा संगीत की वैचारिक समझ भी कमज़ोर दीखती है। 'इप्टा' और प्रलेस के उस दौर के दस्तावेज़ों और साहित्य से ऐसा नहीं लगता कि वामपन्थी संगीत आन्दोलन में, तीसरे-चौथे दशक में यूरोप और अमेरिका के सर्वहारा संगीत आन्दोलन के बहुआयामी प्रयोगों और वैचारिक विमर्शों का अध्ययन किया गया था या उनसे कुछ सीखा गया था। इसी तरह, सोवियत संघ में लोकप्रिय सर्वहारा संगीत और शास्त्रीय सर्वहारा संगीत को लेकर जो प्रयोग हुए थे और जो बहसें चलीं थीं, उनसे भी लगभग अपरिचय की-सी स्थिति ही मौजूद थी। इसीलिए प्रगतिशील संगीत आन्दोलन के इस स्वर्णिम दौर में भी जनगीतों और गणसंगीत में द्वन्द्ववादी सोच के बजाय आनुभविक 'रैडिकलिज़्म' प्रभावी दीखता है, संगीत में विचार-तत्त्व की जगह भावनात्मक आवेश और आवेग का पहलू एकांगी ढंग से हावी दीखता है, द्वन्द्वात्मकता नदारद दीखती है, प्रायः निम्नमध्यवर्गीय यूटोपियाई समाजवादी सोच, सामन्तवाद-विरोध

की किसानी ज़मीन, (बुर्जुआ) राष्ट्रवाद की ज़मीन से साम्राज्यवाद-विरोध और अतीत के लोकजीवन की सामूहिकता-रागात्मकता से अभिप्रेरित पूँजीवाद-विरोध की प्रवृत्तियाँ उस दौर के जनपक्षधर संगीत में हावी दीखती हैं। फिर भी चूँकि वह दौर सामन्तवाद-साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का दौर था, इसलिए उपरोक्त विचलनों के बावजूद प्रगतिशील संगीत आन्दोलन की भूमिका प्रभावी ढंग से क्रान्तिकारी सिद्ध हुई। आज जब सर्वहारा वर्ग के संगीत आन्दोलन को नये सिरे से, नई ज़मीन पर हम फिर से खड़ा करने की बात करते हैं तो हमें पाँचवें-छठे दशक के जनवादी-प्रगतिशील संगीत आन्दोलन की परम्परा का पुनरावलोकन करना होगा। उससे कुछ चीज़ें सीखी जा सकती हैं बशर्ते कि उसकी विचारधारात्मक कमज़ोरियों की और बुर्जुआ, निम्न बुर्जुआ तथा लोकवादी विचलनों की अनदेखी न की जाए।

(18) उस दौर के संगीत से सीखते समय हमें इस बात का ख़ास ध्यान रखना होगा कि हमारा समय उस समय से काफ़ी भिन्न है। एक क्रमिक प्रक्रिया में समाज का पूँजीवादीकरण हुआ है, भूमि के मालिकाने का प्रश्न हल हुआ है, गाँवों में भी पूँजी और श्रम के बीच का अन्तरविरोध प्रधान बन गया है, इजारेदार वित्तीय पूँजी की पैठ-पकड़ समाज के पोर-पोर में व्याप गई है, सामन्ती लगान नहीं बल्कि पूँजी आज छोटे मिल्की किसानों को उजाड़ रही है, किसान आबादी का तीव्र विभेदीकरण हुआ है, उद्योगों का फैलाव हुआ है, मध्यवर्ग का विस्तार हुआ है, माल-उत्पादन प्रमुख प्रवृत्ति बन गई है और सुस्पष्ट राष्ट्रीय बाज़ार निर्मित हुआ है। भारतीय पूँजीवाद साम्राज्यवादी विश्व के चौधरियों की मातहती के बावजूद लगभग चार दशकों तक उनके आपसी अन्तरविरोधों का लाभ उठाते हुए अपने आर्थिक विकल्पों के चयन की सापेक्षिक आज़ादी कमोबेश बचाए रख सका था और 'पब्लिक सेक्टर' खड़ा करके जनता को निचोड़कर पूँजीवादी अर्थतंत्र को विकसित करता रहा था। अब यह मार्ग आगे बन्द है। देशी पूँजीवाद के आन्तरिक संकट और विश्व पूँजीवाद के ढाँचागत संकट से पैदा हुए दोहरे दबाव ने उदारीकरण-निजीकरण के वर्तमान नये दौर की शुरुआत की है। यह विश्व स्तर पर भूमण्डलीकरण का दौर है। हमारे देश में आज ध्रुवीकरण पहले हमेशा से अधिक स्पष्ट है। श्रम और पूँजी की ताक़तें आज एकदम आमने-सामने खड़ी हैं। यह साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी **नई समाजवादी क्रान्ति** का दौर है। अक्टूबर क्रान्ति का दूसरा संस्करण अब ऐसी ही नई समाजवादी क्रान्ति के रूप में अस्तित्व में आएगा। यह एक विस्तृत चर्चा का विषय है। यहाँ हम यह नितान्त असन्तोषजनक, अतिसंक्षिप्त चर्चा इसलिए कर रहे हैं कि संगीत के क्षेत्र की समकालीन चुनौतियों और बदले हुए कार्यभारों को समझा जा सके। आज हमारी लड़ाई राष्ट्रीय जनवादी कला-साहित्य-संस्कृति-संगीत की नहीं बल्कि सर्वहारा कला-साहित्य-संस्कृति-संगीत की है। जनवाद का प्रश्न भी इसी में सिमट गया है। साम्राज्यवाद के साथ देशी पूँजी का हर हिस्सा जुड़ चुका है। साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रवाद का नारा नहीं बल्कि देशी-विदेशी पूँजी के विरुद्ध समाजवाद का नारा आज का नारा है। समूचे पूँजीवाद की मानवद्रोही संस्कृति के विरुद्ध श्रम की संस्कृति का नारा आज का नारा है। पूँजी के भूमण्डलीकरण के विरुद्ध श्रम के भूमण्डीकरण का नारा आज का नारा है। यदि केवल वस्तुगत स्थिति की बात करें तो कहा जा सकता है कि **'दुनिया के मज़दूरो! एक हो'** के नारे की स्वीकार्यता की ज़मीन आज ज़्यादा तैयार है, निजी स्वामित्व के विरुद्ध प्रचार की स्थिति अब ज़्यादा अनुकूल हो चली है, क्योंकि हर स्तर पर ध्रुवीकरण की जो तेज़ प्रक्रिया जारी है वह अब अनुत्क्रमणीय है। कीन्स के फ़ार्मूले अब बेकार हो चुके हैं और सामाजिक जनवाद की नाभि का अमृत भी अब सूख चला है। विश्व पूँजीवाद के इतिहास की इन बदली हुई स्थितियों को नई सर्वहारा संगीत-संस्कृति के भावी निर्माताओं को भी भली-भाँति समझना ही होगा। तभी वे अपनी ज़िम्मेदारियाँ सुनिश्चित कर सकेंगे। राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के दौर का क्रान्तिकारी संगीत आन्दोलन यदि ऊपर चर्चित सीमाओं-कमज़ोरियों-विचलनों से मुक्त भी होता तो आज के नये दौर में हमें उससे बहुत ज़्यादा चीज़ें, प्रयोग की विरासत के तौर पर नहीं मिलतीं। हाँ, एक विचारधारात्मक दिशा और कुछ सर्वहारा तत्त्व ज़रूर मिलते। आज हमें सर्वहारा वर्ग का जो क्रान्तिकारी संगीत गढ़ना है वह पूँजी के भौतिक-आत्मिक वर्चस्व के हर पहलू की आलोचना करेगा, निजी स्वामित्व की नैतिकता को ही कठघरे में खड़ा करेगा, छोटे किसानों की उजड़ती

आबादी की मिल्की मानसिकता पर चोट करते हुए उन्हें समझाएगा कि सर्वहारा वर्ग के साथ खड़ा होकर समाजवाद के लिए लड़ना ही उनके सामने एकमात्र व्यावहारिक विकल्प है। वह मध्यवर्ग के तमाम बुर्जुआ विभ्रमों पर चोट करेगा और वर्चस्वकारी बाज़ार-संस्कृति तथा पूँजी की निरंकुश, सर्वसत्तावादी और नवफ़ासीवादी, पुनरुत्थानवादी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के लिए जन-मानस को तैयार करेगा।

●

(19) वर्तमान स्थितियों में मौजूद अन्तरराष्ट्रीयतावाद के सुदृढ़तर-व्यापकतर भौतिक आधार के चलते, और अपने उपरोक्त कार्यभारों की दृष्टि से, हमें सर्वहारा संस्कृति की वैश्विक विरासत से आज पहले के दौरों की अपेक्षा काफ़ी अधिक सीखना और लेना है। तीसरे-चौथे दशक का यूरोपीय सर्वहारा संगीत आन्दोलन और सोवियत संघ के प्रयोग आज हमारे लिए नये सिरे से, बहुत अधिक प्रासंगिक हो उठे हैं।

(20) संगीत के क्षेत्र में भी सर्वहारा का अन्तरराष्ट्रीयतावादी रुख बहुत संकुचित नहीं होना चाहिए। दूसरे देशों के सर्वहारा संगीत के अतिरिक्त हमें क्रान्तिकारी बुर्जुआ संगीत की क्लासिकी परम्परा को नये सिरे से खँगालना होगा। दुनिया में तरह-तरह के प्रतिरोध-संगीत और विद्रोही संगीत मौजूद हैं—जैसे किसान संघर्षों के संगीत, जन उभारों और राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों के दौर का अफ़्रीकी और लातिन अमेरिकी संगीत, अमेरिकी अश्वेतों का विद्रोही संगीत, नागरिक अधिकार आन्दोलन और स्त्री आन्दोलन के गीत आदि-आदि। इनसे हमें काफ़ी कुछ मिल सकता है बशर्ते कि हम याद रखें कि प्रतिरोध संगीत सर्वहारा संगीत का पर्याय या आदर्श नहीं हो सकता। निम्न-बुर्जुआ 'रैडिकलिज़्म' को सर्वहारा क्रान्तिकारिता समझ बैठने की भूल संगीत में भी उतनी ही नुकसानदेह होगी जितनी कि राजनीति में।

(21) अन्तरराष्ट्रीयतावादी अवस्थिति पर बल और अन्तरराष्ट्रीय विरासत पर चर्चा के विस्तार से कोई ग़लतफ़हमी न पैदा हो, इसलिए यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि किसी भी देश में सर्वहारा संस्कृति का अपना एक विशिष्ट देशी चरित्र, प्रकृति और स्वरूप होगा। यह होगा ही, क्योंकि देश-विशेष के इतिहास की विशिष्टता की सहस्राब्दियों गहरी जड़ें होती हैं जो सांस्कृतिक आचार और स्मृतियों में सुरक्षित रहती हैं। इसलिए सर्वहारा संगीत के स्रोतों और विरासत की बात करते हुए और परम्पराओं से सीखते हुए हमारा ज़ोर हर-हमेशा भारतीय जनता की अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं पर ही होना चाहिए। देशज जड़ें हमारा आधार होंगी, अन्तरराष्ट्रीयतावाद सर्वहारा संगीत के विश्व-मानवतावादी परिप्रेक्ष्य और भविष्यगामी यात्रा की निर्देशक शक्ति होगा।

●

(22) हमारे देश में 1967 के नक्सलबाड़ी किसान-उभार के प्रभाव में जो क्रान्तिकारी वामपन्थी सांस्कृतिक आन्दोलन सत्तर के दशक में परवान चढ़ा और बिखराव और संकटों के बावजूद जो सिलसिला आज तक जारी है, उसके संगीत आन्दोलन वाले पक्ष की कतिपय कमज़ोरियों की ऊपर चर्चा की जा चुकी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि विगत तीन दशकों में क्रान्तिकारी सर्वहारा संगीत की धारा वैचारिक और कलात्मक दृष्टि से इतनी कमज़ोर रही कि पाँचवें-छठे दशक की ऊँचाइयों तक भी नहीं पहुँच सकी और कभी-कभी तो उनका दुहराव या अनुकरण-मात्र भी करती रही। हाँ, इसका तेवर अधिक जुझारू था और पहुँच अधिक व्यापक थी। लेकिन संगीत की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी समझ की कमी और कुल मिलाकर विचारधारात्मक बचकानेपन के चलते इसमें (i) लोकगीतों और लोकसंगीत के अनुकरण और 'पैरोडी' की लोकवादी प्रवृत्ति, (ii) निम्न पूँजीवादी "यूटोपिया' और 'रैडिकलिज़्म', (iii) विचार और तर्कणा के बजाय क्रान्तिकारी भावावेश-भावावेग पर एकांगी बल और एकरेखीयता, (iv) राष्ट्रवादी विचलन तथा (v) द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक समझ की जगह अनुभववाद की प्रवृत्तियाँ हावी दीखती हैं। इन कमज़ोरियों की जड़ें तलाशते समय हमें क्रान्तिकारी वामपन्थी आन्दोलन के भीतर "वामपन्थी" दुस्साहसवादी भटकाव और अब उभरने

वाले सामाजिक जनवादी विचलनों को भी समझना होगा, क्रान्ति की मंज़िल और समाज की प्रकृति के बारे में विचारधारात्मक उपकरणों के भोथरेपन के चलते बनी ग़लत समझ को भी ध्यान में रखना होगा और विगत आधी सदी के इतिहास की तमाम जटिलताओं और कठिनाइयों की भी अनदेखी नहीं करनी होगी। हम कोई भी शुरुआत शून्य से नहीं कर रहे हैं। इतिहास की गलतियों को हम समझ सकते हैं, पर उनसे स्वयं को अलग करके नहीं देख सकते क्योंकि तमाम गलतियों के बावजूद यह क्रान्तिकारी वामपन्थी धारा ही हमारी परम्परा रही है और हम उसी के वारिस हैं। हमारी हर आलोचना उन गलतियों से सीखने के लिए है। नकारात्मक शिक्षाओं की भी अनदेखी नहीं की जानी चाहिए।

(23) भारत में जनता के क्रान्तिकारी संगीत आन्दोलन की अतीत में एक और कमी रही है, जिस पर ग़ौर किया जाना चाहिए। पिछली सदी के तीसरे-चौथे दशक में यूरोप में मज़दूरों की ऐसी संगीत टोलियाँ और गायन टोलियाँ बड़े पैमाने पर सक्रिय थीं जो विचारधारात्मक रूप से भी सजग-समृद्ध थीं (मज़दूरों का प्रतिरोध संगीत प्रस्तुत करने वाली टोलियाँ और फिर वर्ग-सचेत मज़दूरों के संगीत के विकास का सिलसिला तो वहाँ 1860-70 से ही जारी था)। मध्यवर्ग के जो बुद्धिजीवी विचारधारा और संस्कृति के परम्परागत शिक्षण-प्रशिक्षण से समृद्ध होकर सर्वहारा संगीत आन्दोलन में आए थे, मज़दूर संगीत टोलियों के साथ उनके जीवन्त सम्पर्क-सहयोग से सर्वहारा संगीत कला को नई ऊँचाइयाँ मिलीं। हमारे देश में सर्वहारा संगीत आन्दोलन में सक्रिय लोग प्रायः मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि से आए बुद्धिजीवी थे। किसान सभा, ट्रेड यूनियन, पार्टी या आन्दोलन के पक्ष में सक्रिय लोक गायकों की मण्डलियाँ या 'अमेचर' स्तर पर संगीत टोलियाँ भले हों पर मज़दूरों के बीच से शिक्षित-प्रशिक्षित होकर सर्वहारा संगीत आन्दोलन के नेतृत्व का कोई छोटा-सा हिस्सा भी सामने नहीं आया। इतिहास, समाज और आन्दोलन में निहित इसके कारणों पर चर्चा ज़रूरी है, पर यहाँ सम्भव नहीं है। आज सर्वहारा के राजनीतिक हरावल दस्ते में जिस तरह सीधे मज़दूरों के बीच से नई भरती क्रान्ति की तैयारी की एक बुनियादी ज़रूरत है, उसी तरह वर्ग-सचेत मज़दूरों के बीच से विचारधारात्मक-सांस्कृतिक-कलात्मक रूप से शिक्षित करके मज़दूर संगीत मण्डलियाँ भी संगठित करना बेहद ज़रूरी है। सर्वहारा संगीत आन्दोलन तभी एक वास्तविक जनान्दोलन बन सकेगा। लोकप्रियता के साथ कलात्मक स्तर का सही द्वन्द्वात्मक संश्लेषण तब अधिक सुगम होगा और बुर्जुआ-निम्नबुर्जुआ विचलनों के विरुद्ध भी एक रोक खड़ी की जा सकेगी।

(24) मज़दूरों की वृन्दगान मण्डलियाँ और संगीत समितियाँ संगठित करने की प्रक्रिया के दौरान बहुतेरी समस्याएँ आएँगी, जिनमें से कुछ का पूर्वानुमान पहले से ही लगाया जा सकता है। शुरुआती दौर में मज़दूरों के बीच से स्तरीय संगीत-रचनाएँ तो नहीं पैदा होंगी, लेकिन उनके प्रयोग मौलिक अवश्य होंगे। ऐसे मज़दूर कलाकारों की कलात्मक शिक्षा और प्रशिक्षण से भी पहले यह ज़रूरी होगा कि वे वर्ग-सचेत, जुझारू मज़दूर हों और उन्हें राजनीतिक और विचारधारात्मक रूप से शिक्षित किया जाए। भारतीय मज़दूरों का बहुलांश या तो अभी भी गाँवों से जुड़ा है, या अभी-अभी अथवा एक पीढ़ी पहले किसानी से उजड़कर आया है। प्रायः वह किसानी समाज के लोकगीतों को ही गाता-बजाता है। यदि उसकी वर्ग-चेतना कुशाग्र होकर विचारधारात्मक-राजनीतिक सजगता तक नहीं पहुँचेगी तो वह सर्वहारा संगीत के बजाय लोकगीतों-लोकधुनों के दुहराव, पैरोडी व अनुकरण से आगे नहीं जा पाएगा। साथ ही, एक ओर सामाजिक-राजनीतिक जीवन (जिसमें मज़दूर आन्दोलन पर हावी अर्थवाद, ट्रेड यूनियनवाद और संशोधनवाद भी शामिल है) से, दूसरी ओर आम तौर पर मज़दूरों की सभाओं में गाए जाने वाले गीतों से सर्वहारा संगीत में सुधारवाद का प्रभाव भी आएगा। इस तथ्य की भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि सिनेमा, टी.वी. और रेडियो द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादित "लोकप्रिय" संगीत के घटिया माल की मज़दूर वर्ग में ख़ूब खपत होती है। मज़दूरों की संगीत टोलियों में यदि वर्ग चेतना और विचारधारात्मक सजगता नहीं पैदा की जाएगी तो उनकी संगीत-कला में लाजिमी तौर पर बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ दृष्टिकोण की घुसपैठ होगी ही। मज़दूर आबादी के बीच क्रान्तिकारी प्रचार और आन्दोलन की जो सरगर्मियाँ होंगी, उनके साथ-साथ ही मज़दूर संगीत संस्कृति के मज़दूर सर्जकों

की विचारधारात्मक शिक्षा और स्तरोन्नयन के काम को अंजाम दिया जा सकता है।

(25) मज़दूरों की क्रान्तिकारी संगीत टोलियाँ-मण्डलियाँ हमारे देश की ठोस परिस्थितियों में और सर्वहारा आन्दोलन की वर्तमान स्थितियों में अपने आप उभरकर बहुत कम ही सामने आएँगी। पहले निम्न बुर्जुआ बुद्धिजीवी वर्ग से आने वाले, सर्वहारा क्रान्ति के प्रति प्रतिबद्ध संगीतकारों को, उनकी वृन्दगान मण्डलियों और वाद्यवृन्द मण्डलियों को मज़दूरों के बीच (राजनीतिक प्रचार और शिक्षा के समान्तर) सघन और लम्बे कलात्मक शिक्षण और प्रचार का काम करना होगा, उनकी पहलक़दमी और सर्जनात्मकता जगानी होगी और फिर उनके अपने सांस्कृतिक संगठनों और संगीत संगठनों के निर्माण का काम हाथ में लेना होगा।

(26) लेकिन समस्या यह है कि मध्यवर्गीय शिक्षित परिवार से आए जो प्रगतिशील-वामपन्थी संगीतकर्मी हैं उनकी अपनी ही विचारधारात्मक और सांस्कृतिक समझ बहुत कमज़ोर है। वे किसी वैज्ञानिक समझ से नहीं बल्कि अनुभववाद से गीत-संगीत रचते हैं, विज्ञान की जगह महज़ पवित्र भावनाओं और जोश से काम चला लेना चाहते हैं। यही कारण है कि आज सर्वहारा गीत-संगीत में निम्न पूँजीवादी भावावेग और लोकगीतों के अतिरेकी लोकप्रियतावादी प्रभाव की बहुलता है और या तो मज़दूर स्थितियों का कारुणिक चित्रण है अथवा जोशीले आह्वान-गीत और मार्चिंग गीत हैं। इसलिए यह ज़रूरी है कि मज़दूरों के बीच काम करने वाले, बुद्धिजीवी पृष्ठभूमि के संस्कृतिकर्मी विचारधारा और राजनीति में सुव्यवस्थित ढंग से शिक्षित हों तथा मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का, कला-दर्शन का और संगीत के बारे में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नज़रिए का अध्ययन करें। साथ ही, यह भी ज़रूरी है कि वे सर्वहारा संगीत की, और क्रान्तिकारी बुर्जुआ संगीत की विरासत से परिचित हों, प्रतिक्रियावादी शास्त्रीय संगीत-परम्पराओं को भी (मोटे तौर पर ही सही) जानते-समझते हों और लोक संगीत का भी व्यवस्थित अध्ययन उनके पास हो। ज़रूरत संगीत के व्यवस्थित पेशेवर प्रशिक्षण की भी है। “नैसर्गिक संगीत प्रतिभा पर भरोसा और ‘अमेचर’ कलाकारों जैसी सोच-पहुँच से काम क़तई नहीं चलने वाला है। लेकिन इससे भी पहले, और इससे भी ज़्यादा ज़रूरी यह है कि प्रतिबद्ध बुद्धिजीवी कलाकार मज़दूर वर्ग के जीवन और संघर्षों के बीच उपस्थित हों और उनके बीच लगातार संगीत के माध्यम से सांस्कृतिक प्रचार और शिक्षा का काम करते हुए उनसे सीखें और फिर सिखाएँ। जैसा कि **हान्स आइस्लर** का विचार है, *“आधुनिक संगीतकार को अपने को जनान्दोलन से काट नहीं लेना चाहिए। अपने कमरे में बैठकर मज़दूर वर्ग के लिए संगीत-रचना ही काफ़ी नहीं है। उसे मेहनतकश वर्ग के सामाजिक जीवन और संघर्षों में सक्रिय भागीदारी करनी होगी। हमें संगीत के बुद्धिजीवियों और मेहनतकश वर्ग के बीच एक संश्रय क़ायम करना होगा। संगीत का बुद्धिजीवी मेहनतकश वर्ग से राजनीतिक रूप से सोचना सीख सकेगा और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण हासिल करेगा। मज़दूर वर्ग बुद्धिजीवी से शास्त्रीय संगीत की महान परम्परा ग्रहण करने के साथ ही नये और समकालीन संगीत की पद्धतियाँ सीख सकेगा। जब यह संश्रय एक तथ्य बन जाएगा तभी हम अपने आन्दोलन की कठिनाइयों पर विजय पा सकेंगे।”* (‘मज़दूर वर्गीय संगीत की समस्याएँ’ : हान्स आइस्लर से बातचीत)

♦

(27) सर्वहारा संगीत की पद्धतियों-शैलियों के बारे में कोई बना-बनाया फ़ार्मूला नहीं सुझाया जा सकता। सर्वहारा संगीत की कला अपनी नई पद्धतियाँ क्रान्तिकारी मज़दूरों के रोज़मर्रा के संघर्षों के बीच से विकसित करेगी। विकास और प्रयोगों की प्रारम्भिक अवस्थाओं के बाद हम सर्वहारा कला के विविध रूपों और प्रवर्गों के साक्षी होंगे। राजनीति की भाषा में कहा जा सकता है कि सर्वहारा का “एजिटेशनल म्यूज़िक’ होगा, ‘प्रोपेगैण्डा म्यूज़िक’ होगा और “एजिट-प्रोप म्यूज़िक’ होगा। इनका विकास ही पहले होगा। क्योंकि हर वर्ग के संगीत की तरह सर्वहारा संगीत के सामने ठोस कार्यभार होंगे। अलग-अलग समय में अलग-अलग ठोस कार्यभार प्रधान होगा। आज सर्वहारा वर्ग का लक्ष्य है—राज्यसत्ता पर कब्जा। सो सर्वहारा संगीत एक अस्पष्ट और दूरस्थ स्वप्न के रूप में नहीं, बल्कि एक व्यावहारिक कार्रवाई के रूप में इस लक्ष्य को और इस

दिशा में निर्दिष्ट तमाम उपक्रमों को प्रस्तुत करेगा और ऐसा करते हुए वह देश-काल विशेष के मज़दूर वर्ग के भौतिक जीवन, सांस्कृतिक चेतना और इतिहास के दौर विशेष और आन्दोलन की स्थिति-विशेष को कभी नज़रों से ओझल नहीं करेगा। यानी ज़ाहिर है कि, पहले मज़दूरों का आह्वानमूलक संगीत और प्रतिरोध संगीत ही विकसित होगा। पहले वृन्दगानों की शक्ल में, और फिर वाद्य-वृन्द संगीत की भी ग्राह्यता पैदा होगी और वाद्य-वृन्द टोलियाँ मंचों पर रंग जमाने लगेंगी। आज जो सर्वहारा का प्रतिरोध संगीत विकसित होगा उसमें न तो जीवन-स्थितियों का कारुणिक चित्रण (यह काम सुधारवादियों-संशोधनवादियों के लिए छोड़ दें) होगा, न ही समाजवाद का 'वह सुबह कभी तो आएगी' ब्राण्ड गुलाबी-स्वप्निल यूटोपिया और प्रतीक्षा। वह सर्वहारा वर्ग को जगाएगा और झकझोरेगा, सत्ता पर अधिकार करने के सही तरीक़ों की खोज का तर्क-वितर्क और दिशा देगा, उसे लामबन्द और संगठित होने की अनिवार्यता का क़ायल करेगा और उसकी आम रूपरेखा भी देगा। वह इस व्यवस्था का, इसकी संस्कृति का, इसकी सामाजिक संरचना का "एक्सपोज़र' करेगा तथा अविवेक-अन्धविश्वास-निष्क्रियता के लिए मज़दूर वर्ग की आलोचना-फटकार का काम भी करेगा। इस काम के लिए निर्देशित संगीत के रूप अनेक होंगे। शैलियाँ विविध होंगी। हमें सर्वहारा का लोकप्रिय मंच-संगीत विकसित करना होगा, नाटकों का पार्श्व-संगीत और ऑपेरा-संगीत विकसित करना होगा, कंसर्ट-संगीत विकसित करना होगा, उसे प्रेक्षागृहों से बाहर लाकर 'स्ट्रीट-कंसर्ट्स' का खालिस भारतीय संस्करण निर्मित करना होगा। और इस प्रक्रिया में अन्तरराष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण और देशी लोक संगीत से सीखने के नज़रिए का द्वन्द्वात्मक संश्लेषण करना होगा। आप कल्पना करें, कहीं सड़क के किनारे या मज़दूर बस्ती के बीच के मैदान की साफ़-सफ़ाई करके मंच बनाकर, या गली के नुक्कड़-चौराहे पर कुछ युवा गिटार, ढोलक/पखावज/कांगो/बांगो, खंजड़ी-झाल-करताल (कभी-कभी सारंगी/वायलिन और सिन्थेसाइज़र भी) लेकर जो गीत प्रस्तुत कर रहे हैं उनमें चुनाव-संसद-बुर्जुआ पार्टियों पर, न्यायपालिका पर, भ्रष्टाचार पर, तीखे व्यंग्य हैं, मज़दूरों के किसी संघर्ष या आन्दोलन के ब्योरे हैं, अतीत की क्रान्तियों व संघर्षों की कहानियाँ हैं, क्रान्तिकारी संघर्ष और संगठन बनाने के आह्वान हैं, वर्ग-संघर्ष का तर्क है, अर्थवाद-सुधारवाद की आलोचना है, दलित-उत्पीड़न की भर्त्सना है, जाति-धर्म की राजनीति का भण्डाफोड़ है। 'नैरेटर' (या कभी-कभी मुख्य गायक) अपने योजक वक्तव्यों से सूत्र जोड़ता चलता है। बीच-बीच में जनता को कोई विषय-वस्तु या भाव बताकर उस पर आधारित सिर्फ़ वाद्य-संगीत का कोई 'कम्पोज़ीशन' भी पेश किया जाता है और इस तरह जनता की संगीत-चेतना को उन्नत करने का काम भी चलता रहता है। क्या ऐसे प्रयोग असम्भव हैं?

(28) निस्सन्देह समृद्ध दार्शनिक अन्तर्वस्तु, और अर्मूतन के उच्चतर स्तर वाला, सर्वहारा का अपना शास्त्रीय संगीत या अमूर्त संगीत भी विकसित होगा, लेकिन यह प्रक्रिया सर्वहारा संगीत आन्दोलन की अगली, परिपक्व मंज़िलों में ही शुरू हो सकेगी और समाजवाद की स्थापना के बाद ही व्यापक आधार पर स्थापित और लोकप्रिय हो सकेगी। इसके लिए श्रम-विभाजन और तज्जन्य अलगाव (एलियनेशन) की क्रमशः समाप्ति की एक उन्नततर मंज़िल की, मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बँटवारे और बुर्जुआ अधिकारों की क्रमशः समाप्ति की एक उन्नततर मंज़िल की ज़रूरत होगी, जब सर्वहारा महज़ "उजरती जीव" नहीं रह जाएगा और संस्कृति के सृजन और आस्वाद के लिए उसके पास भी समय होगा। सोवियत क्रान्ति के बाद ही रूस में ऐसा सम्भव हो सका। यूरोपीय देशों में गत शताब्दी के चौथे-पाँचवें दशक में ऐसा इसलिए सम्भव हो सका कि वहाँ उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर अत्यन्त उन्नत था, मज़दूरों की चेतना अत्यन्त उन्नत थी, वे बुर्जुआ क्रान्तियों की सांस्कृतिक विरासत से परिचित थे या परिचित होने योग्य थे, मज़दूर आन्दोलन राजनीतिक-सांस्कृतिक स्तर पर संगठित था, सोवियत प्रयोगों व उपलब्धियों का उत्साहपूर्ण प्रभाव था तथा पतनशील बुर्जुआ संस्कृति और फ़ासीवाद के रूप में बुर्जुआ समाज के सभी गुप्त रोग खुले में आ चुके थे। और एक तथ्य यह भी था कि बुर्जुआ संगीत की समृद्ध विरासत से परिचित और संगीत के पेशेवर प्रशिक्षण से समृद्ध बुद्धिजीवी पृष्ठभूमि के संगीतकर्मी बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही मज़दूरों के बीच लगातार सक्रिय थे।

(29) इस प्रसंग में **हान्स आइस्लर** के विचारों को एक बार फिर प्रस्तुत करें : *"सत्तर साल पहले, जब जर्मन मज़दूर फटेहाल-सी स्थिति में और संस्कृति से च्युत था, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के क्लासिकी लेखकों में से एक फ़्रेडरिक एंगेल्स ने घोषणा की थी कि इन्हीं बदबख़्त स्त्री-पुरुषों का वर्ग, जो आज बर्बर अवस्था में जी रहे हैं, एक दिन वह एकमात्र वर्ग होगा जो जर्मनी में क्लासिकी दर्शन की विरासत को आगे बढ़ाने के लिए सामने आएगा। यह सुनकर उस समय के सभी प्रोफ़ेसरों के हँसी के मारे पेट में बल पड़ गए थे। और मैं एंगेल्स की भविष्यवाणी को संगीत में लागू करता हूँ और यह मानता हूँ कि मज़दूर, यानी यहाँ डसेलडोर्फ में रूर के खदान मज़दूर, सोलिंगेन के धातु मज़दूर, हेक्स्ट के रसायन मज़दूर, यही वह एकमात्र वर्ग है जो हमारी आँखों के सामने हो रहे बुर्जुआ वर्ग की संगीत-संस्कृति के क्षरण और पतन के बाद महान बुर्जुआ संगीत की विरासत को उत्कण्ठापूर्वक स्वीकार करेगा और आगे बढ़ाएगा। इसी वर्ग से समाजवाद की नई संगीत-संस्कृति के निर्माता सामने आएँगे।* ("एक नई संगीत-संस्कृति के निर्माता', 1931 में डसेलडोर्फ में दिया गया व्याख्यान)

●

(30) द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन-पद्धति के अनुसार जब हम सर्वहारा वर्ग के संगीत-सृजन के बारे में सोचते हैं तो उसके कुछ बुनियादी गुणधर्मों की चर्चा ज़रूरी है। ऐसे सर्वहारा संगीत में जीवन से पृथक्कृत और प्रतिकूल किसी तरह की काल्पनिक 'हार्मोनी' पर बल नहीं होगा। बल्कि 'हार्मोनी' और "एण्टी-हार्मोनी' के बीच का द्वन्द्व होगा। ऐसा ही जीवन में है। यह द्वन्द्व भी, एक उन्नत स्तर पर, 'हार्मोनिक' प्रतीत होता है। इसे यथार्थवादी सौन्दर्याभिरुचि से ही समझा-सराहा जा सकता है।

(31) सर्वहारा संगीत कृति की द्वन्द्वात्मक संरचना "बन्द" नहीं बल्कि "खुली हुई" होगी जो इसकी गतिशीलता और भविष्योन्मुखी दिशा का द्योतक होगी।

(32) प्रबोधन के जो आदर्श बुर्जुआ क्रान्ति के बाद मिथ्याभास सिद्ध हुए, वे सर्वहारा क्रान्ति के जीवन्त और सबसे मूल यथार्थ हैं। एकमात्र समाजवाद ही तर्कबुद्धि के राज्य और समाज की स्थापना है। समाजवाद समाज में विवेक और तर्कणा के वर्चस्व की सुदृढ़ होते जाने की सतत् विकासोन्मुख प्रक्रिया है—आगे कम्युनिज़्म की ओर खुली हुई संरचना...। इसलिए सर्वहारा नाटक की ही तरह सर्वहारा संगीत भी तदनुभूति की जगह, सम्मोहक भावावेग में बहाने की जगह, अलगाव-प्रभाव से तर्कणा और आलोचनात्मक विवेक को उकसाने का काम करेगा। ऐसा नहीं कि उसमें भावनाएँ होंगी ही नहीं। भावावेश-भावावेग की तर्कनिषेधी एकरेखीय प्रवाह की जगह भावनाएँ सागर की लहरों की तरह उठेंगी फिर लौटेंगी—एकदम द्वन्द्वात्मक गति। भावनाओं और तर्कणा का द्वन्द्वात्मक संश्लेषण होगा। ठीक वैसा ही, जैसी परिकल्पना **आइज़ेंस्ताइन** की थी सर्वहारा सिनेमा के बारे में—विचारों के गुरुत्व और अनुभूतियों के संवेग का द्वन्द्वात्मक संश्लेषण।

(32) भावनात्मक सम्भ्रम-मतिभ्रम (emotional confusion) पैदा करने वाले संगीत को और आडम्बरपूर्ण संगीत को **ब्रेष्ट** सिरे से खारिज करते थे। एक तो वे छतरी और ओवरकोट के साथ ही अपना दिमाग़ भी अमानती सामानघर में रखकर कंसर्ट या ऑपेरा में जाने के घोर विरोधी थे, दूसरे, ग़ैरज़रूरी आडम्बर से उन्हें चिढ़ थी। सिर्फ़ नक़ली दर्शन ही आडम्बरपूर्ण होता है। जीवन की वास्तविक दार्शनिक गहराई में भी एक तरह की सहजता होती है, नैसर्गिक आकर्षण होता है। सर्वहारा संगीत कला का उच्च स्तर कुछ ऐसा ही होगा। संगीत में तर्कबुद्धि के ब्रेष्ट के आग्रह से उस समय के ज़्यादातर संगीतकारों को तो सदमा लग जाता था, पर इसका बुनियादी तर्क सही है और हान्स आइस्लर तथा बाद के कुछ अन्य सर्वहारा संगीतकारों ने इस तर्क को समझा भी।

(34) अपने एक लेख ('आधुनिक थिएटर एपिक थिएटर') में परम्परागत 'ड्रामेटिक ऑपेरा' और "एपिक ऑपेरा' के संगीत के बीच की जिन भिन्नताओं को ब्रेष्ट ने रेखांकित किया था उनमें ये भिन्नताएँ भी शामिल थीं : (i) ड्रामेटिक ऑपेरा का संगीत चित्रण करता है जबकि एपिक ऑपेरा का संगीत 'पोज़ीशन' लेता है,

(ii) ड्रामेटिक ऑपेरा का संगीत मनोवैज्ञानिक स्थिति को चित्रित करता है जबकि एपिक ऑपेरा का संगीत एक "एटिट्यूड' देता है। एपिक ऑपेरा के संगीत की इन विशिष्टताओं को हम आम तौर पर पूरे सर्वहारा संगीत के लिए लागू कर सकते हैं।

और अन्त में यह कि, सारे सैद्धान्तिक चिन्तन की एकमात्र सार्थकता प्रयोग में है। अध्ययन कक्ष प्रयोगशाला नहीं होता। कृषि-अनुसन्धानशाला खेत नहीं होता। हमें मैदान में उतरना होगा। इस बेहद-बेहद ज़रूरी मोर्चे पर प्रयोगों की शुरुआत करनी ही होगी। इस नियम को याद रखना होगा कि पुडिंग का प्रमाण खाने में है (...The proof of the pudding is in the eating.)

इस धरती पर बाकी लोगों की तरह तू भी चल रहा है। तू राजा और बाकी लोग मज़दूर, यह कैसे? बाकी लोगों की तरह तेरी भी दो पाँवों के ऊपर पिण्डलियाँ, घुटने, कमर, छाती और माथा है। फिर तू ही क्यों पालकी में चढ़ा हुआ इन लोगों से पालकी ढुलवा रहा है, और अपनेआपको सौवीरराज कहलवा रहा है। तू अपनेआप को सिन्धु का राजा समझकर मद से अन्धा हुआ जा रहा है, और तकलीफ़ उठाते दीन-हीन इन जनों को क्रूरता के साथ बेगार में लगाए हुए है। फिर भी अपनेआप को दीन जनों का रक्षक बताकर डींग हाँकता है, जानकार लोगों के बीच तेरी यह ढिठाई शोभनीय नहीं है।

—सिंधुसौवीरपति राजा रहूगण से अवधूत जड भरत का संवाद

(श्रीमद्भागवत, पंचम स्कन्ध)

कूर्बे की कला और उसकी ज़मीन

रामबाबू

1855 में, पेरिस के कला-जगत के सुप्रसिद्ध, भव्य, अन्तरराष्ट्रीय आयोजन Exposition Universelle की शुरुआत एक दिलचस्प बावेले से हुई। Exposition के आयोजकों ने विशाल कैनवस पर चित्रित, **गुस्ताव कूर्बे** की कृति **'चित्रकार का स्टूडियो'** को प्रदर्शन के लिए स्वीकार नहीं किया। कूर्बे एक अक्खड़ विद्रोही युवा अवाँगार्द चित्रकार के रूप में तब तक ख्याति अर्जित कर चुका था। उसके अराजकतावादी, समाजवादी विचार और **प्रूदों, शांपफ्लूरी, बुशों** और **बॉदलेयर** जैसी राजनीति, पत्रकारिता और साहित्य की दुनिया की "विस्फोटक" हस्तियों से उसकी मित्रता भी बहुविख्यात थी।

अपनी महत्त्वाकांक्षी (और अब इतिहास-प्रसिद्ध) कलाकृति खारिज किए जाने से क्रुद्ध कूर्बे ने एक अनूठा क़दम उठाया। Exposition Universelle के पास ही उसने एक विशेष मण्डप बनवाया और उसमें अपने चित्रों की एकल प्रदर्शनी आयोजित कर डाली। मण्डप के प्रवेशद्वार पर टँगे सुर्ख बैनर पर बड़े-बड़े शब्दों में प्रदर्शनी की विषयवस्तु को द्योतित करना नाम-शीर्ष अंकित था—**'यथार्थवाद'—गुस्ताव कूर्बे**। राजनीति और कला की दुनिया के सत्ताधारियों के विरुद्ध कलाकार की आज़ादी और जनपक्षधरता का परचम लहराते हुए जो जंग कूर्बे ने तब छेड़ी, उसे जीवनपर्यन्त अविराम जारी रखा और उसकी हर क़ीमत चुकाई।

आज कम ही लोग शायद इस ऐतिहासिक तथ्य से परिचित होंगे कि **गुस्ताव कूर्बे पहला कलाकार था जिसने सचेतन तौर पर, यथार्थवादी सौन्दर्यशास्त्र को स्वीकार करने की घोषणा की** और उसे व्यवहार में लाया।

इसके पूर्व एक सुनिश्चित पारिभाषिक शब्द के रूप में यथार्थवाद का उल्लेख 1826 में *मर्क्यूर फ्रांकेस सिएकल* में मिलता है जहाँ अतीत की कलात्मक उपलब्धियों के अनुकरण के बजाय, कलाकार के समक्ष समकालीन जीवन और प्रकृति द्वारा प्रस्तुत प्रतिरूपों या मॉडलों के सच्चे और सटीक चित्रण पर आधारित सिद्धान्त के रूप में इसका उल्लेख किया गया था। 1850 तक **बाल्ज़ाक** की *'ह्यूमन कॉमेडी'* शृंखला के उपन्यासों में फ़्रांसीसी सामाजिक संरचना के सम्पूर्ण वर्णक्रम का विश्वकोषी चित्रण क्रान्तिकारी बुर्जुआ यथार्थवाद के साहित्य-शिखर का निर्माण कर चुका था। लेकिन साहित्यिक यथार्थवाद का सचेतन कार्यक्रम उन्नीसवीं शताब्दी के छठे दशक में, कूर्बे की सौन्दर्यशास्त्रीय अवस्थिति से उत्प्रेरित होने के बाद ही सामने आया। कूर्बे की यथार्थवादी अवस्थिति में बाल्ज़ाक के विचारों के साथ ही कला की सामाजिक अर्थवत्ता और अभिव्यंजकता के बारे में तत्कालीन सुप्रसिद्ध कला-आलोचक **पियेर जोसेफ़ प्रूदों** (जो यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन के प्रसिद्ध अराजकतावादी-समाजवादी नेता भी थे) और जूल्स शाम्पफ्लूरी के विचारों का भी काफ़ी प्रभाव था। संयोगवश ये दोनों ही कूर्बे के घनिष्ठ मित्रों में थे। 1855 में ही कूर्बे ने कला-विषयक अपनी प्रतिबद्धताओं का घोषणापत्र *'यथार्थवाद'* नाम से प्रस्तुत किया और 1861 में उसने एण्टवर्प में आयोजित कलाकारों की एक सभा में एक वक्तव्य दिया। अपनी इन प्रसिद्ध सैद्धान्तिक कृतियों में कूर्बे ने कला की सामाजिक अर्थवत्ता, उद्गम और पक्षधरता के बारे में अपनी सोच रखते हुए यथार्थवाद की अवधारणा पर प्रकाश डाला है।

कूर्बे उस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक संक्रमण काल की उपज था और प्रतिनिधि भी, जबकि पूरा यूरोप दुर्द्धर्ष वर्ग-महासमर का क्षेत्र बना हुआ था और उसका भी केन्द्रीय रंगमंच फ़्रांस था। **सेंट साइमन** और **फ़ूरिए** के काल्पनिक समाजवादी विचार, बुर्जुआ शासन से मोहभंग के शिकार निम्न मध्यवर्ग के साथ ही सर्वहारा वर्ग को भी प्रभावित कर रहे थे। फ़्रांस ही वह देश था जहाँ 1831 में लियों शहर में अपने पहले विद्रोह के द्वारा सर्वहारा वर्ग ने राजनीतिक रंगमंच पर अपने तूफ़ानी प्रवेश का पूर्व-संकेत दे दिया था। विद्रोह कुचल दिया गया, लेकिन समाजवाद के स्वप्नों की मृत्यु नहीं हुई। **बाब्ये फ** से लेकर साइमन और फ़ूरिए तक की परम्परा **एत्येन काबे** के शान्तिपूर्ण कल्पनावादी कम्युनिज़्म, **लुई ब्लां** के निम्नपूँजीवादी समाजवाद, **लुई ब्लांकी** के कल्पनावादी कम्युनिज़्म, प्रूदों के निम्न पूँजीवादी अराजकतावाद आदि-आदि अनेकशः विचार-सरणियों में विभाजित होकर आगे विकसित हो रही थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में पूरा यूरोप दुर्द्धर्ष वर्ग-संघर्ष का रणांगन बना हुआ था। एक ओर बुर्जुआ वर्ग सामन्ती अभिजातों के विरुद्ध सत्ता-सुदृढ़ीकरण का निर्णायक संघर्ष लड़ रहा था, दूसरी ओर पूँजीवादी लूट-खसोट के विरुद्ध मज़दूर संघर्षों की उत्ताल तरंगें उठ रही थीं। लुई फिलिप के जुलाई राजतंत्र को भूलुण्ठित कर देने वाली 1848 की फरवरी क्रान्ति में गणतंत्रवादी बुर्जुआ वर्ग और उग्रपरिवर्तनवादी-निम्नपूँजीवादी वर्गों का मज़दूरों ने भी बढ़-चढ़कर साथ दिया। लेकिन श्रम और पूँजी के बीच के तीखे होते अन्तरविरोधों ने जल्दी ही इस संश्रय में दरारें डाल दीं। जून, 1848 में पेरिस के मज़दूरों का इतिहास-प्रसिद्ध विद्रोह भड़क उठा, जिसे सड़कों पर क़त्लेआम के बाद निर्ममतापूर्वक कुचल दिया गया। लेकिन महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि विद्रोह के बर्बर दमन ने समाजवादी विचारों की बुनियाद ठोस बनाने में अहम भूमिका निभाई। साथ ही, मेहनतकश आम जनता को कुछ आमूलगामी परिवर्तन लाने वाले क़ानूनों के द्वारा महत्त्वपूर्ण जनवादी अधिकार देने के लिए बुर्जुआ सत्ता को बाध्य होना पड़ा। शासक वर्ग के विभिन्न धड़ों के बीच के गहराते अन्तरविरोधों के चलते 'द्वितीय गणतंत्र' का प्रयोग भी निराशाजनक सिद्ध हुआ। दिसम्बर, 1848 के चुनावों द्वारा लुई नेपोलियन राष्ट्रपति चुना गया और दिसम्बर, 1851 में प्रतिक्रान्तिकारी तख़्तापलट के बाद वह फ़्रांस का निरंकुश सम्राट बन गया।

ठीक इसी समय, जब यूरोप क्रान्ति के तूफ़ानों का केन्द्र बना हुआ था, सर्वहारा क्रान्ति की वह मार्गदर्शक विचारधारा जन्म ले चुकी थी जिसे अगली शताब्दी आने तक एक प्रचण्ड भौतिक शक्ति बन जाना था। **मार्क्स** और **एंगेल्स** द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त विकसित कर चुके थे। 1848 में

कार्ल मार्क्स (एक जर्मन पेंटिंग)

'कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो' प्रकाशित हो चुका था। लेकिन जर्मनी और इंग्लैण्ड के विपरीत, फ़्रांस के मज़दूर आन्दोलन पर मार्क्स के विचारों का प्रभाव कम ही था। वहाँ विभिन्न अराजकतावादी क्रान्तिकारी और निम्नपूँजीवादी समाजवादी विचारों का प्रभाव अधिक था। लेकिन ये सभी विचार मूलतः क्रान्तिकारी और मज़दूर-हितैषी थे। यह याद रखना होगा कि सर्वहारा संघर्ष की विचारधारात्मक यात्रा का अभी यह पहला ही पड़ाव था।

युवा कूर्बे पेरिस के उन लेखकों-कलाकारों में शामिल था जो 1848-51 के ऐतिहासिक घटना-प्रवाह के निकट साक्षी थे, एक हद तक हिस्सेदार भी थे और प्रायः ये सभी आमूल परिवर्तन के पक्षधर थे। सृजनधर्मा आत्माओं को क्रान्ति की मुक्तिदायिनी स्पिरिट गहराई से आप्लावित कर रही थी तथा नये प्रयोगों की पहलक़दमी को निर्बन्ध कर रही थी। कूर्बे की इस दौर की गतिविधियों की चर्चा से पहले, बेहतर रहेगा कि उसके जीवन के बारे में भी थोड़ी जानकारी ले ली जाए।

कूर्बे का जन्म पूर्वी फ़्रांस के जूरा क्षेत्र के ओर्नांस नामक क़स्बे के एक धनी किसान परिवार में 10 जून, 1819 को हुआ था। परिवार की किसानी पृष्ठभूमि और नई बुर्जुआ पहचान ने ग्रामीण फ़्रांस के वर्ग-वैषम्य और वर्ग-विभाजित सामाजिक यथार्थ के प्रति कूर्बे की सजग संवेदना को विकसित करने की शुरुआत बचपन में ही कर दी थी। स्थानीय ग्रामीण जीवन और परिवेश के प्रति कूर्बे का जो गहरा लगाव था, वह आगे चलकर उसके कला-सर्जना-संसार के केन्द्रीय भूभाग में स्थापित एक विषय बना। कूर्बे का यह लगाव जीवनपर्यन्त बना रहा। चौदह वर्ष की आयु में उसके कला-प्रशिक्षण की शुरुआत नव-क्लासिकी चित्रकार **बैरन ग्रॉस** के भूतपूर्व शिष्य **पेर बॉद** के छात्र के रूप में हुई। 1837 में वह बोसांकों चला गया और वहाँ एक अन्य क्लासिकी चित्रकार **फ्लाजूला** की अकादमी में प्रशिक्षण लेने लगा। कूर्बे ने व्यवस्थित ढंग से कला की पढ़ाई कभी नहीं पूरी की। दो वर्ष बाद वह पेरिस चला गया जो उस समय न सिर्फ़ कला के मामले में, बल्कि सभी तरह की रैडिकल राजनीतिक गतिविधियों के मामले में पूरे यूरोप का केन्द्र बना हुआ था। वहाँ एक अल्पख्यात चित्रकार **स्ट्यूबेन** के स्टूडियो में प्रशिक्षण लेने के साथ ही कूर्बे मॉडलों से चित्र बनाता रहा, नियमित रूप से लूव्र म्यूज़ियम में संग्रहीत चित्रों की अनुकृतियाँ तैयार करता रहा और सैलों (वार्षिक चित्र-प्रदर्शनी) में सफलता के लिए हाथ-पैर मारता रहा। कूर्बे के शुरुआती दिन विफलता के दिन थे। 1841 से 1847 के सात वर्षों में सैलों की चयन समिति ने उसके द्वारा प्रस्तुत पच्चीस में से मात्र तीन कृतियों को प्रदर्शन के लिए चुना। उसका कोई भी चित्र बिक नहीं सका। इसी दौरान उसकी मुलाक़ात वर्जीनी बिने से हुई जो उसकी मिस्ट्रेस बनी और 1847 में उसके एक बच्चे की माँ भी। 1847 में सैलों में प्रदर्शित उसके एक चित्र पर एक डच डीलर की निगाह पड़ी जिसने जनवरी 1848 में उसे हालैण्ड आमंत्रित किया और एक पोर्ट्रेट बनाने का काम सौंपा।

1848 तक पेरिस के कलाजगत में कूर्बे की पहचान बनने लगी थी, लेकिन तब तक कला के सामाजिक सरोकार और कलाकार की जनपक्षधरता के बारे में कूर्बे के विचार सुनिश्चित शक्ल अख्तियार करने लगे थे। पेरिस क्रान्ति की दहलीज पर खड़ा था। बड़े उथल-पुथल भरे दिन थे। इस समय तक प्रसिद्ध कवि बॉदलेयर, अराजकतावादी राजनीतिज्ञ-पत्रकार प्रूदों और यथार्थवादी लेखक-आलोचक जूल्स शांपफ्लूरी से कूर्बे की

बाएँ : बॉदलेयर की पत्रिका 'ल सलुत रिपब्लिक' का कूर्बे का बनाया मुखपृष्ठ

नीचे : *ब्रेसरी आन्दलेर* के भीतरी भाग की कूर्बे की बनायी एचिंग

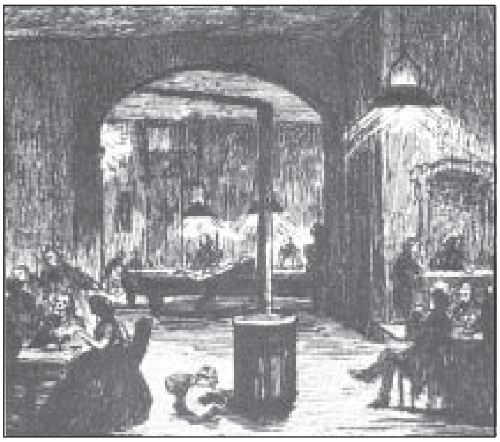

दोस्ती परवान चढ़ चुकी थी। कूर्बे के स्टुडियो के बिल्कुल क़रीब स्थित *ब्रेसरी आंदलेर* नामक कहवाघर 1840 के दशक में फ्रांस के अग्रणी बुद्धिजीवियों, लेखकों और समाजवादी राजनीतिज्ञों के जुटने की प्रमुख जगह था। कूर्बे के मित्रों की चौकड़ी भी यहीं जमती थी और राजनीतिक घटनाओं के अतिरिक्त कला और साहित्य की समकालीन समाज में भूमिका जैसे विषयों पर बहस-मुबाहिसा किया करती थी। 'यथार्थवाद' की अवधारणा इन्हीं अनौपचारिक गोष्ठियों में ठोस हुई और यह अनायास नहीं कि *ब्रेसरी आंदलेर* को बाद में *'यथार्थवाद का मन्दिर'* नाम से भी जाना जाने लगा। फरवरी, 1848 की क्रान्ति के दौरान कूर्बे ने जन विद्रोह का मुखर होकर पक्ष लिया हालाँकि लड़ाइयों में उसने बहुत कम हिस्सा लिया। उसके मित्र कवि बॉदलेयर ने पेरिस की सड़कों पर चली लड़ाइयों में हिस्सा लेने के साथ ही क्रान्ति के दौरान, शांपफ्लूरी के साथ मिलकर एक पत्रिका 'ल सलुत पब्लिक' भी निकाली। इसके मुखपृष्ठ के लिए कूर्बे ने एक रेखांकन बनाया था जो देलाक्रुआ के चित्र *'जनता की अगुआई करती मुक्ति'* की पैरोडी था। उस उथल-पुथल भरे राजनीतिक माहौल में भी वार्षिक चित्र-प्रदर्शनी का आयोजन हुआ और उसमें एक साथ कूर्बे की दस कृतियाँ प्रदर्शित हुईं। अकादमिक क्लासिसिज़्म के प्रभावों से तो कूर्बे पहले ही मुक्त हो चुका था। सेल्फ पोर्ट्रेट्स की एक शृंखला और *'देहात में प्रेमी'* (1844) जैसे कुछ चित्रों के बाद वह रोमैण्टिसिज़्म से भी दूरी लेने लगा था जो 1848 तक आते-आते एक निर्णायक विच्छेद बन चुका था। इन परम्पराओं को खारिज करने के बाद कूर्बे ने, जैसा कि वह कहा करता था, **"सकारात्मक" कला की एक नई श्रेणी को अपनाया जो जीवन को एक अविरल प्रवाह के रूप में पुनर्सृजित करती थी, जगत की भौतिक सत्ता और महत्ता को अभिपुष्ट करती थी और उन सभी संप्रत्ययों-परिघटनाओं के कलात्मक मूल्य को अस्वीकार करती थी जो अनुभूत, इन्द्रियगोचर और "ठोस" नहीं थे।**

दैनन्दिन जीवन की महत्ता और उसमें निहित "कविता" को उद्घाटित करने की दुर्निवार इच्छा से प्रेरित कूर्बे ने अब राष्ट्रीय जीवन के उस पक्ष को विस्तृत और सूक्ष्म चित्रण के लिए चुना, जिसके यथार्थ की प्रामाणिकता से वह परिचित था। यह फ्रांसीसी राज्यों का देहाती जीवन था। 'ओर्नांस में भोजन के बाद' (After Dinner at Ornans, 1849), 'ओर्नांस में अंत्येष्टि' (Burial at Ornans), (1849) और 'ग्रामीण बालाएँ' (The Village Damsels) (1851), जैसे चित्रों में कूर्बे ने विशाल कैनवस पर यथार्थवादी स्पिरिट

को मूर्त रूप दिया। परिसीमित 'स्पेस', 'फॉर्म्स' का स्थैतिक सन्तुलन आकृतियों का सघन, चित्रवल्लरी-सरीखा समूहीकरण (जैसे कि 'ओर्नांस में अंत्येष्टि' में) तथा मन्द-मद्धम रंग-पट्टिकाएँ—कूर्बे की इस दौर की कलाकृतियों की संरचना में ये अभिलाक्षणिक विशिष्टताएँ उल्लेखनीय हैं।

1848 की क्रान्ति के बाद क़ायम द्वितीय गणतंत्र अल्पजीवी सिद्ध हुआ और लुई नेपोलियन द्वारा सत्तापहरण करके स्वयं को सम्राट घोषित करने के साथ ही उसकी (यानी द्वितीय गणतंत्र की) अकाल मृत्यु हो गई। इन तूफ़ानी सालों के गुज़र जाने के काफ़ी समय बाद, कूर्बे ने लिखा था : *"1848 में, प्रूदों और मैं, सिर्फ़ दो ऐसे लोग थे जो तैयार थे।"* निश्चित ही, यह गर्वोक्ति एकदम सही नहीं प्रतीत होती, लेकिन इतना अवश्य है कि कूर्बे ने सर्वहारा जनों, किसानों और आमूल परिवर्तनवादी निम्न बुर्जुआ वर्ग के साथ खुली, सक्रिय पक्षधरता का बेपरवाह-बेलौस प्रदर्शन किया और पुनर्जागरणकाल के महान कलाकारों की तरह अपनी प्रतिबद्धताओं के लिए तलवार उठाकर लड़ने और जेलखाने में ठूँस दिए जाने के लिए वह हमेशा तैयार रहा।

1848 के सैलों में कूर्बे की प्रविष्टियों को आम जनता के साथ ही आलोचकों ने भी मुक्त कण्ठ से सराहा। *'ओर्नांस में भोजन के बाद'* शीर्षक कृति को स्वर्णपदक मिला और सरकार ने उसे ख़रीद लिया। इस स्वर्णपदक के चलते भविष्य में सैलों में प्रविष्टि के लिए चयन-प्रक्रिया से गुज़रने के झंझट से कूर्बे को छूट मिल गई। द्वितीय गणतंत्र के तीन वर्षों के दौरान कूर्बे की यथार्थवादी कला रोमैण्टिसिज़्म की रही-सही प्रभावछायाओं से भी मुक्त होकर तेज़ी से परवान चढ़ी। कूर्बे ने ओर्नांस के परिचित दृश्यों, परिवार, मित्रों, किसानी जीवन आदि को विषय-वस्तु बनाते हुए अपनी नई चित्र-भाषा और नया बिम्ब-विधान विकसित किया। इस दौर के चित्रों में, ख़ास तौर पर विशाल कैनवस पर चित्रित *'ओर्नांस में अंत्येष्टि'* उल्लेखनीय है। इसे कूर्बे ने 1849 की गर्मियों में तैयार किया और 1850-51 के सैलों में यह प्रदर्शित किया गया। यह एक चित्रवल्लरी-सदृश 'कम्पोज़ीशिन' है, जो तत्काल ही ध्यान खींचता है और चौंकाता है। इस चित्र की यथार्थ-शैली को, इसकी "कुरूप" आकृतियों को, चित्र में दिखलाए गए शराब के नशे में धुत्त लगते कर्मचारियों को और "कुरूपता" के इस संयोजन की विशालता को आलोचकों ने रत्ती भर भी पसन्द नहीं किया। यथार्थवादी शैली पर रोषपूर्ण आलोचनाओं की एक लहर-सी टूट पड़ी। दरअसल, इस काम में इस चित्र ने महज़ एक निमित्त की भूमिका निभाई। यह समय था जब क्रान्ति की लहर पर प्रतिक्रान्ति की लहर निर्णायक तौर पर हावी हो रही थी। समाज के माहौल के हिसाब से कला जगत का माहौल भी बदल रहा था। लुई नेपोलियन की निरंकुश सत्ता के अधिकारियों ने कूर्बे की कला को सीधे विद्रोह की वकालत के रूप में देखा। उल्लेखनीय है कि लुई नेपोलियन द्वारा सत्तापहरण और निरंकुश बुर्जुआ सत्ता की स्थापना के बाद फ़्रांस के कई इलाक़ों में किसान-विद्रोह हुए। जिन किसानों ने जून, 1848 के विद्रोह में सर्वहाराओं का साथ नहीं दिया, इतिहास उन्हें उसकी सज़ा दे रहा था और पश्चाताप का अवसर भी। किसान विद्रोहों को कुचल दिया गया, लेकिन उनका भय नई सत्ता की छाती पर लम्बे समय तक प्रेत की तरह सवार रहा। इस माहौल में, कला जगत के सिरमौरों की आँखों में कूर्बे का ठोस, खुरदरा, अपारम्परिक यथार्थवाद बुरी तरह चुभ रहा था और ग्रामीण पृष्ठभूमि वाले उसके चित्रों में उकेरे गए नायकत्व से विभूषित अक्खड़, समझौताहीन किसान चरित्र नये सत्ताधारियों को बहुत परेशान कर रहे थे। प्रूदों, एक कला-आलोचक के रूप में, इन चित्रों की व्याख्या समसामयिक स्थितियों पर राजनीतिक वक्तव्य के रूप में पेश कर रहा था जो सत्ताधारियों और कला-जगत के नौकरशाहों के लिए और अधिक असुविधाजनक था।

किसानी जीवन मध्यकाल से ही चित्रकला का विषय बनता रहा। पिएतर ब्रूगेल (1525-69) किसानी जीवन के यथार्थ को उकेरने वाला, पुनर्जागरण काल का अग्रतम चित्रकार था। कूर्बे के समकालीन जां-फ्रांस्वा मिलेत (1814-75) ने भी फ़्रांस के किसानों के जीवन को अपने चित्रों का विषय बनाया। 1848 की क्रान्ति के बाद ग्रामीण जीवन और किसान, फ़्रांस के कलाकारों के केन्द्रीय सरोकार का एक विषय बन गए थे, लेकिन कूर्बे का यथार्थवादी 'ट्रीटमेण्ट' बाक़ी सबसे अलग था। जैसे मिलेत द्वारा प्रस्तुत किसान अपनी ज़मीन

से जुड़े हुए नायक सदृश थे जो समकालीन सामाजिक मुद्दों से सुरक्षित दूरी पर थे, सामाजिक रूप से अचेत "धरती-पुत्र" थे जिन्हें भावुकतापूर्ण शैली में चित्रित किया गया था। इसके विपरीत, कूर्बे ने समाज में किसानों की स्थिति को, नितान्त अभावुकतापूर्ण शैली में, एक बेहद कटु यथार्थ के रूप में प्रस्तुत किया। साथ ही, कूर्बे के आम ग्रामीण चरित्र कष्टसाध्य-श्रमसाध्य स्थितियों में जीने वाले ख़ुद्दार और अक्खड़ लोग लगते हैं। कूर्बे के इन चित्रांकनों से कुछ ही वर्ष पूर्व महान यथार्थवादी लेखक बाल्ज़ाक ने अपने कुछ उपन्यासों में किसानी जीवन के नग्न-क्रूर यथार्थ को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया था। इनमें से सर्वोत्कृष्ट कृति 'किसान' 1848 की क्रान्ति से चार वर्ष पहले ही प्रकाशित हुई थी। कहा जा सकता है कि ग्रामीण जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करने में, साहित्य में जो युगान्तरकारी भूमिका बाल्ज़ाक ने निभाई थी, वही चित्रों की दुनिया में कूर्बे ने निभाई।

यही नहीं, हम कूर्बे और बाल्ज़ाक के यथार्थवाद की तुलना कुछ और भी व्यापक अर्थ-सन्दर्भों में कर सकते हैं। बाल्ज़ाक ने *'ह्यूमन कॉमेडी'* शृंखला के अपने उपन्यासों को पहले *'उन्नीसवीं शताब्दी की जीवन-चर्या का अध्ययन'* शीर्षक दिया था। कूर्बे का चित्र-संसार भी वस्तुतः उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से लेकर आठवें दशक तक के जीवन के सभी पक्षों का सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन प्रस्तुत करता है, एक ऐसा कलात्मक पुनर्सृजन प्रस्तुत करता है जिसे निस्संकोच ऐतिहासिक अभिलेख का दर्जा भी दिया जा सकता है। बाल्ज़ाक की ही तरह कूर्बे ने भी अपने चित्रों के माध्यम से फ़्रांस के विभिन्न वर्गों के निजी जीवन, प्रान्तीय जीवन, शहरी जीवन और राजनीतिक जीवन के चित्र रचते हुए संस्कृति और जीवन-शैली के, सामाजिक द्वन्द्वों के और जीवन-दृष्टियों के टकरावों के चित्र एक व्यापक फलक पर उपस्थित किए। **फ़्रेडरिक एंगेल्स** ने बाल्ज़ाक के इस *"भव्यतम गुण"* की सर्वाधिक प्रशंसा की है कि वे *"स्वयं अपनी वर्ग-सहानुभूतियों और राजनीतिक पूर्वाग्रहों के विरुद्ध खड़े होने के लिए विवश हुए"* और कि *"उन्होंने भविष्य के वास्तविक लोगों को वहाँ देखा, जहाँ और केवल जहाँ, वे उस समय मिल सकते थे।"* एंगेल्स ने इसे यथार्थवाद की सबसे महती विजयों में से एक बताया। कूर्बे ने भी भविष्य के वास्तविक लोगों को उनकी वास्तविक जगह पर देखा और साथ ही, उनके जीवन और चिन्तन की भविष्योन्मुख पथ-रेखा की भी पहचान-पड़ताल की। ऐसा वह इसलिए कर सका कि उसकी वर्ग-पक्षधरता सचेतन थी। बाल्ज़ाक विचारों से 'लेजिटिमिस्ट' थे, लेकिन कूर्बे सचेतन तौर पर सर्वहारा वर्ग का और उसके मुक्ति-संघर्षों का पक्षधर कलाकार था। वह उत्कट क्रान्तिकारी जनवादी था जो, दुर्भाग्यवश, ऐतिहासिक भौतिकवादी विचारों के सम्पर्क में तो नहीं आ सका लेकिन अराजकतावादी समाजवादी विचारों का उस पर गहन प्रभाव था। मुमकिन है कि कूर्बे प्रूदों के बजाय यदि कार्ल मार्क्स की मित्र-मण्डली में शामिल होता तो **हाइनरिष हाइने, वेयेर्त** और **फ्रैलिगराथ** की तरह वह भी शायद वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों को ही अपनाता। मेहतनकशों के प्रति कूर्बे की सचेतन पक्षधरता उसके 'पत्थर तोड़नेवाले' (*The Stonebreakers*, 1849) जैसे चित्रों में एकदम स्पष्ट देखी जा सकती है।

दिसम्बर, 1851 की प्रतिक्रान्तिकारी घटनाओं और बहुतेरे प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के पक्ष-परिवर्तन से कूर्बे का मनोबल नहीं टूटा। उलटे उसकी विद्रोही मनोवृत्ति और अधिक हठी हो गई। यथार्थवादी शैली के अवसरवादी आलोचक जो उसके ऊपर टूट पड़े थे, वह उन्हें तिलचट्टों-भुनगों से अधिक अहमियत नहीं देता था। धारा के विरुद्ध वह अडिग खड़ा रहा और सत्ताधारियों की धमकियों और प्रलोभनों का निर्विकार भाव से तिरस्कार करता रहा। सत्ताधारियों को उकसाने-चिढ़ाने में भी उसे विशेष सन्तोष मिलता था। 1853 में सरकार ने एक बार फिर उसकी ओर समझौते के लिए हाथ बढ़ाया। ललित कला के निदेशक कोम्त द नेवर्केके ने कूर्बे से भावी विश्व-प्रदर्शनी के लिए कोई महत्त्वपूर्ण, बड़ी कलाकृति प्रस्तुत करने का प्रस्ताव रखा, बशर्ते कि चित्र का एक रेखांकन पहले ही प्रस्तुत कर दिया जाए। कूर्बे ने इस प्रस्ताव को अविलम्ब अस्वीकार कर दिया और कहा कि यह कलाकार की बौद्धिक स्वतंत्रता में अवांछित हस्तक्षेप है। इसका नतीजा यह हुआ कि कूर्बे की तीन कलाकृतियाँ प्रदर्शनी के लिए अस्वीकृत कर दी गईं। लेकिन कूर्बे ने हार नहीं मानी। 1855

में जब अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शनी शुरू हुई तो कूर्बे ने उसी के समान्तर एक मण्डप में अपनी एकल प्रदर्शनी लगा दी, जिस घटना की चर्चा लेख की शुरुआत में की जा चुकी है। 1853 की सैलों में एक धनी फाइनेंसर के बेटे अल्फ़्रेड ब्रुयास से कूर्बे की भेंट हो चुकी थी। ब्रुयास अपना पूरा जीवन और सम्पत्ति कला-संग्रह और कलाकारों के संरक्षण में लगाने के लिए प्रतिबद्ध था। जब तक वह जीवित रहा, कूर्बे का वफ़ादार संरक्षक और मददगार बना रहा।

1855 में *'यथार्थवाद मण्डप'* की समान्तर प्रदर्शनी के बाद का समय कूर्बे के लिए निजी तौर पर काफ़ी संकटपूर्ण रहा। वर्जीनी बिने कूर्बे का घर छोड़कर चली गई। कूर्बे के बेटे को भी वह अपने साथ ले गई। कूर्बे को इससे भावनात्मक आघात तो लगा, पर उसने इसे भी अपनी प्रतिबद्धताओं की क़ीमत समझकर अपने मन को समझा लिया। उसी समय एक मित्र को लिखे गए पत्र में उसने लिखा था कि उसकी कला ने उसे लगातार व्यस्त बनाए रखा है। साथ ही, उसने यह भी लिखा है कि एक शादीशुदा आदमी हर हाल में प्रतिक्रियावादी होता है। कूर्बे का यह सूत्रीकरण अतिरेकी हो सकता है पर यह कूर्बे की उस दौर की मनःस्थिति को दर्शाता है और साथ ही, प्रयोगधर्मा, अन्वेषी, विद्रोही सर्जकों के आत्मिक जीवन के उस सान्द्र दुख भरे तनाव को भी सामने लाता है, जो प्रायः उन्हें पारिवारिक और आन्तरिक सम्बन्धों के दायरे में जीवनपर्यन्त बेधता-बींधता रहता है। कूर्बे के हठी, अनम्य विद्रोही और ज़िन्दादिल व्यक्तित्व का अन्तर्तम बेहद सुकोमल-संवेदनशील था और उस नीम अँधेरे रहस्यमय 'आत्मा के अंचल' की एक झलक सी प्रस्तुत करते हुए उसने एक बार एक दोस्त को लिखा था : *"मेरे इस हँसते हुए मुखौटे के पीछे, जिसे तुम जानते हो, मैं दुख और कड़वाहट छिपाए रहता हूँ, और एक उदासी जो ख़ून पीने वाली पिशाचिनी के समान लगातार मेरे हृदय से लिपटी रहती है। जिस समाज में हम रहते हैं, उसमें रिक्तता तक जा पहुँचना बहुत सहज-सुगम होता है।"* ग़ौरतलब है कि अपने निजी दुख के कारणों का विश्लेषण भी कूर्बे नितान्त वस्तुपरक ढंग से करते हुए इसका कारण सामाजिक परिवेश में ढूँढ़ता है और शायद यही वह चीज़ थी जिसके चलते प्रतिकूलतम स्थितियों के सामने भी अपनी सर्जनात्मकता की इंच-इंच हिफ़ाज़त करते हुए कूर्बे अजेय तना खड़ा रहा और अपनी प्रतिबद्धता की ख़ातिर सड़क पर उतरकर मेहनतकशों के साथ बैरिकेड्स के पीछे जा डटने में भी उसे कोई हिचक नहीं हुई—न तो 1848 में और न ही 1871 के महान पेरिस कम्यून के दिनों में। जेल और निर्वासन उसे तोड़ नहीं सके क्योंकि उसके पास दुख के कारणों को समझने की एक वैज्ञानिक दृष्टि थी और उनके ख़िलाफ़ जूझने की एक दुर्निवार-दुर्दान्त युयुत्सा भी। कूर्बे जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य का चिरअतृप्त-पिपासु प्रेमी था, और जिन्हें यह समाज उस सौन्दर्य-चेतना से सर्वथा पृथक्कृत करके अमानवीय स्थितियों में जीने को बाध्य करता है, उनके मानवीय अधिकारों, गरिमा और नैसर्गिकता के अधिकारों की ख़ातिर अपना सब कुछ गँवाकर लड़ने के लिए जीवनपर्यन्त वह कटिबद्ध रहा।

1855 की प्रदर्शनी के बाद कूर्बे को कई झटकों का, एक के बाद एक सामना करना पड़ा। उसके राजनीतिक 'मित्र-दार्शनिक-मार्गदर्शक' प्रूदों को क्रान्ति के दौरान की अपनी गतिविधियों के कारण जेल की सज़ा मिली और बुशों को निर्वासन का दण्ड मिला। यथार्थवाद की अवधारणा विकसित करने में अन्यतम सहयोगी की भूमिका निभाने वाला मित्र शाम्पफ्लूरी कूर्बे की लगातार दृढ़ होती समाजवादी प्रतिबद्धताओं से असहमति प्रकट करते हुए ख़ुद को उससे अलग कर चुका था। अवसरवादी कला-आलोचक कूर्बे और उसकी यथार्थवादी शैली पर आरोपों-भर्त्सनाओं की बौछार कर रहे थे। इधर सत्ता की कोपदृष्टि कूर्बे पर लगातार टिकी हुई थी और कभी भी उसे सलाखों के पीछे धकेला जा सकता था। इस समय तक फ़्रांस के बाहर कूर्बे और उसकी शैली की ख्याति काफ़ी फैल चुकी थी। इसलिए उसने ज़्यादा समय देश से बाहर बिताने का फ़ैसला किया। 1855 से 1870 के बीच वह ज़्यादातर विदेश में ही रहा। फ़्रैंकफ़ुर्ट में काफ़ी सम्मान के साथ, एक पूरा स्टूडियो ही उसे काम करने के लिए स्थानीय अकादमी की ओर से भेंट किया गया। नार्मण्डी-तट पर, त्रुविल में वह **जेम्स व्हिस्लर** से मिला। समुद्र के चित्र और स्थानीय सुन्दरियों के पोर्ट्रेट्स बनाकर दोनों ने ठीक-ठाक कमाई कर ली। एत्रतात में उसने कुछ दिनों तक युवा **मोने** (Monet) के साथ काम किया।

जर्मनी, हालैण्ड, बेल्जियम और इंग्लैण्ड में उसकी प्रदर्शनियाँ आयोजित हुईं और उसे ढेरों सम्मान मिले। बेल्जियम के शासक लियोपोल्ड द्वितीय ने उसे एक पदक दिया और बवेरिया के शासक लुडविग द्वितीय ने उसे 'ऑर्डर ऑफ सेण्ट माइकल' से सम्मानित किया। 1870 में फ़्रांस-प्रशा युद्ध के ठीक पहले, फ़्रांस की सरकार ने एक बार फिर मेल-मिलाप के लिए उसकी ओर हाथ बढ़ाया और उसे 'लीजन ऑफ ऑनर' प्रस्तावित किया गया जिसे उसने शान के साथ यह कहते हुए ठुकरा दिया कि *"यह कला में राजकीय हस्तक्षेप का एक उदाहरण है।"* जिस सरकार को वह अपनी जनता के ख़िलाफ़ मानता था, उससे समझौता किसी भी सूरत में उसे कुबूल न था।

कूर्बे का राजनीतिक गुरु और मित्र प्रूदों तीन वर्ष की जेल की सज़ा काटने के बाद रिहा होकर बेल्जियम चला गया था। वहाँ से 1862 में वह पेरिस लौट आया। उसके बहुतेरे अनुयायी उसका साथ छोड़ चुके थे। कई प्रूदोंपन्थियों ने तो 1863 के चुनाव में हिस्सा लिया जिसकी प्रूदों ने कटु आलोचना की। हालाँकि फ़्रांस के रैडिकल्स पर फिर भी प्रूदों का प्रभाव था, लेकिन पूरे यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन और पहले इण्टरनेशनल में कार्ल मार्क्स के विचारों को मानने वालों का निर्णायक प्रभाव स्थापित हो चुका था। अपने अन्तिम वर्षों में प्रूदों कला के विभिन्न प्रश्नों पर लम्बी टिप्पणियाँ लिखने में अपना समय ख़र्च कर रहा था। 1865 में मृत्युशैया से कूर्बे को लिखे गए एक पत्र में उसने इसके लिए सख़्त अफ़सोस ज़ाहिर किया था कि कूर्बे की चित्रकला के पक्ष में उसने *'कला के सिद्धान्तों के बारे में'* शीर्षक जिस पुस्तक की शुरुआत की थी, वह पूरी न हो सकी।

1865 में प्रूदों की मृत्यु के बाद उसके ज़्यादातर समर्थक रूसी अराजकतावादी **बाकुनिन** के पीछे गोलबन्द हुए। बाकुनिन ने पहले इण्टरनेशनल और यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन में जो भयंकर विध्वंसक भूमिका निभाई, वह एक अलग ही कहानी है। कूर्बे का बाकुनिन से कोई सम्पर्क या निकटता नहीं बनी। लेकिन मज़दूर आन्दोलन के वैचारिक मतभेदों की गहराई में गए बग़ैर वह समाजवाद के लक्ष्य और फ़्रांस के मज़दूरों-किसानों

कूर्बे का चित्र 'प्रूधों और उसके बच्चे'; कूर्बे कभी प्रूधों को पोर्ट्रेट बनवाने के लिए बैठने को राज़ी नहीं कर सका, इसलिए उसने अपने मित्र की मृत्यु के बाद 1865 में यह चित्र बनाया

के प्रति निष्ठापूर्वक प्रतिबद्ध बना रहा।

1870 में प्रशा से पराजय के बाद नेपोलियन तृतीय की सत्ता भरभराकर ढह गई और फ्रांस में तृतीय गणतंत्र की स्थापना हुई। कूर्बे को गणतंत्र के कला आयोग का अध्यक्ष चुना गया। फरवरी, 1871 के नेशनल असेम्बली के चुनाव में भी कूर्बे ने हिस्सा लिया, लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। लेकिन वह कौंसिलर चुन लिया गया और इसी हैसियत से पेरिस कम्यून की स्थापना के बाद कूर्बे उसका सदस्य भी बना।

18 मार्च 1871 को पेरिस की मेहनतकश आबादी जब सड़कों पर उतर आई और 'नेशनल गार्ड्स' की अगुआई में सत्ता पर कब्जा करके थिएर सरकार को पेरिस से मार भगाया, तो कूर्बे को अपना पक्ष चुनने और भूमिका तय करने में कोई हिचक नहीं हुई। वह कलाकार से तत्क्षण एक श्रमिक योद्धा बन गया। 26 मार्च 1871 को कम्यून का निर्वाचन हुआ और 28 मार्च को नगर भवन के सामने आम सभा में उसकी घोषणा हुई। कूर्बे भी कम्यून का सदस्य चुना गया। इतिहास में पहली बार मज़दूर वर्ग की सत्ता क़ायम हुई, जो सिर्फ़ 72 दिनों तक चली लेकिन भविष्य की सर्वहारा क्रान्तियों के लिए इतने बहुमूल्य सबक दे गई कि एक अक्षुण्ण आलोक-स्तम्भ के रूप में वह आज भी महत्त्वपूर्ण बनी हुई है।

कूर्बे ने कम्यून की सभी कार्रवाइयों में और उसकी हिफ़ाज़त की लड़ाई में एक सच्चे, वीर कम्युनार्ड के समान हिस्सा लिया। कम्यून ने नेपोलियन प्रथम की विजय की स्मृति में स्थापित वान्दोम स्तम्भ को सैन्यवाद का प्रतीक मानकर गिराने का जो निर्णय लिया था, उसमें कूर्बे की अहम भूमिका थी। पेरिस के कलाकारों की जिस सभा में नेपोलियन की मूर्ति गिराकर उसकी जगह स्वतंत्रता की मूर्ति प्रतिष्ठापित करने का निर्णय लिया गया था, उसकी अध्यक्षता कूर्बे ने ही की थी। कार्ल मार्क्स ने अपनी टिप्पणियों में इस सभा का उल्लेख किया है (देखिए, *कार्ल मार्क्स, 'अख़बार से टिप्पणियाँ', साहित्य और कला : मार्क्स-एंगेल्स, प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1981, पृ. 195-196)*

कम्यून के पतन के बाद कूर्बे को गिरफ़्तार कर लिया गया। यूरोपव्यापी प्रसिद्धि के कारण उसके प्राण तो बच गए लेकिन उसे छह माह क़ैद और 500 फ्रैंक जुर्माने की सज़ा हुई। जेल में वह गम्भीर रूप से बीमार हो गया। इसी बीच उसका इकलौता बेटा भी चल बसा। मई 1873 में नई सरकार ने यह आदेश दिया कि वान्दोम स्तम्भ के पुनर्निर्माण का पूरा ख़र्च दण्ड के तौर पर कूर्बे को देना होगा। यह रक़म लगभग तीन लाख फ्रैंक बैठती थी, जो कूर्बे किसी भी सूरत में नहीं दे सकता था। नतीजतन उसे देश छोड़कर भागना पड़ा। उसने स्विट्रजरलैण्ड में, ला तूर द पेओ में शरण ली। यहाँ उसने कम्यून के निर्वासित समर्थकों से जीवनपर्यन्त सम्पर्क बनाए रखा। फ्रांस वापस लौटने की उम्मीद उसने अन्तिम सांस तक नहीं छोड़ी। वह बहुत अधिक शराब पीने लगा था, लेकिन चित्र बनाने का सिलसिला लगातार जारी रहा। ड्रॉप्सी रोग के संक्रमण से वर्ष 1877 के आख़िरी दिन उसकी मृत्यु हो गई।

कूर्बे के यथार्थवाद की सादृश्यता एक ओर यदि **बाल्ज़ाक, स्टेण्ढाल, फ्लॉबेयर, डिकेंस, थैकरे** आदि के आलोचनात्मक यथार्थवादी गद्य से स्थापित की जा सकती है तो दूसरी ओर **हाइनरिष हाइने** और **वेयेर्त** जैसे समाजवादी कवियों की पहली पीढ़ी की कविता की भौतिकता, ठोसपन, क्रान्तिकारी स्वच्छन्दता और सघन ऐन्द्रिकता से तथा **वाल्ट व्हिटमन** की ओजस्वी क्रान्तिकारी जनवादी काव्य-चेतना से भी समतुल्यता के कुछ बिन्दु देखे जा सकते हैं। कूर्बे की चित्रकला में यदि क्लासिसिज़्म और रोमैण्टिसिज़्म के निषेध और अतिक्रमण का एक पक्ष है तो दूसरा पक्ष इन धाराओं में निहित मानववादी, लौकिकतावादी प्रवृत्तियों और यथार्थवादी रुझानों से जुड़कर उन्हें आगे विस्तार देने का भी है।

प्रारम्भिक पुनर्जागरणकालीन चित्रकला में मानववाद और इहलोकवाद के जो मूल्य समाविष्ट हुए थे, उनकी तार्किक परिणति के तौर पर परवर्ती पुनर्जागरणकाल में यथार्थवादी पद्धति और शैली के तत्त्व प्रकट होने लगे थे। लेकिन चित्रकला में सांगोपांग रूप में यथार्थवादी पद्धतियाँ और शैलियाँ हमें अठारहवीं शताब्दी में, प्रबोधनकालीन विचारों के प्रभाव में देखने को मिलती हैं। वह दौर था जब कला के केन्द्र में जनवादी मूल्य

अपने को स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रहे थे। इस दौर में *"थर्ड एस्टेट"* के **शार्दें, ग्रेज़, हूदों** (फ़्रांस) और **होगार्थ** (ब्रिटेन) जैसे कलाकारों की कलाकृतियों में आम लोगों का दैनन्दिन जीवन और व्यक्तिगत चरित्रों की विशिष्टताओं के साथ ही सामाजिक लोकाचारों का व्यंग्यात्मक चित्रण ख़ूब देखने को मिलता है। फ़्रांसीसी कलाकार **डेविड** और **इंग्रे** के क्लासिसिस्ट पोर्ट्रेट्स में व्यक्ति के रूप में मनुष्य की सत्ता या अस्मिता में गहन अभिरुचि उद्घाटित होती है। यथार्थवादी पद्धति के उद्भव में **गोया** की सर्जनात्मक कृतियों का एक विशिष्ट स्थान है। गोया ने पर्यावरण की "सजीव कविता" की "खोज" की और सामाजिक अन्तरविरोधों के निर्मम विश्लेषण की नई पद्धतियाँ ईजाद कीं। गोया मुखर *अभियोगात्मक कला* ('एक्युज़ेटरी आर्ट') के प्रवर्तकों में से एक था।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी का लगभग एक तिहाई समय रोमैण्टिसिज़्म के विकास का कालखण्ड था जब पोर्ट्रेट्स, ज़ांर (genre) पेण्टिंग्स और लैण्डस्केप्स में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ तेज़ी से मज़बूत हुईं। फ़्रांस में **जेरिको** और **देलाक्रुआ** प्रकृति से और साथ ही, जीवन्त यथार्थ से, उसके तमाम खौलते-खदबदाते अन्तरविरोधों-तनावों से सीधे मुखातिब हुए। सच पूछें तो इन्हीं कलाकारों ने **दौमिए** की कला की पूर्वपीठिका तैयार की। दौमिए ने समकालीन जीवन की नाटकीय अभिलाक्षणिकताओं को एक विशिष्ट अर्थ-गाम्भीर्य के साथ अनावृत्त करने का काम किया। दौमिए वह कलाकार था जिसने रोमैण्टिसिज़्म की धारा की बुर्जुआ-विरोधी भावनाओं को सामाजिक अन्तरविरोधों के सुसंगत अध्ययन के उपकरण में रूपान्तरित कर देने की गम्भीर कोशिश की। **कोरो** और **बारबिज़न स्कूल** के **रूसो** और **दोबिन्यी** जैसे महारथी कलाकारों ने प्रकृति की सर्वाधिक निगूढ़ और विचक्षण स्थितियों और 'मोटिफों' को हृदयंगम किया तथा लैण्डस्केप-पेण्टिंग में यथार्थवादी शैली के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

यूँ तो उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के अन्य देशों में भी क्रान्तिकारी जनवादी अन्तर्वस्तु से युक्त यथार्थवादी शैलियों का विकास हुआ, लेकिन आलोचनात्मक यथार्थवाद के कला-सिद्धान्त सबसे मुखर रूप में फ़्रांस और रूस के कलाकारों की कृतियों में सामने आए। उपरोक्त, फ़्रांसीसी चित्रकारों के अतिरिक्त रूस में **किप्रेन्स्की** और **त्रोपिनिन** के पोर्ट्रेट्स में, किसानों के दैनन्दिन जीवन के विषयों पर केन्द्रित **वेनेत्सियानोव** के चित्रों में और **श्चेद्रिन** के लैण्डस्केप्स में यथार्थवादी प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः दीखती हैं। **ब्रिउलोक** के कृतित्व ने यथार्थवाद के सिद्धान्तों पर सचेतन आधृति की आधारशिला रखी। **इवानोव** ने प्रकृति के प्रत्यक्ष अध्ययन को सामान्य दार्शनिक सामान्यीकरणों के साथ संश्लेषित करके प्रस्तुत किया। **फ़ेदोतोव** को उन्नीसवीं शताब्दी के रूसी जनवादी यथार्थवाद का प्रवर्तक माना जाता है। कला में उनकी भूमिका कुछ वैसी ही थी जैसी दर्शन और साहित्य में **चेर्नीशेव्स्की** की।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, अलग-अलग यूरोपीय स्कूलों के चित्रों में यथार्थवाद परिपक्व रूप में तथा राष्ट्रीय और शैलीगत वैविध्य के साथ विकसित हुआ। यह दौर था जब सामाजिक यथार्थ के कलात्मक पुनर्सृजन, पर्यावरण और इसकी विविध परिघटनाओं के सूक्ष्म-सजग अध्ययन तथा दैनन्दिन जीवन के सौन्दर्यात्मक-कलात्मक मूल्यों पर अत्यधिक ज़ोर दिया गया। इस यथार्थवादी पद्धति की सामान्य अभिलाक्षणिकताएँ थीं—मुखर सामाजिक रुझान, सामाजिक परिघटनाओं का आलोचनात्मक अध्ययन, मानव-चरित्रों के सामाजिक अनुकूलन पर बल और यथार्थ का एक जीवन्त गतिमान परिघटना के रूप में अवबोधन।

कूर्बे वह कलाकार था जिसकी कलात्मक सर्जनात्मकता में उस समय तक विकसित यथार्थवाद की सभी प्रवृत्तियों-रुझानों को सर्वाधिक प्रातिनिधिक अभिव्यक्ति मिली। अपनी यथार्थवादी सौन्दर्य-दृष्टि और कला-शैली विकसित करते हुए कूर्बे ने क्लासिसिज़्म से मनुष्य की सत्ता और नायकत्व में गहरी आस्था को लिया और रोमैण्टिसिज़्म से उसने बुर्जुआ-विरोधी विद्रोह और यथास्थिति की निर्भीक आलोचना की चित्रभाषा अपनाई। लेकिन स्वत्व के स्थैतिक चरित्र और परिशुद्धता का जो 'कल्ट' क्लासिसिज़्म की खासियत थी, उसका निषेध करते हुए कूर्बे ने यथार्थ का 'ट्रीटमेण्ट' काल के अविरल प्रवाह के रूप में किया। इसी तरह रोमैण्टिसिज़्म की परम्परा में चीज़ों के आदर्शीकरण और अवास्तविक सौन्दर्यीकरण

(एस्थेटाइज़ेशन) की जो प्रवृत्ति थी, दैनन्दिन आम जीवन की स्थूलताओं-तुच्छताओं के प्रति उपेक्षा का जो भाव था, आत्मिक जीवन का अन्वेषण करते हुए अतिरिक्त अन्तर्मुखता तक चले जाने की जो प्रवृत्ति थी और वर्तमान से विद्रोह करते हुए अतीत को 'ग्लोरिफ़ाई' करने का जो विचलन था, उसका कूर्बे ने निषेध किया।

यथार्थवाद की सैद्धान्तिकी को सचेतन तौर पर विकसित करने वाला कूर्बे पहला कलाकार था। वह एक सिद्धान्तकार-कलाकार था। और ऐसा हो पाने में उसकी अपूर्व सफलता का बुनियादी कारण यह था कि अपनी कला और विचारों को लेकर वह कभी भी स्टुडियो की चौहद्दी में क़ैद नहीं रहा। हमेशा वह संघर्षों के बीच रहा। कूर्बे कलाकारों-साहित्यकारों की उस पहली पीढ़ी का सदस्य था जिन्होंने सर्वहारा वर्ग, मेहनतकश जनगण और समाजवाद के प्रति खुली प्रतिबद्धता की घोषणा की। यही कारण है कि कूर्बे अपने कई चित्रों में आलोचनात्मक यथार्थवाद की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ और समाजवादी यथार्थवाद की दहलीज पर खड़ा हुआ प्रतीत होता है।

श्रम, श्रमिक और श्रम-प्रक्रिया में कूर्बे की विशेष दिलचस्पी ख़ास तौर से उल्लेखनीय है। श्रम को कूर्बे एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखता है जो एक ओर तो इन्सान को निस्तेज-निढाल कर देती है, लेकिन दूसरी ओर उसके उदात्तीकरण तथा मुक्ति के आधारभूत कारक तत्त्व की भूमिका भी निभाती है। इसी दृष्टिकोण के चलते कूर्बे ऐसे बिम्बों के सृजन में सफल रहा जो ओजपूर्ण, प्रातिनिधिक और वास्तुशिल्पीय ढंग से अभिव्यजंनाशील थे। इस सन्दर्भ में उसके 'पत्थर तोड़ने वाले' (1849) और 'ओसानी करने वाले' (The Winnowers, 1854) जैसे चित्र विशेष तौर पर द्रष्टव्य हैं।

कूर्बे ने ग्रामीण स्त्रियों का चित्रण निहायत वस्तुपरक, यथार्थवादी ढंग से किया। अपने बहुतेरे चित्रों में कूर्बे ने निर्वसनाओं को यथार्थवादी ढंग से चित्रित लैण्डस्केप में साहसिक ढंग से अवस्थित करके प्रस्तुत किया। कूर्बे की निर्वसनाओं के चित्रों में कुछ-कुछ वैसी ही ऐन्द्रिकता (सेन्सुअसनेस) है, जैसी फ़्रेडरिक एंगेल्स ने प्रारम्भिक सर्वहारा समाजवादी कवि वेयेर्त की कविताओं में पाई थी और जिसकी उन्होंने विशेष प्रशंसा की थी। कूर्बे की सुन्दर स्त्रियाँ भी अलौकिक नहीं हैं। वे अपनी नैसर्गिक निर्वसनता में आम स्त्रियाँ हैं, हमारे परिवेश और जीवन के आसपास की। कूर्बे के ऐसे चित्रों में पुनर्जागरणकालीन मानववाद और इहलोकवाद

'दि स्टोनब्रेकर्स', 1849

को भौतिकवादी दृष्टि से युक्त एक नई ऊँचाई मिलती प्रतीत होती है।

कूर्बे सौन्दर्य के आदर्शीकरण का घनघोर विरोधी था। नवक्लासिकी कला के आदर्शीकृत बिम्बों को खारिज करते हुए वह एकदम वास्तविक आम लोगों को चित्रित करता था और कभी-कभी तो कुरूपप्राय शरीरों को भी वास्तुशिल्पीय ठोसपन के साथ चित्रित करता था जैसाकि उसके चित्र 'नहाने वाले' (The Bathers, 1853) में देखा जा सकता है। लगभग विकर्षित करने वाली कुरूपता के प्रति कूर्बे के इस लगाव की तत्कालीन कला-आलोचकों ने ख़ूब आलोचना की। पर कूर्बे अविचल रहा। जीवन के कटु यथार्थ की यह कुरूपता बुर्जुआ कलावन्तों की निगाह में कूर्बे का 'ट्रेडमार्क' बन गई और वे इस तथ्य को या तो देख नहीं पाए या नज़रअन्दाज़ करते रहे कि आम जीवन के सहजता के सौन्दर्य, मानवीय ओज-औदात्य और श्रम की गरिमा के साथ ही सागर और धरती के जितने 'मूड्स' और रंग कूर्बे ने चित्रित किए हैं, वे अपने आप में बेमिसाल हैं।

विषयों की समकालीनता के अतिरिक्त कूर्बे की प्रस्तुति का तरीक़ा भी अपने आप में क्रान्तिकारी था। कूर्बे से पहले सैलों की आम रीति यह थी कि बड़े कैनवस पर सिर्फ़ धार्मिक-मिथकीय-ऐतिहासिक चित्र ही प्रस्तुत किए जाते थे। पहली बार कूर्बे ने बड़े कैनवस पर किसानों और आम लोगों के जीवन को उपस्थित किया जिससे उन शहरी दर्शकों को एकदम झटका, या यहाँ तक कि सदमा लग जाता था जो चित्रों में किसी क़िस्म की प्रतीकात्मक अन्तर्वस्तु की निरर्थक तलाश करते रहते थे। कूर्बे ने अपने एक प्रसिद्ध चित्र 'मेले से लौटते फ्लेगी के किसान' *(Peasants of Flagey Returning from the Fair*, 1850-55) में सर्वाधिक प्रत्यक्ष ढंग से किसान-बुर्जुआ चरित्रों के विषम सामाजिक परिवेश को उपस्थित किया, लेकिन आलोचकों ने इसे भी मुख्यतः "कुरूप" रूपाकारों और विसंगत 'कम्पोज़ीशन' के लिए आलोचना का निशाना बनाया।

अपनी यथार्थवादी शैली के बारे में कूर्बे ने एक जगह लिखा है : *"मेरा मानना है... कि चित्रकला सार रूप में एक* **ठोस** *कला है और इसमें केवल* **वास्तविक और विद्यमान** *चीज़ों की ही प्रस्तुति हो सकती है। यह एक सम्पूर्णतः भौतिक भाषा है, जिसके शब्द सभी दृश्य वस्तुओं से संघटित हुए हैं, कोई वस्तु जो अमूर्त है, दृश्य नहीं है, अनस्तित्वमान है, वह चित्रकला के दायरे में नहीं आती।"* ऐसा नहीं कि कूर्बे के चित्रों में अमूर्त विचारों-भावों-स्वप्नों का चित्रण नहीं है, लेकिन, पहली बात तो यह कि वे विचार-भाव और स्वप्न ठोस-सजीव जीवन-चित्रों के माध्यम से, उनके संश्लिष्ट जैविक अंग के रूप में अपने को अभिव्यक्त करते हैं, और दूसरी बात यह कि, व्यापक आम जन-जीवन से प्रादुर्भूत होने के चलते वे एकदम भौतिक रूप से ठोस प्रतीत होते हैं। कूर्बे स्पष्ट शब्दों में कहा करता था कि **ऐतिहासिक और काल्पनिक दृश्यों का चित्रण कलाकार का काम नहीं है, उसे वह प्रस्तुत करना चाहिए जिसे वह जानता है—यानी अपने समय की दुनिया को।** उसका कहना था कि **पुराने महान कलाकारों की कला से सीखना चाहिए, न कि उनकी नक़ल करनी चाहिए।** जीवन के सजीव यथार्थ के कलात्मक पुनर्सृजन के इसी अनम्य आग्रह के चलते, कूर्बे दोस्तों के आग्रह पर 1862 में जब कुछ दिनों के लिए स्टूडियो चला रहा था, तब वह अपने शिष्यों से कहा करता था कि महज़ 'लाइफ़ क्लासेज़' में 'न्यूड' पेण्ट करने से कोई वास्तविक कलाकार नहीं बन सकता।

सामाजिक विषयों की आलोचनात्मक परिशुद्धता के साथ प्रस्तुति कूर्बे के युग के क्रान्तिकारी जनवादी आदर्शों के प्रति कलात्मक प्रतिबद्धता का ही मूर्त रूप थी। कला की सामाजिक महत्ता और एक सच्चे कलाकार की गरिमा के बारे में जनवादी आदर्शों की एक प्रातिनिधिक प्रस्तुति हमें कूर्बे के एक चित्र 'स्वागत है, जनाब कूर्बे' *(Bonjour, Monsieur Courbet*, 1854) में देखने को मिलती है जिसमें एक आत्मसम्मानी, गरिमावान कलाकार के रूप में स्वयं कूर्बे अपने कला-संरक्षक ब्रुयास के सामने खड़ा है।

कूर्बे की प्रसिद्धतम और भव्यतम कलाकृति 'कलाकार का स्टूडियो' *'The Artists Studi0'*(1855) को हम आधुनिक चित्रकला के विश्व इतिहास की चुनी हुई कृतियों में निस्संकोच शामिल कर सकते हैं। यह एक अन्योक्तिपरक, लाक्षणिक या रूपकात्मक कम्पोज़ीशन है जिसमें कूर्बे ने अपने स्टूडियो में स्वयं को अपने मित्रों और अपने द्वारा सृजित चरित्रों से घिरा हुआ चित्रित किया है। मित्र सृजित चरित्र-सदृश हो गए हैं और

सृजित चरित्र मित्र जैसे। फ्रेम में स्टूडियो में प्रकृति प्रविष्ट हो गई है अपनी पशुवत साधारणता के साथ। कैनवस के जिस क्षितिज पर टिकी हैं कलाकार की निगाहें, उसके पहलू में शिशु औत्सुक्य की उपस्थिति है। निर्वसन मॉडल मौजूद है, पर कलाकार के पीछे चली गई है। कपड़े उसने पहने नहीं हैं, पर हाथ में उठा लिये हैं। वह भी कलाकार के नये अन्वेषण को, नये 'विज़न' को पकड़ने की कोशिश कर रही है। जीवन के वास्तविक मॉडल सामने हैं, बैठे हुए, लेकिन अभी वे नीम अँधेरे-नीम उजाले में हैं। यह पूरी कृति अपने आप में कूर्बे की सामाजिक प्रतिबद्धता और सौन्दर्यात्मक-कलात्मक दृष्टि का घोषणापत्र है और साथ ही अभिव्यक्ति की खोज की चिन्ता और द्वन्द्वों की एक मुखर अभिव्यक्ति भी।

पाँचवें दशक और छठे दशक के शुरुआती वर्षों के दौरान कूर्बे के चित्रों में सघन-प्रगाढ़-संयत-अनलंकृत रंग पट्टिका (Palette) एक विशिष्टता के रूप में नज़र आती है। फिर क्रमशः वह इस शैली से दूरी लेता दीखता है और धीरे-धीरे स्थानिक रंगों के बजाय रंग-संगतियाँ और उनके अनुपातन उसकी चित्र-भाषा के प्रमुख तत्त्व के रूप में उभरकर सामने आते हैं। *'प्लीन एयर पेण्टिंग'* (Plein air painting) के प्रभाव में कूर्बे ने अपनी रंग पट्टिका को हल्का और चटख बनाने और समृद्ध करने की शुरुआत की। छठे दशक के उत्तरार्द्ध से, उसके चित्रों में एक विशेष तरह की रंग-दीप्ति प्रोद्भासित होती दीखने लगती है। साथ ही, 'ब्रश-वर्क' के 'टेक्सचर' पर भी विशेष ज़ोर दीखता है। कूर्बे के जिन लैण्डस्केप और 'स्टिल लाइफ़' चित्रों में रंग संघटन के एक महत्त्वपूर्ण अवयव की भूमिका निभाते हैं, उनमें एक विशिष्ट प्रकार की, विश्वसनीय स्पर्शगोचरता और ठोसपन दीखता है। ऐसे चित्रों में, उदाहरण के तौर पर *Winter Landscape*, (1867) *Mountain Hut* (1874) और *Fruits* जैसे चित्र उल्लेखनीय हैं। कूर्बे के सागर-दृश्यों (*sea scapes*) का अपना एक अलग ही मिज़ाज है। इनमें स्पर्शगोचरता के साथ ही स्वप्न-दृश्यों की स्वप्निलता भी है और सागर विशेष रंग-बिम्बों और रंग-संगतियों के द्वारा तत्कालीन फ्रांस के राष्ट्रीय जीवन के रूपक के रूप में भी नज़र आता है—कहीं तूफ़ान के पहले का दृश्य, तो कभी तूफ़ान के बाद का तो कभी धीर-गम्भीर-गहन सागर के सतत आन्तरिक उद्वेलन के वक्ष पर तिरते जीवन का। कूर्बे के उत्तरवर्ती दौर के चित्रों में *The Kill* (1867) महत्त्वपूर्ण है जिसमें बर्फ़ और आकाश की प्रदीप्त पृष्ठभूमि में शिकारी के उठे हुए हाथ और मृत्यु की वेदना में छटपटाते हिरण को केन्द्र में रखकर शिकार-दृश्य का जुगुप्सापूर्ण नाटक उपस्थित किया गया है। इस चित्र में भी लाक्षणिक ढंग से तत्कालीन सामाजिक परिदृश्य का कोई बिम्ब ढूँढ़ा जा सकता है। इस दौर में कूर्बे फिर 'न्यूड' चित्रित करने की ओर लौटता है। कुछ अधिक साहसिक मुद्राओं में और सघन ऐन्द्रिकता के साथ वह इस बार निर्वसन स्त्री-सौन्दर्य के यथार्थ को प्रस्तुत करता दीखता है। उनमें प्रकृति की नैसर्गिकता का विस्तार है, नैसर्गिकता का आग्रह है, भौतिकता की अभिव्यक्ति है और अनावृत्त सत्य के साक्षात्कार की ऊर्जस्वी आकांक्षा है।

कूर्बे के कठोरतम आलोचक भी उसकी तकनीकी दक्षता को, ख़ासकर जीवन और प्रकृति के उपादानों के फलकों की समृद्धि और सूक्ष्मता की उसकी पकड़ को निर्विवाद रूप से स्वीकार करते थे। कूर्बे त्वरित गति और असामान्य सधे हाथों से रेखांकन और रंग भरने का काम करता था। उल्लेखनीय है कि कूर्बे ने ही करनी (trowel) के शक्ल की 'पैलेटनाइफ' (Palette Knife) जिसे (english knife) कहा जाता था। यह लम्बा और लचीला होता था जिससे स्पर्श में अद्भुत नज़ाकत ला पाना मुमकिन हो जाता था। कूर्बे भौतिकता और ठोसपन पर ज़ोर देने के लिए अपरिष्कृत रंगों का इस्तेमाल करता था, उनमें भी बालू मिला देता था और कैनवस पर उनकी मोटी परत चढ़ाता था। नतीजतन, आम तौर पर सैलों में प्रदर्शित नाज़ुक, चिकने-चमकदार, अतिपरिष्कृत चित्रों के सामने उसके चित्र एक नाटकीय 'कण्ट्रास्ट' प्रस्तुत करते प्रतीत होते थे। अपने लैण्डस्केपों में भी लोकप्रिय शैली का विरोध करते हुए कूर्बे प्रायः रूखा-"भोथरा", स्वप्नदर्शी, अचित्रोपम 'अप्रोच' अपनाता था। प्राकृतिक वस्तुओं-विशिष्टताओं के सुव्यवस्थित संयोजन के बजाय, कूर्बे कैनवस की सतह पर एक एकल, शक्तिशाली बिम्ब उपस्थित करता था।

कूर्बे की यथार्थवादी परम्परा के कुछ पक्षों की निरन्तरता हमें **माने** (Manet) के सामयिक-प्रासंगिक

विषयों पर केन्द्रित कम्पोज़ीशनों में दिखाई देती है। आगे चलकर, आधुनिक शहरों के दैनन्दिन जीवन के कलात्मक मूल्यों पर बल देने वाले तथा प्रकृति का यथार्थवादी चित्रण करने वाले मोने, रेनुआ, देगा, पिसारो और सिसले आदि इम्प्रेशनिस्ट उस्तादों के चित्रों में भी हमें यथार्थवादी धारा का विकास दीखता है। पर इन सभी में कूर्बे जैसी परम्पराभंजक प्रयोगधर्मिता, बहुआयामिता, प्रखर जनपरकता और सचेतन वैचारिकता नज़र नहीं आती।

क्रान्तिकारी जनवादी विचारों और आलोचनात्मक यथार्थवादी सौन्दर्य-दृष्टि और पद्धति की दृष्टि से (शैलियों की राष्ट्रीय विशिष्टतामूलक भिन्नताओं के बावजूद), रूस में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के **रेपिन, पेरोव, क्रामोस्कोइ, सुरिकोव, शिश्किन** और **लेवितान** आदि चित्रकारों ने और फिर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में **सेरोव, कोरोविन, इवानोव, कासात्किन** आदि ने कूर्बे की परम्परा को आगे विस्तार दिया। अक्टूबर क्रान्ति के बाद रूस में और यूरोप में चित्रकला में समाजवादी और जनवादी परम्परा के नये उभार ने यथार्थवादी धारा को नई ऊँचाइयाँ दीं। इस नये क्रान्तिकारी यथार्थवाद का पुरखा भी, निस्सन्देह कूर्बे ही था।

आज जब चित्रकला की यथार्थवादी परम्परा की कला-इतिहास और सैद्धान्तिकी के बुर्जुआ हलकों में चर्चा होती है तो प्रायः कूर्बे का नाम या तो चलताऊ ढंग से लिया जाता है या फिर उसके वैचारिक पक्षों और प्रतिबद्धता की अनदेखी की जाती है। उसके कृतित्व के कुछ प्रखर-प्रदीप्त पक्ष आज भी बुर्जुआ कलावन्तों की आँखों में चुभते हैं, उनके सुकोमल सौन्दर्य-बोध को घायल करते हैं। कूर्बे अपने समय में भी ऐसे लोगों को सदमा और झटका देता था और आज भी देता है। और सबसे बड़ी बात यह कि ब्रश थामने वाले हाथों में बन्दूक थामकर सर्वहारा सत्ता के पक्ष में बैरिकेड्स के पीछे जा डटने वाले तथा जेल और निर्वासन से भी न टूटने वाले कलाकार को भला वे कलावन्त लोग कैसे स्वीकार कर सकते हैं जो कला के "बाज़ार" में महज़ कोठे के दलालों की भूमिका निभाते हैं?

रंगीन चित्र परिचय : **1. क्लिफ़्स एट एत्रताात आफ्टर दि स्टॉर्म 2. स्टॉर्मी सी 3. दि विनोअर्स 4. पीज़ेंट्स ऑफ़ फ़्लेगी रिटर्निंग फ़्रॉम फ़ेयर 5. बेरिएल एट ओर्नांस 6. दि स्टूडियो**

सृजन परिप्रेक्ष्य ग्रीष्म-पावस 2002 अंक की कुछ महत्वपूर्ण सामग्री

■ भूमण्डलीकरण की अर्थनीति, राजनीति और संस्कृति (साम्प्रतिक परिवर्तनों और अन्तरविरोधी प्रभावों का एक अध्ययन) ■ परवर्ती मध्ययुगीन भारत की सामाजिक-आर्थिक गतिकी और भक्ति आन्दोलन ■ साम्प्रदायिक फ़ासीवाद के विरोध में सामाजिक-जनवाद ■ हिन्दी में दलित लेखन : कुछ प्रश्न और कुछ विचार ■ एपिक थिएटर क्या है?—वाल्टर बेंजामिन ■ सर्वहारा आन्दोलन और कैथी कोलवित्स की कला ■ हिन्दी उपन्यास के अन्त, मुक्ति और पुनर्जन्म पर कुछ विचार ■ न्गूगी का भाषा-चिन्तन ■ शब्द और बिम्ब—सेर्गेई आइज़ेंस्ताइन ■ संगीत की द्वन्द्वात्मकता ■ अपने-अपने भगतसिंह ■ जन्मशती वर्ष के अवसर पर नाज़िम हिकमत की कविताएँ ■ समसामयिक विषयों पर टिप्पणियाँ

और अन्य महत्वपूर्ण सामग्री

कृति-प्रसंग

हमारे समय का यथार्थ और जगदीशचन्द्र के उपन्यास

मीनाक्षी

हिन्दी आलोचना के फ़तवेबाज़ों से बिना मुँह लगे हुए, **जगदीशचन्द्र** अपनी रचनात्मकता से जीवनपर्यन्त उन्हें थोथा और खोखला साबित करते रहे। उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपन्यास-त्रयी की दूसरी कड़ी (**'नरककुण्ड में बास'**) जब प्रकाशित हुई (1994 में) तो हिन्दी जगत 'उपन्यास का अन्त' और 'उपन्यास की मुक्ति' जैसे नारों के शोर से सरगर्म था। और अब उसकी तीसरी और अन्तिम कड़ी (**'ज़मीन अपनी तो थी'**) 2001 में छपकर आई है जब हिन्दी उपन्यासों की दुनिया में, यथार्थ को जादू में तब्दील कर देने और जादू में यथार्थ की खोज के हैरतअंगेज़, सनसनीख़ेज़ कारनामों को अंजाम दिया जा रहा है।

जगदीशचन्द्र आज हमारे बीच नहीं हैं। यह दुखद है कि उनका आख़िरी उपन्यास उनकी मृत्यु (अप्रैल, 1996) के पाँच वर्ष बाद प्रकाशित हो सका जबकि वे इसका पहला ड्राफ़्ट 1995 में ही पूरा कर चुके थे। और यह भी हिन्दी आलोचना के समकालीन रीति-रिवाज़ों के मुताबिक ही हो रहा है कि तमाम प्रायोजित चर्चाओं के बीच इस अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कृति पर जैसे किसी का ध्यान ही नहीं हैं। बहरहाल, जो रचनात्मकता साहित्य के विकास में, वास्तव में मील का पत्थर होती है, वह प्रायोजित चर्चाओं की मोहताज नहीं होती।

वैसे तो जगदीशचन्द्र हिन्दी के एक ऐसे उपन्यासकार हैं, जिनकी तीस वर्ष लम्बी पूरी रचना-यात्रा का सम्यक् विश्लेषण-मूल्यांकन बेहद ज़रूरी है, लेकिन यहाँ हम अपने को उनकी प्रसिद्धतम उपन्यास-त्रयी के तीन उपन्यासों—**'धरती धन न अपना'**, **'नरककुण्ड में बास'** और **'ज़मीन अपनी तो थी'** पर ही केन्द्रित करेंगे। लेकिन इस चर्चा से पहले एक और

महत्त्वपूर्ण उपन्यास **'कभी न छोड़ें खेत'** पर थोड़ी बातचीत ज़रूरी है।

'धरती धन न अपना' के प्रकाशन (1972) के बाद जगदीशचन्द्र ने जिस उपन्यास पर काम किया, वह था 'कभी न छोड़ें खेत।' 'धरती धन न अपना' की कहानी चमारड़ी में रहने वाले दलित भूमिहीनों के जीवन पर केन्द्रित रहते हुए पंजाब के गाँवों की तस्वीर प्रस्तुत करती है, जबकि 'कभी न छोड़ें खेत' (1976) पंजाब के जट्ट किसानों के जीवन पर केन्द्रित है। दोनों की पृष्ठभूमि में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद का गाँव है। स्वाधीनता की लहर से अछूते पंजाब के गाँव कूपमण्डूकता, अविश्वास, अज्ञान, अशिक्षा, निरंकुशता, निर्ममता और शोषण के दलदली रसातल में ऊँघ रहे थे। 'कभी न छोड़ें खेत' के जट्ट किसान इन अन्धकारमय स्थितियों में शोषण और दारुण यातनाओं के शिकार होते हुए भी जीवन के प्रति चीमड़ लगाव और अदम्य जिजीविषा से भरपूर दीखते हैं। ज़रा सी बात में सिर-फुटौवल और क़त्ल, लम्बी मुकदमेबाज़ियाँ, कोर्ट-कचहरी की भाग दौड़, पुलिस-साहूकारों और बिचौलियों की भूमिका और परम्परा के प्रति विद्रोह की भावना तथा अदम्य आत्मविश्वास से भरी जसवन्त कौर जैसी निम्न मध्यम किसान स्त्री। **प्रेमचन्द** के **'गोदान'** के बाद यदि किसी उपन्यास में भारतीय किसानी जीवन इतनी सूक्ष्मता, विस्तार और आधिकारिकता के साथ उपस्थित हुआ है तो निस्सन्देह वह है—'कभी न छोड़ें खेत।' फ़र्क़ यह है कि प्रेमचन्द का गाँव ग़ुलाम भारत का पुरबिया गाँव है जहाँ ज़मीन्दारी-प्रथा लागू थी जबकि जगदीशचन्द्र का गाँव आज़ादी के ठीक बाद के पंजाब का गाँव है जहाँ जागीरदारी प्रथा लागू थी और ऊपर के धनी चौधरियों को छोड़कर मध्यम तबके तक के किसानों पर साहूकारों-बिचौलियों की जकड़बन्दी नागपाश के समान कसी हुई थी। 'कभी न छोड़ें खेत' पढ़ते हुए बार-बार **बाल्ज़ाक** के **'किसान'** उपन्यास की याद आती है। साथ ही, जट्ट किसानों के जीवन की तस्वीर **तोल्स्तोय** और **शोलोख़ोव** द्वारा चित्रित कज़्ज़ाकों के जीवन की बहुत अधिक याद दिलाती है।

'कभी न छोड़ें खेत' टूटते हुए अर्द्धसामन्ती समाज के किसानी जीवन के बिखरते ताने-बाने की त्रासद गाथा है तो 'धरती धन न अपना', 'नरककुण्ड में बास' और 'ज़मीन अपनी तो थी' की उपन्यास-त्रयी स्वातंत्र्योत्तर भारत के प्रारम्भिक पच्चीस वर्षों की पृष्ठभूमि में दलित जीवन की असह्य घुटन, अपमान और यातना का महाकाव्य प्रस्तुत करती है। भारतीय जीवन के कुरूपतम-बर्बरतम यथार्थ को इस उपन्यास-त्रयी में जगदीशचन्द्र ने बिना किसी अतिरिक्त भावावेश के, बिना नक़ली विद्रोह और काल्पनिक समाधान के, नितान्त वस्तुपरक ढंग से प्रस्तुत किया है। दलित जीवन के निर्मम-कठोर यथार्थ का कलात्मक पुनर्सृजन करते हुए जगदीशचन्द्र ने नायक काली द्वारा यथास्थिति के अस्वीकार को आरोपित ढंग से राजनीतिक विद्रोह का रंग देने, चेतना के तीव्र क्रान्तिकारीकरण की कृत्रिम-यांत्रिक प्रक्रिया प्रस्तुत करने या चटख आशावाद के बनावटी रंग भरने की कोई कोशिश नहीं की है। उपन्यास की जनपरक प्रयोजनमूलकता कथा-विन्यास की आभासी सतह पर मौजूद नहीं है, बल्कि उसकी संरचना में समाई हुई है। लेखक समाधान प्रस्तुत करने का रास्ता नहीं अपनाता, बल्कि सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक संरचना के स्वरूप, आन्तरिक गति और दिशा को नितान्त रचनात्मक ढंग से उद्घाटित करता चलता है। यह उपन्यास-त्रयी प्रश्नचिह्नों से प्रश्नचिह्नों तक की एक सुदीर्घ यात्रा है—पाठक की आँख में उँगली डालकर भारतीय जीवन की सर्वाधिक अमानवीय और जटिल सच्चाई को देखने के लिए विवश करती हुई। यह जिन सवालों से शुरू होती है, वे आधे-अधूरे ही हल हो पाते हैं। फिर नये सवाल उठते हैं और वे भी या तो आधे-अधूरे हल होते हैं या फिर कोने में धकेल दिए जाते हैं। यही सिलसिला जारी रहता है और तीसरा उपन्यास जब समाप्त होता है तो पाठक के सामने कई सवाल फिर भी खड़े रह जाते हैं। इसी यात्रा की पड़ताल और इन्हीं प्रश्नों के समाधान की प्रक्रिया में दलित-प्रश्न को हल करने की आगे की कोई दिशा फूटती है। साहित्यिक कृतियों की सोद्देश्यता या प्रयोजनमुखता को स्वीकारते हुए **फ़्रेडरिक एंगेल्स** ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि *"प्रयोजन को स्वयं परिस्थिति या कार्यकलाप में अपने को व्यक्त करना चाहिए, विशेष रूप से लक्षित किए बिना, और लेखक अपने द्वारा वर्णित सामाजिक टकरावों का भावी ऐतिहासिक समाधान पाठक के सामने तैयारशुदा रूप में प्रस्तुत करने के लिए कर्तव्यबद्ध नहीं है।"* आशावाद कोई निरपेक्ष-शाश्वत चीज़ नहीं होती। मिथ्या आशावाद को तोड़ने

से यदि निराशा और निरुपायता भी पैदा होती है तो वह सकारात्मक है क्योंकि वास्तविकता को स्वीकारना राह निकालने की पहली शर्त होती है। एंगेल्स के शब्दों में, *"समाजवादी प्रयोजनमूलक उपन्यास उस समय अपने ध्येय की पूर्णतया पूर्ति करता है जब वह वास्तविक सम्बन्धों का सच्चा चित्रण कर इन सम्बन्धों के स्वरूप के बारे में हावी रहने वाले प्रचलित भ्रमों को मिटा देता है, बुर्जुआ दुनिया के आशावाद को झकझोर देता है तथा अस्तित्वमान के आधार की शाश्वतता के बारे में शंका का समावेश करता है, भले ही उसने कभी-कभी कोई पक्ष तक न लिया हो।"* (एंगेल्स : मिन्ना काउत्स्की को पत्र, 26 नवम्बर, 1885)। जगदीशचन्द्र अपने उपन्यासों में प्रयोजनमूलकता को घटनाओं-चरित्रों के ट्रीटमेण्ट के ज़रिए प्रकट करते हैं और समाधानवादी स्थूलता से हर हाल में बचते हैं। मिथ्या आशावाद के मायालोक से अलग यथार्थ की ठोस ज़मीन पर खड़े रहकर वे सामाजिक स्थितियों में अन्तर्व्याप्त मानवद्रोही प्रवृत्तियों को अनावृत्त करते हैं और साथ ही समाज-विकास की गतिकी को घटना-विन्यास के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। उनके यथार्थवाद के यही दो बुनियादी संघटक अवयव हैं और इनके संश्लेषण में जो असामान्य दक्षता उन्होंने दिखलाई है उसी के चलते, एक मार्क्सवादी न होते हुए भी, हमारे समय के सारभूत यथार्थ को उसकी वैविध्यपूर्ण प्रतीतियों सहित पकड़ने और प्रस्तुत करने में जगदीशचन्द्र की सफलता निस्सन्देह अद्वितीय है। यदि *'यथार्थवाद का अर्थ तफ़सील की सच्चाई का, आम परिस्थितियों में आम चरित्रों का सच्चाई भरा पुनर्सृजन है",* जैसाकि फ़्रेडरिक एंगेल्स ने बताया है (मार्गरेट हार्कनेस को पत्र, अप्रैल 1888); तो जगदीशचन्द्र को मात्र उनके चार उपन्यासों ('धरती धन न अपना', 'कभी न छोड़ें खेत', 'नरककुण्ड में बास' और 'ज़मीन अपनी तो थी') के आधार पर, विगत आधी सदी के महानतम यथार्थवादी भारतीय उपन्यासकारों में निस्संकोच शामिल किया जा सकता है।

बाल्ज़ाक विचारों से राजतंत्रवादी थे, लेकिन अपनी कृतियों में उन्होंने अपनी व्यक्तिगत निष्ठाओं से ऊपर उठकर, बुर्जुआ समाज की अमानवीयताओं के साथ-साथ सामन्ती पतनशीलता पर भी मारक चोट की और सामन्तवाद से पूँजीवाद में संक्रमण कर रहे समाज की तमाम तफ़सीलों को नितान्त वस्तुपरक ढंग से प्रस्तुत किया जिसे फ़्रेडरिक एंगेल्स ने *"यथार्थवाद की विजय"* की संज्ञा दी। यथार्थवाद की यही विजय प्रेमचन्द के कृतित्व में, विशेषकर उनकी परवर्ती रचनाओं में मूर्त रूप लेती दीखती है जब अपनी गांधीवादी निष्ठाओं का अतिक्रमण करते हुए वे अपने पात्रों के मुंह से या स्थिति-चित्रण के द्वारा सामन्त वर्ग के प्रति कांग्रेस की समझौतापरस्ती को, उसकी बुर्जुआ पक्षधरता और मज़दूर-विरोध को तथा "हरिजन-उद्धार" की यूटोपिया और निष्फलता को अनावृत्त करने लगते हैं। प्रेमचन्द के सन्दर्भ में "यथार्थवाद की विजय" और आगे, वहाँ तक जाती है कि वे जीवन के अन्तिम वर्षों में, सचेतन तौर पर आमूलगामी से आमूलगामी सुधारवाद की सीमाओं को पहचानने लगते हैं। मध्य जाति के और मध्य किसान वर्ग के काश्तकारों के सामन्ती उत्पीड़न और दलित भूमिहीनों की त्रासद-बर्बर जीवन स्थितियों को वे **'गोदान'** में प्रस्तुत करते हैं। **'ठाकुर का कुआँ'** और **'सद्गति'** जैसी कहानियों में वे सवर्ण सामन्ती समाज की बर्बर अमानवीयता का ऐतिहासिक कलात्मक दस्तावेज़ प्रस्तुत करते हैं। "यथार्थ की विजय" की यही परिघटना हमें फिर जगदीशचन्द्र के उपन्यास 'धरती धन न अपना' में निरूपित होती दीखती है। जगदीशचन्द्र विचारों से मार्क्सवादी नहीं थे, पर जीवन-यथार्थ की पड़ताल करते हुए वे तथ्यों की वस्तुपरकता, सूक्ष्म ब्योरों और तफ़सीलों के प्रति उत्कट आग्रही और सजग अध्येता के रूप में सामने आते हैं। बचपन और किशोरावस्था में अपने ननिहाल में अछूतों का जो जीवन और परिवेश उन्होंने देखा था, उससे पैदा हुई उद्विग्नता उनके मन-मस्तिष्क में बरसों बनी रही। आगे चलकर, शायद अर्थशास्त्र की औपचारिक शिक्षा और जीवनानुभवों ने उन्हें वह समझ और क्षमता दी कि नितान्त वस्तुपरकता, आधिकारिकता और तफ़सीलों के साथ दलित जीवन के यथार्थ की कलात्मक इन्दराज़ी में उन्होंने अद्वितीय सफलता अर्जित की। बचपन की स्मृतियों के बारे में जगदीशचन्द्र ने स्वयं लिखा है, *"..*

.गाँव में चल रहे इस भेदभाव को देखकर मेरे किशोर मन में विद्रोह की ज्वालाएँ भड़क उठीं।... मैं हर साल यही देखता कि गाँव में मर्यादाओं की सीमाएँ टूटनी तो दूर रहीं, उनकी जकड़न दिनों-दिन सख़्त होती जा रही है... मैं यह सब देखकर बहुत उद्विग्न होता था कि आर्थिक अभावों की चक्की में युग-युगान्त से पिस रहे हरिजन अब भी मध्यकालीन यातनाओं को भोग रहे हैं। इन्हीं बातों को देखकर मेरे किशोर मन की वेदना सहसा अपने सभी बाँध तोड़कर फूट निकली और मैंने उपेक्षित हरिजनों के जीवन का चित्रण करने का संकल्प कर लिया।"

"धरती धन न अपना' की शुरुआत नायक काली के गाँव लौटने से होती है। गाँव है पंजाब के दोआबे के होशियारपुर ज़िले का घोड़ेवाहा गाँव। पिता और चाचा की मृत्यु के बाद, भुखमरी की स्थिति में काली छह वर्ष पहले गाँव छोड़कर कानपुर चला गया था और एक कारख़ाने में मज़दूरी करने लगा था। इस नाते उसकी चेतना, हालाँकि वह वर्ग-सचेत सर्वहारा की चेतना नहीं है, लेकिन गाँव के दलित भूमिहीन मज़दूरों से उन्नत है। उसकी इसी चेतना को माध्यम बनाकर लेखक ने गाँव के दलितों के जीवन के निर्मम यथार्थ से पाठक का साक्षात्कार कराया है।

काली अपनी चाची प्रतापी की देखभाल के लिए गाँव लौटा है, जिसने उसे पाल-पोसकर बड़ा किया था। गाँव लौटने पर वह वहाँ की पूर्ववत् अत्याचारपूर्ण स्थितियों को देखकर उदास हो जाता है, लेकिन फिर अपनों के बीच धीरे-धीरे मन रमा लेता है। दलित होकर भी वह शहर से लाए "बहुत सारे नोट" (तीन सौ रुपये से कुछ कम) से "पक्का" मकान बनाना चाहता है जो चौधरियों और शाहों के लिए एक अजूबा बात है। छज्जू शाह काली को बताता है कि जिस ज़मीन पर उसका मकान है वह "शामलात" की ज़मीन है जिस पर उनका केवल "मास्सी" अधिकार है (यानी सिर्फ़ रहने का अधिकार है, मालिकाना नहीं)। ज्ञातव्य है कि पंजाब में 1960 तक यही स्थिति थी। इसके बाद कुछ भुगतान लेकर भूमिहीनों को वासभूमि पर मालिकाना दे दिया गया था।

इस बीच वह चमारड़ी में रमने लगता है। एक बहादुर और ईमानदार लड़की ज्ञानों से उसका प्रेम होता है। घर बनाने का सपना और प्रेम—इन दोनों की परिणति अन्ततः दुखान्त में होती है। झाड़-फूंक करने की प्रक्रिया में चाची की मौत और दुख के इन्हीं दिनों में उसकी जमा-पूँजी की चोरी के प्रसंग सदियों के उत्पीड़ित लोगों के जीवन में व्याप्त सांस्कृतिक पिछड़ेपन और अमानुषीकरण की स्थितियों को सामने लाते हैं। इस बीच गाँव में चौधरियों-चमारों के बीच टकराव के रूप में वर्ग संघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। काली चमारों की अगुवाई करता है। चौधरी उसके दुश्मन हो जाते हैं। ज्ञानों का भाई मंगू चौधरियों की दलाली करता है और काली को तंग करता है। संघर्ष के इसी प्रसंग में पाठकों का परिचय डा. बिशनदास और टहलसिंह जैसे क़स्बाई, क़िताबी कम्युनिस्टों से होता है जो चमारों और चौधरियों के बीच संघर्ष भड़क उठने से प्रसन्न हैं क्योंकि स्थितियाँ उन्हें 1905 की रूसी क्रान्ति की शुरुआत से मिलती-जुलती प्रतीत होती हैं। वे काली और कुछ अन्य चमार कार्यकर्ताओं और कम्युनिस्ट हमदर्दों की मीटिंग बुलाते हैं जहाँ हड़ताली खेत मज़दूरों की मदद के ठोस रूपों पर विचार के बजाय बिशनदास और टहलसिंह त्रात्स्कीपन्थ और उसने विरोध के प्रश्न पर बहस करते हैं। खेत मज़दूर अपने संघर्ष के लिए अनाज या आर्थिक मदद की अपेक्षा करने पर "सुधारवादी" करार दे दिए जाते हैं क्योंकि वे भूखे पेट लड़ नहीं सकते। ऐसे क़िताबी, अव्यावहारिक कम्युनिस्टों के अतिरिक्त उदारपन्थियों और धार्मिक उपदेशकों से भी चमारों को कोई मदद नहीं मिलती। काली जिस लालू पहलवान के वहाँ काम करता है, वह चमारों के साथ समझौते का पक्षधर है क्योंकि चौधरियों-चमारों का काम एक-दूसरे के बिना नहीं चलने का, लेकिन संघर्ष के दिनों में वह काली की कोई मदद नहीं करता, कारण कि अपने वर्ग के लोगों से वह कटकर नहीं रह सकता।

उपन्यास में बड़ी कुशलता के साथ जगदीशचन्द्र ने इस नग्न-निर्मम यथार्थ को भी उजागर किया है कि धर्म-परिवर्तन दलित-प्रश्न का वास्तविक समाधान नहीं है और धार्मिक उपदेशकों की भी एक स्पष्ट वर्ग दृष्टि है जो अछूतों को अपमानित करने का ही काम करती है। उपन्यास का एक जूते सिलने वाला पात्र नन्द सिंह

रमदासिया जातिगत अपमान से बचने के लिए पहले सिख और ईसाई बनता है लेकिन चौधरियों के उसके प्रति बरताव में कोई फ़र्क नहीं आता। बाढ़ के समय हिन्दू पण्डित और सिख ज़मीन्दार अपने कुओं से चमारों को पानी नहीं लेने देते। ऐसे में चमारों की गन्दगी को देखकर ईसाई धर्मपिता की पत्नी भी अपने हैण्डपम्प पर ताला लगा देती है।

ग्रामीण दलितों की जीवन स्थितियों का प्रामाणिक दस्तावेज़ प्रस्तुत करते हुए जगदीशचन्द्र दलितों के सामाजिक जीवन के नितान्त पिछड़े हुए सांस्कृतिक पहलुओं—झाड़-फूंक, अन्धविश्वास, रूढ़ियों आदि की भी उपेक्षा नहीं करते, जो शताब्दियों के दमन-उत्पीड़न से पैदा हुए अमानुषीकरण की अभिव्यक्तियाँ हैं। काली और ज्ञानो का निष्कलुष प्रेम भी गाँव में दुष्प्रचार का माध्यम बन जाता है। अपने ही दलित समाज की संकीर्ण मान्यताओं के कारण दोनों का ब्याह नहीं हो सकता। ज्ञानो गर्भवती हो जाती है और स्वयं उसकी माँ और भाई मंगू ही उसकी हत्या कर देते हैं। काली को गाँव छोड़कर भागना पड़ता है।

'नरककुण्ड में बास' की कहानी वहीं से शुरू होती है, जहाँ 'धरती धन न अपना' का अन्त हुआ था। गाँव के प्रभुत्वशाली लोगों के जुल्म, अपने लोगों की दिमाग़ी गुलामी व सांस्कृतिक पिछड़ेपन और आर्थिक तबाही की चपेट में अवश-निरुपाय काली को भागकर शहर आना पड़ता है। वैसे, एक दलित का उजड़ना भी क्या! एक किसान तो सामन्ती उत्पीड़न या पूँजी की मार से तबाह होकर, अपनी जगह-ज़मीन से उजड़कर उजरती ग़ुलामों की कतार में शामिल होता है। लेकिन एक दलित के लिए तो बस इतना ही फ़र्क पड़ता है कि बेगारी करने वाले और हर तरह का अपमान झेलने वाले अर्द्धदासों की स्थिति से उबरकर वह शहर आकर सबसे नारकीय काम करने वाले और सबसे सस्ती दरों पर श्रम बेचने वाले उजरती ग़ुलामों की कतार में शामिल हो जाता है। शहर में फ़र्क सिर्फ़ इतना होता है कि वह अपना श्रम बेचने को मुक्त होता है, जातिगत भेदभाव के बावजूद गाँवों जैसा उत्पीड़न और अपमान नहीं झेलना पड़ता तथा कठिन जीवन-स्थितियाँ अन्य जातियों के उजरती मज़दूरों के साथ भी एकता का एक आधार मुहैया करती हैं।

शहर आकर काली उन तमाम बिना पहचान के लोगों की 'बेचेहरा' भीड़ में शामिल है जो अपनी श्रमशक्ति बेचकर उजरत कमाने के लिए चारों ओर दौड़ते-भागते और हर जुगत भिड़ाते रहते हैं। एकदम अकेला और बेसहारा काली के हृदय में ज्ञानो को लेकर एक गहरा पश्चाताप भी है। उसे लगता है कि उसने ज्ञानो को उसके हाल पर छोड़कर धोखा दिया है और अब जीवन शायद उसे सफ़ाई का कोई अवसर भी नहीं देने वाला है। इस मनःस्थिति में वह पिछली हर पहचान की छाया तक से भागता है। पारिवारिक-सामाजिक-भावनात्मक—सभी स्तरों पर जड़ों से उखड़ा हुआ काली अपने अस्तित्व को बचाए रखने की ख़ातिर, अन्ततोगत्वा निकृष्टतम कोटि के उजरती ग़ुलामों के उस पेशे में नियति द्वारा धकेल दिया जाता है जो आज भी, आधी सदी की आज़ादी के बाद और जनतंत्र के तमाम दावों के बावजूद, हमारे देश में सिर्फ़ दलितों के लिए ही आरक्षित माना जाता है। कुलीगीरी करने और रेहड़ा खींचने वाले मज़दूर के तौर पर काम करके पेट पालने में विफल रहने के बाद काली को अन्ततोगत्वा टैनरीज़ में कच्चा चमड़ा धोने और साफ़ करने वाले मज़दूर के तौर पर काम मिलता है। नारकीय गन्दगी और बदबू के भयानक माहौल में मितली दबाते हुए और जानलेवा ख़ारिश बर्दाश्त करते हुए काली को काम करना पड़ता है। जगदीशचन्द्र ने कुलियों और रेहड़ा खींचने वाले मज़दूरों की ज़िन्दगी से लेकर टैनरीज़ के मज़दूरों तक की ज़िन्दगी और कच्चे चमड़े की सफ़ाई जैसे कामों का जितना आधिकारिक ब्योरा तफ़सीलों के साथ प्रस्तुत किया है, वह स्पष्ट कर देता है कि गहन अर्थशास्त्रीय-समाजशास्त्रीय अध्ययन के कारण ही वह उपन्यास की विषय-वस्तु को जीवन्त रूप में प्रस्तुत कर पाए हैं। यहाँ टैनरीज़ के नर्क में ज़िन्दगी घिसने वाले, समाज के अँधेरे रसातल के निवासियों की मरणान्तक जद्दोजहद का वर्णन है, टैनरीज़ के ग़ैरदलित मालिकों के साथ ही दलित मालिकों के मक्कार शोषक चरित्र और उनकी आपसी वर्गीय एकता की तस्वीर है और दलितों का नेता होने का दम

भरने वाले सत्ताधर्मियों का भी चरित्र-चित्रण है, लेकिन यह सब कुछ लेखक ने नितान्त वस्तुपरक "तटस्थता" के साथ प्रस्तुत किया है। अन्त में काली स्वयं अपने साथी मज़दूरों का छोटा-मोटा लीडर हो जाता है और टैनरीज़ में मुंशीगीरी करने लगता है। लेकिन इस प्रक्रिया में वह स्वयं मज़दूरों से ही कट जाता है और उनका विश्वास खो बैठता है। वह ईमानदारी से कोशिश करता है कि मज़दूरों को थोड़ी सुविधाएँ दिलवा सके, लेकिन इस कोशिश में बुरी तरह विफल होता है। एक बार फिर वह अपने को सड़क पर खड़ा पाता है। इन्हीं हालात में अचानक उसकी मुलाक़ात एक बार फिर अपने गाँव के नन्दसिंह से होती है। नन्दसिंह को भी अपनी ज़िन्दगी और इज़्ज़त बचाने के लिए अन्ततः गाँव से भागना पड़ा था और अब जालन्धर से छह-सात कोस दूर सड़क किनारे अड्डे पर वह जूते सिलता था और पास के गाँव में रहता था। नन्दसिंह से काली को पता चलता है कि ज्ञानो को गर्भवती हो जाने की वजह से उसके अपने परिवार वालों ने ही ज़हर देकर मार दिया था। यहाँ सामने आने वाली विडम्बना पूरे उपन्यास को और सारगर्भित बना देती है। जिस ज्ञानो का अपराधी होने का पश्चाताप काली को बाहरी नर्क के समान्तर एक भीतर नर्क में भी लगातार धीमी आँच पर झुलसा रहा था, वह उसकी नर्क-यात्रा शुरू होने के पहले ही मर चुकी थी। ज्ञानो की मृत्यु की ख़बर से काली एकदम टूट जाता है। फिर नन्दसिंह उसे दिलासा देकर अपने घर ले जाता है। वह काली से कहता है कि वह उसके साथ ही रहकर काम में उसकी मदद करे।

उपन्यास-त्रयी की अन्तिम कृति 'ज़मीन अपनी तो थी' दलित जीवन के त्रासद यथार्थ के सभी आयामों और पक्षों को प्रस्तुत करने के जगदीशचन्द्र के संकल्प की अन्तिम फलश्रुति है। यहाँ जगदीश चन्द्र सामाजिक परिवर्तन की उस संश्लिष्ट प्रतिगामी प्रक्रिया को और अधिक तफ़सील के साथ, और अधिक गहराई में जाकर समझने की कोशिश करते हैं, जिसके चलते स्वतंत्रता और जनतंत्र की तमाम उपलब्धियाँ और पूँजीवादी विकास के तमाम फल ऊपर की बीस फ़ीसदी आबादी तक ही सिमट कर रह गये। मध्यम किसानों की एक छोटी आबादी सत्ता और सुविधाओं का भागीदार ज़रूर बन गई लेकिन दलित, जो भूमिहीन किसान और बँधुआ मज़दूर थे, वे अब उजरती मज़दूर बन गये। भूमि-सुधार से मालिक बने काश्तकारों को तो लाभ हुआ, लेकिन भूमि-वितरण भूमिहीनों के साथ मात्र एक छल साबित हुआ तथा सीलिंग को भूस्वामियों ने छल-बल से नाकाम कर दिया। सभी सुधार दलितों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति के लिए मात्र 'कॉस्मेटिक' सिद्ध हुए। सारी प्रगति के प्रसाद का मात्र चूरा ही उन्हें नसीब हुआ। आज़ादी के बाद के (अतिसीमित ही सही) बुर्जुआ सुधारों और दलितों की संगठित चेतना के प्रभाव से दलितों के बर्बर दमन की स्थितियों में कुछ फ़र्क़ तो पड़ा (वह भी पूरे देश में नहीं), लेकिन उनके सामाजिक अपमान और पार्थक्य (सेग्रिगेशन) की स्थिति अब भी बनी रही। सबसे अहम बात यह है कि सुधारवादियों की गलदश्रु भावुकता और मध्यवर्गीय दलित कुलीनतावादी लेखकों के खोखले आवेश के बजाय जगदीशचन्द्र ने इस उपन्यास में दलित-प्रश्न की वर्ग-अन्तर्वस्तु को अत्यन्त सटीक ढंग से उजागर किया है। वे यह दिखलाते हैं कि किस तरह दलितों के बीच से ही पिछली आधी सदी के दौरान भितरघाती सत्तासेवियों की राजनीतिक जमातें पैदा होती रही हैं। चौधरी शिंगाराराम जैसे बूढ़े खुर्राट दलित नेता से सेठ रामप्रकाश जैसे नई पीढ़ी के दलित नेताओं तक के विकासक्रम में कांग्रेसी हरिजन नेताओं से आज के बसपा ब्राण्ड दलित नेताओं तक के विकास की पथ-रेखा की शिनाख़्त की जा सकती है। साथ ही, लेखक ने इस सामाजिक-आर्थिक परिघटना को भी बहुत रचनात्मक ढंग से उपन्यास में प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार दलितों का जो एक अत्यन्त छोटा-सा हिस्सा नौकरशाही में या डॉक्टरों-इंजीनियरों की जमात में शामिल हुआ है, वह शेष दलित आबादी से अपने को पूरी तरह से काटकर अपने टापू पर जीता है और अपने निजी स्वार्थों के लिए आम दलितों के साथ विश्वासघात करने तथा उनके हितों पर डाका डालने से भी बाज़ नहीं आता। यही दलित कुलीन मध्यवर्ग है जिसका वास्तविक प्रतिनिधित्व आज की बुर्जुआ संसदीय दलित राजनीति करती है। अम्बेडकर के नाम पर फ़रेब रचकर ऐसी दलितवादी

पार्टियाँ व्यापक दलित आबादी में जनाधार बनाती हैं और फिर निष्ठापूर्वक, सर्वाधिक निकृष्ट अवसरवादी ढंग से सत्ताधर्म निभाती हैं। 'ज़मीन अपनी तो थी' अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्धों के पूँजीवादी रूपान्तरण के दौरान भूमि-सुधार के नाम पर दलितों के साथ हुए छल, दलित-उत्पीड़न और अपमान की निरन्तरता, बुर्जुआ दलित राजनीति के चौधरियों की कुत्सित चालों और दलितों के बीच से उभरने वाले नये अभिजन समाज की विश्वासघाती स्वार्थान्धता पर केन्द्रित कृति है।

उपन्यास कथा-सूत्र को वहीं से पकड़ता है, जहाँ 'नरककुण्ड में बास' का समापन हुआ था। काली नन्दसिंह के परिवार के साथ आकर रहने लगता है और जूते की दूकान में बतौर शागिर्द उसकी मदद करने लगता है। पहले ज्ञानो-प्रकरण को लेकर परिवार में काली के प्रति दुराव का माहौल रहता है, लेकिन उसके निश्छल-निःस्वार्थ व्यवहार से पूर्वाग्रह दूर हो जाते हैं और वह परिवार का एक सदस्य-सा बन जाता है। काली के अध्यवसाय से नन्दसिंह के कारोबार की प्रगति, उसकी बेटी पाशो से उसकी नज़दीकी और फिर शादी, फिर उन दोनों का अलग गृहस्थी बसाना—इस लाइन पर कहानी आगे बढ़ती है। इसी के साथ गाँव के सरदारों-चौधरियों और अड्डे के बनियों-साहूकारों द्वारा चमारों के साथ बात-बात पर अपमानजनक व्यवहार, चमारों की अवशता आदि का लेखक ने बड़ा ही जीवन्त चित्रण किया है।

उपन्यास का कालखण्ड सातवें दशक के आसपास का है। तब गाँव के ग़रीबों को घर बनाने या हारी-बीमारी जैसी ज़रूरतों के लिए कर्ज़ देने के मक़सद से सहकारी समितियाँ बन रही थीं। जगदीशचन्द्र ने तफ़सील से यह दिखलाया है कि किस तरह ये समितियाँ बड़े किसानों की जेब में घुस गईं और इन्होंने गाँव के ग़रीबों को एक नये प्रकार की साहूकारी-महाजनी के पाश में जकड़कर पूरी तरह से उजरती ग़ुलाम बन जाने के लिए बाध्य कर दिया। काली और उसकी पत्नी पाशो भी सोसाइटी के मेम्बर बनते हैं। उन्हें कर्ज़ महज़ इसलिए मिल पाता है कि भूस्वामी सरदार चाहता है कि तमाम फर्जी मामलों पर पर्दा डालने के लिए एकाध जेनुइन केस भी होने चाहिए। इस बीच दलित दम्पति लखबीर और मागो की बेटी बलजीतो की त्रासद उपकथा भी आती है जो पूरे तंत्र के दलित-विरोधी चरित्र और आम दलितों की बेबसी को अनावृत्त करने का काम करती है। पण्डोरी के नम्बरदार गण्डासिंह का बेटा नसीबसिंह बलजीतो के साथ प्यार का नाटक रचाकर उसे भगा ले जाता है। पूरी दलित बस्ती एकजुट होकर बलजीतो की खोज करती है। वे बड़े सरदार (पृतपाल सिंह) की ड्योढ़ी पर भी जाकर फ़रियाद करते हैं। सरदार उन्हें मदद का झूठा आश्वासन देता है, पर अन्दर ही अन्दर गण्डासिंह की मदद करता है। सभी दलित बुजुर्ग मख्खन सिंह के साथ जाकर इलाक़ा मजिस्ट्रेट कुलतार सिंह से मिलते हैं, जो उन्हीं की बस्ती के दलित बुनकर का बेटा था। काली उसी के मकान में किराएदार था। कुलतार सिंह पद-प्रतिष्ठा और काली कमाई के बाद अब अपने नाम के साथ काहलों पदवी लगाकर जाट बनने की कोशिश करता है, पर उसके पण्डित और सवर्ण अमले भी अन्दर ही अन्दर उस पर हँसते हैं। रिश्वतख़ोरी के चलते उसे अपने बाबू वग़ैरह से दबना और बनाकर रखना भी पड़ता है। कुलतार सिंह के कहने पर पुलिसिया अमला कुछ धर-पकड़ की औपचारिकता भी करता है, लेकिन बलजीतो का पता नहीं चलता। कुछ महीनों बाद हारी-टूटी बलजीतो लौटती है। चाहे भय हो या बेबसी, वह किसी का नाम नहीं बताती और पुलिस केस समाप्त हो जाता है। इस पूरे प्रसंग में जगदीशचन्द्र ने गाँव के चौधरियों से लेकर अड्डे के बनियों तक के नितान्त घृणास्पद दलित-विरोधी, स्त्री-विरोधी रवैये को बख़ूबी उजागर किया है। सभी मानकर चलते हैं कि बलजीतो ही चरित्रहीन है और कि दलित लड़की के साथ ऐसा कुछ हो जाना बड़ी बात नहीं है। उन्हें यह बात अनहोनी और बहुत नागवार लगती है कि दलित इस मामले को लेकर एकजुट होकर पुलिस-प्रशासन तक पहुँच गये। इस मसले पर काली को बाज़ार में अपमानित भी होना पड़ता है। ऐसे कई छोटे-छोटे प्रसंग हैं उपन्यास में, जिनके माध्यम से रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में दलितों द्वारा झेले जाने वाले मारक अपमान की दारुण यंत्रणा को जगदीशचन्द्र ने सूक्ष्मग्राही ढंग से चित्रित किया है।

इसके बाद ही सीलिंग की फ़ाज़िल ज़मीन के भूमिहीनों में वितरण का वह प्रसंग आता है जो पूरे

सामाजिक-राजनीतिक ताने-बाने को उजागर करने वाला, उपन्यास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रसंग है। काली और उसकी बस्ती के अन्य दलित भी ज़मीन अलॉटमेण्ट के लिए आवेदन करते हैं। काफ़ी समय बीतने के बाद उन्हें ज़िला माल अफ़सर के दफ़्तर में अगली कार्रवाई के लिए बुलाया जाता है। ज़मीन के मालिकाने के लिए सदियों से तरसे दलितों के मन में उम्मीदें जगती हैं। वे अलॉटमेण्ट के काम में मदद के लिए फिर अपने पूर्व परिचित दलित अफ़सर इलाक़ा मजिस्ट्रेट कुलतार सिंह से मिलते हैं। कुलतार मदद के बहाने अपने बाबू की मदद से काग़ज़ पर अंगूठे लगवाकर फरेब रचता है। काग़ज़ पर ज़मीन अलॉट हो जाती है और कुलतार सिंह के नाम बिक जाती है। ऐसी ही जालसाज़ियों से कुलतार सिंह सौ एकड़ के फ़ार्महाउस का मालिक हो चुका है। इस पूरे प्रसंग में जगदीशचन्द्र की अर्थशास्त्र की शिक्षा ख़ूब काम आई है। भूमि सुधार में क्या हुआ और किसे लाभ हुआ तथा दलितों को भूमि-वितरण की असलियत क्या थी—इन सबकी बारीकियों को उन्होंने ख़ूब उजागर किया है। इन कार्रवाइयों में पटवारी की भूमिका, पृतपाल जैसे भूस्वामियों, कुलतार जैसे दलित अधिकारियों और सेठ रामप्रकाश जैसे दलित नेताओं की कुत्सित चालों, सत्ताधर्मी चरित्र और मिली-भगत को घटनाक्रम विकास के ज़रिए नितान्त स्वाभाविक और विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। काली की बस्ती के लोगों को अपने साथ हुई धोखाधड़ी के बारे में देर से पता चलता है। चारों ओर भाग-दौड़ के बाद वे अपने को बेबस पाते हैं। कुलतार सिंह अपने क्लर्क के ज़रिए सात-सात सौ रुपये दिलाकर उन्हें चुप कर देता है। वे बस्ती लौट आते हैं। कुछ शराब पीने चले जाते हैं और कुछ के पैसे साहूकारों की उधारी चुकता करने में लग जाते हैं। काली इस स्थिति को स्वीकार नहीं करता और लड़ने की ठानता है। इसी प्रक्रिया में वह एक बार फिर टैनरीज़ के मालिक और नई पीढ़ी के दलित नेता सेठ रामप्रकाश से मिलता है तथा पुराने दलित नेता शिंगारा राम के साथ उसकी रस्साकशी और दलित राजनीति के अन्दरूनी दांवघातों और घटिया अवसरवादी चरित्र का साक्षी बनता है। सेठ रामप्रकाश जैसे दलित नेताओं की गाँठ भी कुलतारसिंह जैसे भ्रष्ट दलित अफ़सरों से ही जुड़ी है और आम दलितों को ठगने में वे इसी तंत्र के पुर्ज़े और 'ट्रोजन हॉर्स' की भूमिका निभाते हैं—इस तथ्य को जगदीशचन्द्र ने बड़ी कुशलता से उपन्यास की कथा में पिरोया है। अपनी ज़िद में काली को अन्ततोगत्वा गिरफ़्तार होकर जेल जाना पड़ता है। उसका लड़का ज्ञानप्रकाश उर्फ लाटू, जो अब बैंक में क्लर्क हो गया है, अपने कालेज के एक दोस्त के वकील पिता की मदद से उसे थाने से जाकर छुड़ाता है।

इन घटनाओं के साथ काली के परिवार की कहानी भी आगे बढ़ती रहती है। उसका बड़ा बेटा ज्ञान प्रकाश बैंक में क्लर्क हो गया है और छोटा बेटा सतप्रकाश मेडिकल का छात्र। अपनी दूकान, मकान, दो भैंसों और बेटों की वजह से सामाजिक सम्मान—बेहतर आर्थिक स्थिति के बावजूद काली-पाशो मेहनत-मशक़्क़त की ज़िन्दगी बिताते हैं। लेकिन उनके जीवन और परिवेश से धीरे-धीरे उनके बेटे इतना कट जाते हैं कि उन्हें घर आना तक नाग़वार लगता है। इसी बीच ज्ञान आई.ए.एस. की परीक्षा पास कर लेता है और ट्रेनिंग पर चला जाता है। दोनों बेटे अब माँ-बाप से सिर्फ़ मिलने घर आते हैं, रुकते हैं वे शहर में दोस्तों के घर पर। शहर में उनके जो कुछ दोस्त हैं वे जाट, ब्राह्मण और अन्य सवर्ण-जातियों के ऐसे युवा हैं जो आम चलन से हटकर, जातिगत भेदभाव नहीं मानते।

ज्ञान की पहली पोस्टिंग होती है। न चाहते हुए भी, बेटों की ख़ातिर, पाशो के आग्रह पर काली पाशो के साथ, गाँव का घर बन्द करके ज्ञान के पास उसकी सरकारी कोठी में रहने चला जाता है। वहाँ के शाही ठाठ-बाट के माहौल को देखकर वह दंग है। उसे लगता है कि पूरे जीवन के अँधेरे को पारकर वह मुक्ति और उजाले की दुनिया में निकल आया है। ज़मीन की मिल्कियत की चाहत अभी भी काली के दिल में है। वह चाहता है कि ऊँचा अफ़सर होने के नाते ज्ञान कुलतार को उचित सज़ा दिलाए। ज्ञान उसे बताता है कि कुलतार क़ानूनन नहीं फँस रहा है, इसलिए वह कुछ नहीं कर सकता। वह यह भी समझाता है कि यदि कहीं बंजर ज़मीन का एक टुकड़ा मिल भी जाए तो किस काम का। ज्ञान अपने अफ़सर मित्रों के बीच अपनी दलित पहचान को यथासम्भव छिपाकर भरपूर अभिजात ढंग से रहने की कोशिश करता है। एक दिन उसके

दोस्तों की मण्डली में बैठा काली निहायत सादगी से उसके एक दोस्त को मशविरा देता है कि वह अपने उधड़ते हुए महँगे बूट की जल्द से जल्द मरम्मत करा ले। इससे ज्ञान बेहद अपमानित महसूस करता है। भीतर जाकर वह पिता को झिड़कता है, "मेरे दोस्तों को क्या यह बताना ज़रूरी था कि तुम चमार हो और मोची का काम करते हो?" वह कहता है, "यह जूतों की दुकान नहीं, आई.ए.एस. अफ़सर की कोठी है?" काली महसूस करता है कि पद और ओहदे ने स्वयं उसके बेटे को उन लोगों की कतारों में शामिल कर दिया है, जिनके द्वारा अपमान की ठोकरें वह जीवन भर खाता रहा। वह कोठी की सुख-सुविधा की जगह स्वतंत्रता और सम्मान का जीवन चुनता है। कोठी का अपमान उसे समाज में झेले जाने वाले अपमान से अधिक बुरा लगता है क्योंकि यहाँ उसे अपने बूते अपने ढंग से जीने की आज़ादी नहीं है। वह पाशो के साथ गाँव लौट जाता है।

'धरती धन न अपना' उपन्यास को रमेश कुन्तल मेघ ने 'धरती के दुखियारों' की जीवन-कथा कहा था। कमोबेश उनका यह कथन जगदीशचन्द्र के इन तीनों उपन्यासों के बारे में कहा जा सकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उपन्यास-त्रयी की तीनों कृतियाँ हिन्दी के पहले ऐसे उपन्यास हैं जिनमें स्वातंत्र्योत्तर भारत के शुरुआती लगभग ढाई दशक के दौरान के सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों की आधिकारिक तस्वीर दलितों के जीवन को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत की गई है। दलित-उत्पीड़न के प्रश्न को जगदीशचन्द्र ने दलित लेखकों की तरह सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक वस्तुगत स्थितियों से काटकर नहीं बल्कि उनके एक संघटक अवयव और परिणति के रूप में प्रस्तुत किया है। पंजाब के ग्रामीण, क़स्बाई और शहरी जीवन के पूँजीवादी रूपान्तरण के सूक्ष्म ब्योरों-तफ़सीलों को, दलित जीवन पर उनके प्रभाव को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत करने वाली ये हिन्दी की शायद अकेली औपन्यासिक कृतियाँ हैं। जाति-प्रश्न के प्रति जगदीशचन्द्र का रवैया वर्ग-विश्लेषणवादी है, लेकिन वर्ग-अपचयनवादी (क्लास-रिडक्शनिस्ट) नहीं है। 'जुंकर टाइप बुर्जुआ भूमि-सुधारों' के भारतीय संस्करण ने काश्तकार किसानों को मालिक बनाकर उनकी स्थिति में बदलाव किया और सामन्ती भूस्वामियों को बुर्जुआ भूस्वामी बन जाने का भरपूर अवसर दिया, लेकिन तमाम संवैधानिक "गारण्टियों" और प्रावधानों के बावजूद भूमिहीन दलितों की बहुसंख्यक आबादी की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में कोई बुनियादी बदलाव नहीं आया। पंजाब के गाँवों की पृष्ठभूमि में इस नंगी सच्चाई को जगदीशचन्द्र ने अत्यन्त कुशल ढंग से प्रस्तुत किया है। कभी-कभी अफ़सोस होता है कि देश के जिन इलाक़ों में ज़मीन्दारी प्रथा का भूमि-बन्दोबस्त लागू था (जैसे कि उत्तर बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में) और जहाँ दलितों की जीवन स्थितियाँ सर्वाधिक नारकीय थीं, वहाँ की पृष्ठभूमि पर किसी उपन्यासकार ने दलित-जीवन को केन्द्र में रखकर इस तरह का कोई उपन्यास नहीं लिखा।

जातिगत उत्पीड़न के आर्थिक आधारों की अत्यन्त सूक्ष्मग्राही पड़ताल करने के साथ ही जगदीशचन्द्र बुर्जुआ वर्ग-विभेदीकरण के दलित-समाज की संरचना पर पड़ने वाले प्रभावों की क़तई अनदेखी नहीं करते। वे इस सच्चाई से मुँह नहीं चुराते कि दलितों के बीच से जो एक मध्यवर्गीय बौद्धिक तबका पैदा हुआ है, वह स्वयं को बहुसंख्यक दलित आबादी से काटकर अलग कर चुका है और एक नये अभिजन तबके में तबदील हो चुका है। इन्हीं में कुलतार सिंह जैसे भ्रष्ट दलित अफ़सर हैं जो अपने ही भाइयों का हक़ छीनकर फ़ार्म हाउस का मालिक बन चुका है। दूसरी ओर काली के बेटे (कलक्टर) ज्ञान प्रकाश और (डॉक्टर) सतप्रकाश भी इन्हीं में शामिल हैं, जो स्वयं दलितों के सामाजिक जीवन के अन्धकारमय जीवन से बाहर निकल आने के बाद अब उधर मुड़कर भी नहीं देखना चाहते जहाँ अभी भी बहुसंख्यक दलित आबादी पड़ी हुई है। इसी प्रक्रिया में जगदीशचन्द्र दलित राजनीति की वास्तविकता को भी उजागर करते हैं जो मात्र दलित हितों की सौदेबाज़ी और वोटों की राजनीति करती है। सत्ता से नाभिनालबद्ध ऐसे राजनीतिज्ञों की पुरानी पीढ़ी की नुमाइन्दगी चौधरी शिंगाराराम करता है तो नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व सेठ रामप्रकाश जैसे लोग

करते हैं जो दलित राजनीति के नाम पर मात्र कुलतार सिंह जैसे दलित अफ़सरों के वर्गहितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

कई मायनों में 'गोदान' की परम्परा का वास्तविक विस्तार जगदीशचन्द्र की इन कृतियों में देखा जा सकता है। 'गोदान' में मुख्यतः चौथे दशक के हिन्दुस्तान के गाँवों की गाथा है। वहाँ दलितों की जीवन स्थितियों का चित्रण भी है, लेकिन केन्द्र में ज़मीन्दारी प्रथा के जुए तले पिसते पूर्वी उत्तर प्रदेश के काश्तकार किसानों की दुरवस्था है। जगदीशचन्द्र की यह उपन्यासत्रयी मुख्यतः दशक के संक्रमणशील भारत के गाँवों की कथा है, लेकिन यहाँ केन्द्र में दलितों का जीवन है और विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियाँ पंजाब की हैं। साथ ही, जगदीशचन्द्र गाँवों से उजड़कर शहरों में आए दलितों की त्रासदी भी ग्राफ़िक विस्तार के साथ प्रस्तुत करते हैं।

प्रेमचन्द की ही तरह, जगदीशचन्द्र के भी सन्दर्भ में "यथार्थवाद की विजय" मुख्यतः यह है कि उपस्थित किए गए मूलभूत जीवन-प्रश्न का समाधान वे कृत्रिम या आरोपित ढंग से कथावृत्त की चौहद्दी में घटित होते हुए नहीं दिखलाते। इस सतही विकल्प के द्वारा पाठक को राहत या चैन तो मिल सकता था, लेकिन यह "यथार्थवाद की पराजय" की शर्त पर ही सम्भव होता! 'गोदान' की ही तरह जगदीशचन्द्र की उपन्यासत्रयी का त्रासद अन्त पाठक को उस बेचैनी तक पहुँचाकर छोड़ देता है जहाँ से समाधान की तलाश की चिन्ताएँ उगना-पनपना शुरू करती हैं।

जगदीशचन्द्र हिन्दी कथा-साहित्य में यथार्थवाद के महान पुरस्कर्ताओं के समर्थ उत्तराधिकारी की अपनी योग्यता निर्विवाद रूप से सिद्ध कर चुके थे। हिन्दी साहित्य को अभी उनसे बहुत कुछ पाना था। उनके असामयिक निधन ने हिन्दी साहित्य को सचमुच अपूरणीय क्षति पहुँचाई है। काश कि अपनी उपन्यास-त्रयी की दलित महागाथा को वे बीसवीं सदी के अन्त तक विस्तार दे पाते! आशा की जानी चाहिए कि उनका कृतित्व नई पीढ़ी के कुछ साहसी, अध्यवसायी लेखकों को ऐसे प्रयासों के लिए प्रेरित करेगा!

ज़मीन अपनी तो थी (2001) • नरककुण्ड में बास (1994) • धरती धन न अपना (1972)
तीनों उपन्यासों के प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

सम्पादक मण्डल
विश्वनाथ मिश्र/अरविन्द सिंह/ओमप्रकाश सिन्हा
सम्पादकीय कार्यालय :
81, समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार फ़ेज़-एक,
दिल्ली-110 091 फ़ोन : (011) 2711136
email: dayitvabodh@rediffmail.com

त्रैमासिक
प्रति अंक : 15 रुपये
वार्षिक : 72 रुपये (डाकव्यय सहित)
आजीवन : 1000 रुपये

'लगान' और 'ग़दर' : हिन्दी सिनेमा की इतिहास-यात्रा 2001

ललित सती

"सिनेमा में धीरे-धीरे फैलने वाला अन्धकार सोने के पहले की हमारी तन्द्रावस्था की तरह का है; उसके बाद सोने के समय जैसा होता है, जैसे ही सिनेमा के परदे पर अवचेतन की निशाकालीन यात्रा प्रारम्भ होती है। सिनेमा के मायालोक में (फेडिंग प्रक्रिया में) तस्वीरें बनती हैं, बिगड़ती हैं, मिटती हैं। समय और स्थान पर सिनेमा की पकड़ मज़बूत होती है—अपनी इच्छानुसार जिसका उपयोग निर्देशक कर लेता है। फलतः घटना की कालक्रमिकता और समय की व्याप्ति यहाँ वास्तविक नहीं रह जाती।" मार्क्सवादी अतियथार्थवादी फ़िल्मकार **लुइस बून्यूएल** ने फ़्रांसीसी लेखक **बूनियस** के इन विचारों को उद्धृत करते हुए अपना यह विचार रखा है कि : *"लगता है सिनेमा का आविष्कार ही अवचेतन जीवन को प्रकाशित करने के लिए हुआ है।"*

एक सामान्य से सामान्य, चलताऊ, विशुद्ध "मनोरंजन-प्रधान" कथा-फ़िल्म भी जो कथा प्रस्तुत करती है, वह वस्तुतः देश-काल विशेष के किसी एक पक्ष या प्रश्न का कथा-रूपक होती है। सिनेमाघर की निःस्तब्धता और अन्धकार में अपनी स्वाभाविक मानसिक अवस्था से पृथक्कृत दर्शक का चेतन मन जब परदे पर जारी कहानी के विवरणात्मक मायालोक में जीवन के कठिन संघातों से संचित थकान उतार रहा होता है, ठीक उसी समय उसका अवचेतन मन उस फ़िल्म-विशेष की फन्तासी या रूपक के निहितार्थों और सन्देश को आत्मसात् करने की प्रक्रिया में संलग्न होता है।

ऐसा नहीं होता कि फ़िल्मकार हर हाल में "प्रत्यक्ष कथा के पीछे की कथा" सचेतन तौर पर सम्प्रेषित करना चाहता है, अथवा सचेतन तौर पर वह कोई सन्देश या जीवन-मूल्य सम्प्रेषित करने के लिए हमेशा कोई कथा-रूपक या फ़ैण्टेसी गढ़ता है या बिम्बों-प्रतीकों का चुनाव करता है। बल्कि, प्रायः तो यह क्रिया भी, सचेतन के बजाय अवचेतन धरातल पर ही होती है। किसी कृति में जब जीवन की पुनर्रचना होती है, तो सर्जक की इच्छा से स्वतंत्र, (**मुक्तिबोध** की भाषा में) उसका पूरा व्यक्तित्व, पूरा जीवन-सार, पूरा इच्छित दर्शन उस कृति में उतर आता है और साथ ही मानव-सम्बन्धों का वह क्षेत्र द्योतित होता है, जिसमें सर्जक ने अपना जीवन जिया होता है और अपनी वर्ग-दृष्टि से अपने विचार बनाए होते हैं तथा अवस्थिति अपनाई होती है। किसी फ़िल्म के निर्माण की पूरी प्रक्रिया से जुड़े लोगों की सर्जक-इकाई के साथ भी यही बात लागू होती है।

वैसे तो कोई विशुद्ध ऐतिहासिक कथा-फ़िल्म भी निरपेक्ष अर्थों में ऐतिहासिक नहीं होती। जब कभी भी कलाकार इतिहास के किसी दौर के किसी सामाजिक टकराव को कलाकृति में प्रस्तुत करता है तो उसमें, उसके अनजाने ही, उसके देश-काल के सामाजिक-मूल्यगत टकराव की छायाएँ दीखने लगती हैं या अनुगूँजें सुनाई पड़ने लगती हैं। यहाँ तक कि इतिहासकार भी जब कभी अतीत के किसी कालखण्ड-विशेष के इतिहास का पुनर्लेखन करते हैं तो वे अपने देश-काल के 'फ़्रेम ऑफ रेफ़रेंस' से उस इतिहास की नये सिरे से खोज कर रहे होते हैं। कभी-कभी कलाकार इतिहास की घटना को एकदम यथातथ्यतः प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं या किसी काल्पनिक कथा के ज़रिए अतीत के किसी दौर के किसी प्रश्न को प्रस्तुत करते हैं। उस समय भी वे इतिहास के दौर-विशेष, या दौर-विशेष के प्रश्न-विशेष के प्रति, अपने रुख के ज़रिए एक सुनिश्चित इतिहास-दृष्टि प्रस्तुत कर रहे होते हैं, और कहने की आवश्यकता नहीं कि इतिहास-दृष्टियों का टकराव भी वैचारिक-सांस्कृतिक वर्ग-संघर्ष का ही एक अहम रूप है।

हाल के दिनों में हिन्दी फ़िल्मों में इतिहास-यात्रा का एक नया सिलसिला शुरू हुआ है—*अशोक, ग़दर, लगान* वग़ैरह-वग़ैरह! **भगतसिंह** पर एक साथ पाँच-पाँच फ़िल्में बन रही हैं—एक सनी दूयोल बना रहे हैं, दूसरी राजकुमार सन्तोषी, तीसरी इकबाल सिंह ढिल्लों तथा दो अन्य। क्या इतिहास की ये पुनर्प्रस्तुतियाँ उसका एक नया जनपक्षीय पाठ प्रस्तुत करने की कोशिश हैं? अतीत को शरण्य भी बनाया जा सकता है और भविष्य-सन्धान के लिए आवश्यक प्रेरणा-स्रोत भी। नये संघर्षों को गौरव-मण्डित करने के लिए तथा क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने के लिए भी विगत संघर्षों का स्मरण और हुतात्माओं का आवाहन किया जा सकता है और विगत के प्रहसनात्मक दुहराव के लिए तथा प्रेतात्माओं के मँडराने देने के लिए भी ऐसा किया जा सकता है। जिस समय हमारे देश में चतुर्दिक मूलतत्त्ववादी, पुनरुत्थानवादी शक्तियों की आक्रामक और प्रभुत्वकारी स्थिति बनी हुई है, उस समय एकाधिकारी पूँजी के वर्चस्व वाली व्यावसायिक हिन्दी सिनेमा की मुख्य धारा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर हिट फ़िल्में बना रही है तो इस प्रवृत्ति की सजग पड़ताल ज़रूरी हो जाती है।

हमने इस तरह की दो प्रतिनिधि फ़िल्मों का चयन किया है—**'लगान'** और **'ग़दर'**। इनमें भी हम पहले 'लगान' को लेंगे जिसे विषय के ट्रीटमेण्ट, कलात्मक स्तर और परिष्कृति के लिए सुधीजनों की विशेष सराहना मिली है, ऑस्कर मिलते-मिलते रह जाने की वजह से जिसके प्रति एक विशेष दर्दीला देशभक्तिपूर्ण लगाव महसूस किया जा रहा है तथा भाजपा-नेत्री सुषमा स्वराज भी इसके नायक-निर्माता आमिर ख़ान को राष्ट्रीय नायक बतला रही हैं। इसे आम जन ने भी सराहा है और आप्रवासी भारतीयों ने भी। हालत यह है कि एक ओर बहुतेरे प्रगतिशील-जनवादी फ़िल्म-समीक्षक भी इस फ़िल्म की लोकप्रियता और कलात्मकता के साथ-साथ जनपक्षधरता पर विस्मय-विमुग्ध हैं, और दूसरी ओर, प्रबन्धन और व्यापार-प्रबन्धन की कक्षाओं में 'मैनेजमेण्ट-गुरु' गण ने टीमवर्क की स्पिरिट और टेकनीक का इस फ़िल्म से प्रतिनिधि उदाहरण ढूँढ़ते हुए 'लगान-स्पिरिट' नामक नई शब्दावली ही चलन में ला दी है। जहाँ तक मैंने पढ़ा है, अब तक सिर्फ़, *'समय माजरा'* पत्रिका (जयपुर) में छपी प्रेमचन्द गांधी की लिखी समीक्षा और 'समयान्तर' में भूपेन सिंह की लिखी

समीक्षा में ही 'लगान' के प्रति सख्त आलोचनात्मक रुख अपनाया गया है। बाक़ी सारे प्रगतिशील समीक्षक गण भी इस फ़िल्म को लेकर पर्याप्त भावुक हैं, वे गिल्ल हैं और लहालोट हो रहे हैं। इन समीक्षाओं की समीक्षा भी एक ज़रूरी उपक्रम होती, लेकिन यह करने के बजाय मैं यहाँ फ़िल्म की ही एक समान्तर समीक्षा—चालू पाठ से अलग एक प्रतिपाठ या अन्तर्पाठ प्रस्तुत करने की कोशिश करूँगा।

क्या 'लगान' एक ऐतिहासिक (वास्तविक-अर्द्धवास्तविक या काल्पनिक घटना पर केन्द्रित) कथा-फ़िल्म है? या इसकी प्रत्यक्ष कथा महज़ एक कथा-रूपक है जिसके माध्यम से हमारे वर्तमान देश-काल की स्थितियों और अन्तरविरोधों के निगूढ़ यथार्थ को प्रोद्भासित करते हुए कोई विचार—कोई सन्देश प्रक्षेपित करने की कोशिश की गई है? फ़िल्म यदि फ़ैण्टेसी शैली में होती है (जैसे *'ओ डार्लिंग ये है इण्डिया')* या फिर यह कथा-सूत्र का महज़ सहारा लेकर खिलन्दड़े अन्दाज़ में, घटना-रूपकों के ज़रिए वर्तमान का बिम्ब रचती, अर्थ व्यंजित करती चलती है (जैसे *'जाने भी दो यारो'*), तो फ़िल्म की अन्तर्वस्तु की द्वैतीयक पहचान (सेकेण्डरी आइडेंटिफ़िकेशन) भी आसान होती है और विलगाव या दूरत्व (एलिएनेशन या, डिस्टेंसिएशन) भी। लेकिन फ़िल्म का कथा-रूपक यदि पूरी तरह से यथार्थ-बिम्बों की चाक्षुष भाषा में प्रस्तुत किया गया हो तो हमें कुछ कुंजीभूत प्रतीक-संकेतों या आइकॅन को ढूँढ़ना होता है और फ़िल्म के कथा-रूपक की संरचना का सजग विखण्डन करते हुए वर्तमान के सुनिश्चित सन्दर्भों की खोज करनी होती है। मेरी स्पष्ट और दृढ़ राय यह बनी है कि 'लगान' अतीत में औपनिवेशिक सत्ता के दमन और किसानों के प्रतिरोध की स्मृति ताज़ा करने वाली तथा आज के साम्राज्यवाद के विरुद्ध जन एकजुटता का बिम्ब उपस्थित करने और सन्देश देने वाली एक सामान्य पीरियड फ़िल्म है ही नहीं। इतिहास-कथा का सहारा दरअसल एक कथा-रूपक गढ़ने के लिए लिया गया है। यह फ़िल्म इसके माध्यम से वस्तुतः "साम्राज्यवादी वर्चस्व बनाम आम भारतीय जनता" के समकालीन सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक प्रश्न पर एक दृष्टिकोण, एक अवस्थिति, एक विचार प्रस्तुत करती है! इसके ऐतिहासिक चरित्र वाले टेक्स्ट का कन्टेक्स्ट ही नहीं, पूरा कण्टेण्ट ही समकालीन है।

पहले क्लोज़अप शॉट से इस्टैब्लिशिंग शॉट तक फ़िल्म दर्शक को यह विश्वास दिलाने की पूरी कोशिश करती है कि यह एक पीरियड फ़िल्म है। मध्य भारत का मानचित्र, बीच में विजित प्रान्त और उसके बीच में नाचता हुआ विक्टोरिया का चित्रोत्कीर्णित सिक्का। इस्टैब्लिशिंग शॉट में मध्यप्रदेश के कल्पित गाँव चम्पानेर को दिखाया गया है जहाँ 1893 में ब्रिटिश छावनी स्थापित हुई थी। इलाक़े की रियासतों के राजागण अपने आपसी झगड़ों के कारण (क्या सिर्फ़ यही कारण था ऐसे राजाओं-जागीरदारों की औपनिवेशिक ताबेदारी के पीछे?) ब्रिटिश छावनी के हुक्म के बन्दे होकर रह गए थे। चम्पानेर जिस राजा की रियासत में आता था, उसकी भी यही स्थिति थी। गाँवों से लगान राजा के कारिन्दे वसूलते थे, लेकिन मनमानी लगान की दर अंग्रेज़ तय करते थे और बन्दरबाँट में बड़ा हिस्सा भी उन्हीं का होता था। क्रेडिट्स के साथ चलता नैरेटर का आख्यान कथा की पृष्ठभूमि निर्मित करता है।

फिर पहले क्लोज़अप शॉट के साथ हम मूल आख्यान में प्रविष्ट होते हैं। भूमिका के तौर पर औपनिवेशिक सैन्य बल के बूते पर किसानों की लूट के प्रतीकात्मक दृश्य—फ़िल्म की बिम्बावली की इण्डेक्स के रूप में शुरुआत होती है। फ़िल्म की परिदृश्य-निर्मिति में ही पहला झोल सामने आता है—मध्य प्रदेश के गाँव के किसान अवधी और अवधी मिली हिन्दी बोलते दिखते हैं। देश की जनता और उसकी लोकभाषाओं से अपरिचित महानगरीय 'भद्रलोक' को छोड़कर अपनी ज़मीन से वाकिफ़ किसी भी व्यक्ति को यह बात बुरी तरह खटकती है। यही नहीं, भूदृश्य और टोपोग्राफ़ी भी नैरेटर को झुठलाते नज़र आते हैं। परिदृश्य देखते ही भुज (जहाँ वास्तव में फ़िल्म की शूटिंग हुई थी) या सौराष्ट्र का लगता है, मध्य भारत का क़तई नहीं। किसान के दरवाज़े पर बैलों की जो जोड़ी बँधी है, वह नस्ल भी भुज और सौराष्ट्र तथा गुजरात से सटे राजस्थान के एक हिस्से में ही पाई जाती है। इस क़िस्म के झोल, न तो बेनेगल जैसों की फ़िल्मों में मिलेंगे, न ही शान्ताराम, विमल राय आदि की पुरानी फ़िल्मों में।

दूसरा ही दृश्य इंगित करता है कि यह सूखे का दूसरा वर्ष है। चम्पानेर का पागल ज्योतिषी गुरन, जो

नैरेटर के पूरक और फ़िल्मकार के प्रवक्ता जैसी कुछ भूमिका निभाता सामने आता है और फिर एक आम पात्र बन जाता है, भविष्यवाणी करता है कि एक दिन ब्रिटिश शासन का अन्त हो जाएगा। ब्रिटिश ज़ुल्म की बानगी प्रस्तुत करते कुछ और फ्रेम। कहानी के कुछ और पात्रों को प्रस्तुत करने वाले दैनन्दिन जीवन के दृश्य प्रस्तुत करते कुछ फ्रेमों के बाद नायिका गौरी (ग्रेसी सिंह) का प्रवेश होता है जो गुरन की भविष्यवाणी में वर्णित अपने भावी पति का वर्णन भुवन (आमिर ख़ान) से मिलता-जुलता होने से ख़ुश है। भुवन की माँ उसे खोज रही है। गौरी जानती है, वह कहाँ हो सकता है। वह उसे बुला लाने के लिए जाती है। दृश्य-परिवर्तन। फ़िल्म-अध्ययन की तकनीकी भाषा में कहें तो यहाँ तक आते-आते फ़िल्म का रेफ़रेंशल कोड निर्मित हो चुका है और साथ ही, दर्शक का कथावस्तु से प्राइमरी आइडेंटिफ़िकेशन भी हो गया है।

फ़िल्म का खलनायक कप्तान रसल (पॉल ब्लैकथार्न) हिरनों के एक ख़ूबसूरत जोड़े पर निशाना साधे हुए है। वहीं कहीं छुपा हुआ भुवन कंकड़ फेंककर हिरनों को निशाने से दूर भगा देता है। दूसरी बार, ऐसी ही एक विफल कोशिश में वह पकड़ा जाता है। रसेल के सामने पेशी होती है। रसेल उसे जान से मार देने की धमकी देता है। फ़िल्म का एक बाइनरी एलिमेण्ट यहाँ नायक-खलनायक के परम्परागत संघाती युग्म के रूप में सामने आता है। नायक-नायिका सन्दर्भ में सह-खलनायक लाखा लकड़हारा (गौरी को चाहने वाला, भुवन का प्रतिद्वन्द्वी ग्रामीण) पहले ही सामने आ चुका है। गौरी और भुवन की ठिठोली और प्यार के दृश्य के साथ दर्शक लोकप्रिय सिनेमा की परिचित पारदर्शी संरचना द्वारा रचित मायालोक में प्रविष्ट हो जाता है। फ़िल्म में प्रदर्शित घटनाओं को जैसे वह पहचानता है और प्रदर्शित भावनाओं के साथ तदनुभूति महसूस करता है। यानी यहाँ तक आते-आते सेकेण्डरी आइडेंटिफ़िकेशन भी हो चुका है और अब कैथार्सिस की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। फ़िल्म के नैरेटर ने और प्रारम्भिक दृश्यों ने औपनिवेशिक अतीत की जिन स्मृतियों को ताज़ा किया है, स्पेक्टेटर-फॉरमेशन, या दर्शक बनाने के लिए, निर्देशक उस राजनीतिक तत्त्व पर क़तई भरोसा नहीं करता। उसे मात्र एक आवरण और पृष्ठपट के रूप में इस्तेमाल करता हुआ, वह व्यावसायिक लोकप्रिय सिनेमा की बनावट और बिम्बों से दर्शक के पूर्व परिचय पर भरोसा करता है और चुस्त और भव्य, लेकिन शिथिल गति वाली प्रगीतात्मक शैली में फ़िल्म का ढाँचा खड़ा करता है। भुवन और गौरी की पहली मुलाक़ात में छठे दशक की फ़िल्मों का नास्टैल्जिया पुनर्जीवित करने की कोशिश भी व्यावसायिक सफलता की एक गारण्टी के तौर पर ही की गई है। व्यावसायिक सफलता की दूसरी गारण्टी के रूप में फ़िल्म के गीत-संगीत के पक्ष पर विशेष ध्यान दिया गया है। ए.आर. रहमान यहाँ 'टेक्नो-पॉप' से 'टेक्नो-फ़ोक' की ओर संक्रमण करते दीखते हैं।

अगला दृश्य चम्पानेर के राजा (कुलभूषण खरबन्दा) के महल में शुरू होता है जहाँ चाय की टेबुल पर राजा कप्तान रसल से अनुरोध करता है कि वह अपने प्रभाव का इस्तेमाल करके, उसके दुश्मन पड़ोसी राजा के राज्य में स्थित सिद्धेश्वर मन्दिर में उसकी प्रजा को पूजा की इजाज़त दिलवा दे। रसल शर्त रखता है कि पहले राजा उसके साथ मांस खाना स्वीकार करे, जिसे राजा धर्म की दुहाई देता हुआ अस्वीकार कर देता है। क्रुद्ध रसल चम्पानेर के निवासियों से दूना लगान वसूलने का फ़रमान जारी करता है। यहाँ भी इस कहानी में एक हास्यास्पद झोल है। अंग्रेज़ों द्वारा मनमाना लगान वसूली का यह मतलब कदापि नहीं था कि एक छावनी का कप्तान भी जब चाहे लगान की दर दूनी या तिगुनी कर दे।

फिर गाँव का दृश्य। गूँगा बाघा मन्दिर की सीढ़ियों पर ढोल बजाकर आसमान में चढ़ते बादलों की ओर गाँववालों का ध्यान आकृष्ट करता है। ख़ुशी—गीत-नृत्य का दृश्य। लेकिन बादल जैसे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं। फिर राजा के सैनिकों का आगमन और दूने लगान की घोषणा। परेशान किसान मंत्रणा करते हैं। राय बनती है कि गाँववाले राजा के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं करेंगे। वे अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ हैं, राजा के ख़िलाफ़ नहीं। भुवन के सुझाव पर वे अपनी फ़रियाद लेकर राजमहल जाते हैं। राजमहल में उस समय क्रिकेट मैच चल रहा होता है। ग्रामीण उत्सुकता के साथ इस अजीब-अपरिचित खेल को देखते हैं। भुवन को यह कुछ-कुछ गिल्ली-डण्डा जैसा लगता है। इसी बीच पास आ गिरी गेंद को भुवन का एक साथी उठाना

चाहता है जिस पर क्रुद्ध रसल उसे बुरी तरह पीटता है। इस पर भुवन उठता है और गेंद को वह भी छू लेता है। रसल उसे पहचानकर आग-बबूला हो उठता है। फिर उसे प्रतिशोध का एक अनूठा उपाय सूझता है। वह बाज़ी रखता है कि यदि भुवन अपनी टीम बनाकर अंग्रेज़ टीम को क्रिकेट में हरा दे तो तीन साल का लगान माफ़, और यदि वह हार गया तो तीनगुना लगान देना होगा। कोई उपाय न देख भुवन बाज़ी मंजूर कर लेता है।

आगे के दृश्य नाटकीय चढ़ाव-उतार से भरपूर हैं। गाँव वाले पहले भुवन का विरोध करते हैं। फिर वे निरुपाय-निराश महसूस करते हैं। फिर भुवन की मेहनत, आशा और दृढ़ता रंग लाती है। गाँव वालों का समर्थन मिलता है। और बड़ी कुशलता से अलग-अलग लोगों के गुणों की पड़ताल करके भुवन उन्हें अपनी टीम में शामिल करता जाता है। रसल की बहन एलिज़ाबेथ की गाँव वालों के साथ सहानुभूति है। उससे दर्शकों की मुलाक़ात राजमहल की चायपार्टी वाले दृश्य और क्रिकेट मैच वाले दृश्य में हो चुकी है। एलिज़ाबेथ भुवन की टीम की छिपकर मदद करती है और उसे क्रिकेट की तकनीकी बारीकियों से परिचित कराती है।

इधर छावनी का रेज़िडेण्ट कमाण्डर मेजर वारेन रसल को उसकी मूर्खता के लिए लताड़ता है और चेतावनी देता है कि यदि वह मैच हार गया तो उसे सारा लगान अपनी जेब से भरना होगा और उसका तबादला मध्य अफ़्रीका के किसी देश में कर दिया जाएगा।

भुवन की टीम खड़ी होने की प्रक्रिया राष्ट्रीय प्रतिरोध में जनता की एकता बनने का रूपक प्रस्तुत करती लगती है जिसमें सत्ता का दमन भी एक भूमिका निभाता है। टीम में ब्राह्मण वैद्यजी, लुहार अर्जन, मुसलमान कुम्हार इस्माइल और दूर से इस घटना की ख़बर सुनकर आया एक सिख विद्रोही भी है। विकलांग कचरा गेंद अद्‌भुत ढंग से स्पिन करा सकता है, लेकिन उसके भंगी होने के चलते गाँव वाले उसका विरोध करते हैं। भुवन का भावनात्मक भाषण और गाँव-वालों का हृदय-परिवर्तन। चुटकी बजाते दलित-प्रश्न भी हल हो गया और राष्ट्रीय एकता मुकम्मिल हो गई। फ़िल्म के तमाम भोंड़े सरल नुस्ख़ों में यह सबसे घटिया प्रतीत होता है।

इन सबके बावजूद गोवारिकर और आमिर ख़ान अभी व्यंजन के चटख-ज़ायकेदार होने और पसन्द किए जाने के बारे में आश्वस्त नहीं हैं। नतीजतन, दो-चार कलछुल फ़िल्मी मसाले और! एलिज़ाबेथ भुवन से प्यार करने लगती है, मन ही मन। अपनी धुन में मगन भुवन को अहसास नहीं। गौरी चिन्ता और "नारीसुलभ" ईर्ष्या की लपेट में। प्रेम-त्रिभुज का परम्परागत तनाव, मुखर नहीं, सौम्य अण्डरकरेन्ट के रूप में। गौरी से प्रेम करने वाला लकड़हारा लाखा भुवन को नीचा दिखाने के लिए मुखबिरी करता है। रसल एलिज़ाबेथ की गतिविधियों को जानकर उसे फटकारता है। एलिज़ाबेथ अपने वयस्क होने का हवाला देकर प्रतिरोध करती है। वह गुपचुप मदद जारी रखती है।

पूरा गाँव एकजुट हो चुका है। मैच का दिन आ गया है। मेजर वारेन, अन्य शीर्ष अधिकारी और राजा भी दर्शकों में हैं। राजा भुवन की टीम की जीत के लिए व्यग्र है। वह विवश है पर पूरी तरह से "अपनी" जनता के साथ है। तटस्थ अम्पायरिंग के लिए कानपुर से प्रसिद्ध अम्पायर भी आए हैं। फ़िल्म में एक घण्टे से भी कुछ अधिक समय तक, एक-एक पारी वाला यह तीन दिवसीय मैच चलता है। नाटकीय उतार-चढ़ाव और तनाव के बाद भुवन की टीम की जीत। जीत के जश्न में एलिज़ाबेथ को भुवन-गौरी के प्रेम की जानकारी और पीछे क़दम बढ़ाने, रसल के मानमर्दन और इस घटना से अपमानित ब्रिटिश सत्ता द्वारा चम्पानेर से छावनी हटाने के साथ फ़िल्म समाप्त होती है।

कुछ सिनेमा-दीवाने फ़िल्म-विशेषज्ञ इस फ़िल्म के प्रतीतिगत यथार्थ के मिथ्याभास में इस तरह खो गए कि वे इसे वस्तुतः औपनिवेशिक काल के अन्तरविरोधों पर केन्द्रित समझ बैठे और उसी परिप्रेक्ष्य में इसके "पोलिटिकल करेक्टनेस-इनकरेक्टनेस" की पड़ताल करने लगे। जैसाकि हमने पहले ही कहा है, यह फ़िल्म अतीत की कथा नहीं है, बल्कि यह वर्तमान का एक कथा-रूपक है। इसकी कथावस्तु का अक्ष इतिहास या परम्परा का पुनःस्मरण नहीं है, बल्कि हमारे देश-काल का साम्प्रतिक प्रश्न है। यदि आप फ़िल्म के परिघटनात्मक

सतह की सभी घटनाओं के बीच किसी दृष्टिबिन्दु और सामान्य सूत्र की तलाश करते हुए इसकी आन्तरिक संरचना तक पहुँचें तो कथा-रूपक का जो पाठ है उसके भीतर से एक अन्तर्पाठ उद्‌घाटित होता दीखता है। फ़िल्म की संरचना को आप द्वन्द्वात्मक रीति से विखण्डित करते हैं तो टेक्स्ट को एक नया कन्टेक्स्ट मिलता नज़र आता है।

कथा-रूपक के मिथ्याभासी बिम्बों के वस्तुगत उत्सों की शिनाख़्त के लिए, वस्तु और बिम्ब के भौतिक सम्बन्धों की पड़ताल करनी होगी—यानी उस इण्डेक्स पर ग़ौर करना होगा जहाँ से फ़िल्म बिम्ब की शुरुआत होती है। सामान्यतः फ़िल्म में ट्रोप और सिम्बल तो बहुतेरे प्रयुक्त हुए हैं, लेकिन फ़िल्म का एक घण्टा से भी अधिक समय खींचने वाला क्रिकेट का खेल एक कुंजीभूत प्रतिनिधि प्रतीक के रूप में नज़र आता है—औपनिवेशिक ग़ुलामी की स्मृतिगर्भी चेतना का एक आइकॅन—एक ऐसा योजक-सूत्र जो औपनिवेशिक कुलीनता को आज उस आर्थिक नवउपनिवेशवाद के दौर की कुलीनता से जोड़ता है जो सभी भूतपूर्व ब्रिटिश उपनिवेशों की एक अभिलाक्षणिकता है। विकसित देशों में यद्यपि क्रिकेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड के अतिरिक्त कहीं नहीं खेला जाता लेकिन हमारे समाज में यह मध्यवर्गीय कुलीनों की मिथ्याभासी श्रेष्ठता-बोध (वास्तव में हीनता-बोध) की एक ग्रन्थि है कि आज हम गोरों को गोरों के खेल में टक्कर दे रहे हैं। पचहत्तर फ़ीसदी आम आबादी में से पचास फ़ीसदी इससे दूर है और शेष पच्चीस फ़ीसदी इसे नायकों-महानायकों का निर्माण करने वाले मायालोक के रूप में देखती है। क्रिकेट के नायक-महानायक आज सिनेमा के नायकों-महानायकों को टक्कर दे रहे हैं, विज्ञापन-जगत में उनकी छवि बिकती है। वे अपने आप में आइकॅन हैं।

ज़रा इस हाइपोथीसिस को लेकर आगे बढ़ें कि क्रिकेट का खेल ही वह योजक-सूत्र है जो सिने-आख्यान के ऐतिहासिक पाठ को वर्तमान के किसी अन्तर्पाठ से जोड़ता है। एकदम आम ग़रीबों का क्रिकेट सीखकर नियमित अभ्यासी ब्रिटिश टीम को हरा देना—क्या यह कुछ वैसी ही सिने-फन्तासी नहीं है जैसी यह कि एक मेहनती ग़रीब, अपनी मेहनत और लगन से अक़सर करोड़पति बन जाता है और बड़े-बड़े व्यवसाइयों को उन्हीं के खेल में शिकस्त दे देता है? अब हम रूपक को भेदकर कथा-संरचना में प्रविष्ट होते हैं।

हम आपको अपने समय की एक कथा सुनाते हैं। भारत की आम जनता को एक चुनौती दी जा रही है कि वह खुले बाज़ार का खेल खेले। इस खेल में यदि वह पश्चिम को हरा दे तो समृद्धि और ख़ुशहाली की ट्रॉफ़ी उसके पास और साम्राज्यवादी हर वर्ष जो ब्याज़, रायल्टी और मुनाफ़े के अरबों रुपये ले जाते हैं, वह "लगान" माफ़, अन्यथा "ऋणजाल" का तिगुना "लगान"। हमारे समाज के जो नये "नायक" हैं, वे इस चुनौती को स्वीकार करने के हामी हैं, उनका भी तर्क यही है कि हमारे सामने और कोई चारा नहीं है और हम भारतीय यदि एकजुट होकर, अपनी काहिली छोड़कर, मेहनत से सीखकर यह खेल खेलें तो जीत सकते हैं। भूखों को ऊँचे सपने देखने को ललकारा जा रहा है, उन्हें राष्ट्रीय एकता का पाठ पढ़ाया जा रहा है। अब यह मानने के पर्याप्त आधार दीख रहे हैं कि क्रिकेट मैच एक रेफ़रेंशल कोड है। इसका इस्तेमाल 'सिनेकडोशे' (synecdoche, यानी किसी पूरी वस्तु के लिए उसके किसी अंश का प्रयोग या इसका विलोम) जैसे फ़िल्म-बिम्ब के रूप में हुआ है और फिर 'मेटोनिम' जैसा स्थानान्तरित आलंकारिक प्रयोग करते हुए आज के खुले बाज़ार के "खेल" का रूपक रचा गया है।

जैसे 'लगान' के क्रिकेट मैच में दिखाया गया है, आज खुले बाज़ार की नीतियों के सिद्धान्तकार और प्रवक्ता हमें यह बताने की कोशिश कर रहे हैं कि साम्राज्यवादी ताक़तें खेल के नियमों को मानकर स्वस्थ खेल भावना के साथ यह "खेल" खेलेंगी और (अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियों की) अम्पायरिंग भी तटस्थ और न्यायनिष्ठ होगी। इस "खेल" में देशी वित्तीय-औद्योगिक प्रतिष्ठानों के अधिपति (जैसे फ़िल्म में राजा) पूरी तरह से दिल से जनता के साथ हैं। यदि साम्राज्यवादियों के साथ 'गँठजोड़' करके वे मुनाफ़ा रूपी लगान-वसूली के जूनियर पार्टनर बने हुए हैं तो यह उनकी मजबूरी है। साम्राज्यवादी विश्वतंत्र में मेजर वारेन जैसे लोगों के होने का भी हमें विश्वास दिलाया जा रहा है जो भारतीयों के खेल-कौशल पर मुग्ध होकर ताली बजाएँगे

और हार को हार के रूप में स्वीकारेंगे। यदि कुछ लोग इस "खेल" में कपट और धाँधली का सहारा लेते भी हैं तो केवल रसल जैसे कुछ "व्यक्ति" (एनरॉन, शेल, यूनियन कार्बाइड जैसी कुछ कम्पनियाँ मान लें इन्हें) हो सकते हैं।

'लगान' में जैसे एलिज़ाबेथ है, वैसे पश्चिम के कुछ ऐसे बुद्धिजीवी और स्वयंसेवी एजेंसियाँ हैं, जिनका मानना है कि भारत जैसे ग़रीब देशों के साथ, खुले बाज़ार के "खेल" में उन्हें तैयारी व प्रशिक्षण का अवसर न देकर अन्याय हो रहा है (कम से कम ऐसा वे कहते तो हैं ही); और वे हमें इस "खेल" की बारीकियाँ बताना चाहते हैं और कोई धाँधली होने पर "खेल" के नियमों का हवाला देते हुए हस्तक्षेप करते हैं (जैसे कि एलिज़ाबेथ करती है) ताकि "खेल" निर्बाध चलता रहे। स्वयंसेवी संस्थाएँ हैं तो विषकन्याएँ, पर विश्वास दिलाया जा रहा है कि वे भारत के लोगों को चाहती हैं (जैसे कि एलिजाबेथ भुवन को)। आप देखें, हमें आज यह समझाया जाता है कि खुले बाज़ार के "खेल" के खिलाड़ी और अन्तरराष्ट्रीय एजेंसियाँ इतनी न्यायनिष्ठ हैं कि वे भारत सरकार की मदद के लिए ज्योफ़्री साक्स और उस जैसे बहुतेरों को वित्तीय-आर्थिक नीतियों के मामले में सलाहकार तक बनाकर भेजती रहती हैं।

फ़िल्म में अन्ततोगत्वा भुवन की टीम की विजय भारतीय जनता के अवचेतन मन में यह विश्वास पैठाने की एक कलात्मक कोशिश है कि खुले बाज़ार के जिस "खेल" से हम सर्वथा अपरिचित हैं और जिसे खेलने की तकनीक और साज़ो-सामान तक हमारे पास नहीं हैं, वह "खेल" हम अपनी एकता, लगन व मेहनत के बूते और साम्राज्यवादी आर्थिक विशेषज्ञों की मदद से जीत सकते हैं। इस "खेल" में हमारा देशी शासक वर्ग दिल से हमारे साथ है। क्या यह अवस्थिति काफ़ी हद तक 'स्वदेशी जागरण मंच' वालों जैसी नहीं है जो "खेल" तो खेलना चाहते हैं उदारीकरण-निजीकरण का लेकिन ज़ोर देते हैं विशुद्ध भारतीय संस्कृति पर (जैसे खाँटी ग्रामीण वेशभूषा में क्रिकेट खेलती भुवन की टीम!)? वैसे इस अवस्थिति का सादृश्य उन तमाम चिप्पी-पैबन्दवादियों और सामाजिक-जनवादियों की अवस्थिति से भी निरूपित किया जा सकता है जो 'स्वदेशी' की बात करते हुए खुले बाज़ार का खेल "होशियारी से" खेलने के हिमायती हैं!

इतिहास-यात्रा का विभ्रम रचती हुई 'लगान' की कहानी वस्तुतः वर्तमान के मायालोक की ही एक यात्रा है, जो हमारे समय की गतिकी को जैसे शासक वर्ग देखता है, उसी तर्क को हमारे दिलो-दिमाग़ में पैठाने की कोशिश करती है। शासक और शासित के बीच के सम्बन्धों को "खेल" के रूप में प्रस्तुत करता यह उपक्रम परम्परागत लोकप्रिय भारतीय फ़िल्मों की लिरिकल संरचना का नास्टैल्जिया जगाता है, लेकिन परवर्ती पूँजीवाद का तर्क प्रस्तुत करता हुआ, समकालीन यथार्थ पर यह एक उत्तरआधुनिक विमर्श है।

चूँकि कथा-रूपक की संरचना, फन्तासी से भिन्न एक सामान्य आख्यान जैसी होती है, इसलिए उसमें जारी घटना-प्रवाहों और उसके मोड़ों-घुमावों के भीतर भी हम फ़िल्मकार की वर्ग-अवस्थिति और जीवन-दृष्टि की पड़ताल और पहचान कर सकते हैं। कुछ उदाहरण लें। हिरनों का जोड़ा यदि गाँव के सीधे-सादे लोगों का 'ट्रोप' है तो उनका मुक्तिदाता भुवन उनमें से एक नहीं है। हिरन स्वयं नहीं लड़ सकते। वे बचाव में केवल भाग सकते हैं। उनका उद्धारकर्ता, उनसे 'अन्य' ही कोई हो सकता है—यह है नेता और नायक की शासकवर्गीय अवधारणा। दूसरा उदाहरण, राजमहल की चाय पार्टी में "कर्म के लिए धर्म का रास्ता" न छोड़ने का राजा का संवाद यदि देश-काल की यथार्थ-प्रस्तुति के लिए भी रखा गया हो तो आज के भारत में यह स्वतः एक संघी निहितार्थ ग्रहण कर लेता है। एक सजग पक्षधर फ़िल्मकार इस प्रसंग से बच सकता था। तीसरा उदाहरण, किसानों द्वारा यह कहलवाकर कि "ग्रामवासी अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ हैं, राजा के ख़िलाफ़ नहीं" तथा अंग्रेज़ों के टट्टू, उनकी दया पर निर्भर, कायर-काहिल-विलासी राजे-रजवाड़ों के प्रतिनिधि चरित्र को किसानों के अन्दरूनी हमदर्द के रूप में दिखाते हुए गोवारिकर और आमिर ख़ान ने अपनी वर्ग-अवस्थिति एकदम स्पष्ट कर दी है। चौथा उदाहरण, भारतीय समाज के बर्बरतम उत्पीड़न के एक प्रश्न—दलित प्रश्न का जो लाक्षणिक समाधान हृदय-परिवर्तन के द्वारा और समन्वयवादी रूप में पेश किया गया है और जिस तरह से सवर्ण-पिछड़े समाज द्वारा अपनाए गए अस्पृश्य पात्र को अन्त तक दयनीय और कृतज्ञ रूप में

दिखलाया गया है, वह इतना घटिया है कि घिन पैदा करता है। उपरोक्त तीसरे और चौथे उदाहरण से तो यह फ़िल्म एकदम संघ-स्वदेशी और उसके सामंजस्यपूर्ण वर्णाश्रम धर्म आधारित राष्ट्रीय एकता के क़रीब खड़ी दिखाई पड़ती है, भले ही ये मूल्य वास्तविक कथा में नहीं बल्कि एक कथा-रूपक में निरूपित हुए हों। पाँचवाँ उदाहरण, फ़िल्म की स्त्रियाँ मूल कथा में कहीं भी सक्रिय कारक उपादान न होकर अस्मिताविहीन स्त्रियाँ हैं, जबकि आम तौर पर किसानी समाज की स्त्रियाँ, पुरुष-स्वामित्ववाद का शिकार होने के बावजूद, सामन्ती और मध्यवर्गीय परिवारों से अलग, उत्पादन, निर्णय और आन्दोलन की कार्रवाइयों में हमेशा से सक्रिय हिस्सेदार की भूमिका निभाती रही हैं। फ़िल्मकार ने स्त्रियों के प्रति आज सर्वव्याप्त ग़ैरजनतांत्रिक निम्न-बुर्जुआ नज़रिए को स्त्री चरित्रों पर आरोपित कर दिया है।

और अन्त में, सबसे निकृष्ट बात तो यह है कि शासक और शासित के बीच निर्णायक संघर्ष के लिए क्रिकेट मैच का रूपक खड़ा करना भी बुर्जुआ जनवाद के सांविधानिक जनतांत्रिक मार्ग की जुगुप्सापूर्ण वकालत और जनता के संघर्षों का अपमान और एक सही इतिहास-दृष्टि का निषेध है। अतीत की कहानी एक कथा-रूपक हो तो भी यह उन अनगिन किसान संघर्षों का अपमान है जिनसे राष्ट्रीय प्रतिरोध संघर्ष के इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं।

अब हम कह सकते हैं कि हमारी हाइपोथीसिस सही है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि आम जनता के साथ ही इस फ़िल्म पर आप्रवासी भारतीय धनपति और भाजपाई नेता भी क्यों मुग्ध हैं और 'मैनेजमेण्ट-गुरु' लोग क्यों इसे टीम-स्पिरिट के उदाहरण के रूप में पेश कर रहे हैं। जैसा कि हमने शुरू में ही कहा है, ज़रूरी नहीं कि आशुतोष गोवारिकर और आमिर ख़ान ने वर्तमान समय को जान-बूझकर एक कथा-रूपक के रूप में उपस्थित किया हो। हो सकता है कि वे वास्तव में इतिहास का ही एक आख्यान रच रहे हों (और तब भी उनकी वर्ग-अवस्थिति के बारे में हम इसी निर्णय पर पहुँचते) लेकिन उनके आभ्यतंर जगत में वर्तमान देश-काल का जो प्रश्न उभड़ता-घुमड़ता रहा है, और उसके प्रति जो उनकी संवदेनात्मक-ज्ञानात्मक प्रतिक्रिया रही है, उसने उनके ऐतिहासिक सिने-आख्यान को वर्तमान के ऐसे कथा-रूपक में रूपान्तरित कर दिया है जो पूरी तरह से सत्ता पक्ष की वर्ग-अवस्थिति से प्रस्तुत किया गया है।

●

'ग़दर' फ़िल्म की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। यह फ़िल्म बँटवारे के समय पर केन्द्रित है। इतिहास यहाँ किसी कथा-रूपक का आधार नहीं बनता, बल्कि सिने-आख्यान का वास्तविक आधार बनता है। लेकिन विभाजन की घटना या उस घटना का करोड़ों आम लोगों के जीवन पर, भारतीय उप-महाद्वीप की राजनीति पर अथवा सामाजिक ताने-बाने पर पड़ने वाला प्रभाव फ़िल्म के कथा-प्रवाह के केन्द्र में नहीं है। विभाजन की घटना एक सिख युवक और मुस्लिम युवती के प्रेमकथा के चढ़ावों-उतारों की पृष्ठभूमि मात्र प्रतीत होती है। लेकिन मुख्य बात यह है कि इस प्रेम-कथा को जिस सिने-भाषा और चाक्षुष बिम्ब-विधान के साथ, जिस ढंग से और जिस समय में प्रस्तुत किया गया है, उससे यह विशिष्ट अर्थ उद्‌भासित-अभिव्यंजित करने लगती है। प्रकारान्तर से यह राष्ट्र-गौरव का अन्धराष्ट्रवादी आख्यान और धर्म-प्रतिष्ठा-रक्षा की हिन्दुत्ववादी गाथा बन जाती है।

'लगान' फ़िल्म आज की संघ-स्वदेशी "नवउदारवादी" (पढ़ें, आर्थिक कट्टरपन्थी) विचारधारा की अपरिहार्य तर्कसंगति से कनविंस करने की कोशिश करती है, तो 'ग़दर' अत्यधिक लाउड और मेलोड्रामेटिक अन्दाज़ में राष्ट्रीय इतिहास के एक त्रासद अध्याय का हिन्दुत्ववादी, अन्धराष्ट्रवादी पाठ प्रस्तुत करती है। 'लगान' लोकप्रियता के नुस्खों के साथ-साथ एक क़िस्म की मध्यवर्गीय सुरुचिपूर्ण कलात्मकता का संश्लेषण करती है, जबकि 'ग़दर' में तमाम कोशिशों के बावजूद, तड़क-भड़क, ग्लिसरीनी भावुकता और रैम्बो-स्टाइल नायकोचित कारनामों से भरपूर बम्बइया फ़ार्मूलेबाज़ी हावी है। लेकिन दोनों फ़िल्मों का मूल फ़र्क़ यह नहीं है कि दोनों दो क़िस्म के दर्शक-समुदायों को सम्बोधित हैं (वास्तविकता भी यही है कि एक ही दर्शक समुदाय ने दोनों

फ़िल्मों को सराहा), बल्कि मूल फ़र्क़ यह है कि 'लगान' का ज़ोर यदि मुख्यतः आर्थिक कट्टरपन्थ के एजेण्डे पर है तो 'ग़दर' का ज़ोर धार्मिक कट्टरपन्थी एजेण्डे पर। इन दोनों कट्टरपन्थों का सहमेल हमारे समय का सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण, अपवित्रतम गठबन्धन है। यह इत्तफाक है कि जिस समय उदारीकरण-सम्बन्धी सबसे अहम फ़ैसले लिये गए और जिस समय हिन्दुत्व की प्रयोगशाला गुजरात में राज्य मशीनरी द्वारा उन्मादी फ़ासिस्ट दंगाइयों की मदद से मुस्लिम आबादी का सर्वाधिक बर्बर और संगठित ढंग से क़त्लेआम हुआ, उसके ठीक एक वर्ष पहले ये फ़िल्में रिलीज़ हुईं और पूरे देश में इन्होंने ख़ूब धूम मचाई।

'ग़दर' की शुरुआत एक क्लासिक पीरियड फ़िल्म की तरह सुरुचिपूर्ण ढंग से होती है, लेकिन फिर जल्दी ही फ़िल्म अपने असली रंग पर आ जाती है। फ़िल्म का कथा-सूत्र बेहद सामान्य है। एक सामान्य, बार-बार दुहराई गई कहानी, जिसे निर्देशक अनिल शर्मा ने अति भावुकता, अतिनाटकीयता और नायक की 'सुपरमैन' छवि वाली वीरता आदि मसालों से भरकर लोकलुभावन बनाने में कोई कसर नहीं उठा रखी है। लेकिन सामान्य प्रेमकथा के मनोरंजन के साथ विभाजन की पृष्ठभूमि पर खड़ी कहानी जो सन्देश देती है, वही अन्ततोगत्वा महत्त्वपूर्ण होकर सामने आता है। नायक और खलनायक दो देशों के साथ ही दो समुदायों के प्रतिनिधि चरित्र बनकर सामने आते प्रतीत होते हैं, और यही इस फ़िल्म को प्रकारान्तर से साम्प्रदायिक फ़ासीवाद और अन्धराष्ट्रवाद का सन्देशवाहक बना देता है।

फ़िल्म का इस्टैब्लिशिंग शॉट नैरेटर के आख्यान और दृश्यों के सुसम्पादित संयोजन से फ़िल्म की कथा की देश-काल पृष्ठभूमि तैयार करते हुए स्पष्ट करता है कि कहानी 1947 में देश के बँटवारे, दंगों की विभीषिका और करोड़ों लोगों के विस्थापन के समय पर केन्द्रित है।

कहानी की शुरुआत, पाकिस्तान के मियाँवाली ज़िले के पीपला से होती है। हिन्दुस्तान जा रही स्पेशल गाड़ी से एक सिख परिवार रवानगी की तैयारी में है। यही नायक तारा सिंह (सनी दूयोल) का परिवार है—माता-पिता और दो बहनें। कारुणिक दृश्य। पिता दोनों बेटियों को ज़हर की पुड़िया देता है कि मुसलमानों को अस्मत मत लूटने देना, ज़हर खा लेना। पड़ोसी गुल ख़ान आता है और दुख प्रकट करता है। अगले लाँग शॉट में शरणार्थियों की लम्बी कतारें और नैरेटर की घोषणा। यहीं से फ़िल्म के सम्पादन और संवादों में कई जगह झोल नज़र आने लगते हैं। पूरी फ़िल्म में कई जगह नैरेटर ग़ैरज़रूरी बोलता है और पात्र भी। इन्हें यहाँ गिनाना बेकार है। अनिल शर्मा की फ़िल्म में यह तो होना ही है। इसलिए कला-शिल्प-तकनीक के बहुतेरे पहलुओं को छोड़कर आगे हम कहानी की मात्र एक ज़रूरी संक्षिप्त रूपरेखा देंगे ताकि इस फ़िल्म के चरित्र और सन्देश को पहचाना जा सके।

ट्रेन रवानगी से पहले ही दंगाई शरणार्थियों पर हमला करते हैं। मारकाट, बलात्कार आदि को अत्यन्त कुशल कैमरा मूवमेण्ट्स के साथ फ़िल्माया गया है। तारा के माँ-बाप मारे जाते हैं। बहनें ज़हर खा लेती हैं। लाशों से लदी ट्रेन अमृतसर पहुँचती है। फिर "क्रिया की प्रतिक्रिया" दिखलाई गई है, पर उतने ग्राफ़िक डिटेल्स के साथ नहीं। अमृतसर प्लेटफ़ॉर्म पर तारासिंह को भी अपने परिवार का इन्तज़ार करते दिखलाया गया है। ट्रेन की स्थिति देख उसके ऊपर भी जुनून सवार हो जाता है। अमृतसर में मुसलमानों के क़त्लेआम से हटकर कैमरा जल्दी ही फ़िल्म के खलनायक, जाने-माने बिज़नेस मैन अशरफ़ अली (अमरीश पुरी) की हवेली में पहुँचता है। वहाँ दर्शक का परिचय उनकी बेटी और फ़िल्म की नायिका सकीना (अमीषा पटेल) से होता है। दंगाई अशरफ अली के घर पर हमला करते हैं। अशरफ अली अपने परिवार के साथ लाहौर की ट्रेन पकड़ने के लिए लारी पर बैठते हैं। चलते-चलते लौटकर सकीना एक छोटा-सा खिलौना लेकर आती है। आगे फ़िल्म में बार-बार यह खिलौना और लाइटमोटिफ गीत (होऽऽ ओऽऽ हो ओ ओ ओ) नायक-नायिका के प्रेम के प्रतीक और संकेत के रूप में आते हैं। स्टेशन पर जमा दंगाइयों की भीड़ में तारासिंह भी है। वह सकीना को देखकर ठिठक जाता है। सकीना के हाथ में उसका दिया खिलौना है। इसके बाद दंगाइयों के हमले में सकीना का परिवार से बिछड़ना, हंगामा, ख़ून, लाशें और फिर सकीना को तारा के हाथों नाटकीय ढंग से बचाया जाना। हमलावर जब "मुसलमानी" कहते हुए सकीना को छीनना चाहते हैं तो तारा अपने ख़ून

से उसकी माँग भरकर कहता है, "ये हो गई सिखणी।" तारा सकीना को ट्रक में बैठाकर घर ले जाता है। डैशबोर्ड पर वही खिलौना। बाहर शहर जल रहा है।

इस बीच क़रीब पच्चीस मिनट के फ्लैशबैक में निर्देशक दर्शकों को यह बतला देता है कि तारा-सकीना एक-दूसरे से शिमला में परिचित हुए थे जहाँ सकीना गर्ल्स हॉस्टल में रहती थी और ट्रांसपोर्ट का कारोबारी तारा वहाँ खाद्य सामग्री पहुँचाने का काम करता था। विशेष सिनेमाई घटनाक्रम में तारा से सकीना की अव्यक्त नज़दीकी बनना, कालेज के वार्षिक जलसे में तारा को नाटकीय ढंग से सकीना द्वारा मंच पर आमंत्रण, तारा का गीत और फिर इसके बाद शिक्षा पूरी करके सकीना का हॉस्टल छोड़ने का दृश्य। हॉस्टल छोड़ने के समय तारा सकीना को तोहफ़े में वही खिलौना देता है, जो पहले दिखलाया जा चुका है और सकीना तारा को एक फूल देती है। लाइटमोटिफ गीत के साथ फ्लैशबैक समाप्त होता है।

तारा सकीना को लेकर घर पहुँचता है। एक बार और दंगाइयों का हमला। तारा फिर सकीना को बचाता है। सकीना को अपने माँ-बाप के मारे जाने की ख़बर मिलती है। मायूस होकर वह आत्महत्या की कोशिश करती है। तारा बचाता है। तारा की ताई घर में मुस्लिम लड़की रखने से क्रुद्ध, पर फिर तरस खाकर उसे किसी शरणार्थी शिविर में छोड़ आने को कहती है। सकीना तारा को तैयार कर लेती है कि वह उसे लाहौर तक छोड़ दे। सामान समेटते समय उसे एक नोटबुक में सहेजकर रखा गया वह फूल मिलता है जो उसने हॉस्टल छोड़ते समय तारा को दिया था। उसे विश्वास हो जाता है कि तारा भी उससे प्रेम करता है। वह स्वयं अपने प्यार को प्रकट करना चाहती है। अन्तर्द्वंद्व।

एक बार फिर ट्रक पर तारा और सकीना पाकिस्तान की ओर। 'ड्रीम सीक्वेंस' की तरह फ़िल्माए गए गीत में दोनों के मानसिक उथल-पुथल की अभिव्यक्ति। सरहद आ गई है। सकीना भावुक क्षणों में तारा के प्रति अपने प्रेम को प्रकट करते हुए कहती है कि वह उससे अलग नहीं होना चाहती। वापसी। तारा के ताया-ताई का हृदय-परिवर्तन। विवाह। सुहाग रात पर सकीना की फ़रमाइश पर तारा वही गीत 'उड़ जा काले कावा रे' सुनाता है। इसी गीत के दौरान निर्देशक ने तारा-सकीना के गार्हस्थ्य और बेटे चरनजीत के पैदा होने और बड़े होने तक के पूरे समय को कम्प्रेस्ड फ़ॉर्म में प्रस्तुत किया है।

अख़बार में वालिद अशरफ़ अली का चित्र देख सकीना को पता चलता है कि वे जीवित हैं। वह पति-बेटे के साथ पाकिस्तान दूतावास जाती है। अशरफ अली लाहौर के नये मेयर हैं। उन्हें भी बेटी के ज़िन्दा होने की ख़बर मिलती है तो बेहद ख़ुशी होती है लेकिन एक सिख से शादी और उसके बेटे की माँ होने की ख़बर से उन्हें बेहद रंज होता है। वे षड्यंत्र रचते हैं। सकीना को वीज़ा मिल जाता है जबकि तारा और चरनजीत को अभी इन्तज़ार करना है। लाहौर पहुँचकर सकीना को इस षड्यंत्र का अहसास होता है। बलपूर्वक उसकी शादी उसके मामूज़ाद भाई से कराई जा रही है। इधर तारा को भी षड्यंत्र का पता चलता है। वह अपने मित्र दरम्यान सिंह और बेटे को लेकर लाहौर पहुँचता है, ऐन शादी के दिन। वह वही गीत गाता है—'उड़ जा काले कावा।' सकीना भी गाने लगती है। परिवार का मिलना। सैकड़ों मेहमानों के सामने अशरफ़ अली बेइज़्ज़त महसूस करते हैं। अब वे नई चाल चलते हैं। उनकी शर्त है कि सकीना को पाने के लिए तारा को इस्लाम कुबूल करना होगा। अगले दिन मसजिद में तारा जब यह भी कर लेता है तो अशरफ अली कहते हैं कि एक सच्चे मुसलमान की तरह उसे 'पाकिस्तान ज़िन्दाबाद' और "हिन्दुस्तान मुर्दाबाद" कहना होगा। तारा इन्कार कर देता है। भीड़ उस पर हमला कर देती है। तारा, दरम्यान, सकीना और चरनजीत के साथ मसजिद से भागता है।

यहाँ से फ़िल्म खाँटी बम्बइया फ़ार्मूलेबाज़ी के रंग में 20-25 मिनट तक चलती है। तारा आदि का पहाड़ी इलाक़े में छिपना, गुल ख़ान की मदद से अमृतसर जाने वाली मालगाड़ी में सवार होना, हेलीकाप्टर पर सवार अशरफ़ अली का गोलियाँ बरसाते हुए ट्रेन का पीछा करना, सकीना को गोली लगना, पाकिस्तान के सैनिक अस्पताल में बेटे चरनजीत की आवाज़ में अपना चिर परिचित गीत सुनकर उसका होश में आना, अन्ततोगत्वा अशरफ़ अली का हृदय-परिवर्तन। तारा का सपरिवार अमृतसर लौटना। गलियों में रौनक, उल्लास, गीत के

साथ फ़िल्म समाप्त होती है।

फ़िल्म में यदि विभाजन की पृष्ठभूमि नहीं होती तो यह एक अतिसामान्य, मेलोड्रामेटिक क़िस्म की बम्बइया फ़ार्मूला फ़िल्म होती। लेकिन पृष्ठभूमि ने इस पूरी प्रेमकथा को एक तरह से हिन्दुत्ववादी कट्टरपन्थ का सन्देश-वाहक बना दिया है। कहने को कहा जा सकता है कि फ़िल्म में दोनों तरफ़ के दंगाई दिखलाए गए हैं, गुल ख़ान जैसे मुसलमान चरित्र भी दिखलाए गए हैं, दंगों के ख़िलाफ़ प्रत्यक्ष-परोक्ष स्टेट्मेण्ट्स भी हैं, विभाजन में गोरों की भूमिका की ओर इंगित भी है और अशरफ़ अली जैसों का हृदय-परिवर्तन भी है। लेकिन इसका प्रतितर्क भी दिया जा सकता हैं। कहा जा सकता है कि यूँ तो भाजपा में भी शाहनवाज़ हुसैन, सिकन्दर बख़्त जैसे मुसलमान नेता हैं, प्रधानमंत्री मुखौटाधारी स्वयंसेवक जी भी शान्ति-सद्भाव-भाईचारा आदि की जुगाली सोते-ऊँघते करते ही रहते हैं और भाजपाई भी मानते हैं कि विभाजन में अंग्रेज़ों की **भी** साज़िश थी। इन चीज़ों से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है। जितनी भी पाकिस्तान-विरोधी अन्धराष्ट्रवादी फ़िल्में बनती हैं उनमें प्रायः कुछ देशभक्त मुसलमान चरित्र रखे जाते हैं, पर पूरा पाठ हमारे समाज में यूँ सन्दर्भित होता है कि मुसलमानों को इन जैसा ही होना चाहिए, जो कि वे नहीं हैं। रचनाकार की विचारधारात्मक अवस्थिति यदि बहुत सचेतन तौर पर प्रतिक्रियावादी न हो, तो *भी*, किसी टेक्स्ट का कण्टेक्स्ट उस देश-काल से निर्धारित होता है जिसमें हम रह रहे होते हैं। जैसे कि, मध्यकाल या उन्नीसवीं शताब्दी की कोई ऐसी रचना हो सकती है जो आज कट्टर हिन्दुत्ववादी अर्थ-सन्दर्भ ग्रहण कर ले। आज, 6 दिसम्बर, 1992 से 2002 के गुजरात तक की यात्रा तय करने वाले भारत में यदि देश के विभाजन पर कोई भी फ़िल्म बनेगी तो जनपक्षीय, वस्तुपरक, वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि से सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचलन भी एक सुनिश्चित निहितार्थ ग्रहण कर लेगा। यह स्पष्ट ध्रुवीकरण का समय है। या तो इतिहास को भारत या पाकिस्तान के शासक वर्ग तथा दोनों ओर के मूलतत्त्ववादियों के नज़रिए से पेश किया जा सकता है, या फिर दोनों ओर की आम जनता के नज़रिए से पेश किया जा सकता है। यदि इतिहास महज़ पृष्ठभूमि के रूप में इस्तेमाल हुआ हो, तो भी यही बात लागू होती है। यदि कोई राजनीतिक रूप से असजग, मूढ़मति निर्देशक भी विभाजन की पृष्ठभूमि पर फ़िल्म बनाएगा तो भी, उसके अनजाने ही, उसकी फ़िल्म की एक सुनिश्चित राजनीतिक अवस्थिति होगी, उसका एक सुनिश्चित मेसेज होगा। किसी भी फ़िल्म के जो आन्तरिक द्वन्द्वात्मक तनाव होते हैं, वे प्रदर्शन के दौरान फ़िल्मकार की विश्वदृष्टि और दर्शक की अपनी विश्वदृष्टि के बीच द्वन्द्वात्मक टकराव की शक्ल में सामने आते हैं। यह प्रक्रिया एकतरफ़ा हो जाती है क्योंकि दर्शक फ़िल्म को प्रभावित नहीं कर सकता जबकि फ़िल्म दर्शक को प्रभावित करती है। फ़िल्म देखते समय दर्शक की मानसिक स्थिति अपने देश-काल में घट रही घटनाओं से प्रभावित-अनुकूलित होती है। फ़िल्म अपनी वैचारिक अवस्थिति के हिसाब से या तो इस प्रभाव और अनुकूलन के पक्ष में काम करती है या प्रतिपक्ष में।

तमाम सतही, मेलोड्रामेटिक मानवतावादी प्रसंगों और हृदय-परिवर्तनों के बावजूद, 'ग़दर' हिन्दुत्ववादियों के समसामयिक एजेण्डे के पक्ष में जनमत तैयार करने वाली फ़िल्म है। फ़िल्म ख़त्म होने के बाद ज़्यादातर आम दर्शक कुछ उसी तरह से ख़ुश और उत्साहित दीखते हैं जैसे फ़िल्म में उन्होंने पाकिस्तान पर भारत की जीत देखी हो। बात स्पष्ट करने के लिए, हम एक काल्पनिक वैकल्पिक स्थिति का सहारा लें। मान लें कि इस फ़िल्म में तारा की जगह कोई मुसलमान चरित्र हो और सकीना की जगह हिन्दू चरित्र। बाक़ी सब कुछ इसी हिसाब से उलट दिया जाए। जैसे, नायिका से बेइन्तहा प्यार करने वाला नायक उसे तमाम मुश्किलों से निकालकर अपने मुल्क पाकिस्तान ले जाते हुए दिखलाया जाए। तो? एक तो ऐसी फ़िल्म कोई बनाएगा नहीं। यदि बनी तो प्रदर्शित नहीं होगी और प्रदर्शित होगी तो सिनेमा हालों पर ढेले-पत्थर चल जाएँगे। यानी, ज़ाहिरा तौर पर, इस फ़िल्म में दोनों ओर के दंगाइयों, दोनों देशों के सत्ताधारियों और हिन्दू-मुसलमानों को एक ही तराजू के दो पलड़ों पर बराबर-बराबर नहीं तोला गया है।

फ़िल्म में अशरफ़ अली के घर पर ईद के जलसे में गाई जा रही ठुमरी को लेकर एक अतिथि उर्दू से तुलना करते हुए हिन्दी पर नकारात्मक टिप्पणी करता है। यह प्रसंग भी प्रकारान्तर से एक साम्प्रदायिक

सन्देश ही देता है क्योंकि पहले से साम्प्रदायिक ताक़तों द्वारा किए जाते रहे प्रचार के परिप्रेक्ष्य में ही जनता इसे देखेगी।

अन्धराष्ट्रवादी और साम्प्रदायिक नज़रिए के साथ पुरुष-वर्चस्ववाद अनिवार्यतः जुड़ा होता है। हर तरह का धार्मिक कट्टरपन्थ स्त्री को इन्सान का दर्जा देने के बजाय इज़्ज़त की प्रतीक-वस्तु के रूप में देखता है। यह फ़िल्म भी यही नज़रिया पेश करती है। बेटे की मौत से ज़्यादा गम अशरफ़ अली को बेटी के हिन्दुओं के हाथ पड़ जाने का है। उसकी वापसी को वे अपनी शान का सवाल बना लेते हैं। उसी सकीना को तारा अन्ततः अमृतसर लाने में सफल होता है और तब यदि दर्शक इसे पाकिस्तान पर भारत की या मुसलमानों पर हिन्दुओं की जीत के रूप में देखे तो आश्चर्य की कोई बात नही। मान लें कि फ़िल्म में महज़ प्यार की जीत की कहानी दिखाई गई है, तो पहले की ही तरह यहाँ भी हमारा सवाल है कि क्या इसकी विलोम स्थिति को दिखाने पर भी दर्शक इसे प्यार की जीत मानकर उतना ही ख़ुश होते?

लाहौर की मसजिद में असली मुसलमान होने के सबूत के तौर पर तारा के सामने "पाकिस्तान ज़िन्दाबाद" नारा लगाने की शर्त रखना पाकिस्तान और इस्लाम दोनों के ही ख़िलाफ़ प्रकारान्तर से एक सन्देश सम्प्रेषित करता है और हिन्दुत्ववादी ताक़तों द्वारा बहुप्रचारित पूर्वाग्रहों को ही पुष्ट करने का काम करता है। दर्शक सिर्फ़ पाकिस्तान के सन्दर्भ में नहीं, इसे भारतीय मुसलमानों पर भी लागू करता है कि यहाँ भी जो अपने को "सच्चा मुसलमान" समझते हैं, उनकी वफ़ादारी पाकिस्तान के प्रति होती है।

'गर्म हवा' (1973) जैसी एकाध फ़िल्म और भीष्म साहनी के उपन्यास **'तमस'** पर बने सीरियल को छोड़कर, विभाजन और भारत-पाक युद्धों के प्रसंग को निरपवाद रूप से अन्धराष्ट्रवादी और (प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न) साम्प्रदायिक अलगाववादी नज़रिए से ही प्रस्तुत किया जाता रहा है। ठीक यही पाकिस्तान में भी होता रहा है। और यह स्वाभाविक भी है कि इतिहास पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए और अन्धराष्ट्रवादी भावनाएँ उभाड़ने के लिए दोनों देशों के शासक वर्ग फ़िल्म जैसे सशक्त माध्यम का इस्तेमाल करें।

जैसा कि हमने पहले ही कहा है, किसी भी समय में कोई कलाकार जब इतिहास को कलात्मक सृजन का विषय बनाता है तो वह नये सिरे से इतिहास को एक्सप्लोर करता है और अपने देश-काल में एक ख़ास वर्ग-अवस्थिति से इतिहास की व्याख्या प्रस्तुत करता है। हिन्दी सिनेमा ने नई शताब्दी में 'लगान' और 'ग़दर' के ज़रिए जो इतिहास-यात्रा की है, यह न सिर्फ़ इतिहास पर, बल्कि वर्तमान पर भी, बुर्जुआ वर्ग के सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी, धार्मिक मूलतत्त्ववादी एजेण्डे का ही एक हिस्सा है। 'लगान' संघ-स्वदेशी विचारधारा को प्रक्षेपित-स्थापित करने वाली एक दक्ष फ़िल्म है, जबकि 'ग़दर' खुले और भोंड़े रूप में अन्धराष्ट्रवादी साम्प्रदायिक फ़ासिस्ट एजेण्डा प्रस्तुत करने का काम करती है।

और अन्त में, सिनेमा के कथित प्रबुद्ध आलोचकों के बारे में कुछ बातें। आलोचक का कार्यभार एक दर्शक, एक पाठक, एक श्रोता से सर्वथा अलग होता है। एक उन्नत से उन्नत चेतना का दर्शक भी सिने कृति के आलोचक का काम नहीं कर सकता, सिने-मोह विद्ध दर्शकों या "फ़िल्म-दीवानों" की तो बात ही छोड़ दें। एक विशेषज्ञ महोदय ने 'ग़दर' की आलोचना लिखते समय, शुरू में ही अपनी मानसिक अवस्था के बारे में लिखा है कि हमेशा ही फ़िल्म शुरू होने से पहले उन्हें अजीबोग़रीब रोमाँच होता है और तिलिस्म की दुनिया में प्रवेश करने जैसी गुदगुदी होती है। यही कारण है कि ये आलोचक महोदय तिलिस्म की दुनिया में घुस तो जाते हैं, पर तमाम तकनीकी विशेषज्ञता के बावजूद उसे भेद नहीं पाते। उन्हें तो यही नेक सलाह दी जा सकती है कि एक बार दर्शक के रूप में तिलिस्म का मज़ा लूटने के बाद वे दूसरी बार अपने आलोचनात्मक विवेक व विश्लेषण क्षमता को जागृत करके फ़िल्म देखने जाएँ, तभी सम्मोहन से मुक्त होकर वे वस्तुपरक ढंग से आलोचक की भूमिका निभा सकेंगे, फ़िल्म के टेक्स्ट को कण्टेक्स्ट दे सकेंगे तथा पाठ को भेदकर अन्तर्पाठ को उद्घाटित कर सकेंगे।

अन्तर्दृष्टि

सौन्दर्यीकरण के बारे में कुछ नोट्स

सत्यव्रत

चीज़ों को इतना अधिक सुन्दर बनाने की, सजाने-सँवारने की कोशिश नहीं की जानी चाहिए कि वे निर्जीव और पहुँच से बाहर प्रतीत हों।

❑

निष्कलुषता एक मिथक है। यह मानवेतर ही नहीं, मानवद्रोही भी होती है। यह इहलोकवाद की विरोधी है। क्रान्तियों के महान नेता त्रुटिरहित नहीं थे और महानतम क्रान्तियाँ भी निष्कलुष नहीं थीं। क्रान्तियों का आदर्शीकरण या सौन्दर्यीकरण उन्हें अलौकिक बना देता है और लोगों को यह सोचने के लिए प्रेरित करता है कि क्रान्तियाँ मानवीय क्षमता से परे की चीज़ हैं।

❑

महान क्रान्तिकारी घटनाओं को साहित्य-सृजन का विषय बनाना बेहद जोखिम भरा काम है। हिंसा, रक्तपात, आँसू, विश्वासघातों, गलतियों, मानवीय कमज़ोरियों में लिथड़ी महान मौलिकताएँ धुल-पुँछकर रूमानी और स्वप्निल बन जा सकती हैं। कला में क्रान्ति का ऐन्द्रजालिक मिथ्याभास नहीं रचा जाना चाहिए।

❑

यूँ भी, कविता या उपन्यास पढ़कर कोई क्रान्तिकारी नहीं बन जाता। वहाँ से मिलता है दुनियादारी की काई छाँटता हुआ भावनात्मक आवेग का एक स्फुरण, और फिर, घटनाओं के तर्क से निःसृत आलोचनात्मक विवेक, इतिहास-बोध और जीवन-दृष्टि। कलाकृति को चाहिए कि वह हमें जीवन

और क्रान्ति के यथार्थ-सौन्दर्य से परिचित कराए और बीहड़ता-विकटता- कुरूपता से भी।

❑

बारीक़ तराश और महीन कताई—मुर्दाबाद!

❑

याद नहीं आ रहा, ब्रेष्ट या वाल्टर बेंजामिन ने कहीं इंगित किया है : 'राजनीति का सौन्दर्यीकरण एक फ़ासीवादी उपक्रम है।' संस्कृति के सौन्दर्यीकरण की राजनीति भी उतनी ही जनविरोधी होती है जितनी राजनीति के सौन्दर्यीकरण की संस्कृति।

❑

वह जो हमेशा उड़ने के बारे में सोचा करता था, उसे विश्वास हो चला था कि उसकी आँखों का रंग गहरा नीला है सागर की तरह, या हल्का नीला, आकाश की तरह। लेकिन उसकी फटी-फटी आँखों में एक क़िस्म का धूसर भूरापन था—उन्माद या पागलपन का संकेत देता हुआ।

❑

वह एक दिन फुदकता हुआ मर जाएगा। मगर सलीके और तहज़ीब के साथ फुदकता हुआ।

❑

अभिव्यक्ति की शैली के प्रश्न को पूरी तरह से स्वतःस्फूर्तता या नैसर्गिकता के हवाले तो नहीं किया जा सकता, लेकिन इस बुनियादी सच्चाई की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए कि हर विषय-वस्तु का अपना रूप होता है जो उसके जन्म के साथ स्वतः प्रकट होता है। कथ्य या विषयवस्तु की बात पहले आती है, उसकी अभिव्यक्ति को माँजने-तराशने, प्रभावी और उन्नत बनाने का काम बाद में शुरू होता है।

❑

अमौलिक, नक़लची, खोखले व्यक्तित्व प्रायः रूपवादी होते हैं—साहित्य में भी और राजनीति में भी। उनके पास कोई सार्थक उद्देश्य और कथ्य हो तो भी, आदतन, उनका ध्यान पहले इस बात पर जाता है कि वे अपनी बात कितने सुन्दर और प्रभावशाली ढंग से रख रहे हैं। इस उपक्रम में उनका ध्यान लगातार सुन्दर आकर्षक जुमले और 'स्टाइल' उधार लेने और गढ़ने में लगा रहता है और वे अपनी रही-सही मौलिकता और प्रयोग की शक्ति भी खो बैठते हैं। खोखला, आडम्बरपूर्ण, अति आलंकारिक, कृत्रिम, अमौलिक व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति उन्हें जनविमुख, नाकारा, निरंकुशता की हद तक व्यक्तिवादी तथा अति आत्मसजग बना देती है। अपनी कमज़ोरियों को ढँकने, आत्मरक्षा के तर्क गढ़ने और भाव-ताव बनाए रखने में उनकी नब्बे प्रतिशत ऊर्जा ख़र्च हो जाती है। वे चौकन्ने, आत्मविश्वासहीन और कायर होते हैं। वे व्यक्तिवादी और "विनम्र" नौकरशाह होते हैं। पर जैसे ही आप उन्हें कोंचेंगे, वे अपनी विनम्रता तत्क्षण त्यागकर फन काढ़ लेंगे या फिर बालू की भीत की तरह भरभरा जाएँगे। अतः माँजने-तराशने, सुन्दर बनाने के अतिरिक्त आग्रह के पीछे की मानसिकता की भी पड़ताल की जानी चाहिए।

❑

रचनाकार हो या राजनीतिक कर्मी, सौन्दर्यीकरण के अतिरिक्त आग्रह के पीछे साम्प्रतिक सामाजिक परिवेश में प्रभावी सांस्कृतिक मूल्य तो काम करते ही हैं, इसमें व्यक्ति-विशेष के व्यक्तिगत इतिहास की भी विशिष्ट भूमिका होती है। बचपन और किशोरावस्था में मित्रों की टोली में नायक-नेता बनने

के लिए, माँ-बाप की नज़रों में "अच्छे बालक" की छवि बनाने या बनाए रखने के लिए या फिर अपने किसी हीनता-बोध के सहज प्रतिकार के लिए हम अपना एक कृत्रिम व्यक्तित्व माँजते-तराशते हैं और फिर नक़ली भाव-मुद्राओं का वही नाट्य-परिधान पहने जीवन-पर्यन्त नाटक करते रह जाते हैं। यह पूरा बौद्धिक-सामाजिक जीवन ही एक मण्डी है जिसमें ऊपरी चमक-दमक, भाव-ताव का ऊँचा बाज़ार-मूल्य है, चाहे उसका उपयोग-मूल्य कुछ भी न हो। यह परिवेश हमारी मानसिकता को भी अनुकूलित करता जाता है और सौन्दर्यीकरण का दुराग्रह हमारी सबसे स्वाभाविक आदत बन जाता है।

❑

सामूहिक उत्पादक कार्रवाइयों में भागीदारी, उत्पादन-सक्रिय जनता के जीवन और संघर्षों से पूरी तरह जुड़ जाना और सहयात्रियों के समूह के साथ स्वयं को अविभाज्य बना देना ही सौन्दर्यीकरण-कुचक्र के शिकार व्यक्तित्वों को 'एलियनेशन' और आत्मनिर्वासन से मुक्त कर सकता है।

❑

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, जब पूरा यूरोप विशेषकर फ़्रांस, क्रान्तिकारी उथल-पुथल से गुज़र रहा था, तो मार्क्स उद्विग्न होकर सोच रहे थे कि जितनी जल्दी "सुन्दर" क्रान्तियों का स्थान "कुरूप" क्रान्तियाँ ले लें, उतना ही अच्छा! "सुन्दर" क्रान्ति और "कुरूप" क्रान्ति से उनका तात्पर्य क्रमशः बुर्जुआ क्रान्ति और सर्वहारा क्रान्ति से था। बुर्जुआ समाज की वर्चस्वकारी सोच के हिसाब से जो "कुरूप" है, वही भविष्य में सुन्दर कहलाएगा, वही "कुरूपता" मेहनतकशों के लिए उन्मोचक है, अतः वह उनके लिए सुन्दर है। इस "कुरूपता" के सौन्दर्यशास्त्र को समझना होगा।

❑

चीज़ों को निर्जीवता और अलौकिकता की हद तक सुन्दर बनाने की कोशिश "कुरूप" क्रान्ति के विरुद्ध एक उपक्रम है।

❑

अपने व्यक्तित्व को भी सुन्दर बनाने का अतिरिक्त आग्रह एक आत्मरति है, जो इन्सान को चीज़ बना देता है। या फिर केंचुआ। या शायद, गम्भीरता-सुन्दरता का स्वाँग रचने वाला एक विदूषक।

टिप्पणी : Aesthetisation के लिए कुछ और न सूझने पर मैंने सौन्दर्यीकरण शब्द का इस्तेमाल किया है।

एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के वैचारिक-सांस्कृतिक कार्यभार

(सांस्कृतिक मोर्चे पर नई शुरुआत के लिए एक प्रस्ताव)

सम्पादकीय आलेख

1. नये सांस्कृतिक कार्यभारों की ज़मीन—महत्त्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक संरचनागत परिवर्तनों और विश्व-ऐतिहासिक विपर्यय का यह दौर
2. कला-साहित्य-संस्कृति के मोर्चे पर विचारधारात्मक संघर्ष
3. सांस्कृतिक मोर्चे पर व्यक्तिवाद, अराजकतावाद, उदारतावाद का विरोध करो!
4. "वामपन्थी" कलावाद, रूपवाद और मध्यवर्गीय लम्पटता का विरोध करो!
5. कला-साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक जनवादी प्रवृत्तियों का विरोध करो!
6. धार्मिक कट्टरपन्थी फ़ासीवाद के विरुद्ध सांस्कृतिक मोर्चे पर सही क्रान्तिकारी रणनीति अपनाओ!
7. दलित-प्रश्न पर सही रुख अपनाओ!
8. स्त्री-प्रश्न पर सही रुख अपनाओ!
9. कला-साहित्य-संस्कृति में "लोकवाद" और "स्वदेशीवाद" का विरोध करो!
10. न तो इतिहास-ग्रस्त, न ही इतिहास-विमुख!
11. सांस्कृतिक मोर्चे पर अन्तरराष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण का प्रश्न
12. सांस्कृतिक मोर्चे पर जन-दिशा का सवाल—'जनता के बीच जाओ, जनता से सीखो! जन-जीवन और सामाजिक सम्बन्धों का, गहन-गहरा-व्यापक अध्ययन करो!
13. सांस्कृतिक मोर्चे पर नई भरती करो। मध्यवर्ग के बीच से ही नहीं, मज़दूर वर्ग के बीच से भी!
14. कलात्मक स्तर और लोकप्रियता के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों के बारे में
15. पूँजीवादी संस्कृति उद्योग के विरुद्ध जवाबी कार्रवाई के तौर पर एक व्यापक, बहुमुखी सांस्कृतिक जन-अभियान संगठित करना होगा!

•

कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में सृजन और आन्दोलन के सभी कार्यों को आज एकदम नये सिरे से संगठित करने की ज़रूरत है। हम सर्वहारा क्रान्ति की पक्षधर अवस्थिति से यह बात कह रहे हैं।

समय और समाज जब जनता के प्रचण्ड वेगवाही सांस्कृतिक आन्दोलन की माँग कर रहे हैं, तब कला-साहित्य-संस्कृति की दुनिया में अराजकता, विभ्रम, भटकाव, अवसरवाद और ठहराव का बोलबाला है। ताक़त कम नहीं है, पर कोशिशें बिखरी हुई हैं। जहाँ ईमानदारी और मेहनत से लगी हुई टीमें हैं, वहाँ वैचारिक समझ कमज़ोर है और अनुभववाद तथा 'लकीर की फकीरी' का बोलबाला है। निस्संकोच कहा जा सकता है कि प्रगतिशील वाम सांस्कृतिक धारा पर आज प्रच्छन्न बुर्जुआ और निम्न-बुर्जुआ धाराएँ हावी हैं। एक ओर नामधारी वाम के पुराने मठाधीशों-महामण्डलेश्वरों की गद्दियाँ और अखाड़े हैं तो दूसरी ओर विश्व के नये यथार्थ के अवगाहन और अतीत की "जड़ीभूत" विचारधारात्मक चिन्तन-पद्धतियों के पुनरीक्षण का दावा करने वाले अकर्मक "नव-मार्क्सवाद" के नौबढ़ प्रणेताओं के अड्डे हैं। क्रान्तिकारी वाम शिविर से जुड़े कई एक सांस्कृतिक संगठन और टोलियाँ हैं, पर उनका विचार-पक्ष कमज़ोर है। वे कला-साहित्य-संस्कृति की द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवादी समझ से, अपनी समृद्ध वैचारिक विरासत से और अतीत के सर्जनात्मक प्रयोगों से अपरिचित हैं। वे भरपूर जोश से क्रान्तिकारी आन्दोलन और प्रचार की कार्रवाइयों में लगे हैं, लेकिन वैचारिक समझ के अभाव में उनके सांस्कृतिक कार्य दिशाहीन और निष्प्रभावी होकर रह जा रहे हैं।

हमें इस भंवर से बाहर निकलना होगा। क्योंकि हमारे देश और समूची दुनिया के सामने आज यह प्रश्न पहले हमेशा की अपेक्षा अधिक ज्वलन्त और भयावह रूप में खड़ा है—या तो समाजवाद, या फिर बर्बरता! कला-साहित्य-संस्कृति की दुनिया में भी यही प्रश्न केन्द्रीय है।

अकर्मण्य वैचारिक समझ घोड़े की लीद से बेहतर नहीं होती। वास्तविक आशावाद नियतत्ववादी नहीं होता। यदि हम आशावादी हैं तो हमें अपनी आशाओं को फलीभूत करने के लिए जी-जान से जूझना होगा। अकर्मक ज्ञान और अन्धा आशावाद—इन दोनों से बचना होगा।

नये सांः तिक कार्यभारों की ज़मीन—महत्त्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक संरचनागत परिवर्तनों और विश्व-ऐतिहासिक विपर्यय का यह दौर

आज की आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों की इस निबन्ध में सविस्तार चर्चा सम्भव नहीं है और इसकी ज़रूरत भी नहीं है। लेकिन अलग से यह करना ही होगा क्योंकि सामाजिक-आर्थिक संरचना की सुनिश्चित समझ के बिना संस्कृतिकर्मी भी अपने समय के जीवन के मर्म को नहीं पकड़ सकते। इसके बग़ैर वे सतह की परिघटनाओं को ही सारभूत यथार्थ मानकर प्रस्तुत करेंगे। इसके बिना वे भविष्य की ओर जारी यात्रा की गतिकी को नहीं समझ सकते और अपने कार्यभार नहीं निर्धारित कर सकते। आज हम जिस दुनिया में जी रहे हैं, हमारे देश के आम लोगों का जीवन सर्वग्रासी संकट के जिस विषैले-दमघोंटू अन्धकार में घुट रहा है, उसकी हम यहाँ सूत्रवत चर्चा करेंगे। इतनी चर्चा पृष्ठभूमि के तौर पर ज़रूरी है।

हम आज भी साम्राज्यवाद के युग में जी रहे हैं जिसकी बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं को और उन्नीसवीं शताब्दी के 'स्वतंत्र प्रतियोगिता के युग' से जिसकी भिन्नताओं को लेनिन ने उद्घाटित किया था। लेकिन आज, सतह की परिघटनाओं-प्रवृत्तियों के पर्यवेक्षण के आधार पर भी यह महसूस किया जा सकता है कि स्थितियों में कुछ महत्त्वपूर्ण बदलाव आए हैं। विश्व-पूँजीवाद के असमाधेय संकटों की, साम्राज्यवाद की अभूतपूर्व आक्रामकता की, नई तकनोलॉजी के प्रयोग की, तीसरी दुनिया के देशों में निर्बन्ध पूँजी-निवेश और लूट की, इन देशों के बुर्जुआ शासक वर्ग के आत्म समर्पण की, मज़दूरों से अतिलाभ निचोड़ने की नई-नई तरकीबों और उनके छिनते अधिकारों की, सट्टेबाज़ी और अनुत्पादक प्रवृत्तियों की, सूचना-संचार के तंत्र की

नई प्रभाविता की, फ़ासीवादी शक्तियों के नये उभार की और पहले से भिन्न तमाम लक्षणों-प्रवृत्तियों की चर्चा तो आम तौर पर होती है। इन तमाम बदलावों के पीछे सिर्फ़ यही कारण नहीं है कि सर्वहारा क्रान्तियों के प्रथम संस्करण आज पराजित और विफल हो चुके हैं और सोवियत संघ के नेतृत्व में नामधारी समाजवादी (वस्तुतः राजकीय पूँजीवादी) ढाँचे वाले देशों का शिविर विघटित हो चुका है। इससे भी बुनियादी कारण (और ये दोनों अन्तर्सम्बधित हैं) यह है कि साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी की कार्यप्रणाली और लगातार पैदा होने वाले अपने संकटों को निपटाने के उसेक तौर-तरीक़ों में कुछ महत्त्वपूर्ण बदलाव आए हैं, और इनके चलते, विश्व पूँजीवाद के समूचे परिदृश्य में कुछ महत्त्वपूर्ण नई चीज़ें पैदा हुई हैं। इन बुनियादी कारणों को समझने की ज़रूरत है। इन बदलावों की पृष्ठभूमि के बनने की शुरुआत दूसरे विश्वयुद्ध के बाद हो चुकी थी, गत शताब्दी के आठवें दशक से इनके लक्षण सतह पर उभरने लगे थे और अन्तिम दशक के दौरान एक नया बदला हुआ परिदृश्य एकदम सामने आ चुका था।

पहली बात, वित्तीय पूँजी की जो वरीयता और निर्णायक भूमिका उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में स्थापित हुई थी, वह गत शताब्दी के आठवें दशक तक चरम वर्चस्व में रूपान्तरित हो चुकी थी। दुनिया भर में निवेशित कुल पूँजी का तीन-चौथाई से भी अधिक आज सट्टा बाज़ार, मीडिया, मनोरंजन उद्योग और अन्य अनुत्पादक कार्रवाइयों में लगा हुआ है। वित्तीय पूँजी ने वास्तविक उत्पादन से स्वतंत्र होकर सम्पूर्ण विश्व-अर्थव्यवस्था पर अपना प्रभुत्व क़ायम कर लिया है और कीन्स की आशंका को हूबहू साकार करते हुए, उद्योग सट्टेबाज़ी के भंवर में सतह पर तैरने वाला बुलबुला बनकर रह गया है। आज जो पूँजी का विश्वव्यापी प्रसार दीख रहा है, वह सट्टेबाज़ी, मुद्रा-बाज़ारों में ऋण-सर्जन में सतत् वृद्धि और मुद्रा-पूँजी के अन्तरराष्ट्रीय आवागमन के रूप में है। साम्राज्यवाद के दौर में पूँजी के जिस परजीवी, परभक्षी, अनुत्पादक और जुआड़ी चरित्र की चर्चा लेनिन ने की थी, वह उस समय से कई गुना अधिक हो चुकी है।

आज विश्व-स्तर पर बुर्जुआ जनवाद के बचे-खुचे मूल्यों के भी निश्शेष होने, तरह-तरह की मूलतत्त्ववादी-नवफ़ासीवादी राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के सिर उठाने, तर्कणा और मानववाद के विरुद्ध नानाविध सांस्कृतिक उपक्रमों-उद्यमों के जन्म लेने तथा साहित्य-कला-संस्कृति के क्षेत्र में माल-अन्धभक्ति, निरंकुशता, अतर्कपरकता, कलावाद-रूपवाद और मानवद्रोही प्रवृत्तियों के नये-नये रूपों के उभरने की ज़मीन यही है।

विश्व-स्तर पर पूँजी का विकास शेयर बाज़ारों और जुआघरों का 'बाई-प्रोडक्ट' बन जाने के चलते संकट के विस्फोट और महाध्वंस का भय हमेशा साम्राज्यवादियों-पूँजीपतियों के सिर पर सवार रहता है। बीच-बीच की अल्पकालिक राहतों के बावजूद, दीर्घकालिक मन्दी का दौर विगत तीन दशकों से लगातार मौजूद है। कभी तेज़ कभी मद्धम होता व्यापार युद्ध, बड़े-बड़े घरानों में से कुछ के तबाह होने का या किसी और द्वारा निगल लिये जाने का तथा नई-नई इजारेदारियों के गठन का सिलसिला लगातार जारी है। उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों ने एशिया-अफ़्रीका-लातिन अमेरिका के देशों, पूर्वी यूरोप के देशों और भूतपूर्व सोवियत संघ के घटक देशों के बाज़ार को साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी के लिए पूरी तरह खोल दिया है और चीन में "बाज़ार समाजवाद" की पिपिहरी बजाने वाले नये शासकों ने भी उसके स्वागत के लिए लाल गलीचे बिछा दिए हैं, पर पश्चिमी पूँजी का अजीर्ण रोग लगातार मौजूद है।

भूतपूर्व समाजवादी देशों में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना और राजकीय पूँजीवाद के सोवियत "समाजवादी" ढाँचे के विघटन के बाद पश्चिमी ढंग के पूँजीवादी ढाँचे की स्थापना मुख्यतः उन देशों के आन्तरिक वर्ग-संघर्ष का परिणाम थी, लेकिन इसमें साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी की तथा साम्राज्यवादी घुसपैठ, घेरेबन्दी और षड्यंत्र की भी एक अहम भूमिका थी। इसी प्रकार, उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के तहत, एशिया-अफ़्रीका-लातिन अमेरिका के देशों के बाज़ारों में साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी खुला चरागाह बना देने, सार्वजनिक क्षेत्र के विघटन का बुर्जुआ राज्य की बची-खुची "कल्याणकारी" भूमिका के निरस्तीकरण और "श्रम-सुधारों" के पीछे साम्राज्यवादी देशों के दबाव के साथ ही इन देशों के सत्ताधारी बुर्जुआ वर्ग की अपनी आवश्यकता और

विवशता भी है। इन देशों में सत्तासीन होने के बाद बुर्जुआ वर्ग ने साम्राज्यवादियों के आपसी अन्तरविरोधों का लाभ उठाते हुए और जनता को निचोड़कर राजकीय पूँजीवाद का ढाँचा खड़ा कर एक सीमा तक पूँजीवाद का विकास किया। अब यह सिलसिला संतृप्ति-बिन्दु तक जा पहुँचा था। नई तकनोलॉजी, पूँजी और बाज़ार की अपनी ज़रूरतों के चलते साम्राज्यवादियों के गिरोह के दिशा-निर्देशों पर चलना अब इनके सामने एकमात्र विकल्प था। आर्थिक नवउपनिवेशवाद के वर्तमान दौर का यही सारतत्त्व है। इस नये दौर में पूँजी का वैश्विक प्रवाह एकदम निर्बन्ध हो गया है। साम्राज्यवादी शोषण इस नये दौर में प्रत्यक्ष राजनीतिक शासन या नियंत्रण के माध्यम से काम नहीं कर रहा है। राजनीतिक-सामरिक बल-प्रयोग और दबाव का अनिवार्य पहलू मौजूद है, लेकिन साम्राज्यवादी शोषण की प्रक्रिया मुख्यतः उस विशाल अन्तर के ज़रिए काम करती है जो विकसित देशों और पिछड़े देशों की उत्पादक शक्तियों के बीच बना हुआ है।

भारत और तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों के पूँजीपति वर्ग के किसी भी हिस्से का अब राष्ट्रीय चरित्र नहीं रह गया है। साम्राज्यवाद से विनियोजित अधिशेष में अपने हिस्से को लेकर देशी पूँजीपति वर्ग के अन्तरविरोध मौजूद हैं और वे समय-समय पर उग्र भी हो जाते हैं। देश के भीतर इजारेदार और ग़ैर इजारेदार पूँजी के बीच, बड़ी और छोटी पूँजी के बीच भी अन्तरविरोध हैं, पर वे ग़ैरदुश्मनाना अन्तरविरोध हैं। पूँजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा अब साम्राज्यवाद के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए जनता के अन्य वर्गों के साथ खड़ा होने को तैयार नहीं है।

राष्ट्रीय प्रश्न की ही तरह भूमि-प्रश्न भी अब सामाजिक क्रान्ति के एजेण्डे पर अपने पूर्ववर्ती रूप में उपस्थित नहीं रह गया है। प्रतिक्रियावादी "प्रशियाई" मार्ग से प्राक्पूँजीवादी भूमि-सुधारों के रूपान्तरण का काम पूँजीवादी व्यवस्था में सम्भव हदों तक, मुख्यतः पूरा हो चुका है। पुराने सामन्ती भूस्वामियों का एक बड़ा हिस्सा पूँजीवादी भूस्वामी बन चुका है। पहले के बड़े काश्तकार आज के बड़े मालिक किसान—कुलक बन चुके हैं। किसान आबादी का तेज़ विभेदीकरण गत तीन दशकों की एक महत्त्वपूर्ण परिघटना है। निम्न-मध्यम और छोटे किसान उजड़कर सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा की पाँतों में शामिल हो रहे हैं। उच्च-मध्यम किसान धनी किसानों की कतारों में शामिल हो रहे हैं। पिछले दशक के दौरान यह प्रक्रिया और अधिक तेज़ हो गई है। गाँवों में भी श्रम और पूँजी का अन्तरविरोध ही प्रधान हो गया है। जहाँ अभी पिछड़ी किसानी अर्थव्यवस्था की संक्रमणशील स्थिति है, वहाँ भी यही स्थिति है। वहाँ से भारी संख्या में उजड़कर किसान आबादी शहरों और विकसित पूँजीवादी खेती वाले इलाक़ों की ओर पलायन कर रही है। सामन्ती भूमि-सम्बन्धों के आज सिर्फ़ अवशेष ही मौजूद हैं। गाँवों में वित्तीय पूँजी की पैठ मज़बूत हुई है, वे राष्ट्रीय बाज़ार की चौहद्दी में आ गए हैं, प्राकृतिक अर्थव्यवस्था की जड़ता टूट गई है और कृषि और सहायक क्षेत्रों में भी माल-उत्पादन प्रभावी प्रवृत्ति बन गई है।

इस पूरी प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह भी है कि भारतीय मध्यवर्ग का भी विगत कुछ दशकों के दौरान तेज़ विस्तार और विभेदीकरण हुआ है। मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों (प्रोफेसरों, डॉक्टरों, इंजीनियरों, वैज्ञानिकों, पत्रकारों, नौकरशाहों, विशेषज्ञों आदि का) का एक बड़ा हिस्सा आज पूरी तरह से व्यवस्था के पक्ष में खड़ा हो चुका है। आम नौकरीपेशा, तबाहहाल मध्यवर्गीय कतारों से यह एकदम अलग खड़ा है। मध्यवर्ग के निचले संस्तरों की क़रीबी मेहनतकश वर्गों से बन रही है, हालाँकि उनकी निराशा, पिछड़े मूल्यों, जातिगत संस्कारों आदि का लाभ उठाकर धार्मिक कट्टरपन्थी ताक़तें उनके एक हिस्से को अपने प्रभाव में लेने में फ़िलहाल कामयाब हैं। उच्च मध्यवर्ग आज उदारीकरण-निजीकरण के प्रवक्ता-समर्थक और धुर प्रतिक्रियावादी संस्कृति के संवाहक के रूप में व्यवस्था से नाभिनालबद्ध है।

निचोड़ के तौर पर कहा जा सकता है कि हमारा पिछड़ा हुआ पूँजीवादी समाज आज राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के बजाय एक ऐसी नई समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में है जिसकी अन्तर्वस्तु साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी है। राष्ट्रीय जनवाद के अधूरे पड़े काम भी आज इसी के कार्यभारों में समाहित हो गए हैं। इस काम में सर्वहारा वर्ग का साथ मुख्यतः गाँव और शहर की भारी ग़रीब आबादी देगी और मध्यवर्ग और मध्यम

किसानों के नीचे के संस्तर देंगे। बीच के संस्तर ढुलमुल सहयोगी होंगे। पूंजीपति वर्ग का कोई भी हिस्सा, ख़ुशहाल मालिक किसान और उच्च मध्यवर्ग अब किसी भी सूरत में मेहनतकशों के रणनीतिक संश्रयकारी नहीं बनेंगे।

लेनिन के समय और आज के समय के बीच का एक महत्त्वपूर्ण फ़र्क़ यह है कि राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियाँ आज विश्व सर्वहारा क्रान्ति का महत्त्वपूर्ण संघटक तत्त्व नहीं रह गई हैं। एशिया-अफ़्रीका-लातिन अमेरिका के अर्द्धऔद्योगीकृत पिछड़े देश ही आज भी साम्राज्यवाद की सबसे कमज़ोर कड़ी हैं, पर इनमें से अधिकांश देशों में सामाजिक क्रान्तियों का एजेण्डा बदल चुका है। अक्टूबर क्रान्ति के नये संस्करण, विश्व-सर्वहारा क्रान्ति के दूसरे चक्र में, वस्तुगत परिस्थितियों की दृष्टि से, इन्हीं देशों में सम्भावित हैं, पर इन क्रान्तियों की अन्तर्वस्तु अब साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी होगी। ये देशी-विदेशी पूँजी के संश्रय के विरुद्ध केन्द्रित नई समाजवादी क्रान्तियाँ होंगी, जो न केवल चीनी क्रान्ति से, बल्कि कई मायनों में सोवियत समाजवादी क्रान्ति से भी भिन्न होंगी।

सामाजिक शक्तियों के इस नये ध्रुवीकरण के अनुसार ही सांस्कृतिक मोर्चे के कार्यभारों की बुनियादी रूपरेखा तय होगी। कहा जा सकता है कि आज हमारी लड़ाई राष्ट्रीय जनवादी संस्कृति की नहीं बल्कि सर्वहारा जनवादी संस्कृति की, या कहें कि सर्वहारा संस्कृति की है। अब लोगों को यह बताने का अनुकूल समय है कि सिर्फ़ सर्वहारा जनवाद ही वास्तविक जनवाद होता है, कि आज सिर्फ़ दो ही मुख्य सांस्कृतिक पक्ष हैं—पूँजी की संस्कृति का पक्ष और श्रम की संस्कृति का पक्ष, और लोगों को इन्हीं दो के बीच अपना पक्ष चुनना होगा। कला-साहित्य के दायरे में व्यक्तिवाद और अलगाव की संस्कृति पर निर्णायक प्रहार के लिए आज निजी स्वामित्व की नैतिकता पर ही प्रश्न खड़े करने होंगे, लोभ-लाभ, बाज़ार और माल के रहस्यवाद की संस्कृति के मानवद्रोही चरित्र को उजागर करना होगा, सम्पत्ति सम्बन्धों की तफ़सीलों को प्रस्तुत करना होगा और बुर्जुआ अधिकारों तथा अन्तरवैयक्तिक असमानताओं की सामाजिक-ऐतिहासिक बुनियादों को उद्‌घाटित करना होगा। इन्हीं बुनियादी कार्यभारों के इर्दगिर्द हमें राजनीतिक सत्ता, साम्राज्यवादी लूट और षड्‌यंत्र आदि के भण्डाफोड़ के प्रचारात्मक और आन्दोलनात्मक, रुटीनी और फ़ौरी, सांस्कृतिक-साहित्यिक कार्य भी संगठित करने होंगे। सामाजिक जीवन में जो सामन्ती सांस्कृतिक मूल्य मौजूद हैं, वे सत्ताधारी बुर्जुआ वर्ग और साम्राज्यवादियों के लिए एकदम उपयुक्त हैं, अतः उन्होंने उन सभी को अपनाकर अपने सांस्कृतिक तंत्र का अंग बना लिया है। तर्कणा और भौतिकवाद की जगह अन्धविश्वास, रहस्यवाद आदि ही आज बुर्जुआ वर्ग की ज़रूरत हैं। जाति-समस्या, दलित-प्रश्न और स्त्री-प्रश्न को भी आज इसी नज़रिए से देखना होगा। इन मुद्दों पर जनवादी सुधार की पैबन्दगीरी का समय बीत चुका है। ऐसा करना महज़ बुर्जुआ गुलामगीरी होगी। सामाजिक मुक्ति के ये बुनियादी प्रश्न समाजवादी परियोजना के अनिवार्य बुनियादी मुद्दे हैं।

साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद की संस्कृति में भी आज कोई अन्तरविरोध नहीं है। दोनों में सहयोग और एकता है, और काफ़ी हद तक तो एकरूपता भी है। राष्ट्रवादी संस्कृति की ज़मीन से साम्राज्यवादी संस्कृति का विरोध आज इतिहास की बात बन चुका है।

सामाजिक-आर्थिक संरचना और सामाजिक-राजनीतिक क्रान्ति के स्वरूप के आधार पर, जनपक्षधर संस्कृति कर्म की सर्वाधिक सामान्य रूपरेखा की इस चर्चा के बाद, हम पूँजी के भूमण्डलीकरण के इस नये दौर की कुछ और नई प्रवृत्तियों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

हम समझते हैं कि साम्राज्यवाद की आज की अति उग्र आक्रामकता के पीछे उसकी शक्ति नहीं, बल्कि उसका असमाधेय ढाँचागत संकट है। समाजवाद की तात्कालिक विफलता, तीसरी दुनिया के शासक वर्गों की घुटनाटेकू मुद्राओं और विश्व-क्रान्ति की धारा की वर्तमान संकटग्रस्तता के बावजूद विश्व अर्थव्यवस्था में उछाल या त्वरण के कोई विश्वसनीय संकेत नहीं हैं। साझा हितों के लिए, एशिया, अफ़्रीका, लातिन अमेरिका में अमेरिकी सामरिक हस्तक्षेपों और कुचक्रों के पीछे सभी साम्राज्यवादी देश एकजुट दीखते हैं, लेकिन यह

दौर-विशेष की विशिष्टता है। साम्राज्यवादियों के आपसी अन्तरविरोध एक बार फिर गहरा रहे हैं और आने वाले दिनों में नये व्यापार-युद्धों और शक्ति-समीकरणों के संकेत अभी से मिलने लगे हैं।

अतः कहा जा सकता है कि ऊपरी तौर पर एकतरफ़ा ढंग से पूरी दुनिया की जनता पर हावी दीखता साम्राज्यवाद अन्दर से खोखला हो रहा है। यह आज भी कागजी बाघ ही है, बल्कि पहले से भी अधिक कागजी है। आज यह अपनी जड़ता की शक्ति से जीवित है और इसलिए जीवित है कि सर्वहारा क्रान्तियों और समाजवादी प्रयोगों का सिलसिला, पहले चक्र की विफलता के बाद, अभी फिर से गतिमान नहीं हो सका है।

इस सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विश्व-ऐतिहासिक विपर्यय और पुनरुत्थान का यह समय अभूतपूर्व संकट का समय है। बुर्जुआ क्रान्तियों के प्रवाह को भी पराजय और पुनःस्थापन के दौरों से गुज़रना पड़ा था पर उनका संकट इतना विकट और लम्बा नहीं था। लेकिन जो क्रान्ति दूरगामी तौर पर, सहस्राब्दियों लम्बे, वर्ग-समाज के समूचे इतिहास के विरुद्ध निर्देशित है, जो इतिहास की सर्वाधिक युगान्तरकारी और पहली 'सचेतन क्रान्ति' है, उसकी अवधि लम्बी होना, कठिनाइयाँ विकट होना, पराजय प्रचण्ड होना और रास्ता जटिल और आरोह-अवरोहपूर्ण होना, ऐतिहासिक दृष्टि से स्वाभाविक प्रतीत होता है।

विगत लगभग दो शताब्दियों के विश्व-इतिहास का समाहार करते हुए कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच विश्व-ऐतिहासिक महासमर के पहले चक्र की शुरुआत हुई। पेरिस कम्यून (1871), अक्टूबर क्रान्ति (1917) और चीन की सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति (1966-76) इस यात्रा के तीन महानतम कीर्ति स्तम्भ—तीन मील के पत्थर थे। रूस में स्तालिन की मृत्यु के बाद संशोधनवादी पार्टी और राज्य पर काबिज हो गए और वहाँ समाजवाद का मुखौटा क़ायम रखते हुए नये नौकरशाह बुर्जुआ वर्ग ने राजकीय पूँजीवाद का ढाँचा खड़ा किया। एक ओर सामाजिक साम्राज्यवादी सोवियत संघ ने विश्व के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों और सर्वहारा क्रान्तियों के साथ विश्वासघात किया तथा उन्हें विघटित करने और अपना पिछलग्गू बनाने की कोशिश की। दूसरी ओर पश्चिमी साम्राज्यवादी शिविर के सामने एक चुनौती प्रस्तुत करके और साम्राज्यवादी शिविर के अन्तरविरोधों को उग्र बनाकर उसने वस्तुगत तौर पर विश्व-पूँजीवाद के संकट को बढ़ाने का काम भी किया। साथ ही, सोवियत संघ की मौजूदगी और दो अतिमहाशक्तियों के शिविरों के बीच की उग्र प्रतिस्पर्धा का लाभ पिछड़े देशों के शासक वर्गों ने भी उठाया। पश्चिमी खेमे की थोपी गई शर्तों का आंशिक विरोध सोवियत "सहायता" के सहारे करने में वे सफल रहे। सोवियत संघ में और पूर्वी यूरोप के देशों में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बाद भी चीन में सर्वहारा सत्ता की मौजूदगी और समाजवादी प्रयोगों के सिलसिले से पूरी दुनिया में जारी राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों और सर्वहारा क्रान्तियों की धारा को प्रेरणा और संवेग मिलता रहा। सोवियत संघ और अपने देश के प्रयोगों के विश्लेषण के आधार पर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी और माओ त्से-तुङ ने समाजवादी समाज में वर्ग-संघर्ष के नियमों को उद्घाटित करने और पूँजीवादी पुनर्स्थापना को रोकने के उपाय विकसित करने और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के रूप में उन्हें अमल में लाने का युगान्तरकारी काम किया। 1976 में माओ की मृत्यु के बाद वहाँ भी पूँजीवादी पुनर्स्थापना हो गई। इसका मुख्य कारण यह था कि 1949 से लेकर सांस्कृतिक क्रान्ति शुरू होने तक, वहाँ भी बुर्जुआ वर्ग ने समाज में अपने आधार के विस्तार के साथ ही पार्टी और राज्य के भीतर भी अपने समान्तर सदर मुक़ाम क़ायम कर लिए थे। दूसरे, अनुकूल विश्व-परिस्थितियों से भी उन्हें शक्ति मिली। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो सर्वहारा क्रान्ति के पहले संस्करणों की पराजय अप्रत्याशित नहीं लगती। मार्क्स-एंगेल्स और लेनिन ने पहले भी इस बात की चर्चा की थी कि समाजवादी संक्रमण की दीर्घावधि में वर्ग-संघर्ष लगातार जारी रहेगा, पूँजीवादी पुनर्स्थापना के ख़तरे लम्बे समय तक मौजूद रहेंगे। लेनिन ने पूँजीवादी पुनर्स्थापना के विभिन्न स्रोतों का उल्लेख किया था। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान माओ ने एकाधिक बार कहा था कि पूंजीवादी तत्त्वों के सत्तासीन होने की सम्भावनाएँ लम्बे समय तक मौजूद रहेंगी और समाजवाद की निर्णायक विजय के लिए कई सांस्कृतिक क्रान्तियों की आवश्यकता

होगी। इस दृष्टि से देखें तो कहा जा सकता है कि सर्वहारा क्रान्तियों के प्रथम चक्र का, पराजय के रूप में समापन मार्क्सवादी इतिहास-दृष्टि को सत्यापित ही करता है। क्रान्तियों के विगत प्रयोगों की विफलता विचारधारा की पराजय नहीं है। पूँजीवाद इतिहास का अन्त नहीं है। यह स्वयं अपने भीतर से समाजवाद की आवश्यकता पैदा करता है। और उसकी वाहक शक्तियों को भी। विश्व पूँजीवाद की वर्तमान स्थिति स्वयं इसका प्रमाण है।

निचोड़ के तौर पर कहा जा सकता है कि सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच वर्ग-महासमर का पहला विश्व-ऐतिहासिक चक्र 1976 में चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बाद समाप्त हो गया और अब दूसरे विश्व-ऐतिहासिक चक्र की शुरुआत हो चुकी है। इन दो चक्रों के बीच के संक्रमण-काल में एक महत्त्वपूर्ण घटना यह घटी है कि समाजवाद के नाम पर क़ायम, सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के राजकीय पूँजीवादी ढाँचे विघटित हो गए हैं। चीन के "बाज़ार समाजवाद" का पूँजीवादी चरित्र ज़्यादा से ज़्यादा नंगा हुआ है और यह तय है कि देर-सबेर इसे भी विघटित हो जाना है। समाजवाद के बारे में भ्रम पैदा करने वाले स्रोत समाप्त हो गए हैं। इधर भूण्डलीकरण के दौर में ऐसी स्थिति पैदा हुई है कि संशोधनवाद, सामाजिक जनवाद, अर्थवाद, ट्रेड यूनियनवाद आदि की सीमाएँ भी मेहनतकश जनता को स्पष्टतः दीखने लगी हैं और उसे यह बताने के लिए अनुकूल स्थितियाँ तैयार हुई हैं कि वास्तविक प्रश्न राज्यसत्ता का है, राजनीतिक संघर्ष का है। संशोधनवादी-सुधारवादी प्रवृत्तियों का आधार मध्यवर्ग और कुलीन मज़दूरों में मौजूद है, पर उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों की चपेट में इनका भी एक हिस्सा अब आने लगा है और उसकी चेतना का भी 'रैडिकलाइज़ेशन' हो रहा है। परम्परागत चुनावी वामपन्थी और ट्रेड-यूनियन सुधारवाद की, व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा पंक्ति के रूप में प्रभाविता कम होने के साथ ही साम्राज्यवाद और पूँजीवादी व्यवस्था ने इधर नये सिरे से एन.जी.ओ.-सुधारवाद के रूप में एक नई सुरक्षा-पंक्ति खड़ी करने की कोशिश की है। एन.जी.ओ. व्यवस्था-विरोध का छद्म खड़ा करते हुए एक नये 'सेफ्टी वॉल्व' का और 'ट्रोजन हॉर्स' का काम कर रहे हैं, जनहित के कार्यों से बुर्जुआ राज्यसत्ता को पूरी तरह पीछे हटने का मौक़ा दे रहे हैं, और साथ ही, सस्ता श्रम निचोड़ने का ज़रिया भी बने हुए हैं। इनका विश्वव्यापी नेटवर्क फण्ड-बैंक-डब्ल्यू.टी.ओ. की तिकड़ी का ही अनिवार्य पूरक तंत्र है। यह आश्चर्यजनक नहीं कि पुराने गांधीवादियों-समाजवादियों से लेकर नक़ली वामपन्थियों और भगोड़ों की सभी क़िस्में आज एन.जी.ओ. के साथ मधुयामिनी मना रही हैं।

सर्वहारा क्रान्ति के दो विश्व ऐतिहासिक चक्रों के बीच की विशिष्टता यह रही है कि उसने समाजवाद को बदनाम करने वाले नक़ली लाल झण्डे को चींथकर धूल में फेंक दिया है, सुधारवाद और "कल्याणकारी राज्य" के कीन्सियाई नुस्खों की असलियत साफ़ कर दी है और विश्व पूँजीवाद की घोर मानवद्रोही बर्बरता को एकदम उजागर कर दिया है। एक बार फिर, उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप की तरह, पूरी दुनिया में श्रम और पूँजी की ताक़तें एकदम आमने-सामने खड़ी हैं। साम्राज्यवादी भेड़िये और तीसरी दुनिया के देशों में सत्तारूढ़ उनके छुटभैये मेहनतकशों से अतिलाभ निचोड़ते हुए उनके एक बड़े हिस्से को लगातार सड़कों पर धकेल रहे हैं और तबाह कर रहे हैं। दूसरी ओर विश्व स्तर पर युद्ध और विनाश का जो कहर वे बरपा कर रहे हैं, वह कुल मिलाकर विश्वयुद्धों की तबाही से कम नहीं है। दूसरी ओर, दुनिया के पिछड़े देशों से लेकर समृद्ध देशों तक में एक बार फिर विद्रोह का लावा खौल रहा है। जगह-जगह जन-उभारों और आन्दोलनों के ज्वार भी उठने लगे हैं। इस पूरी स्थिति का समस्यापरक पक्ष यह है कि सर्वहारा क्रान्ति की मनोगत शक्तियाँ अभी कमज़ोर और बिखरी हुई हैं। विगत पराजयों का सार-संकलन अभी पूरा नहीं हुआ है। साथ ही, नई सर्वहारा क्रान्तियों की प्रकृति और रास्ते को समझने के लिए, परिस्थितियों में आए नये बदलावों को समझने का काम भी अभी बहुत कम हुआ है। लेकिन, ठहराव के दौर के संकटों और चुनौतियों के बजाय आज हम एक नई शुरुआत के दौर के संकटों और चुनौतियों के रूबरू खड़े हैं। इसी नये दौर के कार्यभारों को हम एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और नये सर्वहारा प्रबोधन के कार्यभारों के रूप में देख-समझ रहे हैं।

एकदम ठोस शब्दों में कहें कि सर्वहारा क्रान्ति के नए संस्करण की सर्जना के लिए हमें सबसे पहला काम

यह करना है कि अतीत की सर्वहारा क्रान्तियों और संघर्षों के इतिहास को विस्मृति के अँधेरे से बाहर लाना है, तमाम मिथ्या-प्रचारों और विभ्रमों की धूल-राख उड़ाकर उसे जनता के सामने प्रस्तुत करना है। हमें सर्वहारा क्रान्ति की विचारधारा के बारे में फैलाई जा रही भ्रान्तियों और झूठे प्रचारों का प्रतिकार करते हुए उसे मेहनतकश जनता के वर्ग-सचेत संस्तरों तक और उनके पक्ष में खड़े परिवर्तनकामी बुद्धिजीवियों तक लेकर जाना है। यह सर्वहारा पुनर्जागरण का पक्ष है। एक नये सर्वहारा प्रबोधन के केन्द्रीय कार्यभार क्या हैं? हमें सर्वहारा वर्ग की विचारधारा को आज के विश्व-ऐतिहासिक सन्दर्भों में जानना-समझना है। मार्क्सवाद एक गत्यात्मक विज्ञान है। अतीत की क्रान्तियों का अध्ययन हम भविष्य की क्रान्तियों के लिए कर रहे हैं। महानतम क्रान्तियों का भी अनुकरण नई क्रान्तियों को जन्म नहीं दे सकता। अतीत के प्रयोगों से सीखते हुए स्थितियों में आए परिवर्तनों को सदा-सर्वदा ध्यान में रखना होता है। और फिर नये चक्र की सर्वहारा क्रान्तियों का रंगमंच तो पूर्व की अपेक्षा कई महत्त्वपूर्ण भिन्नताएँ लिये हुए है। इतिहास के अध्ययन, वर्तमान जीवन के अध्ययन और सामाजिक प्रयोगों के त्रिकोणात्मक संघातों के बीच ही नई क्रान्तियों के मार्गदर्शक सूत्र और रणनीति का विकास होगा। यह समय घनघोर वैचारिक बहस-मुबाहसे का होगा। साथ ही, यह जनता के बीच शिक्षा और प्रचार का तथा प्रारम्भिक स्तर के सामाजिक प्रयोग का समय होगा। यही नये सर्वहारा प्रबोधन का केन्द्रीय कार्यभार है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों कार्यभार अलग-अलग नहीं, बल्कि एक-दूसरे के साथ गुंथे-बुने हैं और इन्हें साथ-साथ अंजाम दिया जाएगा। यह भी स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि यह पूरी प्रक्रिया सर्वहारा क्रान्ति की हरावल शक्ति को नये सिरे से संगठित करने की प्रक्रिया की सहवर्ती होगी, पूर्ववर्ती या अनुवर्ती नहीं।

कला–साहित्य–संस्कृति के मोर्चे पर विचारधारात्मक संघर्ष

वर्ग-संघर्ष की वैज्ञानिक चेतना को विकसित करने के लिए हमें कला-साहित्य-संस्कृति के मोर्चे पर भी वर्ग-संघर्ष को तीखा करने का काम करना होगा। हमें श्रम की दुनिया में क्रान्ति की वस्तुगत आवश्यकता को एक बार फिर आम जनगण की उद्दाम, दुर्निवार आकांक्षा में रूपान्तरित कर देना है। साहित्य का, समग्र संस्कृति कर्म का कर्तव्य है कि वह लोगों को निराशा और विभ्रमों से छुटकारा दिलाकर तमाम मानवद्रोही शक्तियों और मानवद्रोही व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह में उठ खड़ा होने के लिए तैयार करे। जीवन के अन्य सभी मोर्चों की तरह सांस्कृतिक मोर्चे पर भी हमें आज "नये संघर्षों को गौरवमण्डित करने के लिए", "सम्मुख उपस्थित कार्यभार को कल्पना में वृहद आकार देने के लिए", "एक बार फिर क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने के लिए" अतीत के संघर्षों की महानता-महत्ता और वैचारिक परम्परा का पुनरान्वेषण करना है। इस दृष्टि से सांस्कृतिक मोर्चे पर भी आज की पहली प्राथमिकता वैचारिक कार्य और वैचारिक तैयारियों की है।

किसी भी मोर्चे पर नई तैयारियाँ हर-हमेशा विचारधारात्मक धरातल से ही शुरू होती हैं। भविष्य का विजेता वर्ग अपने विरोधी को सबसे पहले विचारधारात्मक मोर्चे पर ही शिकस्त देता है। सांस्कृतिक मोर्चे पर भी आज पहली ज़रूरत वैचारिक सफ़ाई और तैयारी की, वैचारिक आक्रमणों के प्रतिकार की और वैचारिक प्रत्याक्रमण की है। ध्यान रखना होगा कि यह बुनियादी काम है, पर एकमात्र नहीं। और यह भी याद रखना होगा कि इसे "अध्ययन-कक्ष के योद्धा" और निठल्ले विमर्शक नहीं, बल्कि जनता के बीच सक्रिय सांस्कृतिक सेनानी ही अंजाम दे सकेंगे। विपर्यय, पुनरुत्थान और संक्रमण के समय में इतिहास का पुनरीक्षण, वर्तमान का विश्लेषण और भविष्य की दिशा तय करने का काम केन्द्रीय बन जाता है, अतः विचार-पक्ष पर केन्द्रीय ज़ोर स्वाभाविक हो जाता है।

अतीत में ऐसा कई बार हुआ है कि ऐतिहासिक संक्रमण कालों में संस्कृति का क्षेत्र विचारधारात्मक संघर्ष का अहम मोर्चा, और कभी-कभी तो मुख्य रंगमंच बन जाता रहा है। यूरोपीय पुनर्जागरण और प्रबोधन-काल

के इतिहास की बस हम याद दिलाना चाहेंगे।

लेकिन जब हम कहते हैं कि आज संस्कृति का क्षेत्र विचारधारात्मक संघर्ष का केन्द्रीय रणांगन बना हुआ है तो यह इतिहास-निगमित सूत्र के दुहराने के रूप में नहीं बल्कि इस समय मौजूद स्थिति के वस्तुगत मूल्यांकन के रूप में कहते हैं। हम देखें, राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में तो स्थिति यह है कि वर्तमान परिस्थितियाँ बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के मुँह से मार्क्सवादी प्रस्थापनाएँ उगलवा रही हैं। सीधे विचारधारा के क्षेत्र में, मार्क्सवादी दर्शन या समाजवादी प्रयोगों की शिक्षाओं को तोड़ने-मरोड़ने का काम तो हो रहा है, पर वास्तव में बुर्जुआ वर्ग कोई नया हमला बोल ही नहीं सका है। जिन मुद्दों पर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दो दशकों तक मार्क्सवाद बुर्जुआ विचारधारा को परास्त कर चुका है, उन्हें ही भाड़े के कलमघसीट कुछ यूँ उठा रहे हैं मानो यह एकदम नई बात हो, मार्क्सवाद पर कोई नया सवाल हो। समाजवाद की फ़िलहाली पराजय को लेकर जो भी बातें की जा रही हैं, उनके उत्तर लेनिन के अन्तिम दौर के चिन्तन से लेकर माओ के सांस्कृतिक क्रान्ति-कालीन चिन्तन तक में मौजूद हैं।

देखा जाए तो अधिक षड्यंत्रकारी और प्रभावी ढंग से, अमूर्त बौद्धिक निरूपणों-सूत्रीकरणों का वाग्जाल रचते हुए, विगत दो दशकों के दौरान जो "सांस्कृतिक विमर्श" हुए हैं और जो नये सामाजिक, सांस्कृतिक और सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त गढ़े गए हैं, उन्होंने द्वन्द्वात्मक पद्धति और भौतिकवादी जीवन-दृष्टि पर सर्वाधिक प्रभावी चोटें की हैं। इन नये विमर्शों-सिद्धान्तों में हम उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-संरचनावाद, उत्तर-मार्क्सवाद, उत्तर-मार्क्सवादी नारीवाद, प्राच्यवाद, 'सबआल्टर्न' इतिहास-लेखन आदि-आदि—सभी को शामिल कर रहे हैं। इनके तर्क भी दरअसल नये नहीं हैं। इनमें हीगेल का विद्रूप है और नीत्शे से लेकर स्पेंग्लर तक की अनुगूँजें हैं, पर "सांस्कृतिक विमर्शों" में इन्हें प्रभावी ढंग से नया और समकालीन बनाकर पेश किया जा रहा है। संशोधनवादियों और अकादमिक वामपन्थियों का एक हिस्सा पक्ष-परिवर्तन करके इस जमात में शामिल हो गया है, दूसरा हिस्सा इनसे काफ़ी-कुछ उधार लेकर समन्वयवाद की राह चल रहा है और तीसरा हिस्सा इनका आधा-अधूरा, मरियल और अमूर्त अकादमिक विमर्श की ही भाषा में जवाब दे रहा है। सही ईमानदार, वामपन्थी लेखक-संस्कृतिकर्मी प्रायः दिग्भ्रमित हैं और ख़ास तौर पर जनपक्षधर युवा बुद्धिजीवियों पर इस स्थिति का प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। इससे सांस्कृतिक मोर्चे की वैचारिक तैयारी और नई कतारों की तैयारी का काम भी प्रभावित हो रहा है।

संस्कृति के मोर्चे पर एक और दृष्टि से नये पुनर्जागरण और नये प्रबोधन के वैचारिक कार्यों को देखना-समझना ज़रूरी है। पुनरुत्थान के इस विश्व-ऐतिहासिक दौर में, वित्तीय पूँजी की "अन्तिम विजय" के इस दौर में, फ़ासीवादी प्रवृत्तियों का नया उभार एक विश्वव्यापी परिघटना है और हमारे देश में भी इनका श्मशान-नृत्य जारी है। वैचारिक धरातल पर, अतीत की ही तरह, इतिहास और संस्कृति के विकृतिकरण पर इनका मुख्य ज़ोर है। इसलिए भी, एक ओर जहाँ इनसे निर्णायक संघर्ष के लिए मेहनतकश जनता की लामबन्दी का काम तेज़ करना होगा, वही संस्कृति के क्षेत्र में इनके मुक़ाबले के लिए जमकर वैचारिक कार्य करना होगा और व्यापक प्रचार-कार्य भी।

सच पूछें तो आज समूचे बुर्जुआ वर्ग का दर्शन ही तर्कणा और जनवाद के मूल्यों से इतना रिक्त हो चुका है कि फ़ासीवादी विचार-दर्शन से उसकी विभाजक रेखा धूमिल हो गई है। यह अनायास नहीं है कि तमाम क़िस्म की "उत्तर" विचार-सरणियाँ आज बुर्जुआ पुनर्जागरण और उसकी मानववाद और इहलोकवाद की परम्परा को तथा बुर्जुआ प्रबोधनकाल और उसकी तर्कणा और जनवाद की विरासत को ही सिरे से खारिज करने का काम कर रही हैं। उस महान क्रान्तिकारी विरासत का वास्तविक वारिस तो सर्वहारा वर्ग ही है। उन्नीसवीं शताब्दी में सत्तारूढ़ होते ही बुर्जुआ वर्ग ने स्वतंत्रता-समानता-भ्रातृत्व के लाल झण्डे को धूल में फेंक दिया था तो सर्वहारा वर्ग ने उसे आगे बढ़कर उठा लिया था। आज जीवन में मानववाद और तर्कणा के प्राधिकार को स्थापित करने की लम्बी लड़ाई एक बार फिर एक उग्र चरण में है। यह सर्वहारा मानववाद और द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवादी तर्कणा के झण्डे को ऊँचा उठाने का समय है। यह आज के

नये पुनर्जागरण और नये प्रबोधन का केन्द्रीय काम है और संस्कृति का मोर्चा ऐसे समय में बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

निचोड़ के तौर पर संस्कृति के मोर्चे के वैचारिक कार्यों को ठोस रूप में कुछ यूँ निरूपित किया जा सकता है : (i) सबसे पहली बात तो यह कि सर्वहारा-संस्कृति के सर्जकों-शिल्पियों को मार्क्सवादी दर्शन और राजनीतिक अर्थशास्त्र का एक हद तक अध्ययन अवश्य करना होगा, तभी वे बुर्जुआ विभ्रमों से मुक्त हो सकते हैं, बुर्जुआ सांस्कृतिक विचारों का प्रतिकार कर सकते हैं और सामाजिक जीवन की प्रतीतियों की सतह भेदकर सारभूत यथार्थ को पकड़ सकते हैं। (ii) हमें साहित्य-कला-संस्कृति की मार्क्सवादी वैचारिकी के अध्ययन-मनन का काम करना होगा। पहले किया भी हो तो नये सिरे से करना होगा, विस्मृतियों की कालिख पोंछनी होगी। अतीत के सैद्धान्तिक बहसों-विमर्शों और प्रयोगों का नये सिरे से अध्ययन करना होगा और महत्त्वपूर्ण चीज़ों को पुनर्प्रस्तुत करना होगा। (iii) हमें तमाम "उत्तर" विचार-सरणियों की, अन्य नये-नये बुर्जुआ और "नववामपन्थी" संस्कृति-सिद्धान्तों की वैज्ञानिक आलोचना प्रस्तुत करनी होगी। (iv) हमें आज के बुर्जुआ मीडिया-विशेषज्ञों और बुर्जुआ संस्कृति उद्योग के सिद्धान्तकारों के नये-नये सिद्धान्तों की सांगोपांग चीर-फाड़ करनी होगी। (v) हमें आज के सामाजिक यथार्थ और नई सामाजिक-सांस्कृतिक परिघटनाओं-प्रवृत्तियों का वैज्ञानिक विश्लेषण करना होगा और इस प्रक्रिया में मार्क्सवादी कला-दर्शन और सौन्दर्य-शास्त्र को समृद्ध और समकालीन बनाने की सतत्-प्रक्रिया को नया संवेग देना होगा।

सांस्‍ तिक मोर्चे पर व्यक्तिवाद, अराजकतावाद, उदारतावाद का विरोध करो!

आज ऐसे ही कथित वामपन्थी लेखकों-संस्कृतिकर्मियों का बोलबाला है जो "मुक्त लोग" हैं। राजनीति पर खुली-दो टूक चर्चा से वे बिदकते-कतराते हैं। किसी भी तरह का अनुशासन उन्हें अपनी "सर्जनात्मकता" के हाथों की हथकड़ी प्रतीत होती है। वे अकेले अपने दम-बूते जनता और इतिहास की "सेवा" करते हैं। वास्तव में यह मध्यवर्गीय अराजकतावाद है, व्यक्तिवाद और फिलिस्टाइनवाद है। सामूहिक शक्ति और सर्जना का अनुशासित योग भौतिक उत्पादन के लिए ज़रूरी है और आत्मिक उत्पादन के लिए भी। इस बात का विरोध करने वाले समष्टिगत सर्जना के भविष्य और उत्पादक श्रमजीवी के प्रतिनिधि लेखक नहीं हो सकते। हम बेझिझक, बल देकर यह कहना चाहते हैं कि यह स्थापना आज भी पूरी तरह सही है कि सर्वहारा वर्ग का कला-साहित्य समूचे सर्वहारा क्रान्तिकारी कार्य का एक अंग है। जैसाकि लेनिन ने कहा था, यह समूची क्रान्तिकारी मशीनरी के दाँते और पेंच के समान है। "कला और साहित्य राजनीति के मातहत होते हैं, लेकिन वे ख़ुद भी राजनीति पर अपना महान प्रभाव डालते हैं। क्रान्तिकारी कला और साहित्य समूचे क्रान्तिकारी कार्य का एक अंग हैं, ये दोनों इस कार्य के दाँते और पेंच हैं, तथा ये कुछ अन्य अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण पुर्जों की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण और कम आवश्यक भले हीं हों, मगर समूची मशीनरी के अनिवार्य दाँते और पेंच हैं तथा समूचे क्रान्तिकारी कार्य के अनिवार्य अंग हैं।" (माओ त्से-तुङ : येनान कला-साहित्य गोष्ठी में भाषण)

हम इसे अपरिहार्य समझते हैं, इसलिए अधिकांश प्रगतिशील सुजान-सर्जकों के लिए उबाऊ-बिदकाऊ बात होते हुए भी इस "पुरानी स्थापना" को दुहराना चाहते हैं कि संस्कृति के मोर्चे को राजनीतिक धरातल के वर्ग-संघर्ष से जोड़ना होगा और सांस्कृतिक सृजन और प्रचार के काम को पूरे क्रान्तिकारी उपक्रम का अनिवार्य अंग बनाना होगा। कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक मोर्चे पर भी उदारतावाद के विरुद्ध संघर्ष आज बेहद ज़रूरी है।

"वामपन्थी" कलावाद–रूपवाद और मध्यवर्गीय लम्पटता का विरोध करो!

यह बिन्दु भी उपरोक्त बिन्दु से जुटा हुआ है। सर्वहारा क्रान्तियों के प्रथम चक्र की पराजय और क्रान्तिकारी वामपन्थी आन्दोलन की विघटन-विफलता के परिणाम जिन रूपों में सामने आए हैं, उनमें से एक यह भी है कि वामपन्थी और जनवादी का लेबल लगाकर घूमने वाले ऐसे "छैलों" की कविता-कहानी-नाटक की दुनिया में भरमार है जो अपने जीवन में तो हर तरह का अवसरवादी कुकर्म करते ही हैं, रचना के धरातल पर भी उनके मूल आग्रह कलावादी होते हैं। ख़ास तौर पर कविता के क्षेत्र में तो रूपवादी "वामपन्थ" का ज़ोर इतना अधिक है कि पुरोगामी और प्रतिगामी की विभाजक रेखा ही वहाँ धूमिल कर दी गई है। इसी तरह कहानी के क्षेत्र में यथार्थवाद के नाम पर प्रकृतवादी आग्रहों के बोलबाले का एक रूप मध्यवर्गीय लम्पटता का घटाटोप भी है। भारतीय जन-जीवन और संस्कृति की तबाही के सबसे नंगे, बर्बर और तेज़ रफ़्तार दौर में फूहड़-कामुक, यौनलोलुप और रुग्ण विवरण "यथार्थ-चित्रण" के नाम पर कहानियों से लेकर आत्मकथाओं के "भोगे हुए यथार्थ" और संस्मरणों के "बनारसी ठाठ" के रूप में ख़ूब प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

इन घटिया प्रवृत्तियों के वास्तविक स्रोत को, इनके वर्ग-चरित्र को सविश्लेषण उजागर करना होगा, सर्वहारा संस्कृति के इन रेशमी रूमालधारियों को, इन भँड़ैतों, छैलों और रागरंग-प्रेमियों को बेनक़ाब करना होगा और इनके विरुद्ध समझौताविहीन संघर्ष चलाना होगा।

कला–साहित्य के क्षेत्रा में सामाजिक जनवादी प्रवृत्तियों का विरोध करो!

जिस तरह राजनीति के क्षेत्र में, उसी तरह कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में भी आज वामपन्थ के नाम पर सामाजिक जनवादी/संशोधनवादी प्रवृत्तियों का काफ़ी बोलबाला है। इनके अनेक रूप हैं। सिर्फ़ कुछ प्रतिनिधि उदाहरणों की ही यहाँ चर्चा की जा सकती है।

अधिकांश कवि-लेखक-आलोचक आज अपने लेखन में यूरो कम्युनिज़्म और पश्चिमी नववामपन्थ के नये-पुराने पुरोधाओं से निरे अनालोचनात्मक ढंग से काफ़ी कुछ उधार लेते दीखते हैं। सोवियत संघ और चीन में सर्वहारा क्रान्तियों के बाद, समाजवादी संक्रमण के महान सामाजिक प्रयोगों के दौरान कला-साहित्य-नाटक-सिनेमा-संगीत आदि के क्षेत्र में जो भी सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक काम हुए थे, आम तौर पर उनके प्रति उपेक्षा का रुख दिखाई देता है। हम यह नहीं कहते कि उस दौर में गलतियाँ नहीं हुईं, पर महान क्रान्तिकारी परिवर्तनों के दौर के कला-साहित्य का ऐतिहासिक-आलोचनात्मक अध्ययन अकादमिक वामपन्थी "मुक्त-चिन्तन" से उधार लेने के बजाय कहीं अधिक उपयोगी होगा।

नववाम के सुर में सुर मिलाते हुए ज़्यादातर कवि-लेखक बुर्जुआ मानवतावादी स्वर में लिख-बोल रहे हैं और वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा अधिनायकत्व की निरन्तरता के बुनियादी उसूलों पर क़ायम सर्वहारा मानवतावाद को बिना सांगोपांग तर्क और आलोचना के खारिज करते प्रतीत होते हैं।

यह कला-साहित्य में सामाजिक-जनवादी प्रवृत्तियों के बोलबाले का ही नतीजा है कि न केवल संशोधनवाद और क्रान्तिकारी वामपन्थ की विभाजक रेखा कला-साहित्य में मिट सी गई प्रतीत होती है, बल्कि कल के लोहियावादी, "लघु मानव"वादी परिमलिये आज के स्थापित वामपन्थी समालोचक माने जा रहे हैं। रघुवीर सहाय की शिष्ट-संयमित मध्यवर्गीय असन्तोष की कविता और केदारनाथ सिंह की कुलीन, सजी-सँवरी कविता को आज सुधी आलोचकों का एक संगठित धड़ा वामपन्थी काव्य-धारा के प्रतिमान या प्रातिनिधिक प्रवृत्ति के रूप में प्रस्तुत कर रहा है और बहुतेरे नये कवि इन धाराओं को आदर्श मान रहे हैं। रेणु की जनपक्षधरता निस्सन्दिग्ध हो सकती है, लेकिन उनके प्रकृतवादी यथार्थवाद को और उनके लोहियावादी समाजवादी विचारों के निरूपण को प्रेमचन्द की राष्ट्रीय जनवादी धारा का विस्तार घोषित करना सर्वहारा साहित्य की वैचारिक समझ पर सवाल खड़े करता है। यथार्थ-चित्रण के नाम पर निषेधवादी-अनास्थामूलक

दृष्टि से जनता के जीवन को प्रस्तुत करने वाले और कहीं-कहीं खिल्ली तक उड़ाने वाले श्रीलाल शुक्ल यदि उच्चासन पर बिठाए जा रहे हैं तो यह वामपन्थी कला-साहित्य की दुनिया में सामाजिक जनवादी प्रवृत्तियों के ज़बर्दस्त प्रभाव का ही द्योतक है।

इधर विस्मृत मार्क्सवादी आलोचकों-लेखकों के पुनःस्मरण का काम ख़ूब हो रहा है। यह ज़रूरी और उपयोगी तभी हो सकता था जब इसे आलोचनात्मक, तर्कसम्मत पुनर्मूल्यांकन की दृष्टि से किया जाता। लेकिन प्रायः ऐसा नहीं हो रहा है और पुरानी पीढ़ी के मार्क्सवादी लेखकों के तमाम विचलनों को भी श्रद्धाभाव से स्वीकारा जा रहा है या फिर उनकी अनदेखी की जा रही है।

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के नाम पर एक नई नववामपन्थी प्रवृत्ति सामने आई है जो पुराने सामाजिक जनवादी विचारों को अकादमिक आडम्बरपूर्ण पण्डिताऊपन की चाशनी में लपेटकर परोस रही है और नयेपन के फ़ैशनेबल आग्रहियों के मध्यवर्गीय मन को ख़ूब भा रही है। 'सन्धान' पत्रिका इस धारा की अग्रणी प्रतिनिधि पत्रिका है। कला-साहित्य की क्रान्तिकारी वामपन्थी धारा का एक ज़रूरी कार्यभार है कि वह इस विचार-सरणि का सांगोपांग विश्लेषण प्रस्तुत करे और इनके द्वारा फैलाए जा रहे विभ्रमों के धुएँ-कोहरे को छाँटने का काम करे।

धार्मिक कट्टरपन्थ फ़ासीवाद के विरुद्ध सांस्कृतिक मोर्चे पर सही क्रान्तिकारी रणनीति अपनाओ!

कला-साहित्य-संस्कृति के मोर्चे पर समकालीन धार्मिक कट्टरपन्थी फ़ासीवादी उभार की वैचारिक-ऐतिहासिक समझ में गम्भीर दृष्टि-दोष दीखते हैं और इनका प्रतिरोध भी प्रायः रस्मी, प्रतीकात्मक और कुलीनतावादी सीमान्तों में क़ैद दीखता है।

नाटकों, कविताओं और कहानियों में प्रायः हिन्दुत्ववादी कट्टरपन्थियों का विरोध 'सर्वधर्म समभाव' की ज़मीन से या बुर्जुआ मानवतावाद या बुर्जुआ जनवाद की ज़मीन से करने की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। यह सर्वहारा संस्कृतिकर्मी का सिरदर्द नहीं है कि संघ परिवार ने संविधान और न्यायतंत्र को ख़तरे में डाल दिया है। इसकी चिन्ता संविधान और न्यायतंत्र के पहरुए करें। हम यदि इसका हवाला भी देंगे तो पूरी व्यवस्था के चरित्र और फ़ासीवाद के चरित्र को समझाने और 'एक्सपोज़र' के नज़रिए से देंगे। लोगों की निजी धार्मिक आस्थाओं के अनुपालन के जनवादी अधिकार के प्रति अपनी पूर्ण प्रतिबद्धता ज़ाहिर करते हुए भी, हमें "उदार हिन्दू" या "रैडिकल हिन्दू" का रुख अपनाने के बजाय धर्म के जन्म और इतिहास की भौतिकवादी समझ का प्रचार करना होगा, धर्म के प्रति सही सर्वहारा नज़रिए को स्पष्ट करना होगा, धर्म और साम्प्रदायिकता के बीच के फ़र्क़ को स्पष्ट करते हुए एक आधुनिक परिघटना के रूप में साम्प्रदायिकता की समझ बनानी होगी तथा संकटग्रस्त पूँजीवाद की विचारधारा और राजनीति के रूप में साम्प्रदायिक फ़ासीवादी उभार का विश्लेषण प्रस्तुत करना होगा। हमें यह स्पष्ट करना होगा कि भारत में धार्मिक कट्टरपन्थी फ़ासीवादी उभार यहाँ की पूँजीवादी व्यवस्था के सर्वग्रासी संकट की राजनीतिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति होने के साथ ही, पुनरुत्थान और विपर्यय के इस विश्व-ऐतिहासिक दौर में, धार्मिक कट्टरपन्थ के विश्वव्यापी उभार का भी एक हिस्सा है। इसका सम्बन्ध मूलगामी तौर पर, विश्व पूँजीवाद के ढाँचागत संकट से है, आर्थिक कट्टरपन्थ की वापसी के दौर से है तथा बुर्जुआ जनवाद के निर्णायक विश्व-ऐतिहासिक पराभव के दौर से है।

यह सर्वहारा की अवस्थिति नहीं हो सकती कि वह निर्गुण भक्ति आन्दोलन के सहारे, गांधीवादी मानवतावाद के सहारे या नेहरूवादी धर्मनिरपेक्षता के सहारे या संविधान पर ख़तरे की दुहाई देते हुए साम्प्रदायिक फ़ासीवाद का विरोध करे। कबीर और निर्गुण भक्ति आन्दोलन की सन्त परम्परा जनता की महान सांस्कृतिक परम्परा है, पर यह आन्दोलन मध्ययुगीन सामन्ती निरंकुश स्वेच्छाचारिता, ब्राह्मणवादी जातिगत उत्पीड़न और कर्मकाण्डों के विरुद्ध किसानों-दस्तकारों के "नये धार्मिक" तर्कों पर ही आधारित था। आज का धार्मिक

कट्टरपन्थ मध्ययुगीन प्रतिक्रियावादी अधिरचना के बहुतेरे तत्त्वों को अपनाए हुए है, लेकिन यह एक आधुनिक परिघटना है, इसकी जड़ें वित्तीय पूँजी के वैश्विक तंत्र और भारतीय पूँजीवादी राज, समाज, उत्पादन और संस्कृति की रुग्णता में हैं। गांधी की आत्मा का आवाहन भी साम्प्रदायिकता के प्रेत से निपटने में काम नहीं आ सकता, क्योंकि गांधी के मानवतावाद में धार्मिक पुराणपन्थ और धार्मिक 'यूटोपिया' का जो स्थान था, उसके चलते धर्म के धार्मिक कट्टरपन्थी इस्तेमाल के विरुद्ध वह आज जनता के वैचारिक सांस्कृतिक अस्त्र की भूमिका निभाने में क़तई अक्षम हो चुका है। एक मरियल क़िस्म के भौतिकवाद की ज़मीन पर खड़ी नेहरू की धर्मनिरपेक्षता को भी आज पुनर्जीवित कर पाना ठीक उसी प्रकार सम्भव नहीं है जिस प्रकार नेहरूवादी "समाजवाद" के दिनों को वापस लौटा लाना।

यह इतिहास और सामाजिक-आर्थिक संरचना की सुसंगत समझ का अभाव ही है कि भगवान सिंह जैसे रचनाकार साम्प्रदायिकता को सुनिश्चित सामाजिकार्थिक भौतिक आधार से उद्भूत सांस्कृतिक-राजनीतिक परिघटना के रूप में नहीं बल्कि एक मनोवैज्ञानिक समस्या या रुग्णता के रूप में देखते हैं ('उन्माद' उपन्यास)।

जहाँ तक धार्मिक कट्टरपन्थ के विरुद्ध सांस्कृतिक मोर्चे पर व्यावहारिक-आन्दोलनात्मक कार्रवाइयों का सम्बन्ध है, इनका स्वरूप अत्यन्त संकुचित, अनुष्ठानिक और कुलीनतावादी है तथा इनकी अन्तर्वस्तु मुख्यतः सामाजिक जनवादी है। वामपन्थी संस्कृतिकर्मियों की अधिकांश कार्रवाइयाँ शहरी मध्यवर्ग तक सीमित हैं। संघ परिवारी फ़ासिस्टों की आक्रामक कार्रवाइयों के विरुद्ध दिल्ली-बम्बई के अभिजात सांस्कृतिक अड्डों पर रस्मी विरोध-प्रदर्शन, साम्प्रदायिक दंगा ग्रस्त क्षेत्रों में टीमें भेजना और रिपोर्टें (वह भी प्रायः अंग्रेज़ी में) जारी करना, उन्नत चेतना वाले शिक्षित मध्यवर्ग तक सीमिति साहित्यिक पत्रिकाओं में कविताएँ-कहानी-निबन्ध आदि लिखना, कुछ गोष्ठी-सेमिनार व अन्य आयोजन तथा कभी-कभार कुछ नुक्कड़ नाटक जैसे कार्यक्रम—विगत लगभग डेढ़ दशक के फ़ासीवादी उभार के ग्राफ़ के समान्तर हमारी सांस्कृतिक जन-कार्रवाइयों की यही स्थिति है। दरअसल, राजनीतिक दायरे में संसदमार्गी वामपन्थ संसदीय-संवैधानिक सीमान्तों के भीतर, मुख्यतः संसदीय जनवाद की हिफ़ाज़त के नारे के साथ, मतदान की राजनीति को धुरी बनाकर, फ़ासीवाद का जैसा विरोध कर रहा है, काफ़ी कुछ वैसा ही सांस्कृतिक मोर्चे पर भी हो रहा है।

फ़ासीवाद की वैचारिक समझ के लिए गम्भीर विमर्श और जनता के जनवादी अधिकारों पर फ़ासिस्ट डकैती का फ़ौरी विरोध ज़रूरी है, लेकिन सवाल यह है कि फ़ासिज़्म के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष करने वाले मज़दूर वर्ग और बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी को जागृत, शिक्षित और गोलबन्द करने के लिए हम क्या कर रहे हैं? धार्मिक कट्टरपन्थ के हर पहलू पर सीधी-सादी भाषा में पर्चे, पुस्तिकाएँ लिखकर उनका व्यापक वितरण, औद्योगिक क्षेत्रों में और गाँव के ग़रीबों के बीच गीतों-नाटकों आदि के ज़रिए व्यापक शिक्षा और प्रचार के काम क्यों नहीं संगठित हो पा रहे हैं? क्या इसके लिए वामपन्थी लेखकों-संस्कृतिकर्मियों के भीतर व्याप्त मध्यवर्गीय कुलीनता-कायरता और सुविधाभोगी स्वार्थपरता ज़िम्मेदार नहीं है?

हमें याद रखना होगा कि मज़दूरों और अन्य मेहनतकश वर्गों के बीच धार्मिक कट्टरपन्थी फ़ासीवादी राजनीति के असली "चाल-चेहरे-चरित्र" को नंगा करना हमारा सर्वोपरि दायित्व है। सच्चे वामपन्थी संस्कृतिकर्मियों को याद रखना होगा कि फ़ासीवाद के रस्मी सामाजिक जनवादी संशोधनवादी विरोधों ने प्रकारान्तर से उसकी मदद ही की है। सामाजिक-जनवादी विभ्रमों से छुटकारा पाए बग़ैर मध्यवर्ग का रैडिकल जनवादी हिस्सा भी धार्मिक कट्टरपन्थ के विरुद्ध आर-पार की लड़ाई के लिए तैयार नहीं हो सकेगा और सर्वहारा वर्ग के साथ क्रान्तिकारी संयुक्त मोर्चा में शामिल नहीं हो सकेगा। तक़रीबन 75 वर्षों पहले कही गई भगतसिंह की ये बातें आज भी प्रासंगिक हैं और सांस्कृतिक मोर्चे के सेनानियों को भी इन पर अवश्य ही ग़ौर करना चाहिए, "लोगों को परस्पर लड़ने से रोकने के लिए वर्ग-चेतना की ज़रूरत है। ग़रीब मेहनतकशों और किसानों को स्पष्ट समझा देना चाहिए कि तुम्हारे असली दुश्मन पूँजीपति हैं। इसलिए तुम्हें इनके हथकण्डों से बचकर रहना चाहिए। और इनके हत्थे चढ़ कुछ नहीं करना चाहिए। संसार के सभी ग़रीबों के, चाहे वे किसी भी जाति, रंग, धर्म या राष्ट्र के हों, अधिकार एक ही हैं। तुम्हारी भलाई इसी में है कि तुम धर्म, रंग,

नस्ल और राष्ट्रीयता और देश के भेदभाव मिटाकर एकजुट हो जाओ और सरकार की ताक़त अपने हाथ में लेने का यत्न करो। इन यत्नों से तुम्हारा नुकसान कुछ नहीं होगा। इससे किसी दिन तुम्हारी ज़ंजीरें कट जाएँगी और तुम्हें आर्थिक स्वतंत्रता मिलेगी...” (साम्प्रदायिक दंगे और उनका इलाज’)

दलित–प्रश्न पर सही रुख अपनाओ!

दलित-प्रश्न पर सही रुख अपनाए बिना सांस्कृतिक मोर्चे पर सर्वहारा नवजागरण और प्रबोधन के कार्यभारों को पूरा कर पाना सम्भव नहीं होगा। दलित-मुक्ति के प्रश्न की उपेक्षा करके सर्वहारा क्रान्ति या जन-मुक्ति की परियोजना के बारे में सोचा ही नहीं जा सकता। सहस्राब्दियों से सर्वाधिक व्यवस्थित और सर्वाधिक बर्बर शोषण-दमन के शिकार दलित देश की कुल आबादी में लगभग तीस प्रतिशत हैं और उनमें से 90 प्रतिशत ग्रामीण और शहरी सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा की कतारों में शामिल हैं। यह आबादी यदि सम्पूर्ण जनता की मुक्ति और स्वतंत्रता-समानता की वास्तविक स्थापना की परियोजना के रूप में सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति को स्वीकार नहीं करेगी तो उसकी विजय असम्भव है। दूसरी ओर, समाजवादी क्रान्ति परियोजना से जुड़े बिना दलित-मुक्ति का प्रश्न भी असमाधानित ही बना रहेगा (क्योंकि पूँजीवादी दायरे के भीतर सुधार की सम्भावनाएँ अब समाप्तप्राय हैं) तथा समाजवादी क्रान्ति को लगातार चलाए बिना समाज को उस मुक़ाम तक पहुँचाया ही नहीं जा सकता जब जाति और धर्म के आधार पर किसी भी तरह का अन्तर बचा ही नहीं रह जाएगा।

इस प्रश्न की द्वन्द्वात्मक समझ की कमी के अभाव में अतीत में कम्युनिस्ट आन्दोलन और वाम जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलन में वर्ग-अपचयनवाद (Class-reductionism) का विचलन गम्भीर रूप में मौजूद था। आज इसी विचलन का दूसरा छोर वर्ग-विसर्जनवाद (Class-liquidationism) या वर्ग-निषेधवाद के रूप में मौजूद है जब इस हद तक के फ़तवे दिए जा रहे हैं कि वर्ग-विश्लेषण की क्लासिकी मार्क्सवादी पद्धति से भारतीय जाति-व्यवस्था का विश्लेषण ही सम्भव नहीं है। दलित मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के “दलितवादी” चिन्तन के प्रति निहायत अनालोचनात्मक, आत्मसमर्पणकारी, समन्वयवादी रवैया अपनाया जा रहा है। यह एक घातक विसर्जनवादी, सुधारवादी प्रवृत्ति है जिसका आज ख़ूब बोलबाला है।

आज हिन्दी में जो दलित-लेखन हो रहा है, वह पक्षधर साहित्य है, प्रतिरोध का साहित्य है, रैडिकल आलोचनात्मक यथार्थवादी साहित्य है। लेकिन यह सच है कि यह सम्पूर्ण दलित आबादी के बजाय, मुख्यतः उस मध्यवर्गीय दलित का प्रातिनिधिक स्वर है, जिसका आर्थिक प्रश्न तो एक हद तक हल हो चुका है और अब सामाजिक अपमान व भेदभाव ही जिसके लिए केन्द्रीय प्रश्न है। इसीलिए समकालीन दलित लेखन का तेवर चाहे जितना तीखा हो, वह ठोस विकल्प के रूप में इसी व्यवस्था के भीतर कुछ सुधारों की माँग करता है, दलित-प्रश्न की समूल समाप्ति की कोई परियोजना नहीं प्रस्तुत करता तथा क्रान्ति के नाम से बिदकता है। यह अनायास नहीं कि जिन आन्दोलनों-संघर्षों में दलित आबादी की बहुतायत होती है या जो आन्दोलन गाँवों में दलित उत्पीड़न के ही किसी मुद्दे पर होते हैं उनसे यह दलित ‘भद्रलोक’ कोसों दूर रहता है। दलित साहित्य चूँकि अम्बेडकरवाद को ही अपना मार्गदर्शक सिद्धान्त मानता है, अतः दलित अस्मिता की पहचान और उनके प्रतिरोध-आन्दोलन को संगठित करने में डा. अम्बेडकर की ऐतिहासिक भूमिका को स्वीकार करते हुए भी यह ज़रूरी है कि उनके विचारों की विस्तृत, तर्क और तथ्यपूर्ण विवेचना की जाए। प्रश्न यह है कि अम्बेडकर की दार्शनिक विश्वदृष्टि क्या थी? उनके मूलभूत राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विचार क्या थे? दलित हितों के अर्जन और हिफ़ाज़त के अन्तरिम प्रावधानों और प्रतिरोध आन्दोलन के प्रोग्राम के साथ ही क्या डा. अम्बेडकर के पास दलित-प्रश्न के सम्पूर्ण और अन्तिम समाधान की कोई दूरगामी सांगोपांग परियोजना थी? ब्राह्मणवाद और जाति प्रश्न का ‘एक्सपोज़र’, विश्लेषण और भर्त्सना ज़रूरी है, लेकिन लगातार, लम्बे समय तक यहीं रुके रहना और इसे ही दलित आन्दोलन का पूरा प्रोग्राम बना देना कहाँ तक उचित है?

हम समझते हैं कि सामाजिक बदलाव एक वैज्ञानिक प्रश्न है और विज्ञान के प्रश्न निस्संकोच, बेलागलपेट

बहस की माँग करते हैं। दलित-प्रश्न को लेकर मार्क्सवाद पर अधूरेपन का लेबल मात्र लगाने के बजाय इस पर मुद्देवार, विस्तृत बहस होनी चाहिए, अम्बेडकर के विचारों और दलित आन्दोलन के इतिहास पर भी बहस होनी चाहिए तथा दलित प्रश्न के वर्ग-विश्लेषण के साथ-साथ समकालीन दलित साहित्य को भी विश्लेषण के एजेण्डे पर लाया जाना चाहिए। तर्क-विचारहीन दलित-हित समर्थन का शोरगुल आज दलित प्रश्न पर सही कार्यदिशा अपनाने में गम्भीर विघ्न पैदा कर रहा है।

स्त्री–प्रश्न पर सही रुख अपनाओ!

समाजशास्त्रीय विमर्श की ही भाँति कला-साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में भी आज बुर्जुआ नारीवाद के विविध नये-नये रूपों और क़िस्मों का ख़ूब बोलबाला है। नववामपन्थी "मुक्त चिन्तक" स्त्री-प्रश्न पर क्लासिकी मार्क्सवाद के "अधूरेपन" और "यांत्रिकता" को स्वीकारते हुए बुर्जुआ नारीवादियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर रहे हैं।

एक गहरे वैचारिक कुचक्र के तहत सर्वहारा क्रान्ति और पार्टी-सिद्धान्त को पुरुष स्वामित्ववाद और स्त्री-उत्पीड़न के तत्त्वों से युक्त बताया जा रहा है और स्त्री-आन्दोलन की स्वायत्तता की वकालत करते हुए आधी आबादी को जन-मुक्ति-संघर्ष की ऐतिहासिक परियोजना से काटकर अलग करने का षड्यंत्र किया जा रहा है। बुर्जुआ नारीवाद की सभी क़िस्में उन उच्च-मध्यवर्गीय स्त्रियों के हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिनका 'स्वर्ग' इसी व्यवस्था में सुरक्षित है। वे पुरुष-वर्चस्ववाद का विरोध तो करना चाहती हैं, लेकिन इतिहास और सामाजिक-आर्थिक संरचना में जमी उसकी जड़ों को नहीं देख पातीं क्योंकि इस व्यवस्था के वर्ग-उत्पीड़क चरित्र से उन्हें कोई शिकायत नहीं। एन.जी.ओ. प्रायोजित नारीवादियों का एक हिस्सा स्त्रियों, दलितों, विस्थापितों के उत्पीड़न और पर्यावरण के प्रश्न पर अलग-अलग जनसंघर्षों की हिमायत करता है लेकिन इन सबको एक ही मुक्ति-परियोजना के अभिन्न अंगों के रूप में नहीं देखता और विचारधारा और राजनीति के प्राधिकार को स्वीकार नहीं करता। यह अराजकतावाद और संघाधिपत्यवाद (Syndicalism) का ही एक नया रूप है। भारत में तीव्र पूँजीवादीकरण से हुए मध्यवर्ग के विस्तार और बुर्जुआ संस्कृति के आच्छादनकारी प्रभाव ने बुर्जुआ नारीवाद के सामाजिक आधार को व्यापक बनाया है। सर्वहारा क्रान्तियों की विफलता से पैदा हुए परिवेश और बुर्जुआ वैचारिक-सांस्कृतिक प्रचार के प्रभाव में, निम्न-मध्यवर्गीय शिक्षित युवा स्त्रियों का एक बहुत बड़ा रैडिकल हिस्सा भी व्यापक मेहनतकश आबादी और आम मेहनतकश स्त्रियों के संघर्षों से जुड़ने के बजाय फ़िलहाल बुर्जुआ नारीवादी लहर के साथ बह रहा है। साहित्य-कला-संस्कृति की दुनिया में जारी स्त्री-विमर्श में पुरुष-वर्चस्ववाद के प्रश्न को एक समाज-निरपेक्ष, स्वायत्त प्रश्न के रूप में ही प्रस्तुत किया जा रहा है। स्त्री-मुक्ति के किसी व्यावहारिक सुदीर्घ कार्यक्रम के बिना सिर्फ़ गर्मागर्म लफ़्फ़ाज़ी का अविराम सिलसिला जारी है। रचनात्मक लेखन का भी परिदृश्य हूबहू ऐसा ही है।

इस बेहद ज़रूरी और बुनियादी सवाल पर पुरज़ोर हस्तक्षेप की ज़रूरत है। नारीवादी विचारों और नारीवादी रचनाओं की सुव्यवस्थित आलोचना और मीमांसा प्रस्तुत की जानी चाहिए। यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि मार्क्सवाद स्त्री-प्रश्न को हल करने का कोई मॉडल या बना-बनाया फ़ार्मूला नहीं प्रस्तुत करता बल्कि स्त्री की पराधीनता के इतिहास और आधारभूत कारणों की पड़ताल करता है तथा वर्गों के उन्मूलन की सुदीर्घ ऐतिहासिक परियोजना के एक अंग के तौर पर स्त्री-उत्पीड़न की समाप्ति की भी तर्कसम्मत सोच उसी प्रकार प्रस्तुत करता है जिस प्रकार मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण-उत्पीड़न के हर रूप के उन्मूलन की भविष्यवाणी करता है। आम स्त्रियों के बीच यह स्पष्ट करना बेहद ज़रूरी है कि सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी के प्रारम्भ-बिन्दु से ही स्त्री-प्रश्न उसके एजेण्डे पर अनिवार्यतः उपस्थित रहेगा, लेकिन स्त्री-पुरुष असमानता के भौतिक-ऐतिहासिक आधारों के नष्ट होने के बाद भी यौन-भेद और पुरुष-वर्चस्व की सहस्राब्दियों पुरानी संस्कृति समाज में एक लम्बे समय तक मौजूद रहेगी और सतत् सांस्कृतिक क्रान्तियों की एक लम्बी प्रक्रिया

के बाद ही उसका निर्मूलन सम्भव हो सकेगा। यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि स्त्री-मुक्ति की तमाम बुर्जुआ नारीवादी अवधारणाएँ इस प्रश्न के सम्पूर्ण हल की कोई दिशा नहीं बतलातीं, क्योंकि वे ख़ुशहाल मध्यवर्गीय स्त्रियों से नीचे की स्त्रियों को सम्बोधित नहीं होतीं। साथ ही, मार्क्सवाद के नाम पर, स्त्री-प्रश्न पर प्रस्तुत की जाने वाली वर्ग-अपचयनवादी अवस्थिति की भी प्रखर आलोचना प्रस्तुत करनी होगी।

भारत में यह नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन का एक अनिवार्यतः आधारभूत कार्यभार है कि व्यापक जनसमुदाय के बीच अन्धविश्वास, धार्मिक कुरीतियों, मध्ययुगीन निरंकुशता, नई बुर्जुआ निरंकुशता और धार्मिक मूलतत्त्ववादी फ़ासीवादी विचारों से निरन्तर सिंचित-पोषित स्त्री-उत्पीड़न और पुरुष-वर्चस्व के तमाम रूपों के विरुद्ध एक रैडिकल सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार आन्दोलन की उद्वेलनकारी लहर पैदा की जाए। इसके बाद ही सामाजिक-राजनीतिक सरगर्मियों में आधी आबादी की पहलक़दमी और भागीदारी बढ़ाने के प्रयास सार्थक और प्रभावी हो सकते हैं। यह बेहद ज़रूरी है कि सर्वहारा के राजनीतिक और सांस्कृतिक हरावल अपने निजी आचरण-व्यवहार से यह सिद्ध करें कि वे दोहरे-दुरंगे लोग नहीं, बल्कि स्त्री-मुक्ति के सच्चे-सक्रिय पक्षधर हैं। समाज और व्यावहारिक स्थितियों की दुहाई देकर, निजी और पारिवारिक जीवन में पुरुष-वर्चस्ववादी आचरण करने वाले (जैसे घरेलू गुलामी को प्रश्रय देने वाले, दहेज व जाति-धर्म आधारित विवाहों को स्वीकार करने वाले, स्त्री-विरोधी सामाजिक आचारों को व्यावहारिकता की दुहाई देकर स्वीकारने वाले, अपने परिवार में प्रेम-विवाह जैसी चीज़ों का प्रत्यक्ष-परोक्ष विरोध करने वाले, आदि-आदि) पाखण्डी-कायर-धूर्त मध्यवर्गीय प्रगतिशीलों और संशोधनवादी कम्युनिस्टों ने स्त्री-समुदाय को सर्वहारा क्रान्ति के प्रवाह से काटकर अलग करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई है। अतः इस प्रश्न पर सांस्कृतिक आन्दोलन की शुरुआत हमें अपने निजी जीवन और आचरण से करनी होगी।

कला–साहित्य–संस्   ति में "लोकवाद" और "स्वदेशीवाद" का विरोध करो!

प्रतिक्रिया के इस विश्व-ऐतिहासिक दौर में विश्व-पूँजी की संयुक्त शक्ति ने जनता के जीवन पर जो सर्वतोमुखी हमला बोला है, राजनीति की तरह सांस्कृतिक मोर्चे पर भी उसका प्रतिरोध भविष्य के बजाय अतीत की ज़मीन पर खड़े होकर करने की एक पराजयवादी-पुनरुत्थानवादी और लोकरंजकतावादी प्रवृत्ति मौजूद है। इस प्रवृत्ति के प्रभाव-उच्छेदन के बिना, एक वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि के आधार पर, जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन का पुनर्निर्माण नहीं किया जा सकता। विस्तार से बचते हुए, हम अपनी बात यहाँ कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करना चाहेंगे।

पहले "लोकवाद" के कुछ उदाहरण लें। आज भारत जैसे देशों में जो रुग्ण-निरंकुश क़िस्म का पूँजीवादीकरण हो रहा है, वह पूँजीवादी रूपान्तरण के क्लासिकी ऐतिहासिक उदाहरणों से सर्वथा भिन्न है। यहाँ कुछ भी सकारात्मक नहीं है। सामन्ती पार्थक्य की जगह पूँजीवादी अलगाव, सामन्ती निरंकुश स्वेच्छाचारी तंत्र की जगह पूँजीवादी सर्वसत्तावाद। एक पुरातन आपदा की जगह एक नूतन विपदा जिसने पुरातन के कई सांस्कृतिक मूल्यों को ज्यों का त्यों अपना लिया है। हमारे कला-साहित्य में अक़सर उन चीज़ों के लिए शोकगीत या रुदन के स्वर सुनाई पड़ते हैं, जिन्हें इतिहास की अनिवार्य गति से नष्ट होना ही था। जैसे कविगण कभी-कभी तो उत्पादन और दैनन्दिन इस्तेमाल की उन पुरानी चीज़ों को भी बहुत आह भरते हुए याद करते हैं जो अन्य चीज़ों द्वारा विस्थापित कर दी गईं और जिन्हें स्वाभाविक गति से, अतीत की वस्तु बन ही जाना था क्योंकि यही इतिहास का शाश्वत नियम है। लोटा, दातुन और कठही हल के लिए रोने की ज़रूरत नहीं। कठही हल की जगह ट्रैक्टर को आना ही था। मशीनों को हर हाल में मानवविरोधी चित्रित करना भी एक ग़ैर सर्वहारा, बुर्जुआ पर्यावरणवादी नज़रिया है। मशीनें मानवीय कौशल और चिन्तन की महान उपज हैं, दोष मशीनों का नहीं बल्कि उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व की व्यवस्था का है जिनके चलते मशीनें मुनाफ़े की अन्धी

हवस का उपकरण बनकर मनुष्य और प्रकृति को निचोड़कर तबाह कर डालती हैं।

इसी तरह की अतीतगामी दृष्टि वाले रचनाकार अक़सर पूँजीवादी अलगाव के मानवद्रोही चरित्र को उजागर करते हुए प्राकृतिक अर्थव्यवस्था वाले प्राक्-पूँजीवादी समाजों की उस रागात्मकता और उन काव्यात्मक सम्बन्धों को महिमामण्डित करने लगते हैं जिन्हें पूँजी की सत्ता ने आने-पाई के ठण्डे पानी में डुबो दिया। प्राक्पूँजीवादी, ग्रामीण समाजों की रागात्मकता का काल्पनिक आदर्शीकरण करने वाले प्रायः उसकी पृष्ठभूमि में मौजूद सामन्ती निरंकुशता तथा स्त्रियों और दलितों के बर्बर दमन की अनजाने ही अनदेखी करने की कोशिश करते हैं और श्रम की संस्कृति के वर्चस्व वाले नये, भावी समाज को नहीं बल्कि अनिवार्यतः नष्ट होने वाले अतीत को अपना प्रेरणा-स्रोत बनाने लगते हैं। इसे किसानी "समाजवादी" यूटोपिया का एक रूप भी कहा जा सकता है।

"लोकवाद" का एक और कूपमण्डूकतापूर्ण संस्करण यह भी है कि कई प्रगतिशील कवि-लेखक गण नागर जीवन की हृदयहीनता, नग्न बुर्जुआ लूट-खसोट, आपाधापी और अलगाव की आलोचना करते हुए आहें भरते हुए गाँवों को याद करते हैं, और वर्ग-निरपेक्ष रूप में शहर की हृदयहीनता और गाँवों के "सामूहिक जीवन" की तुलना करते प्रतीत होते हैं। यह 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है' का नया संस्करण है। यह सही है कि पूँजीवादी समाज में गाँव और शहर का अन्तर लगातार बढ़ता जाता है और शहर की समृद्धि गाँवों को लूटकर ही फलती-फूलती है। पर इस तथ्य को वर्ग-निरपेक्ष रूप में नहीं देखा जा सकता। शहरों में भी बहुसंख्यक आबादी निचोड़े जाने वाले सर्वहारा और अर्द्धसर्वहारा की और परेशानहाल निम्न-मध्यवर्ग की ही है। एक छोटी सी आबादी है जो गाँवों को लूटती है और शहर के उजरती ग़ुलामों को भी। जो शहर की भारी मज़दूर और निम्न-मध्यवर्गीय नौकरीपेशा आबादी है वह गाँवों से ही पूँजी की मार से दर-बदर होकर शहर आई है और यह दुरवस्था फिर भी इतिहास की दृष्टि से प्रगतिशील क़दम है। जो आबादी गँवई सुस्ती और कूपमण्डूकता के दलदल से बाहर पूँजीवादी जीवन की बर्बर हृदयहीन अफ़रातफ़री के बीचोबीच धकेल दी गई है, वही पूँजी की सत्ता के लिए कब्र खोदने का काम करेगी। ग्रामीण जीवन की शान्ति के लिए बिसूरने वाले सफ़ेदपोश प्रगतिशील प्रायः ग्रामीण कुलीनों (प्रायः सवर्णों) की ही अगली पीढ़ियाँ हैं। यदि वे ग़रीब किसान, खेत मज़दूर या दलित के बेटे होते या स्त्री होते तो उजरती ग़ुलामी का शहरी नर्क भोगते हुए ग्रामीण निरंकुशता, सुस्ती और कूपमण्डूकता के अँधेरे में वापस नहीं जाना चाहते। जाएँगे तो वे भी नहीं जो गाँवों को ख़ूब याद करते हैं। दरअसल यह अपराध-बोध की कुछ वैसी ही रिसती हुई गाँठ है, जैसी गाँठ के चलते, अनिवासी धनिक भारतीय पाश्चात्य समृद्धि की पत्तल चाटते हुए भारत और भारतीय संस्कृति को ख़ूब याद करते हैं और इस नाम पर यहाँ की सबसे प्रतिक्रियावादी शक्तियों और सबसे प्रतिक्रियावादी मूल्यों के पक्ष में जा खड़े होते हैं। प्रगतिशीलता का ठप्पा बरकरार रखने और "नागर-बोध ग्रस्त" होने के आरोप से बचने के लिए बहुतेरे रचनाकार दशकों पुरानी स्मृतियों और चन्द एक दिनों के दौरों और अख़बारी तथ्यों के आधार पर आज के ग्रामीण जीवन के यथार्थ का कलात्मक पुनर्सृजन करने की कोशिश करते हैं जो वास्तविकता से कोसों दूर होता है। ऐसा वे इसलिए भी करते हैं कि स्मृतियों के सहारे गाँव पर लिखना आसान है, पर उन्हीं के शहरों में उजरती ग़ुलामी का जो रौरव नर्क एक समान्तर दुनिया के रूप में मौजूद है, वहाँ के जीवन के रूबरू होने लायक मज़बूती उनके दिल-गुर्दे में क़तई नहीं है।

"लोकवाद" के अन्य कई रूप हैं। जैसे कि संगीत की दुनिया को लें। क्रान्तिकारी संगीत की दुनिया में लोक संगीत से काफ़ी कुछ हूबहू उधार ले लेने—लोकगीतों की पैरोडी करने तक की प्रवृत्ति मौजूद है। लोक गीत-संगीत की परम्परा हमारी अपनी परम्परा है और उससे काफ़ी-कुछ लेना होगा, लेकिन हूबहू नहीं, बल्कि आलोचनात्मक विवेक के साथ छाँट-बीनकर। लोकसंगीत क्रान्तिकारी गण संगीत का समानार्थक नहीं हो सकता। लोकसंगीत का आधार आदिम जनजातीय जीवन की सामूहिकता, प्राकृतिक अर्थव्यवस्था के किसानी जीवन और दस्तकारी में मौजूद रहा है और कालान्तर में उसका स्थान इतिहास का संग्रहालय ही होगा। उसके कुछ संघटक तत्त्व नये सर्वहारा संगीत में, निरन्तरता के पहलू के रूप में मौजूद रहेंगे। लोकसंगीत

सदियों के सांस्कृतिक संस्कारों-आदतों के चलते जनता में लोकप्रिय होता है, लेकिन इसका मतलब यह कदापि नहीं कि नई क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु के लिए उसके रूप उपयुक्त होंगे।

नुक्कड़ नाटकों और रंगमंच पर भी लोकरंजकतावाद अनेक रूपों में मौजूद है। प्रायः देखने में यही आता है कि प्रगतिशील नाटककार और नाट्य-निर्देशक भी तर्कबुद्धि, विश्वदृष्टिकोण और आलोचनात्मक विवेक पर बल देने वाले 'एपिक थिएटर' या द्वन्द्वात्मक थिएटर की जगह भावना, अनुभूति और तदनुभूति पर बल देने वाले परम्परागत 'ड्रामेटिक थिएटर' की शैली और तकनीक को ही अपनाते हैं। नुक्कड़ नाटकों में कुछ हद तक पहली धारा की शैली को अपनाया गया है, लेकिन फिर भी दर्शकों को भावनात्मक आवेश से आप्लावित कर देने वाली शैली भी काफ़ी चलन में है, जहाँ विचार पक्ष काफ़ी कमज़ोर पड़ जाता है, जैसाकि प्रायः गुरुशरण सिंह के नाटकों में दिखाई पड़ता है।

"लोकवाद" का ही एक रूप "स्वदेशीवाद" भी है। राजनीति की तरह कला-साहित्य में भी आज यह प्रवृत्ति काफ़ी मज़बूत है। आज आम जनता के जीवन और संस्कृति पर विश्व-पूँजी के चौतरफ़ा हमले का प्रतिकार वामपन्थी धारा का भी एक बड़ा हिस्सा राष्ट्रवाद की उस ज़मीन पर खड़ा होकर करने की कोशिश कर रहा है, जिस पर खड़े होकर ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई लड़ी गई थी। यह अजीब-सी बात है कि कुछ पुराने गाधीवादी, सर्वोदयी, मध्यमार्गी सुधारवादी और एन.जी.ओ. वाले ही नहीं बल्कि क्रान्तिकारी वामपन्थी भी भूमण्डलीकरण के विरुद्ध "स्वदेशी" का झण्डा उठाए हुए हैं। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और उनके सहयोगियों के विरुद्ध गांधीवाद द्वारा सुझाए गए स्वदेशी और स्वराज्य के राष्ट्रवादी नारों को आज का रणनीतिक नारा बनाना नये दौर की लड़ाई को पुराने दौर की लड़ाई के हथियारों से लड़ने की बचकानी कोशिश है। आज जनता की वास्तविक मुक्ति की लड़ाई "स्वदेशी" या किसी अन्य पूँजीवादी राष्ट्रवादी नारे के झण्डे तले लड़ी ही नहीं जा सकती। अपने बीच के तमाम अन्तरविरोधों के बावजूद, आज देश की बड़ी पूंजी और छोटी पूँजी—दोनों की नियति, हित और अस्तित्व साम्राज्यवाद के साथ जुड़ चुके हैं। अपने आपसी अन्तरविरोधों के बावजूद, देश के सभी छोटे-बड़े पूँजीपति साम्राज्यवादी पूँजी के निर्बाध प्रवाह के लिए राष्ट्रीय अर्थतंत्र को पूरी तरह खोल देने के पक्षधर हैं। उनके किसी भी हिस्से का चरित्र राष्ट्रीय या जनपक्षधर नहीं रह गया है। आज का मूल प्रश्न यह नहीं है कि विदेशी शासन और विदेशी पूँजी के वर्चस्व को नष्ट करके देशी उद्योग-धंधों को फलने-फूलने का अवसर दिया जाए। आज का मूल प्रश्न यह है कि पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली, सामाजिक ढाँचा और संस्कृति अब पूरी तरह मानवद्रोही हो चुकी है। इतिहास इन्हें नष्ट करके ही आगे डग भर सकता है। कह सकते हैं कि जो सर्वहारा वर्ग का ऐतिहासिक मिशन था, वह अब फ़ौरी कार्यभार बन चुका है। आज का नया नारा यही हो सकता है—उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे तंत्र पर उत्पादन करने वाले सामाजिक वर्गों के पूर्ण नियंत्रण के लिए संघर्ष! ज़ाहिरा तौर पर, सांस्कृतिक वर्चस्व का संघर्ष भी इसी संघर्ष का अनिवार्य और आधारभूत सहवर्ती होगा। साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी जनमुक्ति क्रान्तियाँ आज इतिहास के एजेण्डे पर हैं। राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के दौर के शौर्यपूर्ण संघर्षों-कुर्बानियों से हम प्रेरणा ले सकते हैं और संघर्ष के रूपों से काफ़ी कुछ सीख सकते हैं, पर उस दौर के रणनीतिक नारे आज के नारे नहीं हो सकते।

इतिहास में यह ग़लती पहले भी होती रही है कि मुक्तिकामी जनता के हरावल, नये संघर्षों को गौरवमण्डित करने के लिए, नई प्रेरणा लेने के लिए अतीत की क्रान्तियों का पुनःस्मरण करने के बजाय उन्हीं की भोंडी नक़ल करने लग जाते रहे हैं। चाहते थे वे अतीत की क्रान्तियों से क्रान्तिकारी स्पिरिट लेना और हुआ यह कि वे अतीत के शरणागत हो गए, अतीत के नारों से नई लड़ाई लड़ने की कोशिश करने लगे और क्रान्ति की आत्मा के पुनर्जागरण के बजाय उसकी प्रेतात्मा मँडराने लगी। यह स्वाभाविक है कि अतीत के महान संघर्षों से अभिभूत होकर, हम अनजाने ही उनकी नक़ल करने लग जाते हैं। महान क्रान्तियाँ भावी क्रान्तियों के लिए प्रकाश स्तम्भ का काम करने के बजाय सर्जनात्मक अन्वेषण को जकड़ने वाली बेड़ियों का काम करने लगती हैं और नये का अन्वेषण करने के बजाय हम अतीत से समस्याओं का समाधान माँगने लगते

हैं। कार्ल मार्क्स ने उन्नीसवीं शताब्दी की उदीयमान सर्वहारा क्रान्तियों के प्रथम बसन्त-प्लावन के दौर में कहा था, "उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक क्रान्ति अतीत से नहीं वरन् भविष्य से ही अपनी प्रेरणा प्राप्त कर सकती है।" सर्वहारा क्रान्ति के नये विश्व ऐतिहासिक चक्र की समारम्भ-बेला में यह महान युक्ति एक बार फिर, नये अर्थ-सन्दर्भों के साथ, प्रासंगिक हो उठी है।

जब श्रम और पूँजी की शक्तियाँ आमने-सामने खड़ी हों तो क्रान्तिकारी कला-साहित्य का काम श्रम की संस्कृति को सर्जना का मार्गदर्शक बनाना और श्रम की दुनिया में क्रान्ति की अन्तश्चेतना का पुनर्सृजन करना है। अतीत के शरणागत होने, जिसे इतिहास की नैसर्गिक गति से नष्ट होना है उसके लिए शोकगीत गाने तथा अतीत से नारे, आदर्श, प्रतिमान और प्रादर्श उधार लेने की प्रवृत्ति से मुक्त होना होगा। जनता के पास संस्कृति के नाम पर जो कुछ भी मौजूद है, उन सबको प्रगतिशील मानने का नज़रिया एक अवैज्ञानिक नज़रिया है। यही "लोकवाद" है जिससे हमें छुटकारा पाना होगा।

न तो इतिहासग्रस्त, न ही इतिहास विमुख!

पूर्वोक्त चर्चा से इतिहास के प्रति हमारा दृष्टिकोण भी स्पष्ट हो जाना चाहिए, लेकिन हम, कुछ ठोस उदाहरणों सहित, अलग से इस विषय को रेखांकित करना ज़रूरी समझते हैं। इतिहास के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण तो हर-हमेशा ज़रूरी होता है, लेकिन ख़ास तौर पर नई शुरुआतों या इतिहास के किसी नये दौर की भौतिक-आत्मिक स्थितियों को जानने-समझने के दौर में, द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी इतिहास-दृष्टि से सूक्ष्म विचलन भी हमें कालान्तर में लक्ष्य से कोसों दूर लेकर चला जाता है। निरन्तरता और नूतनता के द्वन्द्व से इतिहास आगे डग भरता है। इसमें भी कभी निरन्तरता का पक्ष प्रमुख होता है तो कभी नूतनता का। निर्णय की जटिलता तब अधिक होती है जब नूतनता का पक्ष प्रमुख होता है।

अतीत के शरणागत या इतिहासग्रस्त होने से कम हानिकारक इतिहास-विमुख होना नहीं होता। जैसा कि अबू तालिब ने फर्माया है, 'यदि तुम इतिहास पर पिस्तौल से गोली चलाओगे तो भविष्य तुम पर तोप से गोल बरसाएगा।'

इसी दृष्टि से, आज परम्परा और परिवर्तन के द्वन्द्वों को पहचानते हुए, परम्परा के ज़रूरी अवदानों की पहचान करते हुए साहित्य-कला-संस्कृति के इतिहास के पुनर्मूल्यांकन की ज़रूरत है। प्रश्न चाहे इतिहास के हों या साहित्येतिहास के, ग़लत सैद्धान्तिक फ्रेम, अधूरे तथ्य-संग्रह और अटकलबाज़ी के द्वारा अपने अतीत और नायकों का अनावश्यक महिमा-मण्डन सर्वहारा क्रान्ति और साहित्य-कला-संस्कृति के वर्तमान और भविष्य को भयंकर क्षति पहुँचाएगा, और यहाँ तक कि ऐसे तर्कों और निष्पत्तियों का पुनरुत्थानवादी शक्तियाँ भी लाभ उठाएँगी। परम्परा के प्रति सही रुख का यह सवाल हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्मूल्यांकन से जुड़ा हुआ एक ज़रूरी और अतिप्रासंगिक प्रश्न बना हुआ है।

इसके अतिरिक्त, इतिहास के प्रति सही दृष्टिकोण के सवाल को हमें और व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। यह और भी ज़रूरी इसलिए है कि आज प्राच्यवाद, उत्तर आधुनिकतावाद, उत्तर-मार्क्सवाद, 'सब आल्टर्न' इतिहास-दृष्टि और क्वाण्टम भौतिकी के कोपेनहेगन स्कूल के अनिश्चितता सिद्धान्त के सामाजिक अनुप्रयोग आदि के प्रहार का मूल लक्ष्य ही है—इतिहास-विकास के नियमों की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी अवधारणा। इन लोकवादी, बुर्जुआ समाजशास्त्रीय और "नववामपन्थी" इतिहास-दृष्टियों के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष का मुख्य रणक्षेत्र संस्कृति का प्रदेश ही बन रहा है।

साथ ही, यह आज के सर्वहारा नवजागरण का मूलभूत कार्यभार है कि सर्वहारा विचारधारा, क्रान्तियों के इतिहास और सर्वहारा कला-साहित्य की महान उपलब्धियों को विस्मृति के अन्धकार से बाहर लाया जाए और इनके बारे में फैलाए जा रहे तमाम विभ्रमों की धूल-राख को झाड़कर वास्तविकता को सामने प्रस्तुत किया जाए। बीसवीं शताब्दी में पूरी दुनिया में सर्वहारा कला-साहित्य के क्षेत्र में जो काम और प्रयोग हुए,

उनकी पुनर्प्रस्तुति बेहद ज़रूरी है। आज बेशक उन्हें मॉडल मानकर उनका अनुकरण करने से हमारा अभीष्ट नहीं प्राप्त होगा, पर उनसे परिचित हुए बिना भी आगे क़दम बढ़ाना हद दर्ज़े का बचकानापन ही होगा। हमारे देश में प्रगतिशील सांस्कृतिक आन्दोलन का जो इतिहास रहा है, उसका भी इसी दृष्टि से अध्ययन ज़रूरी है।

इतिहास की वास्तविकताएँ भी निश्चल-निरपेक्ष नहीं होतीं। इतिहास के हर मोड़ पर, हर नये चरण की पूर्वबेला में हम मानव सभ्यता के अतीत और जातीय-देशीय स्मृतियों की पुनर्यात्रा करते हैं, और हर बार, सम्मुख उपस्थित कार्यभारों की दृष्टि से इतिहास की "नये सिरे से खोज करते हैं" और उसके उन पक्षों पर ध्यान देते हैं, जो विगत इतिहास-यात्राओं में अनालोकित-उपेक्षित रह गए थे। जीवन के विकास की नई मंज़िलें और सम्भावित दिशाएँ हमारे सामने अतीत के नये-नये आयामों-पक्षों को देखने की नई सूक्ष्मदर्शिता और व्यापकता देती चलती हैं और फिर अपनी पारी में, अतीत का हर नया पर्यवेक्षण विकास की दिशाओं की समझदारी को ज़्यादा ठोस, ज़्यादा उन्नत बनाता चलता है।

सांस्कृतिक मोर्चे पर अन्तरराष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण का प्रश्न

कहने की आवश्यकता नहीं कि जीवन के हर क्षेत्र में सर्वहारा वर्ग का नज़रिया व्यापक ऐतिहासिक सन्दर्भों में हर-हमेशा अन्तरराष्ट्रीयतावादी होता है। लेकिन आज पूँजी के भूमण्डलीकरण के नये दौर में, एक ओर जहाँ बुर्जुआ राष्ट्रवाद क्षरित-स्खलित होकर, अपनी ऐतिहासिक सकारात्मकता खोकर फ़ासिस्ट अन्धराष्ट्रवाद का लगभग समानार्थी-सा बन गया है, वहीं सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावादी चेतना का ज़्यादा मज़बूत और व्यापक भौतिक आधार भी तैयार हुआ है।

सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद के दो सन्दर्भों की चर्चा प्रकारान्तर से ऊपर के दो उपशीर्षकों के अन्तर्गत आ चुकी है। पहली बात, राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियों का दौर बीतने के बाद राष्ट्रवाद के रणनीतिक नारों का झण्डा सर्वहारा वर्ग और मुक्तिकामी जनों के विरुद्ध अपनी प्रासंगिकता खो चुका है। अन्तरविरोध आज सीधे-सीधे श्रम और पूँजी के दो शिविरों के बीच है। संस्कृति के मोर्चे पर आज यह एक अति महत्त्वपूर्ण काम है कि हम फ़ासिस्ट अन्धराष्ट्रवाद सहित प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ राष्ट्रवाद की संस्कृति का व्यापक भण्डाफोड़ और विरोध करें और श्रम की संस्कृति का, अन्तरराष्ट्रीयतावादी श्रमिक एकजुटता के विचार का विकल्प सामने रखें। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि राष्ट्रवाद और देशभक्ति दो चीज़ें हैं। राष्ट्रवाद एक बुर्जुआ परिघटना के रूप में जब अपनी ऐतिहासिक प्रासंगिकता खो देगा, तब भी देशभक्ति की भावना व संस्कृति बनी रहेगी। वह बुर्जुआ देशभक्ति की संस्कृति न होकर सर्वहारा देशभक्ति की संस्कृति होगी। सर्वहारा वर्ग ही अपने देश की जनता, संस्कृति और प्रकृति को वास्तविक प्यार करता है और अपने देश में समाजवाद की विजय के बाद वह समाजवादी मातृभूति की रक्षा के लिए हर क़ीमत चुकाने को तैयार रहेगा।

दूसरी बात, जब हम अपनी सांस्कृतिक-वैचारिक परम्परा की बात करते हैं तो इसका एक पक्ष है हमारे देश की मुक्तिकामी जनता के इतिहास की विरासत और दूसरा पक्ष है, पूरी दुनिया के सर्वहारा संघर्षों और सर्वहारा क्रान्तियों से जुड़ी सांस्कृतिक विरासत और पूरी दुनिया की मुक्तिकामी जनता की सांस्कृतिक विरासत। यही संस्कृति के क्षेत्र में सर्वहारा वर्ग का सही-सन्तुलित अन्तरराष्ट्रीयतावादी नज़रिया है।

जब हम सांस्कृतिक क्षेत्र में सर्वहारा वर्ग के अन्तरराष्ट्रीयतावादी नज़रिए की बात करते हैं तो उसका मतलब सिर्फ़ यही नहीं होता कि पूरी दुनिया के सर्वहारा वर्ग के कला-साहित्य की समृद्ध सम्पदा को हम अपनी विरासत के रूप में स्वीकार करते हैं, इसका मतलब यह भी होता है कि यूरोपीय पुनर्जागरण और प्रबोधन काल के मानवतावादी, जुझारू भौतिकवादी, जनवादी साहित्य तथा उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप और रूस के महान यथार्थवादी और क्रान्तिकारी जनवादी साहित्य की पूरी परम्परा का हम अपने को उत्तराधिकारी मानते हैं। इसका मतलब यह भी होता है कि समूचे विश्व के समग्र क्लासिकीय साहित्य-सम्पदा को हम

अपनी विरासत मानते हैं। इसका मतलब यह भी होता है कि किसी भी देश के सर्वहारा का क्रान्तिकारी सांस्कृतिक आन्दोलन विश्व मज़दूर आन्दोलन के अतिरिक्त, सभी देशों के राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों, प्रतिरोध संघर्षों और जन-आन्दोलनों के दौर के कला-साहित्य की विरासत को अपनाता है, उनका द्वन्द्वात्मक विश्लेषण करता है तथा उनके ज़रूरी अवयवों को आत्मसात कर लेता है। यह महज़ एक सैद्धान्तिक 'अप्रोच' का सवाल नहीं, ठोस व्यावहारिक कार्रवाई का मुद्दा है। एक उदाहरण लें। अफ़्रीकी जनता के प्रतिरोध-संगीत, अमेरिकी अश्वेतों के प्रतिरोध संगीत, मेक्सिको व लातिन अमेरिकी देशों की अधूरी क्रान्तियों और किसान संघर्षों के दौरान सृजित क्रान्तिकारी संगीत—इन सभी में पूंजी की सत्ता, वर्चस्व और उत्पीड़न के प्रतिरोध के तत्त्व हैं, समानता के स्वप्न हैं, संघर्ष की आग है। भारतीय सर्वहारा का संगीत आन्दोलन अपने देश के जन संघर्षों के गीत-संगीत और लोक संगीत के अतिरिक्त उपरोक्त अन्तरराष्ट्रीय विरासत को भी अपनाएगा और इस सतत्-सुदीर्घ प्रक्रिया में सर्वहारा संगीत की सार्वभौमिक सम्प्रेषणीयता, उसकी एक सच्ची "अन्तरराष्ट्रीय भाषा" विकसित होगी। यही बात सर्वहारा के समाजवादी यथार्थवादी थिएटर और सिनेमा के लिए, तथा साहित्य के लिए भी लागू होती है।

सां तिक मोर्चे पर जन-दिशा का सवाल—'जनता के बीच जाओ, जनता से सीखो! जन-जीवन और सामाजिक सम्बन्धों का गहन-गहरा-व्यापक अध्ययन करो!'

सांस्कृतिक मोर्चे पर भी जन-दिशा का सवाल आज बहुत महत्त्वपूर्ण है।

वाम-जनवादी साहित्य-कला में आज यथार्थ का जादू नहीं बल्कि चमत्कारी "जादुई यथार्थ" की हवाई उड़ानें हैं, रुग्ण फन्तासियाँ हैं, विकृत बिम्बावलियाँ हैं, कल्पना या स्मृतियों या सुनी-सुनाई, अख़बारी जानकारियों के आधार पर प्रस्तुत यथार्थ है। इसीलिए कभी उपन्यास या कविता का "अन्त" कर दिया जाता है तो कभी "न लिखने के कारणों" पर बहस चल पड़ती है। इधर जो इतिहास की पृष्ठभूमि पर उपन्यास लिखे जा रहे हैं उनके पीछे भविष्य की दिशा की चिन्ताएँ नहीं हैं। ये निरुद्देश्य इतिहास-यात्राएँ हैं जो इतिहास-दृष्टि से रहित हैं। यह "अतीत का शरणागत" होना है, अतीत का पुनराविष्कार नहीं। आत्मकथाएँ और संस्मरण भी ख़ूब लिखे जा रहे हैं, उनमें भारतीय इतिहास के महत्त्वपूर्ण संक्रमणकाल का परिवेश और जीवन लगभग अनुपस्थित है (यदि कहीं सामाजिक जीवन के चित्र हैं भी तो वहाँ सिर्फ़ ठहराव की सड़ांध और प्रतिगामी संस्कृति की प्रभाव-छायाएँ ही हैं)। इससे पता चलता है कि इन लेखकों का अन्तर्जगत और बहिर्जगत कितना संकुचित-विरूपित और जनविमुख है।

जो लोग इस स्थिति से चिन्तित हैं और व्यग्र हैं उन्हें जनता के बीच जाना होगा, जनता से सीखना होगा, उत्पादन और विनिमय की प्रणाली, और सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के परिवर्तनों का गहन अध्ययन करना होगा। पिछले तीन दशकों के दौरान, तीव्र पूँजीवादीकरण से करोड़ों किसान अपनी जगह-ज़मीन से उजड़े हैं, बड़ी परियोजनाओं ने करोड़ों को विस्थापित किया है, नये-नये औद्योगिक केन्द्र उठ खड़े हुए हैं, उजरती ग़ुलामी और तबाही के नये महासागर निर्मित हुए हैं, गाँवों के जीवन में पूँजी और बाज़ार की पैठ ने कोशिका-स्तर तक उथल-पुथल मचा दी है, ठहराव टूटा है, विगत एक दशक के दौरान छँटनी-तालाबन्दी और श्रम सुधारों ने मज़दूरों के जीवन को कितने स्तरों पर प्रभावित किया है—ये सारी तफ़सीलें आज के भारतीय जीवन की हैं और ये साहित्य में लगभग अनुपस्थित हैं।

इसका कारण, काफ़ी हद तक, सुविधाभोग और अवसरवाद है। ज़्यादातर वामपन्थी लेखक गण तो महानगरों-शहरों के ऐसे खाते-पीते मध्यवर्गीय लोग हैं जो गाँवों से दशकों पहले कट गए और आज के मज़दूरों की ज़िन्दगी की झलक उन्होंने बस ट्रेनों-बसों से देखी है। विगत आधी सदी के सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों से वे उसी हद तक परिचित हैं जितना अख़बारों-पत्रिकाओं या मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन में

देखते हैं। यह अपरिचय ही उन्हें "जादुई यथार्थ" रचने को विवश कर रहा है। यथार्थ की आधिकारिकता-प्रातिनिधिकता पर कोई चर्चा नहीं। सारा शोरगुल शिल्प की तराश और बारीक़ रेशमी कतान पर है। वामपन्थी-प्रगतिशील हलकों में रूपवाद-कलावाद की नई लहर है। इसके पीछे इतिहास के वर्तमान दौर और सांस्कृतिक आन्दोलन की स्थिति के साथ ही लेखकों-कलाकारों की अपनी जीवन-स्थितियाँ भी ज़िम्मेदार हैं। महानगरों के खाते-पीते जीवन से अलग जो कवि-लेखक दूरस्थ गाँवों-क़स्बों में रहकर लिख रहे हैं, वे भी या तो अपने आसपास के जीवन से विलग "क़स्बे के बुद्धिजीवी" हैं, या फिर वैज्ञानिक दृष्टि से रहित ऐसे लेखक हैं जो किसानी जीवन की रागात्मकता और ठहराव के टूटने पर छाती पीट रहे हैं, पुरानी चीज़ों की अनिवार्य मृत्यु की नियति पर बिसूर रहे हैं। ऐसे कवि-लेखक लोकवाद से ग्रस्त हैं और लोक जीवन को ये जहाँ खड़े होकर देख रहे हैं वह सर्वहारा-साहित्य की ज़मीन नहीं है। वहाँ से भविष्य की दिशा नहीं दीखती। बहरहाल, इनकी समस्या अलग है।

सवाल यह है कि कवि-लेखक-संस्कृतिकर्मी औद्योगिक इलाक़ों में, गाँव के ग़रीबों के बीच जाकर अपना समय क्यों नहीं बिताते, उनके बीच रहकर उनके पारिवारिक-सामाजिक जीवन, आर्थिक स्थिति, सांस्कृतिक परिवेश और उत्पादन की प्रणाली-विशेष के सभी पहलुओं का विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन क्यों नहीं करते। यदि वे नौकरीपेशा हैं तो कम से कम अपनी छुट्टियाँ जनता के जीवन के अध्ययन में क्यों नहीं ख़र्च करते? यदि वे इतनी तकलीफ़ भी नहीं उठा सकते और इतनी हिम्मत भी नहीं जुटा सकते तो तय है कि वे 'जनता का आदमी' बनने के लिए क़तई तैयार नहीं हैं। जो इस चुनौती को स्वीकारेगा, वही गतिरोध को तोड़ेगा। वही आज के सांस्कृतिक कार्यभारों के वैचारिक पक्ष को भी समझ सकता है, जो आम मेहनतकश आबादी के जीवन, स्वप्नों और संघर्षों से बख़ूबी परिचित हो, उनका साझीदार हो।

सांस्‍   तिक मोर्चे पर नई भरती करो! मध्यवर्ग के बीच से ही नहीं, मज़दूर वर्ग के बीच से भी!

जैसे आज राजनीतिक मोर्चे पर हरावल कतारों में नई भरती का काम प्रमुख है, उसी तरह सांस्कृतिक मोर्चे पर भी नई भरती आज बेहद ज़रूरी है। यूँ तो हर मोर्चे के कामों की गतिमानता की यह बुनियादी शर्त और निशानी दोनों है कि उत्तराधिकारियों की पीढ़ी की तैयारी का काम लगातार चलता रहे। लेकिन सांस्कृतिक मोर्चे पर नई भरती आज की एक फ़ौरी और बुनियादी ज़रूरत है। ताज़ा रक्त-संचार ज़रूरी है।

जनपक्षधर लेखकों-संस्कृतिकर्मियों की जिस पीढ़ी ने गत दशकों के गतिरोध और विश्व-ऐतिहासिक विपर्यय को झेला है, उसका एक हिस्सा थक चुका है। एक हिस्सा सुविधाभोगी और अवसरवादी हो चुका है और इसलिए वामपन्थी है कि इसमें आज कोई कष्ट या जोखिम नहीं है और साहित्य में फिर भी इसी का बाज़ार-भाव है। ऐसे छद्म वामपन्थियों की कई कोटियाँ हैं। उनमें कुछ ईमानदार हैं, पर वे भी किसी न किसी हद तक अवसरवाद से समझौता किए हुए हैं। पुरानी पीढ़ी का एक और हिस्सा है जो घिसे-पिटे लेखन और रुटीनी सांस्कृतिक कर्म में पूरी नैतिक निष्ठा के साथ लगा हुआ है। सभी सांस्कृतिक संगठनों में यह क़िस्म पाई जाती है। सांस्कृतिक मोर्चे पर क्रान्तिकारी वाम की धारा आज इस मायने में विशेष "समृद्ध" दीख रही है कि इसके एक सिरे पर नववामपन्थी "मुक्त चिन्तक" और कलावादी मनीषीगण खड़े हैं तो दूसरे सिरे पर जड़सूत्रवादी साधक गणों की मंत्रोच्चार-साधना भी जारी है।

इसलिए ज़रूरी है कि लेखकों-कलाकारों-संस्कृतिकर्मियों की नई कतारें तैयार की जाएँ। ऐसी भरती मध्यवर्ग के उन युवाओं के बीच से होगी, जो पूँजीवाद के कोप-कहर को झेल रहे हैं, जिन्हें एक हद तक की बुर्जुआ शिक्षा और सांस्कृतिक विरासत हासिल है, जो अग्रिम तत्त्व हैं, तर्कपरक होने के नाते धार्मिक कट्टरपन्थी फ़ासिस्ट प्रचार से प्रभावित नहीं हैं, जो पुरातनपन्थी और जातिगत संस्कारों से मुक्त हैं, जिनमें विद्रोह की भावना है। ऐसे युवाओं को सही वैज्ञानिक तर्कणा देकर, कला-साहित्य-संस्कृति के गहन शिक्षण-प्रशिक्षण

के साथ-साथ आम जनता के बीच जाने, सीखने और प्रयोग करने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। औद्योगिक इलाक़ों और गाँवों में, और शहरी आम मध्यवर्गीय बसाहटों में भी, सांस्कृतिक प्रचार टोलियों और लम्बे इलाक़ाई प्रचार-अभियानों में उन्हें भेजा जाना चाहिए। साथ ही, अध्ययन-शिविरों, अध्ययन-मण्डलों, सांस्कृतिक कार्यशालाओं का नियमित आयोजन करके कला-साहित्य के सैद्धान्तिक अध्ययन और सांस्कृतिक प्रचार और आन्दोलन के कामों के व्यावहारिक प्रशिक्षण के काम को लगातार चलाया जाना चाहिए। इन युवा संस्कृतिकर्मियों-लेखकों की टोलियों को लगातार नये-नये रचनात्मक प्रयोगों और सांस्कृतिक जन-कार्यों के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। उनकी पहलक़दमी और सर्जनात्मकता को लगातार बढ़ाया जाना चाहिए। साथ ही उन्हें सामूहिकता की भावना, अनुशासन और जनता की सेवा करने की सच्ची स्पिरिट से भी लैस करना चाहिए।

हमें अब तक के चालू चलन से हटकर, मज़दूर वर्ग के बीच से भी लेखकों-कलाकारों-संस्कृतिकर्मियों की नई कतारें तैयार करनी होंगी। वे केवल विचार ही नहीं बल्कि वर्ग-मूल के हिसाब से भी मज़दूर वर्ग के अपने बुद्धिजीवी होंगे, 'मज़दूर बुद्धिजीवी' होंगे। निम्न-पूँजीवादी शिक्षित परिवारों से तमाम प्रगतिशील लोग आगे आकर स्वयं को सर्वहारा वर्ग की राजनीति और संस्कृति से जोड़ते रहे हैं तथा मज़दूर आन्दोलन में विचारधारा को ले जाने में अनिवार्य और बुनियादी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि राजनीतिक और सांस्कृतिक—दोनों ही स्तरों पर, वे सर्वहारा आन्दोलन में निम्न पूँजीवादी विचलनों-विच्युतियों के अक्षय स्रोत की भूमिका भी निभाते रहे हैं। उन्नत चेतना वाले मज़दूरों के बीच से शिक्षित-प्रशिक्षित होकर जब लेखक-बुद्धिजीवी-संस्कृतिकर्मी तैयार होंगे और जब सांस्कृतिक मोर्चे के नेतृत्व में भी ऐसे मज़दूर पृष्ठभूमि के लोग आने लगेंगे तो संरचनागत और अन्तर्वस्तुगत परिवर्तनों की शुरुआत हो सकेगी, सर्वहारा संस्कृति के प्रयोग ज़्यादा ज़मीनी हो सकेंगे और मध्यवर्गीय विचलनों-विच्युतियों के विरुद्ध कारगर रोक खड़ी ह जा सकेगी।

वैसे तो इस पहलू पर हमेशा ही ज़ोर देने की ज़रूरत थी, पर आज यह विशेष रेखांकन योग्य पहलू है और ख़ास बात यह है कि स्थितियाँ भी इसके लिए पहले से अधिक अनुकूल हैं। आप नोएडा, गुड़गाँव, फरीदाबाद, साहिबाबाद, उत्तरांचल के तराई क्षेत्र अथवा पंजाब के औद्योगिक केन्द्रों में—कहीं भी चले जाएँ, वहाँ आपको दिहाड़ी, ठेका या पीस रेट पर काम करने वाले तक ऐसे मज़दूर मिल जाएँगे जिनकी शिक्षा इण्टर या बी.ए. तक की है। पढ़े-लिखे औद्योगिक मज़दूरों की बहुतायत है। बुर्जुआ मीडिया और गतिमान नई जीवन-शैली ने उनकी शिक्षा-संस्कृति के स्तर को ऊँचा उठाया है और प्राकृतिक अर्थव्यवस्था जन्य जड़ता और रागात्मकता संस्कारों को तोड़कर उनकी चेतना को गतिशील बनाया है। ऐसे मज़दूरों के बीच से आने वाले सर्वहारा संस्कृतिकर्मी और लेखक मेहनतकशों के भौतिक और आत्मिक जीवन के हर पहलू की प्रामाणिक तस्वीर सूक्ष्म ब्योरों के साथ प्रस्तुत करने में अधिक सफल होंगे और मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि के लेखकों-कलाकारों के सामने वे मिसालें पेश करने का काम करेंगे।

यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि हम सांस्कृतिक मोर्चे पर मज़दूर वर्ग से भरती के नाम पर यांत्रिक ढंग से किसी क़िस्म की 'कोटा प्रणाली' या 'आरक्षण प्रणाली' लागू करने की बात नहीं कर रहे हैं। मज़दूरों के बीच से वास्तविक सांस्कृतिक संगठनकर्ता और बुद्धिजीवी विकसित करने की प्रक्रिया लम्बी और कठिन होगी तथा उससे धैर्य, मौलिकता और निरन्तरता के साथ चलाना होगा—इस अहसास के साथ हम यह बात कह रहे हैं।

कलात्मक स्तर और लोकप्रियता के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों के बारे में

कला की लोकप्रियता या लोक-सम्प्रेषणीयता का प्रश्न उससे कहीं अधिक पेचीदा और उलझा हुआ प्रश्न है, जितना कि जोशीले क्रान्तिकारी लोकप्रियतावादी साथीगण समझते हैं।

साहित्य-कला की लोकप्रियता, कलात्मक स्तर और वैचारिक-दार्शनिक गहराई एक त्रिभुज की तीन भुजाओं के समान एक-दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित होते हैं—इनमें कभी कोई भुजा बड़ी होती है तो कभी कोई

भुजा। तीनों के बीच द्वन्द्वात्मक संघर्ष और एकता का सतत् तनावपूर्ण और गतिज सम्बन्ध होता है। यही अन्तर्सम्बन्ध सर्वहारा कला-साहित्य की दुनिया में गम्भीर दार्शनिक और सरल, उच्च कलात्मक और सहज सम्प्रेषणीय—अनेक कोटियों के एक व्यापक वर्णक्रम का निर्माण करता है।

पहली बात जो स्पष्ट होनी चाहिए, वह यह कि उच्च कलात्मक-वैचारिक स्तर के साहित्य और लोकप्रिय साहित्य—इन दोनों ही कोटियों के जनपक्षीय साहित्य का स्रोत व्यापक आम जनता का जीवन होना चाहिए। आम जनता के हितों, आकांक्षाओं, स्वप्नों की ज़मीन पर खड़े होकर देखने पर पूरे सामाजिक जीवन का जो गतिमान दृश्य सामने आता है, वह रचना में आना चाहिए। इसके लिए तीन बातें अनिवार्यतः ज़रूरी हैं (दुर्भाग्य से इन तीनों की ही आज अनदेखी की जा रही है और वामपन्थी पक्षधरता की नई-नई पाखण्डपूर्ण, धूर्ततापूर्ण, निम्न बुर्जुआ परिभाषाएँ गढ़ी जा रही हैं) : व्यापक जनता के जीवन और संघर्षों के साथ रचनाकार का घनिष्ठ जुड़ाव, सही वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि, और क्रान्तिकारी परिवर्तन की पूरी मशीनरी के एक अविभाज्य अंग के रूप में कलात्मक सृजन-कार्य।

उच्चस्तरीय कलात्मक-वैचारिक साहित्य और लोकप्रिय साहित्य—दोनों ही के लिए विचारधारात्मक समझ की गहनता-गम्भीरता अनिवार्य है। बल्कि सच तो यह है कि सामाजिक यथार्थ की वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुति यदि लोकप्रिय भाषा-शैली में करनी हो तो जनजीवन की गहन जानकारी के साथ ही वैचारिक समझ का पुख़्तापन और अधिक ज़रूरी हो जाता है, वरना हम लोकप्रिय साहित्य रचने का वहम पाले हुए, लोकरंजकतावादी कचरे का ढेर लगाते चले जाते हैं।

अपेक्षाकृत उन्नत कलात्मक-वैचारिक स्तर वाले सर्वहारा कला-साहित्य के लिए सापेक्षतः निम्न स्तर वाला, सम्प्रेषणीय, लोकप्रिय कला-साहित्य आधार की भूमिका निभाता है, और इसके उलट, दूसरे के लिए पहला मार्गदर्शन व नेतृत्व की भूमिका निभाता है। उन्नत कलात्मक-वैचारिक स्तर के कला-साहित्य का पाठक वर्ग समाज के उन्नत सांस्कृतिक स्तर वाले निम्न बुर्जुआ वर्ग के साथ ही, मेहनतकश जनता का वर्ग-सचेत हिस्सा होता है (जो पूँजीवादी विकास व सामाजिक आन्दोलनों के वस्तुगत कारणों से तथा सचेतन-संगठित सांस्कृतिक उपक्रमों से विस्तारित होता जाता है)। इसके अतिरिक्त, उन्नत कलात्मक-वैचारिक स्तर का कला-साहित्य आम जनता के बीच काम करने वाले राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं की फ़ौरी ज़रूरत होता है। इस पहलू की क़तई अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। तुलनाओं के शाश्वत-सार्वभौम लंगड़ेपन की सच्चाई को ध्यान में रखते हुए, यदि सादृश्य-निरूपण करना हो तो कहा जा सकता है कि उन्नत कलात्मक-वैचारिक स्तर वाले साहित्य का साहित्यिक-कलात्मक उत्पादन तंत्र में कुछ-कुछ वही स्थान होता है जो किसी समाज के उत्पादन-तंत्र में बुनियादी और अवरचनागत (basic and infrastructural) उद्योगों का होता है और व्यापक, बहुविध लोकप्रिय कला-साहित्य की स्थिति उपभोक्ता-सामग्री उत्पादक उद्योगों और कृषि-क्षेत्र के समकक्ष होती है। एक और तुलना की जा सकती है। जिस तरह राजनीतिक साहित्य में 'प्रोपेगैण्डा साहित्य', 'एजिटेशनल साहित्य' और 'एजिट-प्रॉप साहित्य' की कोटियाँ और इनके भी विभिन्न संस्तर होते हैं, उसी प्रकार रचनात्मक साहित्य और कला में भी उच्च कलात्मक-वैचारिक स्तर वाले साहित्य तथा लोकप्रिय साहित्य की, और इनके विभिन्न संस्तरों तथा मिले-जुले रूपों की भूमिका होती है।

उन्नत वैचारिक-कलात्मक स्तर वाले साहित्य और लोकप्रिय साहित्य के बीच की विभाजक रेखा को चीन की दीवार के रूप में भी नहीं देखा जाना चाहिए। किसी भी गतिमान समाज और सजीव सांस्कृतिक आन्दोलन में उन्नत वैचारिक-कलात्मक स्तर वाले साहित्य को ज़्यादा से ज़्यादा लोकप्रिय बनाने का काम, और लोकप्रिय साहित्य के स्तर को ज़्यादा से ज़्यादा उन्नत बनाने का काम एक सतत् प्रक्रिया के रूप में जारी रहता है।

सर्वहारा का कला-साहित्य मानव-समाज की समस्त सांस्कृतिक सम्पदा का उत्तराधिकारी होता है। वह बुर्जुआ वर्ग के क्रान्तिकारी यथार्थवादी साहित्य का विस्तार—उसकी आगे की मंज़िल या अग्रवर्ती कड़ी होता है। उन्नत वैचारिक-कलात्मक कला-साहित्य में यह पहलू प्रमुख और प्रत्यक्ष होता है। सापेक्षतः प्रारम्भिक

स्तर वाले कला-साहित्य-सृजन के लिए भी उतनी ही गहरी वैज्ञानिक समझ की दरकार होती है। साथ ही, इसके लिए व्यापक आम जनता के भौतिक जीवन, चेतना और सांस्कृतिक स्तर की तथा कलात्मक अभिव्यक्ति के लोक-प्रचलित रूपों की और अधिक गहरी, व्यापक और सूक्ष्म जानकारी चाहिए होती है। लोकप्रिय साहित्य व्यापक जनता को शिक्षित और जागृत करने की दृष्टि से क्रान्तिकारी आन्दोलन, और उसके एक अंग-विशेष के तौर पर, सांस्कृतिक आन्दोलन की एक फ़ौरी ज़रूरत को पूरा करने का काम करता है और रोज़मर्रा के नियमित प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई के एक अंग के तौर पर इसका महत्त्व होता है। दूसरी ओर, उन्नत वैचारिक-कलात्मक स्तर वाला साहित्य इस कार्रवाई की आम दिशा तय करने और इसके लिए सांस्कृतिक कार्यकर्ता तैयार करने में तथा आमूलगामी सामाजिक बदलाव की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तैयार करने में कुंजीभूत भूमिका निभाता है। इसकी महत्ता का दूरगामी चरित्र प्रधान होता है।

उन्नत स्तर और लोकप्रियता के बीच द्वन्द्वात्मक एकता और संघर्ष की प्रक्रिया लगातार जारी रहती है। यह अन्तरविरोध अन्तिम तौर पर तभी हल हो सकता है जब समाजवादी संक्रमण के एक सुदीर्घ दौर के बाद, बुर्जुआ श्रम-विभाजन के मानवद्रोही प्रभावों का पूर्ण निर्मूलन हो जाए, तथा मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम का अन्तर और सभी बुर्जुआ अधिकार पूरी तरह समाप्त हो जाएँ। तभी सभी मेहनत करने वालों के लिए कला-साहित्य के अध्ययन-आस्वादन का ही नहीं, बल्कि सृजन का क्षेत्र भी अपरिचित नहीं रहेगा और उसके पास इसके लिए पर्याप्त अवकाश भी होगा क्योंकि तब हर सामान्य स्वस्थ नागरिक उत्पादक श्रम में भागीदारी करेगा।

सर्वहारा कला-साहित्य के सृजन और सांस्कृतिक आन्दोलन के दौरान कलात्मक-वैचारिक स्तरोन्नयन और व्यापक जनता तक पहुँच से जुड़ी समस्याओं को हल करने में यही बुनियादी नीति अपनाई जानी चाहिए।

पूँजीवादी सं ति उद्योग के विरुद्ध जवाबी कार्रवाई के तौर पर एक व्यापक, बहुमुखी सां तिक जन–अभियान संगठित करना होगा।

पूँजीवादी सूचना-संसार और संस्कृति का तंत्र सिनेमा के बाद टेलीविज़न, केबुल-संजाल, कम्प्यूटर और इण्टरनेट के वर्तमान दौर में जितना संगठित है, उसकी पहुँच जितनी व्यापक हुई है और विचारधारात्मक प्रचार, आक्रमण और अनुकूलन के जितने सूक्ष्म और बहुआयामी तौर-तरीक़े आज चलन में हैं, उतने पहले कभी नहीं थे। "मनोरंजन उद्योग" और "विज्ञापन उद्योग" न सिर्फ़ पूँजी-निवेश के बहुत बड़े क्षेत्र बन गए हैं, बल्कि संस्कृति और विचारधारा के क्षेत्र में इन्होंने विश्व-पूँजी को अभूतपूर्व नई शक्ति और प्रभाव-क्षमता से लैस किया है। पूँजीवादी सांस्कृतिक उत्पादन आज एक विश्वव्यापी उद्योग के समान संगठित रूप में काम कर रहा है।

इस सम्बन्ध में हमारा पहला कार्यभार यह है कि तथाकथित संचार क्रान्ति के इस नये दौर की अभिलाक्षणिक विशिष्टताओं और अन्तरविरोधों की सही पहचान करें और पक्षधर बुद्धिजीवियों को जहाँ पूँजीवादी संस्कृति उद्योग के प्रतिकार के लिए तथा "एक्सपोज़र' के लिए तैयार करें, वहीं इसके अन्तरविरोधों का भी सम्भव सीमा तक लाभ उठाया जाना चाहिए।

जिस नई तकनोलॉजी ने ज्ञान और संस्कृति पर इजारेदारी के नये रूप और तौर-तरीक़े ईजाद किए हैं, उसी ने इसकी प्रतिरोध की रणनीति और रणकौशल विकसित करने की नई सम्भावनाओं को भी जन्म दिया है। मध्यवर्ग के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से तक अपनी बात पहुँचाने के लिए आज इण्टरनेट का इस्तेमाल किया जा सकता है।

वीडियोफ़िल्म-निर्माण के अतिरिक्त नई डिजिटल तकनोलॉजी का इस्तेमाल भी संगठित सांस्कृतिक ग्रुपों और टीमों के लिए कुछ नई सम्भावनाओं के द्वार खोलने वाला है, हालाँकि बुर्जुआ सत्ता की सेन्सरशिप

व्यवस्था भी तब अधिक चाक-चौबन्द और निरंकुश होकर अपना काम करेगी। लेकिन उस स्थिति में हमें भी उन प्रयोगों से सीखना होगा और उन्हें आगे विस्तार देना होगा, जो तीसरी दुनिया के निरंकुश शासन तंत्र वाले बहुतेरे देशों में हो चुके हैं और जिन्हें 'गुरिल्ला सिनेमा' नाम से जाना जाता है।

लेकिन इससे भी मुख्य बात यह है कि हमें सांस्कृतिक प्रतिरोध कर्म की अपनी नई योजना और कार्यक्रम तय करते समय नई तकनोलॉजी की मिथ्याभासी शक्तिमत्ता पर नहीं बल्कि व्यापक जन-समुदाय की वास्तविक शक्तिमत्ता पर भरोसा करना होगा। हमें अपनी जवाबी कार्रवाई एक व्यापक, बहुमुखी सांस्कृतिक जन-अभियान के रूप में संगठित करनी होगी।

व्यापक आम आबादी में प्रचार-कार्य की प्रभावी पहुँच के लिए नुक्कड़ नाट्य टोलियों और वृन्दगान टोलियों की, 'स्ट्रीट-कंसर्ट्स' और सांस्कृतिक जनोत्सवों के नये-नये रूपों की तथा सांस्कृतिक प्रदर्शनियों-अभियानों-यात्राओं की उपयोगिता-प्रासंगिकता आज पहले हमेशा से अधिक है। मध्यवर्गीय शिक्षित आबादी के मुक़ाबले बहुत अधिक ज़ोर देते हुए व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी सांस्कृतिक प्रचार और भण्डाफोड़ की कार्रवाईयाँ संगठित करनी होंगी। ज़्यादा से ज़्यादा सांस्कृतिक टोलियाँ गठित करनी होगी और बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक के यूरोप की तरह मज़दूरों की भी संगीत टोलियों और सांस्कृतिक टीमों के गठन पर विशेष ज़ोर देना होगा। इस तरह मुख्यतः जनता के भरोसे हमें पूँजी की शक्ति का सामना करना होगा। मुख्य बात यह है कि साहित्यिक रचनाओं की ही तरह हमारी दृश्य-श्रव्य कलाओं की अन्तर्वस्तु भी जीवन की ठोस स्थितियों में आए बदलावों और सम्भावित बदलावों की दिशा को सही-सटीक ढंग से प्रस्तुत करे तथा इनके पीछे सही वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि और इतिहास-बोध हो।

एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन संगठित करने के लिए सच्चे क्रान्तिकारी संस्कृतिकर्मियों को कुलीन, अनुष्ठानिक संस्कृतिकर्म के सीमान्तों से बाहर आना होगा, कैरियरवादी, निठल्ले, नक़ली वामपन्थी कलावन्तों के गिरोहों से अपने को अलग करना होगा तथा मुख्यतः व्यापक, बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी के बीच सांस्कृतिक प्रचार, शिक्षा और भण्डाफोड़ की कार्रवाइयों को केन्द्रित करना होगा।

ऐसी व्यावहारिक कार्रवाइयों और प्रयोगों के साथ ही एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के साम्प्रतिक वैचारिक-सांस्कृतिक कार्यभारों को सही ढंग से निर्धारित-निरूपित किया जा सकता है, इन व्यावहारिक आन्दोलनात्मक कार्रवाइयों में ही इन कार्यभारों की सार्थकता सिद्ध हो सकती है और सांस्कृतिक आन्दोलन की आम दिशा की समझ का सत्यापन भी इनके दौरान ही हो सकता है।

बेह्तर ज़िन्दगी का रास्ता बेह्तर किताबों से होकर जाता है

घटिया साहित्य के घटाटोप और अपसंस्कृति के अंधेरे में उत्कृष्ट, स्तरीय, जनपक्षधर, क्रान्तिकारी, क्लासिकी साहित्य को जन-जन तक पहुंचाने का एक अभियान

आम लोगों के लिए
जरूरी हैं वे किताबें
जो उनकी ज़िन्दगी की घुटन
और मुक्ति के स्वप्नों तक
पहुंचाती हैं विचार
जैसे कि बारूद की ढेरी तक
आग की चिनगारी।
घर-घर तक चिनगारी छिटकाने वाला
तेज हवा का झोंका बन जाना होगा
ज़िन्दगी और आने वाले दिनों का सच
बतलाने वाली किताबों को
जन-जन तक पहुंचाना होगा।

ऐसी किताबों को जन-जन तक पहुंचाना नये सर्वहारा नवजागरण-प्रबोधन का एक जरूरी कार्यभार है। वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने की मुहिम का एक अहम क़दम है। बड़बोली विज्ञापनबाजी से दूर, 'जनचेतना' पिछले पन्द्रह वर्ष से चुपचाप इस अभियान में जुटी है।

आज जब किताबें मुख्यतः पुस्तकालयों में कैद हो जाने के लिए छापी जा रही हैं और आम पाठकों और किताबों के बीच दूरी बढ़ती जा रही है, 'जनचेतना' अपने मुख्य वितरण केन्द्रों, अनेक छोटे स्टालों तथा वर्षभर चलने वाली छोटी-बड़ी प्रदर्शनियों के जरिए किताबों को लेकर सीधे पाठकों के बीच जाती है, नये पाठक और पुस्तकप्रेमी तैयार करती है। इसके कार्यकर्ता झोले में किताबें लेकर घरों, दफ्तरों, कारखाना गेटों, मजदूर बस्तियों और कालेजों में जाते हैं।

हिन्दी क्षेत्र में यह अपने ढंग का एक अनूठा प्रयास है। एक भी वैतनिक स्टाफ के बिना, समर्पित वालंटियरों और विभिन्न सहयोगी जनसंगठनों के कार्यकर्ताओं के बूते पर यह प्रोजेक्ट आगे बढ़ रहा है।

'परिकल्पना प्रकाशन' और 'राहुल फाउण्डेशन' के प्रकाशन प्रभाग की पुस्तकों का 'जनचेतना' मुख्य वितरक है। ये प्रकाशन पांच स्रोतों—सरकार, राजनीतिक पार्टियों, कारपोरेट घरानों, बहुराष्ट्रीय निगमों और विदेशी फण्डिंग एजेंसियों से किसी भी प्रकार का अनुदान या वित्तीय सहायता लिये बिना जनता से जुटाये गये संसाधनों के आधार पर आज के दौर के लिए जरूरी व महत्त्वपूर्ण साहित्य बेहद सस्ती दरों पर उपलब्ध कराने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

हमारे पास आपको मिलेंगे :

❍ देश-विदेश की क्लासिकीय कृतियां ❍ प्रतिनिधि समकालीन साहित्य ❍ मानविकी और विज्ञान की चुनी हुई स्तरीय पुस्तकें ❍ मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी साहित्य ❍ वामपंथी राजनीतिक पत्रिकाएं ❍ प्रगतिशील साहित्यिक पत्रिकाएं ❍ दुर्लभ लघु पत्रिकाएं ❍ कविता पोस्टर व स्टिकर ❍ क्रान्तिकारी गीतों के कैसेट ❍ उत्कृष्ट एवं सस्ता बाल साहित्य ❍ क्रान्तिकारी जनसंगठनों का प्रचार साहित्य

परिकल्पना प्रकाशन और राहुल फाउंडेशन की विस्तृत पुस्तकसूची तथा पुस्तकें मंगाने के लिए सम्पर्क करें :

जनचेतना

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
कॉफ़ी हाउस के पास, हज़रतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8)
जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर-273001
81, समाचार अपार्टमेण्ट, मयूर विहार फेज़-एक, दिल्ली-110091
email : janchetna@rediffmail.com